पुरुष-सूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन

डा० कुसुमलता
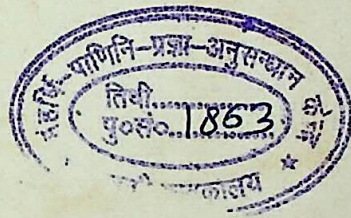
समर्पण-शोध-संस्थान
सर्वस्व-ग्रन्थ-माला-५ म कुसुम

पुरुष-सूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन

[पुरुष एव इदं सर्वम्]

उच्चस्तरीय अध्ययन-अनुसन्धान-संस्थान [जयपुर] के निदेशक—
प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन के निर्देशन में प्रस्तुत
राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा
पी-एच० डी० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

शोधकर्त्री—
कुसुमलता, एम० ए०, पी० एच० डी०
वेदोपाध्याय [वनस्थली विद्यापीठ, राज०]

संकेत-सूची

संकेत	पूर्ण रूप
अ०	अध्याय
अ० उ०	अरुणोपनिषद्
अ० को०	अमर-कोष
अ० ग०	अदादिगण
अथर्व०	अथर्ववेद [शौनक]
अधि० मा०	अधिकरणमाला
अ० पु०	अग्नि-पुराण
अ० बु० सं०	अहिर्बुध्न्य-संहिता
अ० भा०	अथर्ववेद-भाष्य
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आप० ध० सू०	आपस्तम्ब-धर्मसूत्र
आश्व० गृ० सू०	आश्वलायन-गृह्यसूत्र
आ० सा०	आचार्य सायण
ई० उ०	ईशावास्योपनिषद्
उणादि	उणादिसूत्र
उ० भा०	उवट-भाष्य
उ० वा० म०	उपनिषद्वाक्यमहाकोष
ऋ०	ऋग्वेदसंहिता [शाकल]
ऋ० भा०	ऋग्वेदभाष्य
ऋ० भा० भू०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० उ०	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० उ० ब्रा०	ऐतरेय-उपनिषद्-ब्राह्मण
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय-ब्राह्मण
क० उ०	कठोपनिषद्
क० क०	कपिष्ठल-कठ-संहिता
का०	काण्ड
का० प्र०	काव्यप्रकाश
का० श्रौ० सू०	कात्यायन-श्रौतसूत्र
का० सं०	काठक-संहिता
के० उ०	केनोपनिषद्
कौ० उ०	कौषीतकि-ब्राह्मण-उपनिषद्
कौ० ब्रा०	कोषीतकि-ब्राह्मण
क्र्या० ग०	क्र्यादि-गण
ग० पु०	गरुड़-पुराण
गो० गृ० सू०	गोभिल-गृह्य-सूत्र
गो० ब्रा०	गोपथ-ब्राह्मण
च० भा०	चन्द्रमणि-भाष्य
च० सं०	चरकसंहिता
चि० उ०	चित्युपनिषद्
चु० ग०	चुरादिगण
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
जा० उ०	जाबालोपनिषद्
जु० ग०	जुहोत्यादिगण
जै० उ० ब्रा०	जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण
जै० ब्रा०	जैमिनीय-ब्राह्मण
जै० सं०	जैमिनीय-संहिता
टि० सं०	टिप्पणी-संख्या
त० भा०	तर्कभाषा
तां० ब्रा०	ताण्ड्य-ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय-आरण्यक
तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय-ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय-संहिता
त्रि० ता० उ०	त्रिपुरतापिन्युपनिषद्
दि० ग०	दिवादिगण
दै० ब्रा०	दैवत-ब्राह्मण
द्र०	द्रष्टव्य
धा० दी०	धातुदीपिका
धा० पा०	धातुपाठ
नि०	निघण्टु
निरु०	निरुक्त
निरु० । दु० भा०	निरुक्त-दुर्गभाष्य
निरु० । वि० टी०	निरुक्त-विवृतिटीका
निरु० । स्क० भा०	निरुक्त-स्कन्दभाष्य
नृ० पू० उ०	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
न्या० कु०	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्या० सू०	न्यायसूत्र
प० पु०	पद्मपुराण
प० म० वि०	पंचमहायज्ञविधि
पा०	पाणिनीय
पा० गृ० सू०	पारस्कर-गृह्यसूत्र
पा० व्या० म०	पातंजल-व्याकरण-महाभाष्य
पा० शि०	पाणिनीय-शिक्षा
पू०	पूर्वार्चिक
पू० मी०	पूर्वमीमांसा
पू० मी० । श० स्वा० भा०	पूर्वमीमांसा-शबरस्वामी-भाष्य

पु॰ सू॰	पुरुषसूक्त
पू॰ सं॰	पूना-संस्करण
पृ॰	पृष्ठ
पृ॰ सं॰	पृष्ठ-संख्या
प्र॰ उ॰	प्रश्नोपनिषद्
बृ॰ उ॰	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ॰ दे॰	बृहद्देवता
ब्र॰ पु॰	ब्रह्मपुराण
बृ॰ वि॰ शा॰	बृहद्-विमान-शास्त्र
भ॰ गी॰	भगवद्गीता
भ॰ पु॰	भविष्य-पुराण
भ॰ भा॰	भट्टभास्कर
भा॰ पु॰	भागवत-पुराण
भा॰ प्र॰ नि॰	भावप्रकाश निघण्टु
भ्वा॰ ग॰	भ्वादिगण
म॰ ना॰ उ॰	महानारायणोपनिषद्
मनु॰	मनुस्मृति
म॰ पु॰	मत्स्य-पुराण
म॰ भा॰	महाभारत
म॰ भा॰ । अश्व॰ प॰	महाभारत-अश्वमेधपर्व
म॰ भा॰ । आ॰ प॰	महाभारत-आश्रमवासिकपर्व
म॰ भा॰ । भी॰ प॰	महाभारत-भीष्मपर्व
म॰ भा॰ । व॰ प॰	महाभारत-वनपर्व
म॰ भा॰ । वि॰ प॰	महाभारत-विराट्पर्व
म॰ भा॰ । शा॰ प॰	महाभारत-शान्तिपर्व
म॰ भा॰ । स॰ प॰	महाभारत-सभापर्व
मा॰ उ॰	माण्डूक्योपनिषद्
मा॰ उ॰ का॰	माण्डूक्योपनिषत्कारिका
मान॰ भा॰	मानवार्षभाष्य
मु॰ उ॰	मुण्डकोपनिषद्
मै॰ उ॰	मैत्रायण्युपनिषद्
म॰ सं॰	मैत्रायणी-संहिता
यजु॰	यजुर्वेदसंहिता [शुक्ल वाजसनेयी माध्यन्दिन]
यजु॰ वा॰ सं॰	यजुर्वेद-वाजसनेयी-संहिता
य॰ भा॰	यजुर्वेदभाष्य
याज्ञ॰ स्मृ॰	याज्ञवल्क्य-स्मृति
या॰ शि॰	याज्ञवल्क्य-शिक्षा
यो॰ कु॰ उ॰	योगकुण्डल्युपनिषद्
यो॰ सू॰	योगसूत्र
यो॰ सू॰ । व्या॰ भा॰	योगसूत्र-व्यासभाष्य
रा॰ उ॰ उ॰	रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
लिं॰ पु॰	लिंग-पुराण
वज्रसू॰ उप॰	वज्रसूचिकोपनिषद्
वा॰ को॰	वाचस्पत्यम् कोष
वा॰ पु॰	वायु-पुराण
वा॰ रा॰	वाल्मीकीय रामायण
वा॰ रा॰ । किष्कि॰	वाल्मीकीय रामायण किष्किन्धाकाण्ड
वि॰ ध॰ पु॰	विष्णुधर्मोत्तर-पुराण
वि॰ पु॰	विष्णु-पुराण
वि॰ स्मृ॰	विष्णु-स्मृति
वे॰ सू॰	वेदान्तसूत्र
वे॰ सू॰ । वि॰ भा॰	वेदान्तसूत्र-विद्योदयभाष्य
वैशे॰ सू॰	वैशेषिकसूत्र
व्या॰	व्याख्या, व्याख्याकार
व्या॰ स॰	व्याख्यासहित
श॰ क॰ को॰	शब्दकल्पद्रुमकोष
शत॰ ब्रा॰	शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिनीय)
शं॰ वि॰	शंकरविजय
शि॰ पु॰	शिवपुराण
शु॰ नी॰	शुक्रनीति
शु॰ य॰ स॰	शुक्लयजु:सर्वानुक्रमसूत्रम्
श्वे॰ उ॰	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शो॰ प्र॰	शोधप्रबन्ध
शौ॰ ऋ॰	शौनकीय-ऋग्विधान
शौ॰ भा॰	शौनक-भाष्य
ष॰ ब्रा॰	षड्विंश-ब्राह्मण
स॰ द॰ सं॰	सर्वदर्शनसंग्रह
स॰ भा॰ स॰	सन्ध्याभाष्यसमुच्चय
सां॰ का॰	सांख्यकारिका
सां॰ सि॰	सांख्यसिद्धान्त
सां॰ सू॰	सांख्यसूत्र
सा॰ भा॰	सायणभाष्य
साम॰	सामवेदसंहिता (कौथुम)
सि॰ प्र॰	सिद्धान्तप्रदीप
सुबा॰ उ॰	सुबालोपनिषद्
सु॰ सं॰	सुश्रुत-संहिता
स्क॰ पु॰	स्कन्द-पुराण
स्मृ॰ मु॰ फ॰	स्मृति-मुक्ताफल
स्वा॰ ग॰	स्वादिगण
स्वा॰ द॰ भा॰	स्वामी दयानन्द-भाष्य
हला॰ को॰	हलायुधकोष
ह॰ ले॰	हस्तलेख
ह॰ वं॰ पु॰	हरिवंश-पुराण

सूक्तसम्बन्धी सूक्तियां

वेदेषु पौरुषं सूक्तं पुराणेषु च वैष्णवं । भारते भगवद्गीता धर्मशास्त्रेषु मानवम् ॥

[पद्म-पुराण]

●

मथ्यमानस्ततस्तस्मात्सामर्ग्यजुष-संकुलात् । तत्सूक्तं पुरुषं दिव्यं दध्नो घृतमिवोत्थितम् ॥
श्रुतिषु प्रबला मन्त्रा मन्त्रेष्वाप्यात्मवेदिनः । तत्रापि पौरुषं सूक्तं न तस्माद् विद्यते परम् ॥

[लक्ष्मी-तन्त्र]

●

सूक्त परिमाण

नानाभेद-प्रपाठं तत्पौरुषं सूक्तमुच्यते । ऋचश्चतस्रः केचित्तु पञ्च षट् सप्त चापरे ॥
ऋचः षोडश चाप्यन्ये तथाष्टादश चापरे । अधीयते तु पुं-सूक्तं प्रतिशाखं तु भेदतः ॥

[अज्ञात-कर्तृक]

●

तदतिष्ठत्

दशांगुलम्

पुरुष-सूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन

की विस्तृत

विषय-सूची

द्वितीय अध्याय ५६-८३

सूक्त का संगति-सूत्र

परम तत्त्व-पुरुष

चतुर्थ अध्याय १२१-१५८

दार्शनिक तत्त्व

दशांगुल तत्त्व १३१

भूमि तत्त्व

अथ अश्वमेधः

अथ गोमेध

अथ अविमेध

अथ अजमेधः

षष्ठ अध्याय २३४-२५३

सर्गोदय

इदं सर्वम्

सप्तम अध्याय २५४-२८६

वेदाविर्भाव

अष्टम अध्याय २८७-३२१

सामाजिक तत्त्व

पारिभाषिक शब्द-सूची

शुभाशंसा

प्रसन्नता का विषय—

आयुष्मती कुमारी कुसुमलता ने मेरे निर्देशन में **'पुरुष सूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन'** इस विषय पर १० अध्यायों में जो विद्वत्तापूर्ण शोधप्रबन्ध राजस्थान विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिए लिखा और तदर्थ स्वीकृत हुआ उसे प्रकाशित रूप में देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

अध्ययन और श्रम साध्य—

इस प्रबन्ध को आद्योपान्त पढ़ने वाले पाठकों को स्वत: विदित हो जाएगा कि इसकी **प्रस्तुति और प्रकाशन** दोनों में **कुमारी कुसुम** को कितना गहन और **विस्तीर्ण अध्ययन** तथा **धैर्य-संवलित श्रम** करना पड़ा होगा। लगभग २०० ग्रन्थों के तो इसमें उद्धरण ही हैं। इन सबको प्राप्त करने के लिए प्राय: समग्र भारत के विशिष्ट स्थानों पर उन्हें जाना पड़ा है। न केवल इन ग्रन्थों को उन्हें पढ़ना ही पड़ा है, पढ़ने के समय जो समस्याएं सामने आईं और जो प्रश्न उठे उनका समाधान करने के लिये अनेक विद्वानों से भी उन्हें परामर्श लेना पड़ा है।

भगीरथ प्रयत्न—

वेद-संहिताओं में उपलब्ध **'पुरुष-सूक्त'** आकार में छोटा-सा सूक्त है। संहिताओं में दी हुई मन्त्र-संख्या में भेद है। ५ से लेकर अधिक से अधिक २२ तक यह संख्या जाती है। इस छोटे से सूक्त को विभिन्न भूमिकाओं में जीवन के समान ही व्यापक रूप देने का **"ऐसा भगीरथ प्रयत्न वैदिक साहित्य के इतिहास में संभवतः पहली बार हुआ है।"**

लेखिका की क्षमता—

इस प्रबन्ध का **परीक्षण सूक्ष्मता** एवं **गहराई** के साथ हुआ है। उसे अनेक विशिष्टताओं से पूर्ण समझा गया है। इससे लेखिका के **जिज्ञासु-भाव, सन्तुलित दृष्टि, दुराग्रह-शून्य चिन्तन,** तथा तथ्यों को **विश्लेषित** एवं **संश्लेषित** करने की **शक्ति** के साथ-साथ विषय को अनुसन्धान की आधुनिक **वैज्ञानिक शैली** में प्रस्तुत करने की **क्षमता** का परिचय मिलता है।

स्वतन्त्र उपलब्धियां—

जैसा, विषय सूची और तदनुसार बाद के विवेचन से पता चलता है, आ० कुसुमलता ने **'अनेक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्याएं आधुनिक चिन्तन के परिवेशों में प्रस्तुत की हैं।** ये व्याख्याएं अपने आप में प्रबन्ध की **स्वतन्त्र उपलब्धियाँ** मानी जा सकती हैं। उनके माध्यम से **प्राचीनतम नवीनतम** होकर प्रकट हुआ है।

यहां यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि कुमारी कुसुम ने यज्ञ-संख्या के साथ पुरुष-सूक्त का अविच्छेद्य सम्बन्ध बड़ी योग्यता के साथ प्रतिपादित किया है। परीक्षकों के सुझाव के अनुसार मेरी सम्मति से उन्होंने अवशिष्ट गोमेध और अविमेध की भी तर्क एवं प्रमाणों से पुष्ट व्याख्या की है। इस

प्रकार यज्ञ-संस्था का समग्र एवं व्यापक अहिंसक दृष्टि से जो स्वरूप सामने आया है उसे पढ़कर वे लोग भी जो यज्ञों में पशु-हिंसा के समर्थक हैं पुनर्विचार करने को बाध्य होंगे।

सर्वतोमुखी कल्याणाभिप्रेरित—

पुरुष की याज्ञिक एवं आध्यात्मिक विवेचनाओं में सन्निहित सामाजिक तत्त्वों का प्रतिपादन पुरुष-सूक्त को मानव के सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं को समझाने में पूर्णतः सक्षम है। इस रूप में वह वर्तमान सामाजिक समस्याओं का व्यवहार्य समाधान भी प्रस्तुत करता है। यह समाधान मानव के सर्वतोमुखी कल्याण की भावना से अभिप्रेरित है।

नये आयाम—

सब मिलाकर कुमारी कुसुमलता का '**यह प्रबन्ध वैदिक साहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान के क्षेत्र में अब तक के किए गये काम को आगे बढ़ाता है, चिन्तन और तदनुसार लेखन के नये आयामों को प्रकाश में लाता है।**

लेखिका की उदात्त वृत्ति—

कुमारी कुसुम उच्चस्तरीय अध्ययन-अनुसन्धान संस्थान, जयपुर की आजीवन सदस्या हैं और उसकी स्थायी अनुसन्धान-सहयोगिनी भी हैं, इसलिए इस प्रकाशन के लिए आवश्यक अर्थशक्ति को जुटाकर आपने संस्थान को ही इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशक बनाया है। ऐसा करना उनकी उदात्त वृत्ति के सर्वथा अनुरूप है।

मेरी शुभाशंसा—

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि करनाल के सुप्रसिद्ध दानवीर श्री चौ० प्रताप सिंह जी ने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के आधार पर कु० कुसुम को सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में सम्मानित किया। मैं चाहता हूं कि इस रचना के द्वारा प्रकाश में आई हुई **कुमारी कुसुम की प्रतिभा उनके लिए बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों के शत-शत द्वार खोल दें।** जिस तरह साहस और धैर्य के साथ वे अब तक आगे बढ़ी है उसी तरह वे आगे बढ़ती जाँय। उनका स्वयं का मार्ग प्रशस्त हो और उनके मार्ग की प्रशस्तता दूसरों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन जाय। **उनका विकासशील और प्रबुद्ध व्यक्तित्व सामाजिक विकास और प्रबोध में सशक्त निमित्त बन जाय।**

शुभाशंसी—
प्रवीण चन्द्र जैन
निदेशक
उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसन्धान संस्थान,
जयपुर

जयपुर
चैत्र शुक्ला प्रतिपदा वि० सं० २०३५

[८ अप्रैल १९७८]

प्र स्ता व ना

डा० कुसुमलता का **पुरुष-सूक्त**-सम्बन्धी यह शोध ग्रन्थ उनके **अध्यवसाय, चिन्तन और पाण्डित्य** का परिणाम है, और इस **ग्रन्थ का स्वागत करते हुए हम सबको प्रसन्नता होनी स्वाभाविक है।**

ऋग्वेद के दशम मण्डलान्तर्गत नव्वेवां सूक्त पुरुष-सूक्त के नाम से विख्यात है जिसकी मन्त्र संख्या १६ है, ये सबके सब यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में तो आए ही हैं, किन्तु, 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' आदि ६ मंत्र यजुर्वेद में अतिरिक्त भी हैं जिन्हें उत्तर नारायण-अनुवाक संज्ञा दी गई है। अथर्ववेद के १९वें काण्ड के ६ठे सूक्त में भी १६ मंत्र ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त के हैं, कुछ पाठान्तर के साथ और मन्त्रों के क्रमों के भेद के साथ [सहस्रशीर्ष के स्थान में सहस्र बाहुओं को लेकर, जो सम्भवतया सहस्राक्ष और सहस्रपात् के साथ संख्या की दृष्टि से अधिक संगत माना जा सकता है] सामवेद में ५ और तैत्तिरीय संहिता में १८ मंत्र हैं।

पुरुष क्या है ? डा० कुसुमलता ने अपने शोध-ग्रन्थ में इसका सुन्दर विवेचन किया है। यह ब्रह्माण्ड में व्यापक परमात्मा भी है और शरीर में बद्ध जीवात्मा भी है, समस्त समाज भी पुरुष है। 'जो ब्रह्मांड में है सो पिण्ड में' की कहावत थोड़ी बहुत रूपक की दृष्टि से घटती भी हैं, पर कुछ विशेष अन्तर भी हैं। परमात्मा समस्त सृष्टि के भीतर व्याप्त भी है, अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड में है, किन्तु वह ब्रह्माण्ड के बाहर भी है—जीवात्मा शरीर के बाहिर तो बिल्कुल भी नहीं, शरीर में भी एक देशीय है। **"अति-अतिष्ठत् दशांगुलम्"** का अभिप्राय दोनों प्रसंगों में अलग-अलग है। पुरुष-रूप में जीवात्मा का शरीर भोग और कर्म का साधन है। ब्रह्माण्ड के प्रसंग में परम पुरुष की रची यह सृष्टि उसके अपने भोग और कर्म का साधन नहीं है।

वेद की चारों संहिताओं में अन्य भी अनेक स्थल है जिनमें ब्रह्म की कल्पना मानव-शरीर के रूपक अलंकार से की गयी हैं—ज्येष्ठ ब्रह्म [**तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**] वाले मन्त्रों में। उनमें भी पुरुष-सूक्त की हलकी सी झांकी मिलती है।

समस्त पृथिवी राजा वरुण की है, अन्तरिक्ष भी और द्यौ भी [**पृथिवी समीची द्यौर्बृहती-रन्तरिक्षम्**—अथर्व ४।१६।३], जहां सागरों का समस्त जल उसका है, वहीं पानी की नन्ही-सी बूंद भी उसी का प्रतिरूप है [जो सिन्धु में सो बिन्दु में; जो सागर में सो गागर में]। **अथर्ववेद** का यह **वरुण-सूक्त** भी **पुरुष-सूक्त** का स्मरण दिलाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् का तो आरम्भ ही **अश्व-ब्रह्म** से होता है। यदि मानव शरीर की तुलना विश्वात्मन् परमेश्वर के विराट् रूप से हो सकती है, तो अश्व के शरीर की तुलना भी उससे क्यों न हो सके। इस अश्व-ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन रूपक-अलंकार द्वारा कितना उदात्त इस उपनिषद् में है, यह निम्न कण्डिका से स्पष्ट है—

ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्द्धो निम्लोचञ् जघनार्द्धो यद् विजृम्भते तद् विद्योतते। यद् विधुनुते तत् स्तनयति। यन्मेहति तद् वर्षति वागेवास्य वाक्। (बृहदा १।१।१)

रूपक-तर्क भारतीय तत्त्वज्ञान की शैली की अपनी विशेषता है। इस रूपक-तर्क का आदि स्रोत

स्वयं वेद की ऋचाएं और सूक्त हैं। उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपक-तर्क शैली का विचित्र प्रयोग है—यह तर्क की विचित्र शैली है, जिसका विकास हमारे वैदिक साहित्य में विशेष रूप से हुआ। अन्य साहित्यों में रूपक काव्य का अलंकार मात्र रहा, किन्तु हमारे ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्य में यह रहस्योद्घाटन का तर्क-विशेष बन गया। **पुरुष-सूक्त** में यह रूपक-तर्क कई प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है। कभी तो रूपक-तर्क **"आसीद्"** क्रिया से व्यक्त होता है, कभी **'कृतः'** क्रिया से, कभी **यद्-तद्** कह कर और कभी **'अजायत'** कहकर [**ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्**], इसी प्रकार का रूपक-तर्क **"चन्द्रमा मनसो जातः"** वाले मंत्र में है और कभी यह **"नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत"** आदि के रूप में। प्रभु के विराट् यज्ञ से छोटी-सी नाटिका लेकर हमने अग्निहोत्र की पद्धति का मानो प्रचलन किया हो **"यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः"**।

पुरुष-सूक्त को विद्वान् चिन्तक अनेक दृष्टिकोणों से देख सकता है। इस सूक्त में एक नहीं कई रूपकों का एक साथ सम्मिलन है। इस सम्मिलन के समझने में चिन्तक को सावधानी रखनी पड़ती है। डा० कुसुमलता ने अपने इस शोध-ग्रन्थ में सभी प्रकार की सामग्री संकलित की है और अपनी आस्थाओं से इसे सज्जित किया है। पाठक स्वयं ही इस ग्रन्थ का महत्त्व अनुभव कर सकेंगे एवं डा० कुसुमलता की प्राञ्जल भाषा और रसास्वादिनी शैली का आनन्द उठा सकेंगे। हम सबको विदुषी लेखिका के इस प्रयास का अभिनन्दन करना चाहिए। लेखिका को शतशः बधाइयां और मुहुर्मुहुः आशीर्वाद।

नई दिल्ली, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती
चैत्र शुक्ला प्रतिपदा
[८ अप्रैल १९७८]

प्राक्कथन

अचिन्त्यशक्ति विधाता के इस अद्भुत संसार में विचित्रताओं की परम्परा का कोई पारावार नहीं। आरम्भ से ही वैज्ञानिक विषयों में अभिरुचि होने के कारण शालीय उच्च कक्षाओं में विज्ञान विषय की एक छात्रा के रूप में मैंने प्रवेश लिया था और आज संस्कृत-विभाग की एक शोध-छात्रा के रूप में इस शोधप्रबन्ध को प्रस्तुत करने जा रही हूं—इस बात की मुझे बड़ी प्रसन्नता है।

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के समापन के पश्चात् जब मैं स्नातक परीक्षा का भी प्रथम वर्ष उत्तीर्ण कर चुकी तो एक दिन मेरे वेद-प्रेमी भ्राता जी की प्रेरणा से अकस्मात् मेरी संस्कृत पढ़ने की अन्तःसुप्त लालसा जाग उठी। वह अभीप्सा प्रबल और प्रबलतर होती चली गई। अन्ततः विवश होकर मुझे विषय-परिवर्तन करना पड़ा। अब मैं संस्कृत की छात्रा थी। वनस्थली विद्यापीठ जैसे विद्याव्रतमात्र वातावरण वाले संस्थान में, विद्वान् तथा अध्यवसायी गुरुजनों के कृपापूर्ण निर्देशन में, उत्तरोत्तर संस्कृत-विषयक प्रगति होने लगी और मेरी अभिरुचि दिनों-दिन बढ़ने लगी। स्नातक तथा स्नातकोत्तर परीक्षाओं में वेदविषयक प्रश्नपत्र के पाठ्यक्रम में चुने हुए वैदिकसूक्तों के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि संस्कृत के सभी पाठ्यग्रन्थ मुझे रुचिकर थे, पर इन **वैदिकसूक्तों** का ही हृदय पर एक विशेष प्रभाव हुआ। सृष्टि के आरम्भ में, वैदिक भाषा में इतने सरल शब्दों में इतने उच्च भावों को देखकर आश्चर्य होता था। विशेषकर **इन्द्र-सूक्त,** [ऋ-२-१२] **हिरण्यगर्भ-सूक्त** [ऋ. १०-१२१] **नासदीय, सूक्त** [ऋ. १०-१२९] आदि को तो पुनः पुनः पढ़ने की इच्छा होती थी। किन्तु जब **पुरुष सूक्त** [ऋ. १०-९०] पढ़ा, तब तो कहना ही क्या था, बड़ा आश्चर्य-मिश्रित हर्ष हुआ। इस सूक्त को कई बार पढ़ा, कई प्रकार से पढ़ा। सूक्त मन में ही समा-सा गया।

पुरुष-सूक्त के प्रति इस आकर्षण का कारण बना मात्र **एक वाक्य** जिसे मैंने वेदों के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् विद्यामार्तण्ड श्री पं० **बुद्धदेव** [स्वा० समर्पणानन्द] जी **विद्यालङ्कार** के श्री मुख से सुना था कि—"**पुरुष-सूक्त वेदों को समझने की कुञ्जी है।**" उस समय न तो श्री पं० जी ने ही इस वाक्य का रहस्य समझाया और न मैं ही साहस कर सकी कि उनसे यह पूछ लूं कि पुरुष सूक्त वेदों को समझने की कुञ्जी किस प्रकार है, बस मैंने तो इतना ही किया कि इसे आप्त वाक्य मान कर मन ही मन निश्चय कर लिया कि-कुछ भी हो, यह कुञ्जी तो अवश्य हस्तगत करनी ही चाहिए फिर चाहे ताला खुले अथवा न खुले, बस अब यही कह सकती हूं कि कुञ्जी तो हस्तगत हो ही गई है।

मैंने देखा कि एक यही **सूक्त** ऐसा है जो **चारों वेदों** में आया है, इसमें एक ऐसे **पुरुष** का वर्णन है जिसके **हजारों शिर, चक्षु** तथा **पाद** हैं, यही एक ऐसा स्थल है जहां जीवन के एक **परम सत्य** को, '**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**' के अतिपरिमित शब्दों में कहकर मानो सब कुछ कह दिया गया है, यही एक ऐसा सूक्त है जो अपने आप में परिपूर्ण है, एक सम्पूर्ण इकाई है, [जो '**न कुतश्चनोनः**' है,] एक साथ इतने अधिक विषय ! अतिस्वल्प शब्दों में इतने महान् भाव !! अति **सीमित अक्षरों में असीम 'अक्षर'** ईशान का महिमानुवाद !!! देखकर बड़ा आश्चर्य होता था। **सहस्रशीर्षाक्षपाद्-पुरुष, दशांगुल व्यक्ति, भूत और भव्य** का समस्त **प्रमेय, विराट्-जन्म, भौतिक जगत् प्राणिजगत्, मानवसर्ग, यज्ञसंस्थान,**

ज्ञानोद्भव, वर्ण-विधान, ऋतुचक्र, विविध-लोक-संरचना, समाज-व्यवस्था आदि विविध विषयों का इस एक ही सूक्त में समावेश देखकर—कभी-कभी यह सोचने पर भी विवश हो जाती कि-क्या मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने वाला ऐसा भी कोई विषय है जिसका इस सूक्त में प्रत्यक्ष या परोक्ष संस्पर्श न किया गया हो ? ये सब भाव मन में उठते थे, किन्तु परीक्षा के निश्चित पाठ्यक्रम के बन्धन और अन्य प्रश्न-पत्रीय ग्रन्थों के अध्ययन-भार से निगडित-से, दब्ध-से ये भाव अपनी दृढ़ संस्कार-सम्पदा के साथ हृदयावनि में ही विलीन रहे।

स्नातकोत्तर परीक्षा के सुपरिणाम के घोषित होने पर जैसे ही पी० एच० डी० उपाधि के लिए बात चली तो, सहसा मुझे वह **गरिमामय पुरुषसूक्त** स्मरण हो आया। मैंने अपने माननीय **आचार्य श्री प्रवीणचन्द्र जी जैन** के सम्मुख अपना विचार रक्खा। पर्याप्त विचार-विनिमय के पश्चात् जब उन्होंने मुझे—"**पुरुष-सूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन**' इस विषय पर शोध कार्य करने की अनुमति दे दी तो जो हर्ष मुझे हुआ वह वर्णनातीत है। राजस्थान विश्वविद्यालय से उसका रजिस्ट्रेशन हो गया, मुझे स्वीकृति मिल गई और बस, मैंने कार्य का आरम्भ कर दिया। इधर वनस्थली विद्यापीठ ने सहज वात्सल्य से एक छात्रवृत्ति भी जुटा दी।

शोधकार्य के लिए प्रयत्न—

शोधकार्य के लिए स्वीकृति मिलने पर जहां अत्यन्त प्रसन्नता हुई, वहां विषय की दुरूहता से चिन्ता भी कुछ कम न हुई। सूक्त के कुल सोलह मन्त्र और उस पर चार-सौ, पांच-सौ पृष्ठ का निबन्ध लिखना-एक समस्या थी, जिसे मैंने आदरणीय आचार्य जी के समक्ष रखा। उन्होंने सर्वप्रथम मेरा उत्साह-वर्धन किया और परामर्श दिया कि तुम इस सूक्त पर जो भी भाष्य मिलते हैं सब पढ़ डालो और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित सारे संग्रह भी देख डालो। मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर सभी भाष्यों को देखा, सामग्री एकत्रित की। इससे कुछ दिशा-निर्देश मिला, परन्तु क्या इतने मात्र से शोध कार्य कर सकूंगी ? मेरी मूल समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। मैंने अपना ध्येय मन्त्र बना लिया...."**कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्**।" इस मन्त्र ने मुझे लक्ष्य तक पहुंचा दिया अन्यथा न जाने मैं कब की बीच ही में छोड़ बैठती। मैंने निश्चय कर लिया कि भारतबर्ष के जितने भी विशाल पुस्तकालय हैं, उनमें जाकर, पुरुष-सूक्त के सम्बन्ध लेखों-भाष्यों का जहां संग्रह करूंगी वहां पुरुष-सूक्त के हस्त-लेखों को भी देखूंगी। इसके लिए मैंने वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय के **सरस्वती-भवन पुस्तकालय** तथा बंबई के प्रसिद्ध '**सार्वजनिक पुस्तकालय**' पूना के **भण्डारकर इन्स्टीट्यूट**, पूना-विश्वविद्यालय के **पुस्तकालय तथा वैदिक संशोधनमण्डल** से प्रत्यक्ष साहाय्य लेने का प्रयत्न किया। कलकत्ता के '**नेशनल लाइब्रेरी**' नाम से प्रसिद्ध पुस्तकालय से भी सहायता ली।

एतदर्थ मैं उत्तर भारत की सबसे विशाल शोध-संस्था होश्यारपुर स्थित '**विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान**' में भी गई, **गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी** में प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश के दिनों में वहां के **विशाल पुस्तकालय** से भी लाभ उठाती रही। मैं कदापि यह नहीं भूल सकती कि इन पुस्तकालयों के अध्यक्ष तथा प्रबन्धकर्त्ता महानुभावों का व्यवहार कितना सौजन्यपूर्ण था, यह मुझे सदैव स्मरण रहेगा। वनस्थली विद्यापीठ के केन्द्रीय पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री आदरणीय रैना साहब का भी वात्सल्यपूर्ण साहाय्य सद्भाव चिरस्मरणीय रहेगा।

इस प्रसंग में तीन विशिष्ट व्यक्तियों का नामोल्लेख भी आवश्यक है। सर्वप्रथम हैं—पूना के प्रख्यात वैदिक विद्वान्, आदरणीय **डा० दाण्डेकर जी**। समय का अत्यन्त अभाव होते हुए भी उन्होंने

मुझे अपना अमूल्य समय प्रदान किया और पुरुष-सूक्त से सम्बद्ध समस्त साहित्य का परिचय कराया, यही नहीं, निज-सम्पादित **Vedic Bibliography** की सूचनानुसार पुरुष-सूक्त से सम्बद्ध साहित्य पढ़ने पर बल दिया। मैं इससे पूर्व भी वह सब पर्याप्त देख चुकी थी। तब उन्होंने **तृतीय भाग के** [जोकि उस समय तक अप्रकाशित था] पुरुष-सूक्त सम्बन्धी साहित्य का विवरण अपने हाथ से लिखकर दिया जिसे मैंने एक मधुर-स्मृति के रूप में अब तक सुरक्षित रख रखा है। इसी साहित्य-पेटिका में डा० अग्रवाल के **Vedic Lectures** नामक पुस्तक में वर्णित पुरुष-सूक्त सम्बन्धी **'परिचय'** भी था। उस टिप्पणी को पढ़कर मुझे प्रेरणा मिली कि इस पुस्तक को हर अवस्था में प्राप्त करना है। मैं तत्काल वाराणसी गई और पता लगाते-लगाते उनके सुपुत्र से भेंट की। मेरे हर्ष का कोई पारावार न था जब मैंने उसमें पुरुष-सूक्त से सम्बद्ध लेख को पढ़ा, उस लेख ने मेरी आंखें खोल दीं, मेरे लिए उसने प्रकाशस्तम्भ का कार्य किया। डा० अग्रवाल दिवंगत हो चुके थे उनके प्रत्यक्ष दर्शन के सुअवसर का सौभाग्य मुझे न मिला। उनके लेखों के माध्यम से ही उनसे साक्षात्कार हुआ। मानो इनमें विद्यमान उनकी आत्मा ही अब आकर नित्य प्रेरणा देती रही। मैं विश्वासपूर्वक कह सकती हूं यदि डा॰ अग्रवाल आज जीवित होते और मेरे शोध प्रबन्ध को देखते तो वे मुझे अत्यन्त साधुवाद देते। तीसरे महानुभाव गोरखपुर-निवासी हिन्दी-विभाग के प्रवक्ता श्री **अवस्थी** जी हैं जिनसे उनके द्वारा संगृहीत कतिपय अलभ्य पुरुष-सूक्त-सम्बन्धी लेखों और भाष्यों का परिचय मिला।

[इसी मध्य पुरुष-सूक्त-सम्बन्धी जर्मन[1] और रूसी विद्वानों के लेख भी देखे और औत्सुक्यवश उनकी प्रतिलिपि भी की, परन्तु खेद है कि इन भाषाओं का अच्छा ज्ञान न होने से मैं उनका इस प्रबन्ध में कोई उपयोग न ले सकी।]

मेरी कठिनाईयां—

शोधकार्य के एक बार आरम्भ हो जाने पर नित्य नई शंकायें नई समस्याएं, नए वितर्क उपस्थित होते रहते थे। इधर मैं अल्पबुद्धि उनसे जूझती रहती थी। उनमें से कुछ वितर्क इस प्रकार के थे—**"सूक्त का देवता यह पुरुष है कौन ? उसे 'सहस्रशीर्षा क्यों कहा गया है ? और अथर्ववेद में उसी को पुनः सहस्रशीर्षा न कहकर सहस्रबाहु क्यों कहा गया है ? सहस्रपाद् का क्या अर्थ है ? शीर्ष, चक्षु और पाद की तिलड़ी अवधारणा से संकेत क्या है ? सब ओर से घिरी हुई 'भूमि' का क्या आशय है ? 'अत्यतिष्ठत्' पद का क्या अर्थ है ? 'दशांगुल' कौन है ? 'इदं सर्वम्' क्या है ? 'अन्न से उत्कृष्टतर 'अमृत' का अभिप्राय क्या है ? स्वयं यह 'अन्न' किस वस्तु का द्योतक है ? महिमा का [सर्वशक्तिमान्] तत्त्व क्या है ? पुरुष अपनी महिमा से बढ़ कर कैसे है ? 'त्रिपाद्' 'एकपाद्' 'ऊर्ध्व' तथा 'इह' पदों का क्या अभिप्राय है ? 'व्यक्रामत्' पुरुष का सभी ओर से [अभि] आगमन क्या है ? 'साशन' और 'अनशन' शब्दों का आशय क्या है ?**

'विराज्' क्या है ? और पुरुष ने उसकी रचना कैसे की थी ? सहस्रशीर्षा पुरुष तथा 'विराज्' के संसर्ग से उत्पादित पुरुष कौन था ? वह पृथ्वी और द्यु-लोक के मध्य कैसे विचरण करता है ? देवताओं द्वारा आयोजित प्राचीन प्रथम यज्ञ की आहुति के तीन घटक क्या-क्या थे ? 'साध्य' देव कौन थे ? 'सर्वहुत् यज्ञ' का क्या अर्थ है ? सृष्टि-यज्ञ के संदर्भ में 'पृषदाज्य' का क्या अभिप्राय है ? पशु की व्यवस्था क्या है ? तिहरे पशु कौन हैं ? प्रजापति के सर्वहुत् यज्ञ में से उत्पन्न त्रयी विद्या (तीन वेद) किसका संकेत देते हैं ? छन्दांसि क्या अथर्ववेद का वाचक है ? त्रयी विद्या और वेद-चतुष्ट्य में क्या

संगति है ? दसवें मंत्र में वर्णित यज्ञिय पांच पशु कौन हैं ? ग्यारहवें और बारहवें मन्त्रों में वर्णित चार सामाजिक वर्गों का संकेतित अभिप्राय क्या है ? तेरहवें तथा चौदहवें मन्त्र में प्रतिपादित विराट् की अवधारणा का क्या स्वरूप है ? चन्द्रमा का सम्बन्ध स्रष्टा के मन, और सूर्य का सम्बन्ध स्रष्टा की आंख से क्यों जोड़ा गया है ? यज्ञ में पुरुष-रूप पशु को बाँधने के लिए यूप कौन सा है ? दो यज्ञ क्या हैं और यज्ञ से यज्ञ का यजन कैसे किया गया था ? प्रथम धर्म का क्या अर्थ है ? इत्यादि ।

जब इन **वितर्कों** को लेकर मैं किसी विद्वान् के चरणों में उपस्थित होती तो वह याज्ञवल्क्य के शब्दों में यही कहता—**माति प्रश्नान् प्राक्षी ! 'मूर्धा ते विपतिष्यति'** ।

ऐसी अवस्था में कि जब मुझे कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था, सहसा श्री पं० बुद्धदेव जी का स्मरण हो आया, क्यों न उनका साक्षात् कर इन वितर्कों का उत्तर प्राप्त कर लिया जाए, जिनके एक वाक्य से शोधकार्य का सूत्रपात हुआ है, परन्तु मुझे यह जानकर अत्यन्त खेद हुआ कि वे इस नश्वर संसार में नहीं रहे । इस निराशा निशा में एक आशा किरण फूटी और जिसने प्रेरणा दी कि उनका निर्मित साहित्य तो है कि जो इन वितर्कों को सुलझाने में तुम्हारी भरपूर सहायता करेगा, बस मैंने उनके साहित्य को बड़े मनोयोग से पढ़ा जिसके परिणाम स्वरूप मेरी कतिपय समस्याएं अनायास हल होती गईं । उनके **स्वर्ग** नामक ग्रन्थ के आधार पर ही **संगति-सूत्र** नामक द्वितीय अध्याय में **लोकात्मा-पुरुष** और **आश्रमात्मा पुरुष** का चित्रण करने में समर्थ हो सकी हूं । उनके **'अद्भुत कुमार संभव' 'आलम्भन' 'संज्ञपन' 'अवदान'** और **'किसकी सेना में भरती होंगे'** आदि निबन्धों ने तो मेरी सर्वाधिक जटिल समस्या [पञ्चमाध्याय गत] मेध-प्रकरण को सहज ही हल कर दिया है और **'कायाकल्प'** ग्रन्थ ने तो वर्णात्मा-पुरुष के चित्रण में अपूर्व योगदान दिया है । साथ ही उन्होंने पदे-पदे मन्त्र द्रष्टा ऋषि दयानन्द की ओर इंगन भी किया है कि मुझे यह प्रकाश उन ही से मिला है । बस मैंने भी दयानन्द-सरणी का अवलम्ब लिया है । दयानन्द-सरणी का अनुगमन करते ही मैं वितर्क-महारण्य को सहज ही पार कर गई हूं, अतः **नमः ऋषिभ्यः पथिकृद्भ्यः, पूर्वजेभ्यः**, कहकर उनके प्रति नतमस्तक हूं ।

मैंने **'पुरुष सूक्त एक परिचय'** नामक प्रथम अध्याय को लिखकर जब अपने निर्देशक मान्य श्री प्रवीण चन्द्र जी जैन को दिखाया तो न केवल उन्होंने मुझे साधुवाद ही दिया अपितु अपने संस्थान की अध्ययन-अनुसंधान-नामक पत्रिका में सर्व-प्रथम प्रकाशित कर उत्साहित भी किया बस, उनसे प्रेरणा पाकर मैं अपने कार्य में जुट गई ।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि इस प्रबन्ध में मैंने प्रायः सभी ऐसे वितर्कों के समाधान का प्रयास किया है । कतिपय समाधानों में अनुभव होगा कि मैं कल्पना के पंख लगाकर उड़ रही हूं, पर मैं ही इसमें कैसे सदोष हूं ? जब स्वयं सूक्त में ही पुरुष के विषय में कहा गया है—**'यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्'** । और फिर सृष्टि-रचना के समय स्वयं ब्रह्म भी तो सर्वप्रथम कल्पना ही का आश्रय लेता है [यथा पूर्वमकल्पयत्] । [कल्पना के आधार पर ही सम्पूर्ण निर्माण करता है ।] हां ! वह कल्पना साधार होनी चाहिए । शोध-प्रबन्ध में भी कहीं-कहीं जो सामान्यदृष्टि से देखने पर कल्पना प्रतीत होती है वस्तुतः वह साधार ही हैं, प्रमाणों से पुष्पित ही हैं ।

जिस समय शोध-प्रबन्ध का प्रारूप तैयार किया गया था उस समय समस्या यह थी कि शोध में क्या कुछ दिया जाय ? क्या कुछ रखा जाय ? प्रबन्ध को दस अध्यायों में बांटा गया । उसका प्रारूप तैयार किया गया, उस समय ही उसके संकेतों को कुछ विस्तार से दिया गया था । उसके विश्व-विद्यालय द्वारा

स्वीकृत हो जाने के पश्चात् भी प्रारूप में विद्यमान संकेतों का पूर्ण रूपेण समाधान सूक्त से मिल सकेगा या नहीं इसमें भी संदेह था। लेकिन जैसे-जैसे कार्य प्रगतिशील हुआ, वैसे-वैसे यह अनुभव होने लगा कि न केवल प्रारूप का प्रत्येक अध्याय एक-एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध का विषय है, अपितु सूक्त का एक-एक शब्द [**पुरुष, दशांगुल, विराट्, पृषदाज्य सर्वहुत्, प्रजापति**] पृथक् शोध का **विषय है**। अब यह अनुभव हो रहा था कि सीमित पृष्ठों में इसे किस प्रकार समेट पाऊंगी। कालिदास के शब्दों में [स्वल्प परिवर्तन के साथ] मेरी स्थिति कुछ ऐसी थी—

क्व नू सूक्तार्थं गाम्भीर्यं क्व चाल्पविषया मतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

मैं मोहवश अपनी नाव को कथं-कथमपि खे रही थी। नाव कभी डगमगाती, कभी हिलने लगती और कभी बाधाओं और समस्याओं के झंझावात से **अब डूबूं-तब डूबूं'** की स्थिति में पहुंच जाती। परला तीर अभी दूर था, किन्तु मर्यादित समय का तट निकटतर होता जा रहा था। बड़ी विचित्र स्थिति थी! परन्तु **नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'** और **'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'** के सम्बल पर मैं अपनी नैया को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करती रही, तभी परमपिता प्रभु ने भी अपने ही ढंग से अनेक सहृदय विद्वज्जनों का आशीर्मय साहाय्य सुलभ करा दिया। इनमें मेरे भ्राता श्री पं० सत्यानन्द जी वेदवागीश का नाम प्रथमतः उल्लेखनीय है। जिनसे मैंने संस्कृत भाषा की बारहखड़ी से लेकर उच्चतर [एम० ए०] कक्षाओं तक का अध्ययन किया है, उन्होंने मेरी निरुक्त-व्याकरण से सम्बद्ध समस्याओं का पदे-पदे समाधान किया, मैं उनकी इस वात्सल्यमयी कृपा के लिए सदा कृतज्ञ रहूंगी। द्वितीय हैं प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री जिन्होंने अपने अतिव्यस्त कार्यक्रम में से अनेक बार प्रचुर समय प्रदान कर इस शोध-प्रबन्ध के दर्शनतत्त्व-सम्बद्ध अध्यायों को सुना और अपने सत्परामर्श से कृतार्थ किया। मैं उनकी इस कृपा से अतिलाभान्वित हुई।

अन्य हितैषी महानुभावों में सर्व श्री पं० जगदीशाचार्य जी नैषधाचार्य, सर्वश्री पं० रमेशचन्द्र जी शास्त्री, [अजमेर] श्रीमती डा० श्यामाजी भटनागर, श्री चन्द्रकिशोर जी गोस्वामी [वनस्थली विद्यापीठ] के नाम साभार स्मर्त्तव्य हैं। नमः गुरुभ्यः

इस शोध-प्रबन्ध को **दस अध्यायों** में विभक्त किया गया है। **प्रथम अध्याय** में पुरुष-सूक्त का परिचय कराया गया है उसका मूलस्रोत क्या है इसका पर्याप्त विवेचन किया गया है। चारों वेदों में इसकी उपलब्धि दिखाकर-मन्त्रों की **संख्या-भिन्नता** को **क्रमभिन्नता** को, यहाँ तक कि **पद-भिन्नता** को भी स्पष्ट करते हुए, उस-उस भिन्नता के कारणों की ऊहापोह में सम्भाव्य समाधान भी प्रस्तुत किये गये हैं। पुरुष-सूक्त का क्षेत्र कहां तक विस्तीर्ण हुआ है इसे वैदिक एवं वेदेतर साहित्य से प्रमाणित किया गया है। पुरुष-सूक्त पर वेद के प्रमुख भाष्यकार **आचार्य-सायण, शौनक, उवट, महीधर** एवं स्वामी **दयानन्द** के मत दिखाए गए हैं। सूक्त के **देवता** और **ऋषि** कौन हैं उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है—इस मूल प्रश्न पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय में उस **बिन्दु** पर ध्यान **केन्द्रित** किया गया है जिसे सूक्त का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है। वेदोद्भावक यज्ञ-पुरुष परमात्मा, इस सूक्त के माध्यम से—**लोक** और **पुरुष** पर, **ब्रह्माण्ड** और **पिण्ड** पर, अध्येता का ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं, वैदिक साहित्य में उपलब्ध होने वाले **'पिण्ड-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्' पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' 'पुरुषो वै संहस्रस्य प्रतिमा' 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** जैसे सूत्रों की उद्भावना भी इसी पुरुष-सूक्त के आधार पर ही हो सकी है। इन सूत्रों का विस्तार वैदिक साहित्य

में यत्र-तत्र हुआ है। यहां प्रयास किया गया है कि इन सूत्रों पर आधृत सब पुरुषों को एक स्थान पर संकलित कर दिया जाय।

तृतीय अध्याय में **'पुरुष के स्वरूप और उसकी व्यापकता'** पर, वैदिक एवं वेदेतर साक्षियों के आधार पर विचार करते हुए पुरुष शब्द के बहुविध **निर्वचनों** का आश्रय लिया गया है। तत्पश्चात् इन विभिन्न निर्वचनों के आधार पर पुरुष के स्वरूप का आकलन किया गया है। **पुरुष की षोडश कलाओं** का वर्णन भी इसी अध्याय में किया गया है। अनुसंधान में वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होने वाली विविध षोडश कलाओं को संगृहीत करते हुए पुनरपि सूक्त-गत मन्त्रों के आधार पर स्वीय ऊहा द्वारा **स्वतन्त्ररूपेण इन षोडश कलाओं** की उद्भावना की गई है, जिससे पुरुष का स्वरूप और भी स्पष्ट हो सका है।

चतुर्थ अध्याय में सूक्तगत विशिष्ट दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा की गई है कि अब इनके आधार पर सृष्टि-उत्पत्ति का उपक्रम हो सके। **पुर-तत्त्व** क्या है ? **दशांगुल-तत्त्व**, किस प्रकार मनुष्य का वाचक है और उसके आधार पर सूक्त के मर्म को समझने में कितना **चमत्कार** हुआ हैं यह भी विवेचन किया गया है। सूक्त में दो बार प्रयुक्त **'भूमि'** पद किन-किन अर्थों का वाचक है यह भी दर्शा दिया गया है। सूक्त का **'विराट्'-तत्त्व** अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है, इसलिए उसका पर्याप्त विवेचन हुआ है। वह किन-किन का वाचक है यह भी दिखाया है। उसके त्रिविध निर्वचन उसके स्वरूप पर किस प्रकार प्रकाश डालते हैं यह भी दर्शाने का प्रयत्न किया हैं तत्पश्चात् **'इदं सर्वम्'** नामक तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यहां उसे सृष्टि-रचना का मूल वह **'आपः'** तत्त्व माना है जिसे वेदों में **'सलिल'** नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रबन्ध में **'पृषदाज्य'** की एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में व्याख्या की गई है। **'रेतस्'** और **'पृषदाज्य'** को एक ही तत्त्व के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकार किया है। इन दार्शनिक तत्त्वों की पृष्ठभूमि से, मैं **संगतीकरण** [यज्ञ] विषय पर आ गई हूं जिसका अध्ययन **पांचवें अध्याय** में प्रस्तुत किया गया है।

सृष्टि-उत्पत्ति करते समय **'सर्वातिशायी पुरुष'** का रूप **सर्वहुत्-यज्ञमय** था, इसलिए मैंने उचित समझा कि **यज्ञ के स्वरूप** का विवेचन हो। अध्याय के आरम्भ में ही यज्ञ के **प्राथमिक धर्मों** की विवेचना हुई है। वे **तीन धर्म क्या हैं ? 'सर्वहुत्'** शब्द का क्या अर्थ है उसमें प्रयुक्त **'हु'** धातु किस प्रकार तीन धर्मों की जनक है। उनका यज् धातु के तीन प्रमुख अर्थों से क्या सम्बन्ध है ? उन तीनों अर्थों **'देव-पूजा, संगतिकरण और दान के प्रतीक कौन हैं ?** यह सब दिखाने का प्रयत्न किया है। यज्ञ के वितत सूत्र ने सब क्षेत्रों को कैसे व्याप्त कर लिया है यह भी दिखा दिया गया है। इस सर्वहुत् पुरुष द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले यज्ञमय पुरुष-पशु को बांधे जाने का वर्णन किया गया है। **'अबध्नन् पुरुषं पशुम्'** की व्याख्या के माध्यम से हमने तत्सम्बद्ध **'पशु' 'आलम्भन' 'संज्ञपन'** और **'अवदान'** मेध आदि शब्दों पर भी विस्तृत विवेचन किया है।

निस्सन्देह इस सूक्त का पुरुषमेध में विनियोग हुआ है, किन्तु ग्राम्य पशुओं के मिष से पुरुषेतर चार पशुओं का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है जिनके आधार पर पंचमेधों का नामकरण हुआ। मेध शब्द का क्या अर्थ है ? पंच पशुओं से क्या अभिप्राय है ? यह सब दर्शा दिया गया है। पंच मेधों अर्थात् पुरुष-मेध, अश्वमेध, गोमेध, अविमेध और अजमेधों का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है। मुझे सन्तोष है कि मैं यज्ञों में पशुबलि का निराकरण में पर्याप्त सफल हुई हूं हां, मैंने श्रौत-सूत्र-वर्णित मेधों का स्पष्टीकरण

नहीं किया है। पुरुष-सूक्त के आधार पर ही पशुमेध-समस्या का समाधान ढूंढा गया है। **श्रौत-सूत्रों के** पीछे वेद को नहीं चलाया। अपितु स्वतन्त्र रूपेण सूक्त के प्रकाश में अश्वमेधादि की व्याख्या कर दी है। यदि इससे यज्ञों में पशुबलि रूप कलंक का प्रक्षालन हो सकेगा तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूंगी। अंत में यज्ञों में पशुबलि के निराकरण के सम्बन्ध में आचार्य सायण की सम्मति प्रदर्शित कर इस अध्याय को समाप्त कर दिया है।

षष्ठ अध्याय में सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी सम्प्रश्न को उठाकर उसका समाधान प्राप्त करने का यत्न किया गया है। उत्पत्ति-क्रम में **यथापूर्ववाद और याथातथ्यवाद** का आश्रय लिया है। उत्पत्तिक्रम में कौन पहले और कौन पीछे इसका भी विवेचन किया है। चेतना का मूल क्या है ? उसका **अवतरण** पृथिवी पर कैसे हुआ ? उनमें यथाक्रम वृक्ष, वनस्पति, पशु और-तत्पश्चात् पुरुष पशु की उत्पत्ति हुई, यह सब दिखाया गया है। सर्गारम्भ में पुरुष किस रूप में पैदा हुआ इस पर भी विवेचन किया गया है। वह युवा उत्पन्न हुआ था यह प्रतिपादित किया है।

यह सृष्टि-रचना अपूर्ण ही रहती यदि परमपुरुष इसमें परम अनुकम्पा कर पुरुष को ज्ञानदान न देते, इसलिए **सप्तम अध्याय** में **अपौरुषेय ज्ञान** का विस्तृत विवेचन है। पुरुषसूक्त-गत एक **'निगूढ समस्या'** और उसका **समाधान** खोजते हुए—वेदोत्पत्ति के प्रकार का वर्णन, आदि मनुष्यों की हृदय-वेदि में सर्वहुत् द्वारा दी गई ज्ञान-हवि का प्रसंग स्वाभाविक था। **ऋक्, साम और यजु** की **त्रयी** किसकी वाचक है तथा **छन्दांसि** पद **अथर्व वेद** का ही वाचक है यह प्रतिपादित किया गया है। त्रयी से मन्त्रों के तीन प्रकार और वेद-चतुष्टय से चारों वेद गृहीत होते हैं, साथ ही वेद-संज्ञा पर भी विचार किया गया है। वेद क्यों ? ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता पर पर्याप्त विवेचन करते हुए वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है—यह भी प्रतिपादित किया गया है और तब **मैंने सूक्त के केन्द्रीय विषय समाज-पुरुष के निर्माण** की क्या प्रक्रिया है **उसके विवेचनार्थ अष्टम अध्याय** में प्रवेश किया।

एक प्रकार से मैं यह मानकर ही चली थी कि हमारे सामने समाज के नवनिर्माण की समस्या है और यह भी कि उसकी योजना पुरुष-सूक्त में निबद्ध है। पुरुष-सूक्त का **'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्'** मन्त्रार्थ बहुविध पुरुषों की कल्पना का संकेत कर रहा है। स्वयं सर्वातिशायी पुरुष ने सर्गोदय में **ब्रह्माण्ड और पिण्ड** के रूप में दो-पुरुषों का एक साथ निर्माण किया था जो, उसकी रचना की पराकाष्ठा हैं और साथ ही मनुष्य को आदेश भी दे दिया गया था कि इन्हीं की अनुकृति में अब तुम्हें समाज-पुरुष का निर्माण करना है। 'जिस वर्णात्मा पुरुष का तुम निर्माण करो वह उभय पुरुष सम्मित होना चाहिए'। बस इसी सूत्र के आश्रित हमने समाज-पुरुष की रूपरेखा तैयार कर दी और उसके **मुख-बाहु-ऊरु-पाद-स्थानीय-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र** का प्रतिपादन कर दिया। [तत्सम्बन्धी व्यापक प्रमाणों को भरने का प्रयत्न नहीं किया गया; प्रयत्न-पूर्वक वह रूप-रेखा तैयार कर दी कि जिससे विश्व का नव निर्माण हो सके]।

इस प्रकार-यह **अष्टम अध्याय** मनुष्य जीवन के एक पक्ष से सम्बद्ध है जब कि उसके जीवन की पूर्णता दोनों पक्षों से है : क्योंकि-इस दृश्य जगत् का उद्देश्य जीव को भोग और अपवर्ग की सिद्धि कराना है। एक मात्र भोग की ही सिद्धि हो और अपवर्ग की न हो, तो मानव का यह जीवन अपूर्ण ही रहेगा, तदनुसार नवम **अध्याय** में सूक्त के आधार पर अपवर्ग का ही विवेचन किया गया है। मनुष्य का चरम लक्ष्य क्या है—सांख्य के परम पुरुषार्थ और सूक्तोक्त परम पुरुषार्थ दोनों की तुलना सुख-दुःख

का विवेचन तथा दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध; और अन्त में दुःख के कारण भूत प्रकृति त्याग से मोक्ष प्राप्ति—कुछ भी तो उपेक्ष्य न था। मृत्यु क्या है ? अमृत क्या है ? परम ज्ञेय मोक्ष का स्वरूप इत्यादि विषयों का विवेचन किया गया है और फिर—अमृत लाभ के लिए मृत्यु-बन्धन क्यों आवश्यक है, इसे स्पष्ट करते हुए मृत्यु अतिक्रमण रूप परम पुरुषार्थ [अपवर्ग = मोक्ष] का किञ्चित् वर्णन किया गया है।

सर्वान्त में उपसंहारात्मक **दशम अध्याय** में इन सब भावों का समुपलब्ध निष्कर्ष अति संक्षेप में देकर इस प्रबन्ध पर पूर्णविराम लगा दिया है।

—निवेदयित्री

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा २०३२

कुसुमलता एम-ए-पी-एच-डी.
वेदोपाध्याय वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

पुनश्च—

यह शोध-प्रबन्ध पी. एच. डी. की उपाधि के लिए दिसम्बर १९७४ में ही राजस्थान विश्व विद्यालय को प्रस्तुत कर दिया गया था और १० अक्टूबर १९७५ में विश्व विद्यालय ने इसे पी. एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत कर मुझे अनुग्रहीत किया। यह सब पूर्व निर्धारित योजनानुसार सम्पन्न हो गया इसके लिए अचिन्त्य शक्ति प्रभु का कोटिशः धन्यवाद है। जब मैं एम. ए के अन्तिम वर्ष में थी उसी समय यह निश्चय कर लिया था कि १९७५ में यह शोध कार्य सम्पन्न हो जाना चाहिए।

सन् ७५ का वर्ष इसलिए चुना गया था कि इसी वर्ष सर्वतोमुखी क्रान्ति के अग्रदूत आर्य समाज को स्थापित हुए पूरे सौ वर्ष हो जाएंगे और उसकी स्मृति में शताब्दी महोत्सव भी मनाया जाएगा इसके लिए विशद योजनाएं बन रही थीं उनमें वैदिक साहित्य के निर्माण की भी योजना थी। बस मैंने मन ही मन संकल्प संजो लिया कि कुछ भी हो आर्य समाज के प्रति एक न एक (वैदिक) साहित्यिक उपहार तो समर्पित करना ही चाहिये। उसी संकल्प का मधुर परिणाम यह शोध प्रबन्ध है।

यह संयोग की बात है कि जिस आर्य समाज ने नारी उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया उसी की स्थापना शताब्दी वर्ष के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष भी संयुक्त हो गया, ऐसे अवसर पर महिला जगत् की ओर से महर्षि दयानन्द को और उसके आर्यसमाज को स्मरण न किया जाना कृतघ्नता ही होती, इस दृष्टि से भी इस शोध-प्रबन्ध रूप उपहार को समर्पित कर मैं अपने को सौभाग्य शालिनी मानती हूं।

यह भी उल्लेखनीय है कि आर्य समाज स्थापना शताब्दी सम्मेलन के अन्तर्गत समाज-सुधार सम्मेलन मनाया जा रहा था उसमें एक प्रस्ताव द्वारा जनता से अभ्यर्थना की जा रही थी कि वह प्रतिज्ञा-बद्ध हो कि कोई भी व्यक्ति अपने नाम के साथ जन्मगत जाति-सूचक उपाधियों का प्रयोग न करे तो उस समय मैंने भी हस्तोत्तोलन कर प्रतिज्ञा की थी कि मैं अपने नाम के आगे ऐसी किसी भी उपाधि का प्रयोग न करूंगी जिससे जन्मगत जाति भेद को प्रोत्साहन मिले। उसी का परिणाम है कि अब से मेरे नाम के आगे पीछे शैक्षणिक उपाधियों के अतिरिक्त किसी भी जाति सूचक उपाधि का उपयोग न होगा जब कि विश्व विद्यालय के प्रमाण-पत्रों में जाति सूचक उपाधि अङ्कित है।

इस प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने के लिए डा० लाजपतराय एम. ए ने जो उपयोगी सुझाव दिये थे उनका यथा सम्भव मैंने उपयोग किया है, जिसके लिए मैं उनकी सदैव कृतज्ञ रहूंगी।

प्रकाशन से सम्बद्ध—

मुझे शोध प्रबन्ध दिसम्बर १९७४ में प्रस्तुत कर देना था अतः नवम्बर के आरम्भ में ही टाइप होकर तैयार हो गया था अब प्रश्न था उसके संशोधन का यह भी कम जटिल समस्या न थी। उस पर दूसरी समस्या थी कि जयपुर में ही कहीं बैठ कर काम किये जाने की, मेरी दो बहिनें जयपुर में ही रहती हैं एक मुझसे बड़ी और एक छोटी, यही उचित समझा कि बड़ी दीदी के यहां डेरा डाला जाय। बस हम वहाँ पहुँच गए और काम में जुट गये। मेरी मातृ-तुल्या बहिन श्यामा जी भी सेवा में जुटी रहीं, समय पर स्नान, समय पर दूध, समय पर भोजनादि का प्रबन्ध हम निश्चिन्त, यदि उनका यह वात्सल्यमय सहयोग न होता, तो ग्रन्थ संशोधन का महत्तर कार्य कदापि सम्पन्न न होता तो मैं उनके इस वात्सल्यमय सहयोग के लिए सदा कृतज्ञ रहूंगी।

पी० एच० डी० की उपाधि मिलने के उपरान्त प्रश्न था ग्रन्थ के प्रकाशन की इस महार्घता के युग में प्रकाशन जैसे कार्य को आरम्भ करना चिन्ताओं और आपदाओं को निमन्त्रण देना है, परन्तु मैं सोचती थी कि जिस दैव की कृपा से शोध प्रवन्ध के लेखक का कार्य पूर्ण हुआ है उसी की कृपा से प्रकाशन का कार्य भी सम्पन्न होगा। सबसे बड़ी समस्या थी आर्थिक। बस मैंने भिक्षा की झोली फैला दी और हितैषी मित्र बन्धु बान्धवों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य से आहुति डालना आरम्भ कर दिया। मैंने भी उसे यज्ञ-हवि समझ प्रकाशन यज्ञ में छोड़ दिया जिसका सुपरिणाम है कि यह शोध-ग्रन्थ इस रूप में आपके हाथ में है आप भी इसे यज्ञ प्रसाद समझकर सबको बांट कर खाना।

ग्रन्थ मुद्रण के समय प्रूफ संशोधनादि कार्य सम्पादन में मेरे लघु भ्राता आयुष्मान् रमेश ने जिस आत्मीयता से सहयोग दिया उसके लिए मेरे हृदय से शतशः मंगल कामनाएं निकलती हैं वह अपने कार्य में उत्तरोत्तर उन्नति करे उसे कीर्ति एवं श्री का लाभ हो, साथ ही भविष्य के लिए आशा करती हूं कि संस्थान के प्रकाशन में मनोयोग से लगकर यश का भागी बनेगा।

मेरी प्रबल इच्छा थी, कि इस प्रबन्ध का प्रकाशन सन् ७५ के दिसम्बर मास में हो जाता और जनता जनार्दन के हाथों में सौंप दिया जाता, परन्तु ऐसा न हो सका, उसके दो कारण थे, एक तो मेध-प्रकरण गत गो मेधादि मेध की जटिल समस्याओं का समाधान। जिसके लिए पर्याप्त समय अपेक्षित था जिसमें १ वर्ष तो लग ही गया, तब कहीं वे समस्याएं सुलझ पाईं, दूसरे प्रकाशन सम्बन्धी आपत्तियें भी कुछ कम न थीं, जिन्हें सैनी प्रिण्टर्स के अध्यक्ष श्री चन्द्रमोहन जी शास्त्री एवं उनके सहयोगियों के सौजन्यपूर्ण व्यवहार से हल कर लिया गया और अब शोध-ग्रन्थ महर्षि दयानन्द वेद-भाष्य शताब्दी पर मुद्रित होकर जनताजनार्दन के हाथों में समर्पित है। अन्त में मौद्गल्य के शब्दों में **'किंकिन्नात्र परोपकार-जनितं दोषास्तु ये ते मम'** कह कर विराम लेती हूं।

चैत्र शुक्लाप्रतिपदा वि० सं० २०३५
८ अप्रैल १९७८

निवेदयित्री
कुसुमलता एम० ए० पी० एच० डी०
वेदोपाध्याय वनस्थली विद्यापीठ राजस्थान

१म अध्याय—[सूक्त-परिचय]

तत् सूक्तं परमं दिव्यं दध्नो घृतमिवोत्थितम् ॥

२य अध्याय—[संगति-सूत्र]

पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा । पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् ॥

३य अध्याय—[परमतत्त्व]

षोडशकलो वै पुरुषः । षोडश-कलं वा इदं सर्वम् ॥

४र्थ अध्याय—[पुरुषेत्तर तत्त्व]

किं स्विदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ॥

५म अध्याय—[संगति-करण]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥

६ष्ठ अध्याय—[सर्गोदय]

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान ग्राम्याश्च ये ॥

७म अध्याय—[वेदाविर्भाव]

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

८म अध्याय–[सामाजिक तत्त्व]

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहूराजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

९म अध्याय—[अपवर्ग]

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

१०म अध्याय—[उपसंहार]

पूर्णमदः पूर्णमिदं पुर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

प्रथम अध्याय

सूक्त-परिचय

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त मनीषियों ने जिस वेद-सदन का निर्माण किया था उसके तोरण-द्वार पर भगवान् मनु का अमर वाक्य आज भी अंकित है **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'**[१]। यहां वेद-शब्द से ऋग्, यजुः, साम और अथर्व एवं अखिल शब्द से कृत्स्नता द्योतित होती है। कोई भी मन्त्र, चरण, पद, वर्ण यहां तक कि मात्रा भी ऐसी नहीं जो धर्म के लिए न हो। मनु द्वारा प्रयुक्त धर्म शब्द वर्णाश्रम-कर्त्तव्यों का वाचक है, उन कर्त्तव्यों का कि जिन पर व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और मानव का जीवन प्रतिष्ठित है। इन्हीं के कारण विश्व की प्रतिष्ठा है[२], और इन सम्पूर्ण धर्मों की अखिल वेद प्रतिष्ठा है।

धारणात्मक शक्तियों के लिए भी धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, फिर वे धारणात्मक तत्त्व व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित हों, अथवा समाज के जीवन से। सदाचार, वृत्त और शील इसलिए धर्म कहे जाते हैं कि उनसे व्यक्ति का व्यक्तित्व धारित रहता है। ब्रह्मचर्य, तप, संयम, श्रम, दम, तितिक्षा आदि आचार शरीर को धारण करने के कारण धर्म कहलाते हैं। संकल्प, श्रद्धा, आकूति, उत्साह आदि गुण मन को धारण करने के कारण धर्म कहलाते हैं। ऊहा, तर्क, विवेक, व्युत्पन्नता आदि गुण बुद्धि को धारण करने के कारण धर्म कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य, प्राणि मात्र में समभाव, आत्मा को धारण करने के कारण धर्म कहलाते हैं। कणाद मुनि ने अभ्युदय और निःश्रेयस् भोग और अपवर्ग दोनों को प्राप्त कराने वाली शक्ति को धर्म कहा है।[३] सत्य, बृहत् उग्र, दीक्षा, ब्रह्म, यज्ञ, तप धरती को धारण कराने के कारण धर्म कहलाते हैं।[४]

ऋग्वेद में धर्म शब्द का अर्थ ऊँचे धरातल पर अधिष्ठित है। वहां यह शब्द प्रकृति के या ईश्वर के नियमों के लिए प्रयुक्त हुआ है। सृष्टि के अखण्ड त्रिकालाबाधित नियम धर्म कहलाते हैं। ये नियम

---

१. मनु० २. ६.

२. **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।** महानारायण उप० १७. ६.

३. **यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।** वै० सू० १. १. २.

४. **सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।** अथर्व० १२. १. १.

सर्वोपरि हैं और विश्व में जो कुछ है इसी धर्म के आधीन है, इसी के अनुशासन में है। वेद इस प्रकार के धर्मों का मूल है। ये ही वे तत्त्व हैं जिन्हें विज्ञान का मूल कहा जाता है। इस प्रकार वेद न केवल वर्णाश्रम का मूल है, अपितु विज्ञान एवं दर्शन का भी मूल है।

अमर काव्य —

कवि की रचना को काव्य कहते हैं। परमात्मा की एक संज्ञा कवि भी है।[१] यह कैसे सम्भव था कि उसका कोई काव्य न होता। उसका काव्य अजर और अमर है। उस अजर अमर काव्य को वेद चतुष्टय कहा जाता है, जो शब्दमय है। दूसरा काव्य यह प्रत्यक्ष जगत् है जो अर्थमय है। प्रथम काव्य अजर अमर है[२] जबकि दूसरा काव्य आज है और कल न रहेगा।[३] यह शब्दमय और अर्थमय उसी महाकाव्य के दो पृष्ठ हैं। एक पृष्ठ पर जो कुछ अंकित है दूसरे पृष्ठ पर उसी का अर्थ अंकित है। अध्येता का कर्त्तव्य है कि दोनों में संगति करता हुआ अध्ययन करे। परम कवि ने सृष्टि के आरम्भ में वेद महाकाव्य को देकर जहां अपनी कृपा का परिचय दिया वहां साथ ही साथ उसका अर्थ समझाने के लिए सृष्टिमय महाकाव्य देकर करुणा का परिचय दिया। यदि मूल संहिता में···वेद महाकाव्य में यह लिखा हुआ मिले···'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्······'[४] तो झटिति व्यक्ति महाकाव्य के पन्ने पर अर्थ को प्रत्यक्ष देखता है कि अग्नि तत्त्व किस प्रकार पुरोहित है किस प्रकार ऋतु ऋतु से कार्य लेता है, किस प्रकार सबके लिए 'होता' और अनन्त रत्नों का धारण करने वाला है।

वेद महाकाव्य में जैसे ही व्यक्ति ने पढ़ा···'आपस में तुम ऐसे ही प्यार करो जैसे गौ अपने नवजात बछड़े से प्यार करती है,'[५] तो तत्काल सृष्टि महाकाव्य के पन्ने पर बछड़े को चाटती हुई गौ का प्रत्यक्ष करने लगा। यह है वेद महाकाव्य का वास्तविक अध्ययन। जो इस प्रकार अध्यनय करते हैं उन्हें ही वेदवित्, आत्मवित् ब्रह्मवित्, अनूचान कहा जाता है। दो ही ब्रह्म ज्ञातव्य हैं···एक शब्द ब्रह्म दूसरा परब्रह्म। शब्द ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति ही परब्रह्म को जान सकता है।[६] यहां शब्द ब्रह्म से वेद चतुष्टय और परब्रह्म से ईश्वर के ग्रहण के साथ-साथ अर्थमय प्रत्यक्ष जगत् का भी ग्रहण किया जाना चाहिये, सौभाग्य से पुरुष-सूक्त इसी शब्द ब्रह्म का एक अंश है अथवा महाकाव्य का एक अध्याय। यह अध्याय जहां शब्दमय है, वहाँ अर्थमय भी है। इस अध्याय में जहां वेदाविर्भाव का वर्णन है वहां सृष्टि-रचना अर्थात् सृष्टि-पुरुष का वर्णन भी है।[७] पुरुष-सूक्त के इस शब्दमय और अर्थमय रूप को समन्वित करके दिखाना हमारे शोध-प्रवन्ध का उद्देश्य है, जोकि आगे के अध्यायों में द्रष्टव्य है।

---

१. कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः··· । यजु० ४०. ८.
२. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति । अथर्व० १०. ८. ३२.
३. देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार सह्यः समान । ऋ० १०. ५५. ५.
४. ऋ० १. १. १.
५. अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ अथर्व० ३. ३०. १.
६. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति ॥
मै० उ० ६. २२, द्र० त्रि० ता० उ० ५।१७. म० भा०, शा० प० २३१. ६३.
७. द्र० ऋ० १०. ९०. ५, ६, ७, ८, ९, १०.

यही वह अनादि-निधना नित्या वाक्[1] है, जिसे सर्गारम्भ में दो तत्त्वों के अतिशय सन्निकर्ष[2] का परिणाम कहा गया है। प्रजापति ने प्रजा का निर्माण करके संवत्सर भर प्रतीक्षा की, समय आने पर उसने छन्दों के माध्यम से [आत्मानम्] समस्त ज्ञान-राशि को आदि ऋषियों की हृदय-गुहा में सम्यक् धारित करा दिया।[3] सम्यक् धारित करा देने से ज्ञान-राशि का नाम संहिता हुआ।[4]

कोई भी कलाकार चाहे वह वक्ता हो, लेखक हो, चित्रकार हो अथवा मूर्तिकार, अपनी रचनाओं में, कृतियों में अपनी आत्मा को पूर्णतया भर देता है। इस सम्यक् भर देने अथवा धारित करा देने का नाम ही संहिता है। फिर चाहे सम्यक् धारण कराने के आधार व्यक्तियों की मनो-गुहाएं हों, कुछ पन्ने हों अथवा कुछ पत्थर। उन पर उत्कीर्ण रचना संहिता कहलाएगी। यही कारण है कि उत्तर-कालीन रचनाओं को संहिता कहा जाने लगा, यथा···चरक-संहिता, सुश्रुत-संहिता, महाभारत-संहिता, पुराण-संहिता इत्यादि। सृष्टि के आरम्भ में सम्यक् धारण कराई गई सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को वेद-चतुष्ट्य अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व कहते हैं। यदि संहिता-चतुष्टय को ब्रह्म का आत्म-तत्त्व कहा जाए तो उनमें उपलब्ध पुरुष-सूक्त को ब्रह्म का प्राण कहा जा सकता है।

सूक्त-माहात्म्य —

वैदिक ऋषियों को वेदरत्नाकर का मन्थन करते हुए पुरुष सूक्त रूप कौस्तुभ मणि की उपलब्धि हुई अथवा लक्ष्मी तन्त्र के शब्दों में यूं भी कह सकते हैं कि निश्चय ही दुरन्त दुस्तर संसार-सागर में निमग्न हुए और ताप-त्रय से अभितप्त हुए मनुष्यों के उद्धार करने की इच्छा से अत्यन्त गहन शब्द ब्रह्म रूपी समुद्र के मन्थन करने से सम्पादित दधि में से नवनीत की भांति समस्त वेद राशि के सार-भूत दो ही सूक्त हैं।[5] एक पुरुष-सूक्त दूसरा अघमर्षण-सूक्त। इन दोनों में भी पुरुष-सूक्त का गौरव अधिक है। व्यास ने ठीक ही कहा है—

इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पार्थिव। ऋतं सत्यं च विख्यातम् ऋषिसिंहेन चिन्तितम्।।[6]

इस प्रकार पुरुष-सूक्त की प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। उसका चारों वेदों में उपलब्ध होना ही इस बात का प्रबल प्रमाण है। एक वेद को मानने वाला व्यक्ति भी इसकी प्रामाणिकता से निषेध नहीं कर सकता। पुरुष-सूक्त से भिन्न दूसरा कोई ऐसा सूक्त नहीं जो चारों संहिताओं में

---

१. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। द्र० म० भा०, शा० प० २३१. ५६.

२. परः सन्निकर्षः संहिता...अष्टा० १. ४. १०८.

३. आत्मा-आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च।

अमरकोश, तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग १०९.

४. प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यसंस्रत संवत्सरः स छन्दोभिरात्मानं समदधात् यच्छन्दोभिर्···आत्मानं समदधात् तस्मात् संहिता। ऐ० आ० ३. ६. १.

५. मथ्यमानस्ततस्तस्मात्सामर्ग्यजुषसंकुलात्।
तत्सूक्तं पुरुषं दिव्यं दध्नो घृतमिवोत्थितम्।। लक्ष्मीतन्त्र ५०. १३. १४.

६. म० भा०, शा० प०, ३३८. ५. [पू० सं०]

उपलब्ध होता हो।[1]

जो प्रतिष्ठा पुराणों में विष्णु पुराण की है, जो प्रतिष्ठा महाभारत में भगवद्गीता की है, जो प्रतिष्ठा धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति की है, वही प्रतिष्ठा वेदों में पुरुष-सूक्त की है। पद्म पुराण में लिखा भी है—

'वेदेषु पौरुषं सूक्तं पुराणेषु च वैष्णवम्। भारते भगवद्गीता धर्मशास्त्रेषु मानवम्॥'[2]

इस प्रकार समस्त वेदों का सारभूत यह पुरुष-सूक्त है। श्रुतियों में मन्त्र प्रबल हैं, मन्त्रों में आध्यात्मिक मन्त्र और उनमें भी पुरुष-सूक्त, पुरुष-सूक्त से उत्कृष्ट अन्य कोई सूक्त नहीं।[3]

मन्त्र-गणना —

पुरुष-सूक्त विषयक मन्त्र-गणना पर अहिर्बुध्न्य संहिता ने अच्छा प्रकाश डाला है। यथा...

'नानाभेद-प्रपाठं तत्पौरुषं सूक्तमुच्यते। ऋचश्चतस्रः केचित्तु पञ्च षट् सप्त चापरे॥

ऋचः षोडश चाप्यन्ये तथाष्टादश चापरे। अधीयते तु पुं-सूक्तं प्रतिशाखं तु भेदतः॥'[4]

पुरुष-सूक्त संहिताओं में तथा उनकी शाखाओं में विभिन्न संख्याओं में उपलब्ध होता है। कुछ इसे चार मन्त्रों वाला कुछ इसे पांच, छह, सात, सोलह और अठारह मन्त्रों वाला भी मानते हैं। अन्यों के मत में यह चौदह अथवा बाइस ऋचाओं से युक्त है।

'अड्यार पुस्तकालय, मद्रास' के पुरुष-सूक्त-सम्बन्धी संस्कृत-हस्तलेखों [क्रम ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, और ४६३] में भी पुरुष-सूक्त की मन्त्र-गणना पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। वरदराज कृत पुरुष-सूक्त भाष्य में लिखा है कि ऋग्वेद का अध्ययन करने वाले इसे षोडश ऋचाओं का, यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करने वाले अठारह ऋचाओं का, वाजसनेयी शाखा वाले सात ऋचाओं का, साम की छान्दोग्य शाखा वाले इसे पांच ऋचाओं का पढ़ते हैं। अथर्ववेद को छोड़ कर जमिनी शाखा वाले चार और छह का भी मानते हैं।

सभी हस्तलेखों में प्रायः इस बात पर सहमति है कि पुरुष-सूक्त ऋग्वेद में सोलह ऋचाओं का, यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में अठारह ऋचाओं का व सामवेद की विभिन्न शाखाओं में चार, पाँच, छह और सात संख्याओं का उपलब्ध होता है। तद्यथा—

---

१. **'एतत् पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पठ्यते।'** अज्ञातकर्तृकम् ६२५ अ० सं० से उद्धृत [पु० सू० भा०]
'सर्ववेदेष्विदं सूक्तं पौरुषं च विशिष्यते।'
C. O. L. No. 463. पू० सू० भा० अज्ञातकर्तृक त्रिवेन्द्रम में उपलब्ध
'सर्ववेदेष्विदं सूक्तं पौरुषं परिपठ्यते।' वरदराजकृत पुरुषसूक्त के हस्तलिखित से उद्धृत [६२३]
[अडयार पुस्तकालय में उपलब्ध]

२. हमें पद्म पुराण में यह प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ।

३. **श्रुतिषु प्रबला मन्त्रा मन्त्रेष्वप्यात्मवेदिनः। तत्रापि पौरुषं सूक्तं न तस्माद् विद्यते परम्।**
अज्ञातकर्तृक पुरुष-सूक्त भाष्य। अड्यार पुस्तकालय ६२४.
इदं पुरुष-सूक्तं हि सर्ववेदेषु पठ्यते। अतः श्रुतिभ्यः सर्वाभ्यो बलवत्समुदीरितम्॥
रंगानाथ कृत पुरुष-सूक्त भाष्य [अड्यार ह० ले० ६५०]

४. अहिर्बुध्न्य संहिता, श्लोक सं० २, ३.

सर्ववेदेष्विदं सूक्तं पौरुषं परिपठ्यते। ऋग्वेदाध्यायिनस्तत्र षोडशर्चं प्रचक्षते ॥
यजुर्वेदे तैत्तिरीये द्व्यधिकं तदधीयते। सप्तर्चमामनन्तीदं सूक्तं वाजसनेयिनः ॥
छान्दोग्यैः पञ्च पठ्यन्ते यास्वृक्षु पुरुषं प्रति। जैमिनीयैश्चतस्रस्तु षड्चोऽथर्वणां श्रुतौ ॥
अथर्वणां [च] महिमा यद्वत् सूक्तार्थं परमः पुमान् ॥[१]

पुरुष-सूक्त का सर्वेक्षण—

संहिताओं में पुरुष-सूक्त सम्बन्धी सर्वेक्षण के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम सूक्त के मन्त्रों की संख्या का निर्धारण कर लिया जाए, फिर कहीं संख्याभिन्नता, क्रमभिन्नता, पादभिन्नता आदि का परीक्षण किया जा सकेगा। संख्या-निर्धारण के लिए सर्वोत्तम आधार सूक्त की देवता है। अतः पुरुष-सूक्त के जिन मन्त्रों की देवता पुरुष हो उनकी गणना कर लेनी चाहिए। इससे मन्त्र-संख्या का निश्चय हो सकेगा। उससे आगे की वात तत्तत् संहितागत संदर्भों को दृष्टि में रखकर की जाएगी। ऋग्वेद में एक मात्र दशम मण्डलान्तर्गत नव्वेवां सूक्त ही ऐसा है जिसके सोलह मन्त्रों की देवता पुरुष है यही बात अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के अन्तर्गत छठे सूक्त के सोलह मन्त्रों की भी है। उनकी देवता भी पुरुष है।

यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय की संज्ञा पुरुषमेधाध्याय है, जिसकी मन्त्र संख्या बाईस है, परन्तु इसमें भी पुरुष देवता वाले मन्त्र सोलह ही हैं। यही कारण है कि तैत्तिरीय आरण्यककार ने इस अध्याय को पूर्वनारायण एवं उत्तरनारायण दो अनुवाकों में बांटा है। पूर्वनारायण अनुवाक सोलह ऋचाओं का है, जबकि उत्तरनारायण अनुवाक कुल छह ऋचात्मक है। शुक्लयजुर्वेदीय संहिता के बाईस ऋचात्मक पुरुष मेधाध्याय पर यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण भी **'नियुक्तान् पुरुषान्…सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपाद् इत्येतेन षोडशर्चेन'**[२] कहकर सूक्त के षोडश ऋचात्मक होने की पुष्टि कर रहा है।

संहिताओं के आधार पर—

[१] ऋग्वेद १०।९० में-**'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** से आरम्भ करके **'साध्याः सन्ति देवाः'** तक षोडश ऋचात्मक है।

[२] यजुर्वेद अध्याय ३१ में **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** से आरम्भ करके **'सर्वलोकं म इषाण'** तक बाईस ऋचात्मक है। परन्तु **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** से आरम्भ होकर **'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः'** सोलहवें मन्त्र तक की देवता पुरुष है। इसलिए पूर्वनारायण अनुवाक के मन्त्रों की संख्या सोलह ही माननी चाहिए।

[३] यजुर्वेद [काण्वशाखीय] अध्याय ३५ में **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** से आरम्भ कर **'सर्वलोकं म इषाण'** तक बाईस ऋचात्मक है। इसमें प्राथमिक सोलह मन्त्रों की देवता पुरुष है। इसलिए सूक्त के मन्त्रों की संख्या सोलह ही माननी होगी।

---

१. **वरदराजकृत पुरुषसूक्त-भाष्यम्** [अड्यार पुस्तकालय, मद्रास]

२. **ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति 'सहस्रशीर्षा पुरुषः 'सहस्राक्षः सहस्रपाद्' इत्येतेन षोडशर्चेन, षोडशकलं वा इदं सर्वम्।** शत ब्रा० १३, ४, २, १२.

[४] यजुर्वेद [तैत्तिरीय शाखा] में **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** से आरम्भ होकर **'साध्याः सन्ति देवाः'** तक अठारह ऋचात्मक है।

[५] अथर्ववेद [शौनकीय शाखा] १९.६ में **'सहस्रबाहुः पुरुषः'** से आरम्भ होकर **'जातस्य पुरुषादधि'** तक सोलह ऋचात्मक है।

[६] अथर्ववेद [पैप्पलाद शाखा] ५.१ में **'सहस्रबाहुः पुरुषः'** से आरम्भ होकर **'जातस्य पुरुषादधि'** तक षोडश ऋचात्मक है।

[७] सामवेद [पूर्वार्चिक] में **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** से आरम्भ होकर **'पश्चाद् भूमिमथो पुरः'** तक पंच ऋचात्मक है। इन पांचों का देवता पुरुष है।

[८] सामवेद [जैमिनीय शाखा] में **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** से आरम्भ होकर **'अबध्नन् पुरुषं पशुम्'** तक चार ऋचात्मक है।

इस प्रकार संहिताओं में तथा उनकी शाखाओं में पुरुष-सूक्त विभिन्न संख्यात्मक उपलब्ध होता है।

मन्त्र संख्या के आधार पर

पुरुष-सूक्त का मन्त्र-संख्या विवेचन हम 'पुरुष-सूक्त की स्थिति' में कर चुके हैं। यहां केवल इतना ही उल्लेख्य है कि यजुर्वेद के पुरुषमेधाध्याय के बाईस मन्त्रों में आरम्भिक सोलह मन्त्र वही हैं जो ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त के हैं अन्तिम छह मन्त्र ऋग्वेद में नहीं है।

अथर्ववेदीय पुरुष-सूक्त का अन्तिम मन्त्र ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त से भिन्न है। ऋग्वेदीय अन्तिम मन्त्र **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'** का इसमें अभाव है। पैप्पलाद-शाखा में चौदहवां मन्त्र अथर्ववेदीय ही है। इस प्रकार ऋग्वेदीय तीन मन्त्रों का इसमें अभाव है।[१]

तैत्तिरीय आरण्यक में सोलहवां और सत्रहवां मन्त्र भिन्न है। अठारहवें मन्त्र में अन्तिम दो चरणों को छोड़कर शेष चार चरण ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्तवत् ही हैं।

मन्त्र-क्रम के आधार पर—

संख्या की दृष्टि से जहां ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त से अथर्ववेदीय सूक्त साम्य रखता है वहां क्रम की दृष्टि से यजुर्वेदीय पुरुषसूक्तानुवाक समता रखता है। ऋग्वेदीय सूक्त का छठा और सातवां मन्त्र क्रमशः यजुर्वेदानुवाक में चौदहवां और नवां है। यदि ऋग्वेदीय सूक्त का छठा और सातवां मन्त्र यजुर्वेद के पांचवें मन्त्र के पश्चात् जोड़ दिए जाएं और उन पर सोलह तक क्रमांक दे दिए जाएं तो ऋक्-सूक्त और यजुरनुवाक एक हो जाएंगे।

कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यकगत पुरुष-सूक्त दो अनुवाकों में विभक्त है। यदि इस आरण्यकगत सूक्त के छठे मन्त्र को **'नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्'** मन्त्र के अन्त में रख दिया जाय तो सूक्त का क्रम ऋग्वेदीय हो जाता है।

---

१. [i] **चन्द्रमा मनसो** ··· **प्राणाद्वायुरजायत**। ऋ० १०. ९०. १३.
[ii] **नाभ्या आसीद्** ··· **तथा लोकाँ अकल्पयन्**। ऋ० १०. ९०. १४.
[iii] **यज्ञेन यज्ञमयजन्त** ··· **साध्याः सन्ति देवाः**। ऋ० १०. ९०. १६.

अथर्ववेदीय पुरुष-सूक्त जहां संख्या की दृष्टि से समान है वहां क्रम की दृष्टि से अत्यधिक विषम है। प्रथम मन्त्र दोनों में तुल्य है। अथर्ववेदीय सूक्त का द्वितीय मन्त्र ऋग्वेदीय सूक्त का चतुर्थ मन्त्र है। तृतीय मन्त्र दोनों में तुल्य है। अथर्ववेदीय सूक्त का चतुर्थ मन्त्र ऋग्वेदीय सूक्त का द्वितीय है। अथर्ववेदीय सूक्त के पंचम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम मन्त्र ऋग्वेद के क्रमशः एकादश, द्वादश, त्रयोदश और चतुर्दश मन्त्र हैं। अथर्ववेदीय सूक्त के नवम, दशम और एकादश मन्त्र ऋग्वेद के पंचम, षष्ठ और सप्तम मन्त्र हैं। द्वादश, त्रयोदश एवं चतुर्दश क्रमशः दशम, नवम एवं अष्टम मन्त्र हैं। पंचदश मन्त्र उभयत्र तुल्य हैं। अथर्ववेदीय षोडशी ऋचा ऋग्वेद में सर्वथा अनुपलब्ध है जो इस प्रकार है—

मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः। राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥[1]

अथर्ववेदीय पैप्पलादशाखागत सूक्त में अथर्ववेदीय सूक्त के षष्ठ और सप्तम मन्त्र नहीं हैं शेष अथर्ववेदीय क्रमानुसार हैं। इस कारण ऋग्वेदीय सूक्त से जो क्रम-भिन्नता अथर्ववेदीय सूक्त की थी वही पैप्पलाद शाखा की भी समझ लेनी चाहिए।

सामवेदीय सूक्त के पांच मन्त्र ईषद् क्रम-भेद से ऋग्वेदीय सूक्त के आरम्भिक पांच मंत्र हैं। यदि सामवेदीय पुरुष-सूक्त के द्वितीय मन्त्र को उसी के चतुर्थ मन्त्र के पश्चात् रख दिया जाय तो ऋग्वेदीय सूक्त के आरम्भिक पांच मन्त्र यथाक्रम हो जाते हैं।

सामवेद की जैमिनीय शाखान्तर्गत पुरुष-सूक्त दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग सामवेदीय सूक्त की भांति पंच मन्त्रात्मक है और उसी क्रम से है। द्वितीय भाग में दो मंत्र प्राप्त होते हैं··· पहला ऋग्वेदीय सूक्त का छठा मन्त्र है और द्वितीय पन्द्रहवां।

चरण परीक्षा के आधार पर —

जहां अन्य वेदान्तर्गत पुरुष-सूक्तों की ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त से मन्त्र संख्या भिन्नता और मन्त्र क्रम-भिन्नता उपलब्ध है वहां मन्त्र चरण-भिन्नता भी दृष्टिगत होती है।

यजुर्वेदीय सूक्त के मन्त्रों में चरण-भिन्नता केवल दो स्थानों पर है जो नगण्य सी है। ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त के ग्यारहवें मन्त्र **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** के अन्तिम दो चरण यजुर्वेदीय मन्त्र से कुछ भिन्नता लिए हुए हैं। ऋग्वेद में **'मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते'** है तो यजुर्वेद में **'मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते।'** यजुर्वेद में किम् सर्वनाम के एक वचन का प्रयोग **ब्राह्मणः, राजन्यः, वैश्यः** के एक वचन के कारण है। ऋग्वेद में **'किम्'** सर्वनाम के वचन की भिन्नता का कारण अंगों की वचनभिन्नता है। **'मुखम्'** में एक वचन है तो प्रश्न में भी **'किम्'** एक वचन है। यदि **'बाहू'** शब्द में द्विवचन है तो **'कौ'** में द्विवचन है यदि **'ऊरू'** में द्विवचन है तो **कौ** में भी द्विवचन है। अंगों के लिंग से **किम्** के लिंग में भी अन्तर आ गया। इसी प्रकार ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त का तेरहवां मन्त्र यजुर्वेद में अन्तिम दो चरणों में भिन्नता लिए हुए है। ऋग्वेद में **'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत'** है तो यजु० में **'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत'** है।

कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के सूक्त में चरणभिन्नता प्रायः नहीं मिलती।

अन्य वेदों के पुरुष-सूक्तों की अपेक्षा सबसे अधिक चरण भिन्नता अथर्ववेद में ही मिलती है। अथर्ववेदीय सूक्त के द्वितीय मन्त्र का चतुर्थ चरण ऋग्वेदीय सूक्त से भिन्न **'यदन्येनाभवत् सह'** है। इसी

---

१. अथर्व० १९-६.१६

प्रकार ऋग्वेद के चतुर्थ मन्त्र के प्रथम चरण **'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः'** के स्थान पर अथर्ववेद में **'त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्'** पाया जाता है। ऋक्सूक्त के चतुर्थ मन्त्र के तृतीय चतुर्थ चरण **'ततो विष्वङ् व्यक्रामत्'** के स्थान पर अथर्ववेद में **'तथा व्यक्रामद् विश्वङ् अशनानशने अनु'** है। ऋग्वेदीयसूक्त के पंचम मन्त्र के प्रथम चरण **'ततो विराडजायत** का परिवर्तित रूप अथर्ववेद में **'विराडग्रे समभवत्'** प्राप्त होता है, दशम मंत्र के द्वितीय चरण के **'चोभयादतः'** **'ये च के चोभयादतः'** के रूप में है। और एकादश मंत्र के तृतीय और चतुर्थ चरण के **'मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते'** यह भाग **'मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते'** के रूप में प्राप्त होता है। एवं पैप्पलाद शाखा में **'पादा उच्येते'** के स्थान पर **'पादावुच्येते'** है।

सामवेद में भी चरण-भिन्नता दृष्टिगत होती है। ऋग्वेदीय सूक्त के चतुर्थ मन्त्र के तृतीय चतुर्थ चरण **'ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि'** का परिवर्तित रूप साम में **तथा विष्वङ् व्यक्रामत् अशनानशने अभि'** मिलता है। तथा द्वितीय, तृतीय मन्त्रों के अन्तिम दो चरणों में भी वैपरीत्य प्राप्त होता है।

पद पद के आधार पर —

पुरुष-सूक्त के प्रथम मन्त्र के प्रथम चरण एवं अन्तिम चरण में पद-भिन्नता मिलती है। ऋक् का **'सहस्रशीर्षा'** पद अथर्ववेद में **'सहस्रबाहू'** है और चतुर्थचरणस्थ **'विश्वतो वृत्वा'** यजु में **'सर्वतस्पृत्वा'** और साम में **'सर्वतो वृत्वा'** है।

द्वितीय मन्त्र के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरण में पद भिन्नता प्राप्त होती है। यहाँ ऋक्-सूक्त का **'भव्यम्'** पद यजु अथर्व एवं साम में **'भाव्यम्'** के रूप में परिवर्तित है। इसी प्रकार तृतीय चरणगत **'ईशानः'** अथर्व में **'ईश्वरः'** हो गया है एवं **'अन्नेन'** के स्थान पर **'अन्येन'** है।

तृतीय मन्त्र में भी तीन चरणों में पद-भिन्नता है। प्रथम चरणगत **'एतावान्'** अथर्व में **'तावन्तो'** और साम में **'तावान्'** के रूप में है। इसी चरण का **'महिमा'** पद अथर्व में **'महिमानः'** है और द्वितीय चरणस्थ **'अतः'** पद अथर्व एवं साम में **'ततः'** के रूप में है। तृतीय चरणगत **'विश्वा'** पद साम में **'सर्वा'**[1] प्रयुक्त हुआ है।

पंचम मन्त्र के प्रथम चरणगत **'तस्मात्'** के स्थान पर यजुः एवं साम में **'ततो'** पद है। षष्ठ मन्त्र के तृतीय चरण में आये **'अस्य'** के स्थान पर साम में **'एषाम्'** पद है।

सप्तम मन्त्र के प्रथम चरणस्थ **'बर्हिषि'** के स्थान पर अथर्ववेद में **'प्रावृषा'** पद आया है, द्वितीय चरण **'अग्रतः'** के स्थान पर अथर्व में **'अग्रशः** और चतुर्थ चरणस्थ **'ऋषयः'** के स्थान पर **'वसवः'**।

नवम मन्त्र के तृतीय चरण का **'छन्दांसि'** पद अथर्ववेद में **'छन्दो ह'** के रूप में दिखाई देता है।

बारहवें मन्त्र के द्वितीय चरणस्थ **'कृतः'** पद अथर्व में **'अभवत्'**[2] है और तृतीय चरणगत **'ऊरू'** अथर्व में **'मध्यम'** के रूप में परिवर्तित है।

पंद्रहवें मन्त्र में भी ईषद् भेद है। द्वितीय चरण का **'समिधः'** पद अथर्व में **'समिधा'** रूप में प्राप्त होता है।

---

१. जैमिनीय सं० २-४-१
२. पैप्पलाद सं० ५.१ [अनु०] १३

संभाव्य समाधान—

संहिताओं में पुरुष-सूक्त की मन्त्र संख्या-भिन्नता, मंत्र-क्रम-भिन्नता, पाद-भिन्नता और पद-भिन्नता का वर्णन करने के पश्चात् उनके कारणों पर विचार करेंगे। उसके सम्बन्ध में पाश्चात्यों और पौरस्त्यों के विभिन्न मत हैं। पौरस्त्यों में भी दो मत स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं एक वे हैं जो पाश्चात्यों के अनुगामी हैं दूसरे वे हैं जो भारतीय आर्ष परम्परा के अनुगामी हैं।

आर्ष अभिमत—

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त सभी ऋषि इस बात में सहमत हैं कि वेदज्ञान अपौरुषेय है।[1] उसकी आनुपूर्वी नित्य है।[2] उनका अभिमत है कि प्रत्येक संहिता की अपनी आनुपूर्वी नियत है और नित्य है। वे एक संहिता में आई हुई मन्त्रानुपूर्वी का दूसरी संहिता में आई मन्त्रानुपूर्वी से तुलना नहीं करेंगे।

चारों संहिताओं में उपलब्ध पुरुष-सूक्त की आनुपूर्वी प्रत्येक संहिता में भिन्न है, किन्तु नित्य है। इस कारण हम इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकते और न ही क्रम-भिन्नता का निषेध कर सकते हैं फिर इसका समाधान कि वेद अपौरुषेय हैं उनकी मन्त्रानुपूर्वी एवं शब्दानुपूर्वी नियत और नित्य है यह कैसे सम्भव हो?

इस विषय में एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि ईश्वर मनुष्यों को विषय प्रतिपादन शली का बोध कराये। उनके वर्णन, प्रवचन और लेखन में शैली भिन्नता ही कारण हो सकती है। परमकवि ने इस शैली-भिन्नता का बोध कराने के लिए पुरुष-सूक्त को माध्यम बनाया हो, उसे चारों संहिताओं में देकर क्र म में भिन्नता दिखाकर व्यक्ति को प्रतिपादन-शैली का बोध कराया हो।

जिस प्रकार न्याय-दर्शन में अनुमान प्रमाण के]पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट] तीन भेद दिखाए गए हैं जिनका उद्देश्य अनुमान प्रमाण की सिद्धि करना है उसी प्रकार प्रतिसंहिताभिन्न पुरुष-सूक्त में इसी शैली को अपनाया गया प्रतीत होता है। जहाँ इससे व्यक्तियों को विभिन्न प्रतिपादन-शैलियों का बोध कराना अभीष्ट होता है, वहां प्रायः सृष्ट्युत्पत्ति, समाज-व्यवस्था, यज्ञ विद्या आदि का प्रतिपादन विभिन्न शैलियों में ही किया जाता है।

मन्त्रक्रम-भिन्नता के—

ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त में और तैत्तिरीय आरण्यक में सृष्टि-उत्पत्ति के निमित्त कारण यज्ञ-पुरुष का वर्णन पहले किया गया है। इसलिए **'यत्पुरुषेण हविषा'** एवं **'तं यज्ञं बर्हिषि'** इन दो मन्त्रों को **'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः'** से पहिले लाकर रखा गया है।

यजुर्वेदीय मन्त्रों में इस शैली का अवलम्बन न कर व्यक्ति के मन में जिज्ञासा के अंकुरित होने का अवसर दिया गया है। तर्क द्वारा[3] प्रथमतः प्रश्न को उठाने और पश्चात् उत्तर द्वारा समाधान पाने की शैली अपनाई गई है। यजुर्वेदीय सूक्त का पाठ करते हुए पाठक के सामने जैसे ही क्रमोपात्त **'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः'** पदावली लगातार षष्ठ, सप्तम और अष्टम मन्त्र में तीन बार आयी तो जिज्ञासु के मन

१. **प्रमाणों सहित सप्तम अध्याय में विस्तृत वर्णन करेंगे।**
२. **नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।** निरु० १. १५.
३. न्या० सू० १. १. ५.

में सहज प्रश्न उठा कि यज्ञ-पुरुष कौन है ? उसका स्वरूप क्या है इत्यादि ? इस प्रकार जिज्ञासु के मन में तर्क उठवाकर और उसको उत्तर प्राप्ति के लिए उत्सुक कर देना यजुर्वेद की शैली है ।

अथर्ववेदीय पुरुष-सूक्त में जो क्रम-भिन्नता है उसका कारण उसकी अपनी प्रतिपादन-शैली प्रतीत होती है । वह सर्वप्रथम समाज-रूपी-पुरुष का वर्णन करता है, पश्चात् ब्रह्माण्ड-पुरुष का । जिन देवों ने यज्ञ का वितान किया है उनका वर्णन पहले होना अभीष्ट है, जबकि ऋक् यजु में ऐसा नहीं है इनमें व्यक्ति को ब्रह्माण्डगत देवों की जानकारी के प्रति उत्सुक जानकर अन्त में वर्णन किया गया । अथर्ववेदीय पुरुष-सूक्त में **'चन्द्रमा मनसो जातः'** और **'नाभ्या आसीदन्तरिक्षं'** सातवीं आठवीं ऋचा है जबकि यजुर्वेद में १२वीं १३वीं और ऋक् में ३वीं और १४वीं । अथर्व में भी सृष्टि-उत्पत्ति के निमित्त कारण सर्वहुत् यज्ञ का वर्णन ऋक् यजुर्वत् अन्त में किया गया है ।

सामवेदीय पाठ में पुरुष सूक्त के मन्त्र केवल पांच ही हैं अवशिष्ट ग्यारह छोड़ दिए गए हैं । इसमें सामवेद की अपनी विशिष्टता ही प्रतीत होती है । सामवेद उपासना का वेद[1] है उपासना में उपासक को अपने उपास्यदेव का ध्यान ही अभीष्ट है वह अब व्यक्ति, समाज और ब्रह्माण्ड की परिधियों से ऊपर उठ चुका है इसलिए इस सूक्त में ब्रह्माण्ड-रचना, चेतन सृष्टि की रचना और समाज पुरुष की रचना को छोड़ दिया गया है ।

चरण भिन्नता के—

पुरुष-सूक्त में क्रम-भिन्नता के कारणों पर विचार करने के पश्चात् मन्त्रों की चरण-भिन्नता पर विचार करना अपेक्षित है । सर्वप्रथम द्वितीय मन्त्र के अन्तिम चरण पर विचार करते हैं ।

ऋक् यजु साम तीनों संहिताओं में **'यदन्नेनातिरोहति'** पाठ है जबकि अथर्व सूक्त में **'यदन्येनाभवत् सह'** पाठ है । पुरुष की महिमा का वर्णन करते हुए पुरुष को 'अमृतत्व के ईशान' होने के साथ-साथ अन्न से 'अतिरूढ़' होने वाले पदार्थों का भी ईशान कहा गया है । अमृतत्व के साम्मुख्य में आया अन्न शब्द मृत्यु अथवा मर्त्य जगत् का उपलक्षण माना जा सकता है । प्रकृति की परा सीमा अन्न है और अन्न से रेतस् की, रेतस् से पुरुष की उत्पत्ति होती है ।[2] अतः अन्न, पंचभूतों पंचतन्मात्राओं पंच इन्द्रियों—इन सब मरणमर्धा तत्वों का उपलक्षण होकर आया है । जहां महद् ब्रह्म अमृत का ईशान है वहां मृत्यु का भी ईशान है । अथर्व सूक्त ने तो **'अन्येनाभवत् सह'** कहकर इस बात को अति स्पष्ट कर दिया है । अमृत से अन्य मृत्यु है वह उसका भी ईशान है । इसलिए **'अन्येन'** का अर्थ मृत्यु लेना उपयुक्त रहेगा । **'अन्येन'** कहो अथवा **'अन्नेन'** कहो दोनों ही मर्त्य जगत् के सूचक हैं, जो कि अथर्ववेद की अपनी शैली के अनुरूप ही हैं ।

पद भिन्नता के—

हमको पदगत-भिन्नता प्रथम मन्त्र के प्रथम पद में ही दिखाई देती है जहां ऋक् यजु,

---

१. **सामभिः स्तुवन्ति**···निरु० ११. ७, काठ सं० २७।१.
स्वा० द० ने ऋ० भा० भू० [प्रश्नोत्तर विषय] में इसे उपासना का वेद कहा है ।

२. **आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या औषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात् [रेतः । रेतसः] पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।** तैत्ति० उप० ब्रह्मानन्द वल्लो १.१.

साम के पुरुष-सूक्त का आरम्भ **'सहस्रशीर्षा'** पद से हुआ है वहाँ अथर्व-सूक्त का आरम्भ **'सहस्रबाहु'** से हुआ है। यदि पुरुष-सूक्त के पुरुष का चित्रण किया जाय तो ऋक् यजु साम के पुरुष की जहां भुजाएं नहीं होंगी, वहां अथर्व-सूक्तोक्त पुरुष के शीर्ष न होगा। तो क्या यह समझा जाय कि ईश्वर ने पुरुष के निर्माण में त्रुटि रहने दी या वह भूल गया ? ईश्वर के सम्बन्ध में इस प्रकार की शंका निरर्थक है फिर भी इसके कारण का अन्वेषण होना ही चाहिए। अधिक सम्भावना यह है कि हर वेद का दर्शन-क्षेत्र भिन्न है। पुरुष सूक्त में जिस समाज पुरुष का वर्णन किया गया है उसमें दो शक्तियों को प्रधानता दी गई है-एक ब्रह्म शक्ति को, दूसरे क्षत्र-शक्ति को। जहां पर ये दोनों शक्तियां एक साथ विचरण करती हैं वहीं पर श्री [वैश्य-शक्ति] निवास करती है।[1]

ब्रह्मशक्ति को मुख कहा गया है और क्षत्र-शक्ति को बाहु, अतः अपने-अपने दर्शन-क्षेत्र के अनुरूप ऋक्, यजु साम में शीर्ष की प्रधानता दिखा दी गई है तो अथर्व में बाहु की। यह सर्व विदित है कि अथर्ववेद को क्षत्र-वेद भी कहते हैं।[2]

सर्वतः, विश्वतः —

इसी मन्त्र के तृतीय चरण में **'विश्वतः'** पद है जबकि यजुः में **'सर्वतः'** ऋक्, अथर्व में **'वृत्वा'** पद है तो यजुः में **'स्पृत्वा'**। हमारे विचार में स्पृत्वा और वृत्वा एक ही अर्थ के द्योतक हैं। वृत्वा में 'वृ' धातु है जिसका अर्थ है घेरना आच्छादित कर लेना। मनुष्य देह पर एक आवरण है, एक आच्छादन है जिसे हम त्वचा कहते हैं जो हमारे शरीर में आपादमस्तक छाई हुई है, उसे स्पर्शेन्द्रिय कहते हैं। स्पर्शेन्द्रिय ही सब ओर से घेरे हुए है इसलिए शरीर के किसी भी भाग को छूने से स्पर्श की अनुभूति होती है। इस कारण **'सर्वतो वृत्वा** कहें या **'सर्वतस्पृत्वा'** कहें कोई अन्तर नहीं।

'विश्वतो वृत्वा' में आया हुआ **'विश्वतः'** पद इस **'स्पृत्वा'** और **'वृत्वा'** पदों पर और भी अधिक प्रकाश डालता है। इसको मनुष्य देह पर आच्छादित स्पर्शेन्द्रियरूप आवरण से समझा जा सकता है। त्वचा रूप आवरण सर्वतः स्पृत्वा होना आवश्यक है, जिसे सब ओर—सब जगह से छुआ जा सके। लेकिन कठोर, मृदु, शीत, उष्ण, स्पर्श की अनुभूति सर्वतः छाई हुई त्वचा मात्र से नहीं होती, अपितु हमारी त्वचा से जुड़ा हुआ नाड़ी जाल उस अनुभूति को मस्तिष्क केन्द्र तक पहुंचाता है। बाह्य स्पर्श जब नाड़ी संस्थान में प्रवेश पाता है तब कहीं मस्तिष्क केन्द्र को उसकी अनुभूति होती है। विद्युत् का अनावृत तार विश्वतः वृत्वा भी है और सर्वतः स्पृत्वा भी। उसे कहीं से भी स्पर्श करिए वह अपना प्रभाव अवश्य दिखायेगा। यदि तार को किसी आवरण से ढक दिया गया है तो वह विश्वतो वृत्वा है, परन्तु सर्वतस्पृत्वा नहीं। महद् ब्रह्म सर्वतस्पृत्वा भी है और विश्वतो वृत्वा भी है। सबको घेरे हुए भी है और सबमें व्याप्त भी है।[3] अतः इनदोनों में स्व स्व शैली भेद के कारण अक्षर भेद है अर्थ भेद नहीं।

---

१. **यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तंल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।** य० २०. २५-
इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्। मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा। य० ३२. १६.

२. **'उक्थं···यजु···साम···क्षत्रं···वेद।** शत० ब्रा० १४. ८. १४. १-४.

३. **अड्यार पुस्तकालय मद्रास के संस्कृत-लेखों में वॉल्यूम १ के सं० ६१५ पुरुषसूक्तार्थ निष्कर्ष तेलगू लिपि में लिखित ग्रन्थ में विश्वतोवृत्वा का अर्थ करते हुए लिखा है—विश्वतः सर्वतः नाम अन्तर्बहिश्चेत्यर्थः।**

ऋक्-संहिता के द्वितीय मन्त्रगत **'भव्यम्'** पद के स्थान पर अन्य वेदों में **'भाव्यम्'** पद प्रयुक्त हुआ है उसका कोई विशेष कारण प्रतीत नहीं होता। केवल एक ही बात को कहने की विवक्षा से अन्य पद का प्रयोग है। एक लेखक जिस प्रकार एक ही वात को अपने दूसरे ग्रन्थ में दूसरी तरह से कह देता है उसी प्रकार की सी बात यहां दृष्टिगत होती है। यही कारण **'ईशानः'** और **'ईश्वरः'** का भी प्रतीत होता है।

अगले पद **'एताबान्'** और **'तावान्'** हैं। उस पुरुष की महिमा दोनों जगतों में व्याप्त है एक के लिए **'इदम्'** और दूसरे के लिय **'अदस्'**। एक के लिए **'अधः'** दूसरे के लिए **'ऊर्ध्व'**। एक के लिए **'एतत्'** दूसरे के लिए **'तत्'** एक के लिए **'एतावान्'** दूसरे के लिए **'तावान्'** एक **'प्रत्यक्ष'** है दूसरा **'परोक्ष'**। ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त में महद् ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हुए प्रत्यक्ष जगत् की ओर निर्देश किया है जो कि उसकी महिमा का एक चरण है। ऋक् और यजु अर्थात् ज्ञान और कर्म का सम्बन्ध[1] प्रत्यक्ष से है, वर्तमान से है इसलिए उनमें **'एतावान्'** शब्द का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद[2] विज्ञान का वेद है, विज्ञान का सम्बन्ध परोक्ष जगत् से है जिसकी ओर हम **'वह'** या **'उस'** पद से निर्देश कर सकते हैं। परोक्ष पर आए हुए आवरण को हटाकर दर्शन कर लेना ही विज्ञान है। महद् ब्रह्म की जो महिमा ऊर्ध्व लोक में है [जिसके तीन चरण हैं, जो परोक्ष है] उसे अभिलक्ष्य करके अथर्ववेदीय पुरुषसूक्त में कहा गया है **'तावन्तोऽस्य महिमानः'** यह 'एतावान्, की और **'तावान्'** की पद भिन्नता का सम्भाव्य कारण है। इन दोनों ही शब्दों के क्रमशः एक वचन और वहुवचन का कारण भी अति स्पष्ट है। यह प्रत्यक्ष जगत् उसका एक चरण है, इसलिये **'एतावान्'** यह एकवचन है। उस जगत् की महिमा यहां से त्रिगुणित है, अतः वहां पर **'तावन्तः महिमानः'** वहुवचन का प्रयोग उपयुक्त है।

पंचम मन्त्र में **'तस्मात्'** पद है जिसके स्थान पर यजु और साम में **'ततः'** है। **'तस्मात्'** से कारण का तात्पर्य होगा। उस पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई जबकि **'ततः'** से क्रम का वर्णन है अर्थात् अब तक जो चार मन्त्र तक कहा है उसके बाद विराट् की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार इन दोनों पदों से यही प्रतीत होता है कि उस विराट् की उत्पत्ति उस पुरुष से हुई और उस पुरुष के बाद ही वह अस्तित्व में आया।

सप्तम मन्त्र में **'बर्हिषि'** पद का प्रयोग हुआ है और अथर्व में **'प्रावृषा'** का। साधारणतया देखने पर ये दोनों पद सर्वथा भिन्नार्थ के द्योतक हैं, परन्तु गहन विचार करने पर इनमें भिन्नता नहीं अपितु एकार्थता दिखाई देती है। **'प्रावृट्'** और **'बर्हिः'** एक दूसरे के कारण कहे जा सकते हैं। यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड में प्रोक्षण क्रिया कराई जाती है और वह वर्हिः=कुशा से की जाती है। यहाँ बर्हि वृक्ष, वनस्पति जगत् का प्रतिनिधित्व करता है। प्रोक्षण का अर्थ है किसी पर जल विन्दु वरसाना। यही प्रक्रिया संवत्सर-यज्ञ में वर्षा के माध्यम से होती है मानो आदित्य इस सृष्टि यज्ञ में वर्षा करके प्रोक्षण कार्य कर रहा है। यह समस्त वृक्ष वनस्पति जगत् ही बर्हिः का काम देते हैं, और तो और आज के वैज्ञानिकों का मत है कि जिस प्रदेश में वृक्ष वनस्पति की अधिकता होती है वहां वर्षा भी अधिक होती है। यह

---

१. **'ज्ञानकाण्ड के लिए ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिए यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिए सामवेद शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिए अथर्ववेद। —स्वा० द० कृत ऋ० भा० भू०, पृ० ६८८.**

२. **'एवं काण्डत्रयेण बोधात् निष्पत्युपकारौ गृह्यते तच्च विज्ञानकाण्डं (अथर्ववेदे) —वही, पृ० ३८३.**

भी सत्य है कि जहां वर्षा अधिक होती है वहां वृक्ष वनस्पति अधिक होते हैं। इससे सिद्ध हुआ '**बर्हि:**' और '**प्रावृट्**' दोनों अन्योन्याश्रित हैं। ऋक् यजु संहिता में '**बर्हिषि प्रौक्षन्**' कहकर जिसकी ओर संकेत किया है उसी को अथर्व-सूक्त में '**प्रावृषा प्रौक्षन्**' कहकर अनुमोदित किया है।

एक महत्वपूर्ण भिन्नता '**ऊरू**' एवं '**मध्यम्**' की भी है। ऋक् यजु में **ऊरू** है तो अथर्व में **मध्यम्**। ऋक् यजु: सूक्त जहां '**ऊरू**' शब्द का प्रयोग वैश्य के ऊरूवत् गुण धारण करने की ओर संकेत करता है वहां अथर्ववेदीय पुरुष-सूक्त का '**मध्यम्**' पद **ऊरू** शब्द की व्याख्या करता है। वैश्य ऊरूवत् गुणों को तभी धारण कर सकता है कि जब यह जान ले कि **ऊरू** संज्ञा शरीर के किस अवयव की है। कई वार **ऊरू** शब्द को लेकर यह विवाद होता देखा गया है कि **ऊरू** शब्द का अर्थ जंघा है अथवा उदर। इस विवाद को '**मध्यम्**' शब्द ने सदा के लिए समाप्त कर दिया। शरीर के मध्यम भाग को नापने के लिए किसी बाह्य पैमाने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य के पास उसका अपना ही हाथ पैमाना है जिससे शरीर का मध्यम भाग नापा जा सकता है। कोहनी से लेकर मध्यमा अंगुलि तक फैले हुए भाग को [प्र] हस्त कहा गया है। सीधे खड़े होकर व्यक्ति अपनी दाहिनी और बाँई दोनों भुजाओं को शरीर के साथ सटा ले अर्थात् 'सावधान' [अटैन्शन] की स्थिति में खड़ा हो जाए, फिर जहाँ उसकी कोहनी स्पर्श करे वहां एक चिह्न लगा ले और जहां मध्यमा अंगुलि का सिरा स्पर्श करे वहां दूसरा निशान लगा ले। बस अब शरीर का मध्यम भाग निकल आया। इस भाग में उदर, नाभि और जंघा तीनों समाहित हो गए। इस प्रकार **ऊरू** पद का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। महर्षि दयानन्द ने भी '**ब्राह्मणोऽस्य**' मन्त्र की व्याख्या में '**ऊरू**' शब्द का अर्थ '**कटि के अधो और जानु का उपरिस्थ भाग**' ही किया है।[1]

आसीत्, कृतः, अजायत —

सूक्तगत मन्त्रों की क्रम भिन्नता, चरण भिन्नता, पद भिन्नता आदि की इस ऊहा पोह के उपरान्त एक प्रश्न अब भी शेष रह गया है— कि 'सूक्त के अति प्रसिद्ध "**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**"' मंत्र में '**आसीत्**', '**कृतः**' और '**अजायत**' तीन-तीन क्रियाओं के प्रयोग का क्या कारण है? क्यों नहीं एक ही क्रिया से काम चला लिया गया? हमारी समझ में इस प्रश्न के दो सम्भाव्य समाधान हो सकते हैं, एक तो यह कि सर्वात्मा पुरुष द्वारा उत्पत्ति की दो विधाओं को अभिलक्ष्य करके आद्यन्त '**आसीत्**' और '**अजायत**' दो क्रियाओं का प्रयोग किया गया हो और कर्मात्मा पुरुष की रचना को अभिलक्ष्य करके '**कृतः**' क्रिया का प्रयोग किया गया हो। दूसरी यह कि वर्ण निर्णय के '**गुण**', '**कर्म**' और '**स्वभाव**' तीन-तीन आधार हैं अतः उनको अभिलक्ष्य करके '**आसीत्**' '**कृतः**' और '**अजायत**' तीन-तीन क्रियाओं का प्रयोग किया हो।

सृष्टि-रचना की दो विधाएं —

सर्वात्मा पुरुष द्वारा उत्पत्ति की दो विधाएं निर्धारित हैं एक अमैथुनी दूसरी मैथुनी, मन्त्र में अमैथुनी उत्पत्ति को अभिलक्ष्य करके '**आसीत्**' क्रिया का और मैथुनी उत्पत्ति को अभिलक्ष्य करके '**अजायत**' क्रिया का। अमैथुनी रचना में सभी व्यक्ति [पुरुष] ब्राह्मण ही उत्पन्न हुए थे इसलिए '**आसीत्**' क्रिया का प्रयोग हुआ है और मैथुनी रचना में सभी व्यक्ति [पुरुष] शूद्र ही होते हैं इसलिए '**अजायत**' क्रिया का प्रयोग हुआ है। सृष्टि के आरम्भ का व्यक्ति ब्रह्म अर्थात् वेद का अपत्य होने से

---

१. स० प्र०, च० स०, पृ० १८०.

ब्राह्मण ही उत्पन्न हुआ था इसलिए उसके लिए कहा गया **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** । सृष्टि के मध्य व्यक्ति मैथुन द्वारा शूद्र ही उत्पन्न होते हैं आगे भी होंगे इसलिए उसके लिए कहा गया **'पद्भ्यां शूद्रो-अजायत'** ।

ब्राह्मण और शूद्र दो काष्ठाएं —

जिस प्रकार मनुष्योत्पत्ति की दो काष्ठाएं हैं उसी प्रकार समाज की भी दो काष्ठाएं हैं दो छोर हैं। एक ब्राह्मण, दूसरा शूद्र। सृष्टि की अमैथुनी विद्या द्वारा ब्राह्मण और मैथुनी विद्या द्वारा शूद्र। वर्ण निर्माण का कार्य किसी भी छोर से चले तो उनका निर्णायक **'कर्म'** ही होगा। अतः बाहू राजन्यः और ऊरू वैश्यः के मध्य **कृतः** क्रिया का प्रयोग किया गया, यहां बाहू राजन्यः' **'कृतः'** ऊरू वैश्यः 'के मध्य पड़ा हुआ कृतः देहली दीपन्याय से **'राजन्यः'** और **'वैश्यः'** दोनों के साथ संगत होता है। उधर जब सृष्टि के आदि व्यक्ति ब्राह्मण में कालक्रम से ह्रास आरम्भ होगा और वर्ण निर्माण का प्रश्न आएगा तो उसका निर्णायक **'कर्म'** ही होगा और इधर मैथुनोत्पन्न शूद्र व्यक्ति उन्नत वर्णभाव को प्राप्त करेगा तो उसका भी निर्णायक **'कर्म'** ही होगा और ह्रास पक्ष से क्षत्रिय, वैश्य, वर्ण और उन्नत पक्ष से वैश्य, क्षत्रिय निर्माण किये जायेंगे और दोनों के साथ **'कृतः'** क्रिया का प्रयोग हुआ है। अतः **ब्राह्मणः** के साथ **आसीत्** **'राजन्यः', 'वैश्यः'** के साथ **'कृतः'** और शूद्रः के साथ **'अजायत'** क्रिया का प्रयोग उपयुक्त ठहरता है।

आधार भी तीन क्रियाएं भी तीन —

दूसरा सम्भाव्य समाधान वर्णों का आधार **'गुण', 'कर्म', 'स्वभाव'** हैं। वर्णों के निर्णायक आधार भी तीन हैं और मंत्र में प्रयुक्त क्रियाएं भी तीन ही हैं। हमारी समझ से 'आसीत्' क्रिया **'गुण'** से सम्बद्ध है **'कृतः' 'कर्म'** से और **'अजायत' 'स्वभाव'** से। ब्राह्मण गुणों में मुख्य, कर्म स्वभाव में गौण, शूद्र स्वभाव में मुख्य और गुण कर्म में गौण, मध्यवर्ती क्षत्रिय और वैश्य कर्म में मुख्य, गुण स्वभाव में गौण, यह है मंत्र गत तीन विभिन्न क्रियाओं के प्रयोग का सम्भाव्य समाधान।

पुरुष-सूक्त का क्षेत्र—

पुरुष-सूक्त के क्षेत्र से हमारा तात्पर्य है कि संहितागत पुरुष-सूक्त ने किस-किस क्षेत्र को प्रभावित किया, इससे प्रभावित होकर किस-किस ग्रन्थकार ने किस-किस रूप में कहां इसका प्रयोग किया। इस विषय को हम वैदिक साहित्य से ही आरम्भ करते हैं।

चारों संहिताओं में स्थित पुरुष-सूक्त और उनकी शाखाओं में आये हुए पुरुष-सूक्त का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। यजुर्वेद की मत्रायणी संहिता में केवल उसका एक मन्त्र [सहस्रशीर्षा] ही प्राप्त होता है[1]।

ब्राह्मण साहित्य में यह शुक्लयजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में पुरुषमेध के प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है। इसी सूक्त का अन्तिम मन्त्र **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः······सन्ति देवा'** भी अन्य प्रसंग में इसी ग्रन्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

आरण्यक साहित्य में—तैत्तिरीय आरण्यक में यह अठारह ऋचात्मक उपलब्ध हैं। ऋक्सूक्त से कुछ अन्तर भी है।

---

१. मै० सं० ४.१०.३.

२. शत० ब्रा० १०.२.२.२, ३

उपनिषद् और पुरुष-सूक्त —

एक ओर जहां कर्मकाण्डपरक ब्राह्मण ने इसका प्रयोग किया है वहां दूसरी ओर ज्ञान-काण्ड प्रधान उपनिषदों ने भी इससे पूर्ण लाभ उठाया है। उपनिषदों में यह दो प्रकार से मिलता है। एक तो जहां प्रकरणवश मन्त्र की आवश्यकता पड़ी वहां ज्यों का त्यों मन्त्र ले लिया गया है, दूसरे व्याख्या रूप में। मन्त्र रूप में यथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में, ईश्वर का वर्णन करते हुए तीन मंत्र पुरुष-सूक्त के भी लिए हैं, जो ईश्वर स्वरूप के विधायक हैं।[1] चित्युपनिषद् में तो प्राय: सम्पूर्ण सूक्त उपलब्ध है।[2] उपनिषदों में एक उपनिषद् पुरुष-सूक्त के नाम से भी उल्लिखित है। उसमें पुरुष-सूक्त के मन्त्रों का संग्रह मात्र है।

मुद्गलोपनिषद् जिसका आरम्भ 'पुरुष-सूक्तार्थ-निर्णयं व्याख्यास्याम:' से हुआ है; पुरुष-सूक्त को व्याख्यारूप में प्रस्तुत करता है। उपनिषद् के आरम्भिक नौ पद्यों में प्रतिमन्त्र विषय का प्रतिपादन किया गया है। नौ पद्यों में पुरुषसूक्त के जिन मन्त्रों का विषय प्रतिपादित किया गया है उनकी संख्या बारह है, और इस क्रम में—

[१] सहस्रशीर्षा पुरुष: [२] पुरुष एव इद सर्वम्।
[३] एतावानस्य महिमा [४] त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष:।
[५] तस्माद्विराडजायत [६] यत् पुरुषेण हविषा देवा:।
[७] सप्तास्यासन् परिधय: [८] तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्।
[९] तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत: [१०] वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।
[११] प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त: [१२] यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:।

मन्त्रार्थ निर्णय —

प्रथम मन्त्र का **'सहस्र'** शब्द अनन्त का वाचक है और **'दशांगुल'** शब्द अनन्त योजन का वाचक है। सूक्त की प्रथम ऋचा के द्वारा विष्णु की देशत: व्याप्ति दिखाई गई है। तृतीया ऋचा द्वारा विष्णु के मोक्षप्रदान तथा उसके वैभव का वर्णन है, साथ ही उसके 'चतुर्व्यूह' का कथन है। चतुर्थ मन्त्र **'त्रिपादूर्ध्व'** से अनिरुद्ध के वैभव का वर्णन है। **'तस्माद् विराडजायत'** इस पंचमी ऋचा-द्वारा प्रकृति पुरुष की उत्पत्ति का प्रदर्शन है। **'यत्पुरुषेण हविषा'** ऋचा-द्वारा सृष्टि-यज्ञ कहा गया है। **'सप्तास्यासन्'** से परिधि व समिधाओं का वर्णन है। **'तं यज्ञं'** मन्त्र-द्वारा सृष्टि-यज्ञ और मोक्ष का कथन है। यही अगले मन्त्र का विषय है। दसवें मन्त्र से हरि के वैभव का कथन तथा अन्तिम **'यज्ञेन यज्ञम्'** के द्वारा सृष्टि मोक्ष और संहार का कथन है।

मुण्डकोपनिषद् में भी पुरुष-सूक्त व्याख्यारूप में प्राप्त होता है।[3] अन्य उपनिषदों[4] में पुरुष सूक्तगत पुरुष की तो व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं, लेकिन पुरुष-सूक्त की स्वतन्त्र-रूप से व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। वैदिक साहित्य से इतर साहित्य में भी पुरुष-सूक्त के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, तद्यथा—

पुराण-साहित्य एवं पुरुष-सूक्त —

पुराण-साहित्य में पुरुष-सूक्त की व्याख्याएं यत्र तत्र प्राप्त हैं। ब्रह्म पुराण में इस सूक्त के कुछ मन्त्रों की व्याख्या उपलब्ध होती है। एक स्थान पर सहस्रशीर्ष पुरुष के पुरुष-सूक्त-वर्णित विशेषणों

---

१. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्। सहस्रशीर्षा पुरुष:। पुरुष एवेदं सर्वम्। श्वे० उ० ३, ८, १४, १५.
२. चि० उ० १२. १. ३. मु० उ० २. १. ४. छा० उ० ३. १२. ६.

का प्रयोग करते हुए उससे दृश्य जगत् की उत्पत्ति दर्शायी है। इसमें सहस्रशीर्ष को विराट् कहा है पुनः उस सहस्रशीर्ष से विराट् की उत्पत्ति का वर्णन भी किया है।[१] इसी प्रकार ब्रह्म पुराण में अन्यत्र भी पुरुष-सूक्त का उल्लेख हुआ है। १६१वें अध्याय में तो आरम्भिक ५० श्लोकों में पुरुष एवं उससे रचित सृष्टि का विषद वर्णन प्राप्त होता है।

पद्म पुराण के सृष्टि-खण्ड में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' से सृष्टि-उत्पत्ति दी गई है। इस प्रकरण में पुरुष-सूक्त के चरणों का भी प्रयोग किया गया यथा —**'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'**।[२]

स्कन्द पुराण में भी पुरुष-सूक्त की तरह सहस्रशीर्ष पुरुष से सृष्टि का प्रवर्तन दर्शाया है।[३] इस पुराण ने पुरुष-सूक्त के न केवल पद एवं चरण ही लिए हैं, अपितु पूर्ण मन्त्र उद्धृत किए हैं। कहीं-कहीं उनमें एक दो पद का अन्तर कर दिया गया है। इनकी कुल संख्या आठ है।

उपर्युक्त तीन पुराणों में पुरुष-सूक्त विस्तृत रूप से प्राप्त होता है, लेकिन इस सूक्त के एक-दो मन्त्र और भी पुराणों में प्राप्त होते हैं, यथा-शिव पुराण,[४] विष्णु पुराण[५] आदि।

पुराणों में पुरुष-सूक्त की व्याख्या के साथ ही उसके पठन मात्र से फलावाप्ति की घोषणा भी प्राप्त है। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में लिखा है —

ब्रह्मयज्ञे जपन् सूक्तं पुरुषं चिन्तयन् हरिम्। स सत्वान् जयते वेदान् साङ्गोपाङ्गविधानतः[६] ॥

इतना ही नहीं कुछ पुराण तो पुरुष-सूक्त के जप की भी बात कहते हैं।[७] विभिन्न क्रियाओं में इस सूक्त के विनियोग को भी दर्शाया गया है।[८] बह्वृच यजुर्वेदीय सामग-द्वारा इस सूक्त का जप अनेक बार करने को कहा गया है।[९]

पुराणकारों ने इस सूक्त का सम्बन्ध देवता-विशेष के साथ जोड़ा है। सम्भवतः उन्होंने यह अपने सम्प्रदाय से प्रभावित होकर ही किया हो। क्योंकि इसका सम्बन्ध किसी एक देवता के साथ नहीं बल्कि दूसरों के साथ भी मिलता है। यथा गरुड़ एवं अग्नि-पुराणकार इसका सम्बन्ध विष्णु से बताते हैं,[१०] तो लिंगपुराणकार शिव से, क्योंकि शिवपूजा में इसका विनियोग किया गया है।[११] इसी बात को डा० रामशंकर भट्टाचार्य ने अपनी 'पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन' में इस प्रकार वर्णन किया है —

'पुराणों में पुरुष-सूक्त के व्याख्यायुक्त अंशों में विष्णु, सृष्टिकर्त्ता प्रजापति, नारायण और कृष्ण ही लक्षित हुए हैं। इन स्थानों पर वैष्णव संप्रदाय की प्रारम्भिक दृष्टि स्पष्टतः लक्षित होती है। ब्रह्म १६१।४१-५०, भाग० २।५।३५-४२, २।६।१५-३०, पुरुषोत्तम० २४।५-२४, वैंकटाचल० ३५।२८-७०, पद्म० ५।४।११६-१२४ और ६।२५४।६२-८३।'

---

१. ब्र० पु०, अध्याय १७८—१५५-१६४.
२. प० पु०, सृष्टिखण्ड अध्याय ४. ११६-१२२.
३. स्क० पु०, २ (२) २४।६-१३.
४. शि० पु०, ज्ञान संहिता —५.४४.
५. वि० पु०, ६६.१५७-५८.
६. वि० ध० पु०, १२.३१.
७. भ० पु०, २.२.१६.१८१; म० पु० ५८.३५.
८. अ० पु० —२६३.४, लि० पु० पू० भा० २७.४३, ५४.
९. म० पु० ५८.३३, अ० पु० ६६.४०,
१०. ग० पु०, पूर्वखण्ड ५०.६१-६२, अ० पु० ५८।२७.
११. पूर्वभाग २७.४३.

याज्ञिक क्रियाओं के साथ भी इस सूक्त का उल्लेख हुआ है।[1] इस प्रकार पुरुष-सूक्तान्तर्गत विभिन्न मन्त्र पृथक्-रूप से पुराणों में व्रत, पूजा, यज्ञादि कर्मों में आए हैं।

आज भी हम देखते हैं कि षोडशोपचार में पुरुष-सूक्त का विनियोग होता है। व्यक्ति को संन्यास की दीक्षा लेते समय भी पुरुषसूक्त का पाठ करते हुए १०८ कलशों से स्नान करना होता है।[2]

अहिर्बुध्न्य-संहिता और पुरुष-सूक्त —

अहिर्बुध्न्य-संहिता के उनसठवें अध्याय में पुरुष-सूक्त और श्री-सूक्त के मन्त्रों का अर्थ निरूपण किया गया है, उसमें पुरुष-सूक्त के आरम्भिक तीन मन्त्रों का अर्थ उपलब्ध होता है; जो कि अन्वेषकों एवं शोधकर्त्ताओं के लिए आदर्श है। निस्सन्देह यदि ग्रन्थकार सम्पूर्ण सूक्त का इसी क्रम से भाष्य करता तो उससे अत्यन्त लोकहित होता।

व्याख्याकार ने आरम्भ में ही दोनों सूक्तों के अर्थ का निरूपण करते हुए इससे जगत् का हित होगा ऐसी प्रतिज्ञा की भी है, आरम्भिक दूसरे और तीसरे श्लोक में पुरुष-सूक्त-सम्बन्धी पाठभेदों का दिग्दर्शन कराया है। चौथे श्लोक में पुरुष-सूक्त के प्रतिपाद्य प्रमेय का दिग्दर्शन कराते हुए लिखता है —समस्त जगत् की उत्पत्ति का जो हेतु स्वर्ग व अपवर्ग को देने वाले पुरुष-सम्बन्धी यज्ञ का इस सूक्त में निरूपण किया है, तत्पश्चात् सूक्त के मन्त्रों का क्रमशः अर्थ लिखना आरम्भ करता है। सहस्रशीर्षा प्रथम मन्त्र का अर्थ लिखते हुए वह प्रतिज्ञा करता है कि मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ वर्णन करने के लिए हम उत्सुक हैं। इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने मन्त्र के प्रतिपद का अर्थ करते हुए उसे चौदह श्लोकों में आबद्ध किया है। सहस्र शब्द का अर्थ वह अनन्त अथवा पांच सौ का दुगुना सहस्र न लेकर उसका स्वतन्त्र अर्थ प्रतिपादित करता है। वह 'सहस्रशीर्षपुरुष' उस परम सत्ता को मानता है कि जिसमें प्रकृति अपने सम्पूर्ण गुणों से युक्त आश्रय प्राप्त किये हुए है। **'सहस्र'** पद को द्विधा विभक्त कर **'स+हस्र'** मानते हुए **'हस्र'** शब्द का अर्थ **प्रकृति** अथवा माया शक्ति मानता है। **'षण्णां गुणानां मध्ये या शक्तिः सा—हस्र उच्यते। प्रधान पुरुषौ तस्याः सृतौ सर्गे सनातनौ तामेवापि-श्रितावन्ते तौ साहस्रवतः स्मृतौ।"** इसी प्रकार **'अक्ष'** शब्द का अर्थ है जिसने सबको व्याप्त किया हुआ है स्वयं व्यापक है, गतिमान् है सब को गति देता है और सबके लिए पूज्य है। इस प्रकार का पुरुष माना है।

'सहस्रपाद्' शब्द का अर्थ **'प्रकृति-वैशिष्ट्य-परत्व'** किया है। जो प्रकृति परिणामिनी है, नित्य परिणामिनी है और चलायमान है उसे सहस्रपाद् कहा गया है। **'भूमि'** शब्द का अर्थ जगत् का **'उपादान'** मानता है। आगे लिखता है कि पुरुष परब्रह्म ने जगत् के उपादान तत्त्वों को अपनी संकल्प शक्ति मात्र से दश अंगुलियों द्वारा थामा हुआ है और दश अंगुलियों से इस जगत् के उपादान कारण भूत तत्त्व भी अनन्त हैं। इस प्रकार चौदह श्लोकों में पुरुष-सूक्त के प्रथम मन्त्र का अर्थ-विस्तार किया है। इन सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ एक विशेषता यह भी है कि मन्त्रार्थ में साम्प्रदायिक तत्त्व भी देता जाता है। उसकी दृष्टि में पुरुष-सूक्त का प्रतिपाद्य संकर्षण नाम का महापुरुष है। माया और प्रकृति का स्थानापन्न वह लक्ष्मी अथवा श्री को मानता हैं।

तन्त्र-साहित्यकारों की दृष्टि में भी यह सूक्त समादृत है। लक्ष्मी तन्त्रकार इस सूक्त को

१. ब्र० पु० —१६१.२८.

२. स्वा० द० —संस्कार विधि—[पृ० २३५]

विशेष महत्व देता हुआ कहता है —"दधि में जिस प्रकार घृत उठ आता है उसी प्रकार ज्ञानात्मक वेद-राशि से यह उठा"[१] ।

स्मृतिकार भी मानो पुराणों का समर्थन करता हुआ कहता है कि संध्या-वन्दन के समय गायत्री के साथ इस सूक्त का ध्यान करे—**"विशेषतस्सावित्रीमुत्ववश्यं जपेत् पुरुषसूक्तञ्च नैताभ्यामधिकमस्ति"**[२] । तर्पण के समय, परमपुरुष की पूजा करते हुए पुरुष सूक्त को विनियुक्त करने का विधान इसी स्मृति में प्राप्त होता है । अन्य दो स्थलों पर भी इसका वर्णन है । शातातप स्मृति तो नित्यप्रति पुरुष-सूक्त-द्वारा दूध से तर्पण करने की विधि कहती है[३] ।

संहिताओं में जहाँ पुरुष-सूक्त अर्थ-गाम्भीर्य के कारण महत्त्वपूर्ण रहा वहां बाद के साहित्य में वह केवल जप-मात्र से ही फलदायी हो गया । इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरुष-सूक्त के ब्रा संहिताओं और वैदिक साहित्य तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने परवर्ती साहित्य को भी प्रभावित किया है ।

यह तो ग्रन्थों में प्रयुक्त पुरुष सूक्त की बात हुई । स्वतन्त्र रूप से भी अनेक विद्वानों ने इस सूक्त पर अपना मत प्रस्तुत किया है, जिनका उल्लेख आवश्यकतानुसार शोध-प्रबन्ध में किया जाएगा । कई भाष्य तो अभी तक अप्रकाशित हस्तलेखों के रूप में पुस्तकालयों में हैं[४] । कुछ लेख इस सूक्त पर ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनमें नये ढंग से एक विशेष विचारधारा को ही लेकर कार्य किया गया है ।

'पुरुष-सूक्त' पर वेद के प्रमुख भाष्यकारों का मत —

आचार्य सायण —

चतुर्वेद भाष्यकार आचार्य सायण ने ऋग्वेद, यजुर्वेद [कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक] सामवेद और अथर्ववेद के स्वरचित भाष्य में यथास्थान पुरुष-सूक्त पर भी अपनी लेखनी उठाई है । भाष्यकार एक होते हुए भी प्रसंगादि-भेद के कारण भाष्य में भी कुछ-कुछ भिन्नता का होना स्वाभाविक ही है । अतः पुरुष-सूक्तभाष्य-सम्बन्धी प्रतिवेद निविष्ट विशेषताओं का थोड़ा-सा उल्लेख करना समीचीन होगा ।

ऋग्वेद —

ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त की अवतरणिका में सायण ने इस सूक्त का देवता प्रकृतिविकृति से भिन्न चेतनपुरुष [=परमपुरुष] को माना है[५] । प्रथमा ऋचा में उसे ही सर्वप्राणिसमष्टिरूप ब्रह्माण्ड देह वाला विराट् स्वीकार किया है और सहस्रशीर्षा आदि शब्दों का उसके विशेषण के रूप में व्याख्यान किया है । **'सहस्र'** शब्द को उपलक्षण मान कर उससे **'अनन्त'** अभिप्राय लिया गया है । **'भूमि'** शब्द से **'ब्रह्माण्ड गोलक'** का ग्रहण किया गया है । **'दशाङ्गुल'** पद को **'बहिर्देशमात्र'** का उपलक्षक माना है[६] ।

---

१. अनन्ताचार्य कृत पुरुष-सूक्त से उद्धृत,

२. विष्णु-स्मृति —स्नानाद्याचार कृत्यवर्णनम्, पृ० ४८६.

३. श्लो० १६३.

४. अड्यार पुस्तकालय, मद्रास.

५. **अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः···श्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता । ऋ० १०.९०.१**

६. **दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतोव्याप्यावस्थित इत्यर्थः ।**

द्वितीया ऋचा **'पुरुष एवेदम्'** में **'इदम्'** पद से **'वर्त्तमान'** का और **'अमृतत्व'** से **'देवत्व'** का ग्रहण किया है।

तृतीया ऋचा **'एतावानस्य महिमा'** में विराट् के **'पाद'** और **'त्रिपाद्'** को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह परब्रह्म अनन्त है, अतः सीमारहित है। अतएव उसके पादचतुष्टय का निरूपण असम्भव है तो भी 'यह जगत् उस ब्रह्म के स्वरूप से अतिस्वल्प है' यह बात समझाने के लिये उसके पादचतुष्टय की कल्पना की है[1]।

चतुर्थी ऋचा **'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्'** में **'साशन'** का अर्थ 'भोजनादिव्यवहारकर्त्ता'=**'चेतनप्राणी'** और **'अनशन'** का अर्थ 'भोजनादिव्यवहार रहित,=**'जड़ वस्तु'** ग्रहण किया है[2]।

पंचमी ऋचा **'तस्माद् विराडजायत'** में **'विराट्'** पद से **'ब्रह्माण्ड-रूपदेह'** तथा **'पुरः'** पद से **'शरीर'** अर्थ लिया है। **'अधि'** उपसर्ग को **'उपरि'** अर्थ में माना है[3]।

षष्ठी ऋचा **'यत्पुरुषेण हविषा'** में **'पुरुष'** और **'हविः'** को विशेषण और विशेष्य भाव में लिया है, किन्तु **'यज्ञम्'** से **'मानसयज्ञ'** का अभिप्राय लिया गया है।[4]

सप्तमी ऋचा **'तं यज्ञं बर्हिषि'** में **'यज्ञ'** का अर्थ **'यज्ञसाधन भूत पुरुष'** किया है। **'बर्हिः'** पद से **'मानसिक यज्ञ'** का ग्रहण किया है।[5]

अष्टमी ऋचा **त'स्माद् यज्ञात् सर्वहुतः'** में यज्ञ के विशेषणभूत **'सर्वहुत्'** शब्द को सर्व उपपद के रहते, **'हु'** धातु से अधिकरण में क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न माना है[6]। तथा **'पृषदाज्यम्'** को **'दही मिश्रित घी'** का वाचक माना है[7]।

नवमी ऋचा **'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः'** के **'छन्दांसि'** पद से गायत्री आदि छन्दों का ग्रहण किया है।

एकादशी और द्वादशी **'यत्पुरुषं व्यदधुः'** और **'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्'** ऋचाओं में प्रजापति के प्राणरूप देवों के द्वारा संकल्प से उत्पादित विराट् पुरुष के अंगों का प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन माना है। प्रश्न वाली ऋचा में 'उस पुरुष के मुख, बाहु, ऊरू और पाद क्या हैं' इतना ही मन्त्र पदानुसारी प्रश्न माना है, किन्तु उत्तरवाली ऋचा में प्रश्नानुसार 'विराट् पुरुष के ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र क्रमशः मुख, बाहु, ऊरू और पाद स्थानीय हैं ऐसा न मानकर ब्राह्मणादि को विराट् पुरुष के मुखादि से उत्पन्न होना स्वीकार किया है[8]। अर्थात् **'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत'** इस चतुर्थ चरण के **'पद्भ्यां'** शब्द को

---

१. यद्यपि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाऽल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः।

२. साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातमनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्।

३. विराजोऽधि विराड् देहस्योपरि, तमेव देहमधिकरणं कृत्वा।

४. पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञमतन्वत अन्वतिष्ठन्।

५. यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं...बर्हिषि मानसे यज्ञे...।

६. सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्।

७. पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यम्॥

८. ब्राह्मणो...मुखमासीत्=मुखादुत्पन्न इत्यर्थः, राजन्यः...बाहूकृतः=बाहुत्वेन निष्पादितः=बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। ऊरू वैश्यः सम्पन्नः=ऊरूभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रो अजायत।

तृतीया[1] विभक्ति का द्विवचन न मानकर पंचमी विभक्ति का द्विवचन माना है और तदनुसार ऋचागत **'मुखम्, बाहू और ऊरू'** इन प्रथमाविभक्त्यन्त पदों को भी पंचमी विभक्ति में विपरिणत कर लिया।

'चन्द्रमा मनसो जातः' और **'नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्'** इन दोनों ऋचाओं में मन्त्र-पद-सुलभ सामान्य अर्थ लेकर विराट् पुरुष के मन, नाभि आदि अंगों से चन्द्रमा, अन्तरिक्ष आदि की उत्पत्ति दर्शाई है।

पंचदशी ऋचा **'सप्तास्यासन्'** में **'सप्त परिधि'** से **गायत्री आदि सात छन्द और 'त्रिः सप्त समिधः'** से **'बारह मास+पांच ऋतु+तीन लोक और+एक आदित्य'** ये इक्कीस समिधाएं स्वीकारी हैं[2]।

षोडशी ऋचा **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'** को समस्त सूक्त का सार-संक्षेप माना है[3]। **'देवा यज्ञेन यज्ञमयजन्त'** इस अन्वित वाक्य का 'प्रजापति के प्राणरूप देवों ने मानस संकल्प से प्रजापति का पूजन किया' यह अर्थ किया है[4]। ऋचा के उत्तरार्ध में उपासना और उसके फल के कथन की बात मानी गई है[5]। **'नाक'** का अभिप्राय विराट् की प्राप्ति-रूप **'स्वर्ग'** समझा गया है[6]।

अथर्ववेद—

अथर्ववेद [१६.६] में पुरुषसूक्त के भाष्य से पूर्व उसकी भूमिका में आचार्य सायण ने वैतानसूत्र [१६.६] को उद्धृत करते हुए, पुरुष-सूक्त का विनियोग पुरुषमेध क्रतु में पुरुष-पशु के अनुमन्त्रण कर्म में माना है[7]। किन्तु शान्तिकल्प [१७.१] के निर्देश से शनैश्चर ग्रह देवता-सम्बन्धी हविराज्य होम में समिदाधान तथा उपस्थान कर्मों में और परिशिष्ट [१०.१] का उल्लेख करके सौवर्णभूमिदान के अन्तर्गत आज्यहोमकर्म में भी इस पुरुष-सूक्त का विनियोग स्वीकार किया है[8]। सायण ने यहां पुरुष-सूक्त के मन्त्रों के दो प्रकार के अर्थ किये हैं—एक आधियज्ञिक और दूसरे आध्यात्मिक। इसका हेतु भाष्यकार ने दिया है—'क्योंकि पुरुष-सूक्त में सर्वातिशायित्वाभिलाषी तथा सर्वभूतात्मकामी नारायण पुरुष के द्वारा अनुष्ठित पुरुषमेध क्रतु का प्रतिपादन है और साथ ही जगत् के कारणभूत आदि नारायण पुरुष का भी इसमें प्रतिपादन है इसलिये यह सूक्त पुरुषसूक्त कहलाता है और इसीलिये इस सूक्त का दो प्रकार का अर्थ किया जा रहा है[9]।

---

१. तृतीया विभक्ति मानने पर 'पद्भ्यां' का 'पद्भ्यां तुल्यः' अर्थ सुलभ है 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' अष्टा० २.३.७३

२. गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधय आसन्। समिधः...एकविंशतिः कृताः। द्वादश मासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः।

३. पूर्व-प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति।

४. देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन...मानसेन सङ्कल्पेन...प्रजापतिं...पूजितवन्तः।

५. अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः सङ्गृह्यते॥

६. नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गम्॥

७. 'सहस्रबाहुः पुरुष' इति सूक्तद्वयं पुरुषमेधे क्रतौ पुरुषपश्वनुमन्त्रणे विनियुक्तम्।

८. तथैतस्य सूक्तद्वयस्य शनैश्चरग्रहदेवत्यहविराज्यहोमे समिदाधानोपस्थानयोश्च विनियोगः।...सौवर्णभूमिदानेऽपि एतत्सूक्तद्वयमाज्यहोमे विनियुक्तम्।

९. सर्वातिशायित्वसर्वभूतात्मकत्वकामेन नारायणाख्येन पुरुषेणानुष्ठितस्य पुरुषमेधक्रतोः प्रतिपादकत्वाज्जगत्कारणस्यादिनारायणपुरुषस्य प्रतिपादकत्वाद् वा एतत्पुरुषसूक्तमित्युच्यते। अतोऽस्यसूक्तस्य द्विविधोऽर्थ आधियज्ञिक एक आध्यात्मिकोऽपरः॥

सायणाचार्य के ऋग्वेदीय पुरुषसूक्तभाष्य से अथर्ववेदीय पुरुषसूक्तभाष्य में जो विशिष्टता है उसकी ओर हम संकेत करेंगे।

प्रथमा ऋचा **'सहस्रबाहुः पुरुषः'** में आधियज्ञिक पक्ष में यज्ञानुष्ठाता नारायण पुरुष के देह-विशेष का निरूपण माना है तो आध्यात्मिक पक्ष में सर्वप्राणिसमष्टिरूप **'सूत्रात्मा'** का प्रतिपादन माना है। **'दशाङ्गुल'** पद यज्ञपक्ष में **'हृदयाकाश'** का वाचक और आत्मपक्ष में **'बहिर्देश'** मात्र का उपलक्षक स्वीकारा है।

द्वितीया ऋचा **'त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्'** में **'अशन'** पद से भोजन करने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि और **'अनशन'** पद से भोजन न करने वाले **'देव'** तथा वृक्ष आदि का ग्रहण किया है[1]।

नवमी ऋचा **'विराडग्रे समभवत्'** में **'अधि'** उपसर्ग को पंचम्यर्थ का अनुवादक कहा है[2]। **'विराट्'** को यज्ञपक्ष में **'विराट्'** नामक पुरुष और आत्मपक्ष में **'मनः संज्ञक प्रजापति'** माना है।

शौनक और उवट —

वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल-यजुर्वेद संहिता पर मध्यकाल के दो भाष्य उपलब्ध हैं—एक उवट का और दूसरा महीधर का। उवट यजुर्वेद [३१वां अध्याय] में अवस्थित पुरुषसूक्त के भाष्य के आरम्भ में पुरुषसूक्त=पुरुषानुवाक से सम्बद्ध संक्षिप्त सूचना देते हुए लिखता है—'इस सोलह ऋचा वाले **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** अनुवाक के द्वारा अवयवी पुरुष की स्तुति की जा रही है। यह सूक्त पुरुषमेध से सम्वद्ध है। ये समस्त लोक **'पूः'**=पुरी हैं, पुरी में शयन के कारण वह प्रजापति **'पुरुष'** है। इन लोकों में जो **'अन्न'** है वह उस पुरुष का **'मेध'** है। इस सूक्त का ऋषि **'नारायण'** और देवता **'पुरुष'** है। इस सूक्त का विनियोग **मोक्ष** में है[3]।

इतनी सूचना देकर उवट ने लिखा 'इस सूक्त का भाष्य शौनक नाम के ऋषि ने किया है[4]। शौनक ने अपने भाष्य में पदविच्छेद, क्रिया कारक सम्वन्ध, समास प्रमेयार्थ-व्याख्या यह क्रम अपनाया है। शौनक ने इस सूक्त के भाष्य के माध्यम से महाराजा जनक को मोक्षोपदेश किया था[5]। प्रतीत होता है उवट भाष्य का पाठ दो प्रकार का हो गया है, एक पाठ काशी का है और दूसरा महाराष्ट्र का, काशी के पाठ में पुरुष सूक्त पर उवट का अपना भाष्य है परन्तु महाराष्ट्र पाठ में इस सूक्त पर शौनक का भाष्य मिलता है। इतनी भूमिका के पश्चात् मन्त्रव्याख्या प्रारम्भ हो जाती है। अध्याय के अन्त में **'इति शौनकप्रणीतं पुरुषसूक्तभाष्यं समाप्तम्'** यह वाक्य है। इससे स्पष्ट है कि उवट ने नामोल्लेख के साथ पुरुषसूक्त का शौनकभाष्य अविकल रूप से उद्धृत किया है और ऋषिभाष्य के उपलब्ध रहते पृथक्शः

---

१. **अशना मनुष्यतिर्यगादयः अनशना देव वृक्षादयः ॥**

२. **अधिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी ॥**

३. **सहस्रशीर्षा पुरुष इत्यनुवाकेन षोडशर्चेन...ब्रह्मणे ब्राह्मणमित्याद्यवयवभूतपुरुषद्वारेणावयवी स्तूयते। ...यस्मात्पुरुषमेधो नामेमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः। तस्य यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधः। तस्मात्पुरुषमेधः। पुरुषसूक्तस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवता। मोक्षे विनियोगः ॥**

४. **अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत्।**

५. **प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थव्याख्येति सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामासेति।**

अपने भाष्य की आवश्यकता नहीं समझी। शौनकभाष्य में पूर्वनिर्दिष्ट व्याख्याक्रम सर्वत्र अपनाया गया है। यहां नारायण को ही पुरुष माना है।

प्रथमा ऋचा में **'दशाङ्गुल'** शब्द से दश इन्द्रियों का ग्रहण किया है। पक्षान्तर में दशांगुल-प्रमाण **'हृदय स्थान'** अथवा **'नासिकाग्र'** को भी दर्शाया है[१]। **'सहस्र'** शब्द **'अनेक'** वाची माना गया है[२]।

द्वितीया ऋचा **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** के **'इदम्'** शब्द से **'वर्तमान काल'** का ग्रहण किया गया है। एवंच **'पुरुष'** को **'कालत्रय'** तथा **'अमृतत्व'**=मोक्ष का स्वामी माना है[३]।

चतुर्थी ऋचा **'त्रिपादूर्ध्व उदैत्'** के **पादोऽस्येहाभवत् पुनः'** इस अंश की व्याख्या में कहा है कि **'पुरुष'** का बीजभूत **एक पाद**=एक **अंश** ही त्रिलोकी में चार प्रकार के भूतों के रूप में प्रकट हुआ है[४]। **'साशनानशने'** में **'साशन'** से **'स्वर्ग'** और **'अनशन'** से **'मोक्ष'** का ग्रहण किया गया है[५]।

पंचमी ऋचा **'ततो विराडजायत'** में **'स जातो अत्यरिच्यत'** इस चरण के **'सः'** सर्वनाम पद से **'क्षेत्रज्ञ सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा'** का परामर्श किया गया है[६]। **'पुरः'** पद से चतुर्विध भूतों=प्राणियों के **'शरीरों'** का ग्रहण किया है[७]।

षष्ठी ऋचा **'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः'** में **'यज्ञ'** पद से **'अग्निष्टोम'** नामक क्रतु और **'आत्मयज्ञ'** दोनों का ग्रहण किया है[८]। एवंच इसमें कर्मकाण्ड और योग दोनों का निर्देश किया गया है। इस ऋचा के **'पृषदाज्यम्'** पद की व्याख्या नहीं की गई है। सप्तमी ऋचा में भी याज्ञिक अर्थ के साथ आध्यात्मिक अर्थ भी दिया है।

नवमी ऋचा **'तं यज्ञं बर्हिषि'** में भी कर्मकाण्डमय यज्ञ तथा आत्मयज्ञ इन दोनों का उपमानो-पमेय भाव से वर्णन किया है। आत्मपक्ष में **'बर्हिः'** का अर्थ **'प्राणायाम,'** **'पुरुष'** का अर्थ **'दिव्यज्ञान'** और **'देवाः'** का अर्थ **'योगीजन'** किया है[९]।

दशमी ऋचा **'यत्पुरुषं व्यदधुः'** में भी आत्मपक्ष में **'पुरुष'** पद से **'ज्ञान'** का ग्रहण है[१०]।

द्वादशी **'चन्द्रमा मनसः'** और त्रयोदशी **'नाभ्या आसीत्'** ऋचाओं में चन्द्रमा, सूर्य आदि को पुरुष के मन, चक्षुः आदि अंगों से उत्पन्न होने की बात को एक कथनकल्प-प्रवचन प्रकार माना है[११] और वास्तव में चन्द्रमा, सूर्य आदि को पुरुष के मन, चक्षु आदि बताया है—चन्द्रमा उस पुरुष का मन है,

---

१. दश च तान्यङ्गुलानि दशाङ्गुलानीन्द्रियाणि। केचिदन्यथा रोचयन्ति दशाङ्गुलप्रमाणं हृदयस्थानम्। अपरे तु नासिकाग्रं दशाङ्गुलमिति।
२. अनेकपर्यायः सहस्रशब्दः ॥
३. इदं वर्त्तमानकम्... । तस्य कालत्रयस्येशानः। उत अमृतत्वस्यापि मोक्षस्यापि।
४. पुरुषस्य पादः एकोंशः इह त्रैलोक्ये बीजभूतं चतुर्षु भूतेषु अभूत भूतम्।
५. साशनं स्वर्गम्। अनशनं मोक्षम्।
६. स क्षेत्रज्ञो ब्रह्मा सृष्टिकृत् जातः सन्।
७. पुरः शरीराणि पुराणि चतुर्विधानि भूतान्यजायन्त।
८. यथा अग्निष्टोमाख्यात् तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः=एवमात्मयज्ञात् सर्वहुतात्...।
९. बर्हिषा प्राणायामेन—पुरुषो जातः ज्ञानमुत्पद्यते दिव्यम् देवा योगिनः।
१०. योगिनः आत्मयज्ञे पुरुषं ज्ञानम्।
११. चन्द्रमाः मनसः अजायतेति कल्पना-कल्प्यते समवर्त्ततेति कल्पितम्।

सूर्य चक्षु है, वायु और प्राण कर्ण हैं, अग्नि मुख है, अन्तरिक्ष नाभि है, द्युलोक सिर है, भूमि पांव है और दिशाएं कर्णावयव हैं[1]।

चतुर्दशी ऋचा **'यत्पुरुषेण हविषा'** के भी याज्ञिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थ दिये हैं। आत्मयज्ञ-पक्ष में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् को क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण माना है।

पञ्चदशी ऋचा **'सप्तास्यासन् परिधयः'** के भी पूर्ववत् उभयविध अर्थ दिये हैं। याज्ञिक पक्ष में **'सात समुद्रों'** को **'सप्त परिधि'** माना है जबकि आत्मयज्ञ-पक्ष में **पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन,** और **बुद्धि** ये **'परिधियां'** मानी हैं[2]। **'त्रिःसप्त समिधः'**—**'याज्ञिक पक्ष'** में गायत्री आदि इक्कीस छन्दों को इक्कीस समिध् माना है तो **'आध्यात्मिक पक्ष'** में **'पंचमहाभूत+पंच तन्मात्रा+पंचज्ञानेन्द्रिय+पंच कर्मेन्द्रिय** और **मन** इनको इक्कीस समिध् स्वीकार किया है[3]। **'याज्ञिक पक्ष'** में **'अबध्नन्'** पद का **'हतवन्तः'**=हनन किया, यह अर्थ माना है और **'आत्मपक्ष'** में **'अगृह्णन्'**=ग्रहण किया अर्थ लिया है। कर्मकाण्ड पक्ष में **'यज्ञम्'** से **'पुरुषमेध'** नामक यज्ञ का ग्रहण है जबकि **आत्मपक्ष** में **समाधि** योगांग को यज्ञ माना है[4]।

षोडशी ऋचा **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'** के भी पूर्ववत् उभयविध अर्थ हैं। **'देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त'** इस अन्वित मन्त्रांश का याज्ञिक प्रक्रिया में 'इन्द्र आदि देवों ने ज्योतिष्टोम यज्ञ से **यज्ञपुरुष=वासुदेव** का यजन किया' ऐसा अर्थ माना है और आत्मपक्ष में **'योगी जनों'** ने समाधि से **'नारायण'** नामक ज्ञानरूप यज्ञ का यजन किया' यह अर्थ लिया है[5]। **'नाकः'** को **'याज्ञिक पक्ष'** में **'स्वर्ग'** और **'आत्मपक्ष'** में **'मुक्ति'** माना है।

महीधर —

महीधर ने भी सम्पूर्ण यजुर्वेद पर **'वेददीप'** नामक भाष्य रचा है। महीधर का यह सम्पूर्ण भाष्य प्रायः उवटानुसारी है। किन्तु पुरुषमेधाध्याय के भाष्य में यह बात नहीं है। जहां उवट ने पुरुष-सूक्त पर अपना भाष्य न रच कर शौनक-भाष्य को ही सादर उद्धृत किया है वहाँ महीधर ने स्वतन्त्र भाष्य किया है। पर महीधर ने इसमें भी प्रायः अपने से पूर्ववर्ती सायण के ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त के भाष्य का सहारा लिया है। कहीं-कहीं तो सायण भाष्य का अक्षरशः अनुकरण किया है। हम यहां पर केवल सायण भाष्य के अतिरिक्त विशिष्टताओं का ही उल्लेख करेंगे।

---

१. तस्यैवं विधस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य मन एव चन्द्रमाः, नेत्रे एव सूर्यः, श्रोत्रमेव वायुः, मुखमेवाग्निः, या नाभिः तदेवान्तरिक्षं नभः, या द्यौः तत् शिरः, पादौ भूमिरेव, श्रोत्रे श्रवणौ दिशः ॥

२. सप्त समुद्राः परिधय आसन्, आत्मयागे परिधिशब्देन पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं मनोबुद्धिरित्येते परिधयः।

३. त्रिःसप्त छन्दांसि गायत्र्यादीनि समिधः कृताः। आत्मयागे त्रिःसप्त समिधः। पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यादीनि पञ्च तन्मात्राणि रूपादीनि। पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि। पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पाण्यादीनि मनश्च ॥

४. योगिनः समाध्याख्यं यज्ञम्।

५. यथा इन्द्रादयो देवाः यज्ञेन ज्योतिष्टोमाख्येन यज्ञपुरुषं वासुदेवं विधिना अयजन्त। एवं योगिनोऽपि दीपनाद् देवा यज्ञेन समाधिना नारायणाख्यं ज्ञानरूपम् अयजन्त ॥

महीधर यजुर्वेद के प्रस्तुत अनुवाक को **नरमेधाध्याय** मानता है[1]। यद्यपि अध्यायारम्भ में कात्यायन श्रौतसूत्र[2] का उल्लेख करके इस पुरुषानुवाक का विनियोग वह **ब्रह्मणे ब्राह्मणम्** यजु ३०.५ इत्यादि के द्वारा नियुक्त **ब्राह्मण** आदि **पशु** की स्तुति में मानता है तथापि वहीं आगे चलकर सायणभाष्यानुसार प्रकृति से विलक्षण विराजाख्य चेतन पुरुष की स्तुति को ही इस अध्याय का प्रयोजन स्वीकार करता है[3]।

प्रथम ऋचा के **सहस्राक्ष** शब्द के **अक्ष** पद को समस्त ज्ञानेन्द्रियों का और **सहस्रपात्** शब्द के पाद पद को सब कर्मेन्द्रियों का उपलक्षक लिखा है[4]। **भूमि** पद से **ब्रह्माण्ड** अथवा **पंचभूतों** का ग्रहण किया है। **दशाङ्गुल** पद को सायणानुसार **बहिर्देशमात्र** का उपलक्षक मानने के साथ ही वह पक्षान्तर में नाभि से दशअंगुल ऊपर स्थित **हृदय** का भी वाचक मानता है।[5]

पंचदशी ऋचा **सप्तास्यासन् परिधयः** में **सप्त परिधयः** और **त्रिःसप्त समिधः** का अर्थ करते हुए महीधर ने एक ओर सायणानुसार गायत्री आदि **सात छन्दों** को **सात परिधि** और **बारह मास+पांच ऋषि +तीन लोक** तथा+**सूर्य** इनको **इक्कीस समिधा** कहा है और दूसरी ओर उवटोद्धृत शौनक भाष्यानुसार **सात समुद्रों** को **सात परिधि** तथा **गायत्र्यादि इक्कीस** छन्दों को **इक्कीस समिधा** माना है।

स्वामी दयानन्द—

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों पर भाष्य किया है। स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य का केन्द्रविन्दु **स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः**[6]='वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' यह **सनातन आर्ष आस्था** [१] नैरुक्त [यौगिक] प्रक्रिया उनके भाष्य का **मूल आधार** [२] एवं च **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**[7]—एक ही परमेश्वर तत्त्व के अनेक नाम हैं यह उनके भाष्य का **मुख्य सूत्र** [३] ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण वेद स्वतः प्रमाण, निर्भ्रान्त और पवित्र हैं यह उनके भाष्य-चिन्तन की **पृष्ठभूमि** है [४]; ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, उपवेद, वेदांग और उपांग आदि जो ऋषिप्रणीत वैदिक वाङ्मय है वही उनके भाष्य का **अवलम्बन** [५] है, और सत्य सत्य अर्थ के प्रकाश के द्वारा लोक कल्याण करना ही उनके भाष्यनिर्माण का एकमात्र **'लक्ष्य'** [६] है।

वेदभाष्य का आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने **ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका** नामक ग्रन्थ की [संस्कृत तथा हिन्दी में] रचना की थी। उस ग्रन्थ के सृष्टिविद्याविषय प्रकरण में सम्पूर्ण पुरुष मेधाध्याय [यजुः ३१ वां अध्याय] को अविकल उद्धृत करके उसकी व्याख्या की गई है। जब हम स्वामी दयानन्द कृत उपर्युक्त **वेदभाष्य** तथा **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में निविष्ट पुरुषसूक्त के भाष्य की विशिष्टताओं का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

पुरुष-सूक्त के देवता के विषय में स्वामी दयानन्द सायणादि भाष्यकारों से कुछ भिन्न है

---

१. **'नरमेधाध्याय एष एकत्रिंशोऽयमीरितः'** अध्यायान्त में।

२. **नियुक्तान् ब्रह्माभिष्टौति होतृवदनुवाकेन सहस्रशीर्षेति** [का० श्रौ० सू० २१-१-११]

३. **अव्यक्त महदादि विलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः पुरुषान्न परं किञ्चिदित्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धः** य० ३१-१

४. **अक्षिग्रहणं सर्वज्ञानेन्द्रियोपलक्षकम् पादग्रहणं सर्वकर्मेन्द्रियोपलक्षकम्।**

५. **नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्यहृदिस्थितः।**

६. मनु० २.३

७. ऋ० १. १६४.४६

पुरुषसूक्त की १६ ऋचाओं में से द्वितिया ऋचा **पुरुष एवेदम्** का **स्रष्टेश्वरः** देवता माना है। शेष १३ ऋचाओं का देवता अन्य आचार्यों के समान **पुरुष** को ही माना है। वैसे यह भिन्नता आपाततः ही प्रतीत होती है, परमार्थतः तो इस विषय में अभिन्नता ही समझनी चाहिए क्योंकि स्वामी दयानन्द **स्रष्टा, ईशान** और **स्रष्टेश्वर** ये तीनों विशेषण उस **पुरुष** के ही मानते हैं। **पुरुष** देवता से स्वामी दयानन्द का अभिप्राय **परमेश्वर-परब्रह्म** से है। **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** के सृष्टिविद्याविषय प्रकरण में इस सूक्त को सर्वांशतः उद्धृत करके उन्होंने इस सूक्त की सृष्टिविद्यामूलकता प्रदर्शित की है।

प्रथमा ऋचा **सहस्रशीर्षा पुरुषः** के **'सहस्रशीर्षा'**, **'सहस्राक्ष'** और **'सहस्रपात्'** इन तीन समस्त पदों के विग्रह में स्वामी दयानन्द का अन्य व्याख्याकारों से विचारभेद है। अन्य व्याख्याकार **सहस्रमसंख्यानि शीर्षाणि शिरांसि यस्य सः, सहस्रमक्षीणि यस्य सः, सहस्रं पादा यस्य सः,**[1] इस प्रकार के विग्रह करके उस व्याख्येय पुरुष के सहस्र असंख्य सिर, नेत्र या पाद मानते है। किन्तु स्वामी दयानन्द **सहस्राण्यसंख्याता-न्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन् पूर्णे पुरुषे परमात्मनि स सहस्रशीर्षा, अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीणि यस्मिन्, एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन् वर्तन्ते स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च**[2] ऐसा विग्रह करके उसपुरुष=परमात्मा में प्राणियों के असंख्य सिर, नेत्र, पांव आदि अंगों की अवस्थिति प्रकट करते हैं—इन अंगों से युक्त समस्त प्राणिदेहों के अन्दर बाहर वह परम पुरुष ओतप्रोत है यह प्रदर्शित करते हैं।

इसी ऋचा के भाष्य में **पुरुष** शब्द के निर्वचन के प्रसंग में तत्सम्बद्ध निरुक्तांश की भी व्याख्या की गई है। **भूमि** पद को वेदभाष्य[3] में **भूगोल** का वाचक तथा ऋ० भा० भूमिका में **जल** आदि अन्य भूतों का=समस्त भूतों का=सम्पूर्ण जगत् का उपलक्षक माना है[4]। **दशाङ्गुल** शब्द से तीन अर्थों का ग्रहण किया गया है। **अंगुलि** शब्द को अवयववाची मानकर **दश अवयव**=[पांच स्थूलभूत+पांच सूक्ष्म भूत] वाले सम्पूर्ण जगत् को दशांगुल कहा है तथा पांच प्राण+सेन्द्रिय अन्तःकरण चतुष्ट्य=मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव इन दश अवयवों के एक संघात को भी दशांगुल से अभिहित समझा गया है। **अंगुलि** शब्दको अंगुल का ही वाचक मानकर तीसरा अर्थ **हृदय** भी किया गया है[5]।

द्वितीया ऋचा के **'अमृतत्व'** का अर्थ **मोक्षभाव, 'अविनाशी मोक्षसुख'** अथवा **कारण** लिया है[6]।

---

१. महीधर कृत य० भा० ३१. १.

२. ऋ० भा० भू०—सृष्टि विद्याविषय (पृ०-४०४)   ३. **भूमिं भूगोलम्** ॥ य० भा० ३१.१.

४. **भूमिरिति भूतानामुपलक्षणं भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत् स्पृत्वाभिव्याप्य वर्तते** ऋ० भा० भू० **सृष्टिविद्याविषय.**

५. **दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदयोरुपलक्षणम्। अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति। पञ्च स्थूलभूतानि पञ्च सूक्ष्माणि चेतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति। अन्यच्च पञ्च प्राणाः सेन्द्रियं च चतुष्टयमन्तःकरणं दशमो जीवश्च। एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते —ऋ० भा० भू० (पृ० ४०५)**

६. **अमृतत्वस्य मोक्षभावस्य ॥ ऋ०भा० भू०॥ अविनाशिनो मोक्षसुखस्य कारणस्य वा—य०भा० ३१.५॥**

पंचमी ऋचा **ततो विराडजायत** के **विराट्** को **ब्रह्माण्ड** अथवा सर्वशरीरों का **समष्टिदेह** माना है।[१]

सप्तमी ऋचा **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः** के **छन्दांसि** पद से **अथर्ववेद** का ग्रहण किया है[२]। इस ग्रहण में स्वामी दयानन्द का हेतु है कि वेद स्वतः छन्दोमय है अतः पृथक् से छन्दांसि पद उनका विशेषण है तो व्यर्थ है। शास्त्रीय शब्द प्रकृत प्रसंग में व्यर्थ प्रतीत होते हुए अन्यार्थ के ज्ञापक होते हैं। **छन्दांसि** पद भी प्रकृत **ऋचः, सामानि** और **यजुः** के साथ व्यर्थ सा प्रतीत होता हुआ वस्तुतः चतुर्थ वेद **अथर्ववेद** का ज्ञापक है[३]।

नवमी ऋचा **तं यज्ञं बर्हिषि** के **यज्ञ** शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है[४]। **बर्हि** पद से **मानस ज्ञानयज्ञ** अथवा **हृदयान्तरिक्ष** का ग्रहण किया गया है[५]। इसी प्रकार **देव** पद से **विद्वान्**, **साध्य** पद से **ज्ञानी** और **ऋषि** पद से **मन्त्रार्थवित्**=मन्त्रद्रष्टा का अभिप्राय लिया गया है।

दशमी ऋचा **यत्पुरुषं व्यदधुः** के **पुरुष** शब्द का अर्थ परमेश्वर, **व्यदधुः** का अर्थ **विविध प्रकार से धारण करते हो** और 'व्यकल्पयन्' पद का '**विशेषकर कहते हैं**' यह अर्थ किया है[६]। अस्य सृष्टौ इन दो पदों का अध्याहार करके परमेश्वर की सृष्टि में मुख, वाहु, ऊरू और पाद स्थानीय कौन कौन हैं यह प्रश्न माना है।

एकादशी ऋचा **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्** के भाष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र इस सष्टि में मुख, वाहु, ऊरू और पादस्थानीय हैं ऐसी व्याख्या की गई है। अर्थात् इस ऋचा के **पद्भ्याम्** शब्द को तृतीया विभक्ति का द्विवचन माना है। तृतीया विभक्ति के कारण **तुल्य** पद के अध्याहृत होने की सम्भावना है ही[७]। एवंच **पद्भ्यां शूद्रोऽजायत** मन्त्रांश का **पद्भ्यां तुल्यः शुद्रोऽजायत** =पांवों के समान सेवादिपरायण शूद्र उत्पन्न हुआ' यह अर्थ संगत होता है। **पद्भ्याम्** शब्द से **पांवों के तुल्य** अर्थ की वात स्वामी दयानन्द-रचित सत्यार्थ प्रकाश में भी कही गई है—**पद्भ्याम्** जो पग के **अर्थात् नीचे अंग के सदृश** मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह शूद्र है[८]। इस ऋचा के वेदभाष्य में प्रदत्त भावार्थ से भी भाष्यकार का यही आशय स्पष्ट होता है[९]। स्वामी दयानन्द की इस

---

१. **विराट् ब्रह्माण्डरूपः**—य० भा० ३१.५ ॥ **ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कार लक्षणलक्षितो हि सर्वशरीराणां समष्टिदेह** ॥ ऋ० भा० भू० [पृ० ४०६]
२. **छन्दांसि अथर्ववेदः**—य० भा० ३१.७ ॥
३. **वेदानां गायत्र्यादि छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्ति ज्ञापयतीत्यवधेयम्** ॥ ऋ० भा० भू०—**वेदोत्पत्तिविषय**। [पृ० २६८]
४. **यज्ञं सर्वपूज्यं परमेश्वरम्**। ऋ० भा० भू० [पृ० ४१२]
५. **बर्हिषि मानसे ज्ञानयज्ञे**—य० भा० ३१.६ ॥ **बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे**—ऋ० भा० भू० सृष्टि वि० (पृ० ४१२)
६. **पुरुषं पूर्णं** [**परमेश्वरम्**]; **व्यदधुः विविधप्रकारेण धरन्ति; व्यकल्पयन् विशेषेण कथयन्ति**—यजु० ३१.१०.
७. **तुल्यार्थोरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्** ॥ अष्टा० २.३.७२ ॥
८. सत्यार्थप्रकाश—चतुर्थसमुल्लास।
९. **मुखमिवोत्तमास्ते ब्राह्मणाः...पादाविव नीचगुणयुक्तास्ते शूद्राः** ॥ य०भा० ३१.११.[संस्कृत भावार्थ]

प्रकार की व्याख्या की पुष्टि इस ऋचा के शेष तीन चरणों के पदों के विभक्ति-विनिवेश से भी होती है। तीनों चरणों में ब्राह्मण आदि वर्णवाची तथा मुख आदि अंगवाची शब्द प्रथमा विभक्त्यन्त हैं—**ब्राह्मणः मूखम्, राजन्यः बाहू, वैश्यः उरू**। ऐसी स्थिति में 'ब्राह्मण मुख हुआ, क्षत्रिय बाहू बनाया गया और जो वैश्य है वह ऊरू [जांघ] बनाया गया'—इस प्रकार का अर्थ ही तीन चरणों का सम्भव है और इन तीनों चरणों के प्रकाश में ही चतुर्थ चरण का भी अर्थ किया जाना समुचित है। इस प्रकार के अर्थ प्रकाश में व्याकरण शास्त्रीय व्यवस्था भी सहायक है। एक बात और है, इस ऋचा में किन्हीं प्रश्नों के उत्तरों का संकलन है। अतः उत्तरात्मक ऋचा के अर्थ प्रकाश में प्रश्नात्मक ऋचा की शैली का भी ध्यान रखना आवश्यक है इसीलिये शास्त्र में प्रकरणशः अर्थनिर्वचन का निर्देश किया गया है[1]।

नवमी ऋचा **यत्पुरुषं व्यदधुः** में **अस्य मुखं किमासीत्, बाहू किं, ऊरू पादाः किम् उच्येते**—इसका=पुरुष का मुख क्या था, बाहू क्या था, उरू क्या था और पाद क्या कहलाता है 'इतना ही तो प्रश्न है। इस प्रश्न में कहीं भी 'किस अंग से कौन सा वर्ण उत्पन्न हुआ ? इस प्रकार के प्रश्न की सम्भावना नहीं है। अतः **स्वामी दयानन्द के अर्थप्रकाशन में वितथात्व नहीं प्रतीत होता**। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में इन दोनों ऋचाओं की व्याख्या का प्रकार तो भिन्न है, किन्तु अभिप्राय उपर्युक्तानुसार ही है।

द्वादशी ऋचा **चन्द्रमा मनसः** तथा त्रयोदशी ऋचा **नाभ्या आसीत्** में परमेश्वर के मनः=मननशील सामर्थ्य आदि से चन्द्रमा आदि की उत्पत्ति मानी है। अर्थात् मनः, चक्षुः, श्रोत्र, मुख, नाभि, शीर्ष, पाद आदि शब्दों को यहां अवयववाची न मानकर तत्तत् शक्तिवाची माना है और उनसे चन्द्रमा आदि की उत्पत्ति दर्शाई है। पुरुष=परमात्मा के ये **मनः** आदि सामर्थ्य चन्द्रमा आदि पदार्थों की उत्पत्ति में निमित्त कारण मात्र हैं।

चतुर्दशी ऋचा **यत्पुरुषेण हविषा** में **हविषा** पद को **पुरुषेण** का विशेषण माना है और **हविषा पुरुषेण** का अर्थ **ग्रहण करने योग्य पूर्ण परमात्मा के साथ** यह किया गया है[2]। **यज्ञ** पद **मानसयज्ञ** का वाचक माना गया है। **वसन्त, ग्रीष्म** और **शरत्** पद को क्रमशः **पूर्वाह्ण, मध्याह्न** और **अर्धरात्र** का वाचक माना है।

पंचदशी ऋचा **सप्तास्यासन्** में सात गायत्र्यादि छन्दों को सात परिधि माना है। **'त्रिःसप्त समिधः'** से इक्कीस सामग्री रूप निम्न लिखित साधन स्वीकारे हैं—**प्रकृति, महत्त्व, अहंकार** [=३] + **पांच सूक्ष्मभूत** +**पांच स्थूल भूत**+**पांच ज्ञानेन्द्रिय** और + **सत्व, रजस्** तथा **तमस्** ये तीन गुण। **पुरुषं पशुम्** का अर्थ—**यज्ञपुरुष सर्वपूज्य** सर्वद्रष्टा परमेश्वर किया है[3]। **'अबध्नन्'** का अभिप्राय **ध्यान से बांधना**=ध्यान में स्थिर करना लिया है[4]।

---

१. [ख] **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** ॥ पू० मी० ३.३.१४ ॥
[क] **प्रकरणादिकमनभिज्ञायैव न निर्ब्रूयात्** ॥ निरु० २.४ पर निरु० वि० दी० ॥

२. **पुरुषेण पूर्णेन परमात्मना, हविषा होतुमादातुमर्हेण हविषा पुरुषेण देवाः** य० भा० ३१।१४.

३. **यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं** [परमेश्वरम्]—ऋ० भा० भू [पृ॰४१७]

४. **अबध्नन् ध्यानेन बध्नन्ति तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति** ॥ ऋ० भा० भू०.

सोलहवीं ऋचा **यज्ञेन यज्ञमयजन्त** के **'देवाः यज्ञेन यज्ञमयजन्त** का अर्थ 'विद्वान् लोम ज्ञान से पूजनीय परमात्मा का पूजन करते हैं—किया है'[1]।

परिचय के प्रथम संकेत

सूक्त का मन्त्र मन्त्र चतुर्मुख है—

वैदिक संहिताओं के उपलब्ध संस्करणों में सूक्तों के आरम्भ में प्रति मन्त्र **ऋषि, देवता, छन्द, स्वर** का उल्लेख मिलता है। वेदार्थ ज्ञान के लिये तत्तत् सूक्त के, तत्तत् ऋचा के **ऋषि, देवता, छन्द और स्वर** का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। मानो प्रत्येक सूक्त प्रत्येक मन्त्र चतुर्मुख है। पर-ब्रह्म भी चतुर्मुख और उसका ज्ञान=शब्दब्रह्म =मन्त्र भी चतुर्मुख। प्रत्येक मन्त्र के ऋष्यादि चारों मुखों के खुलते ही अर्थ-विराट् का स्वतः दर्शन होने लगता है। यही वह चतुष्पदी निःश्रेणी है, जिस पर आरूढ होकर ही वेद का अध्येता ब्रह्मलोक में महिमावान् होता है। कहा भी है—

आर्षं छन्दोदैवतञ्च विनियोगस्तथैव च। वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः॥
अविदित्वा तु यः कुर्याद् यजनाध्ययनं जपम्। होम मन्त्र जले दानं तस्य चाल्पफलं भवेत्॥
यो विजानाति मन्त्राणामार्षं छन्दश्च दैवतम्। विनियोगं[2] ब्राह्मणञ्च[3] मन्त्रार्थं ज्ञानकर्मंच॥
एकैकस्य ऋषेः सोऽपि वन्द्यो ह्यतिथिवत् भवेत्। देवतायाश्च सायुज्यं गच्छत्यत्र न संशयः॥

वेद के अध्येता को प्रत्येक मन्त्र के **ऋषि, छन्द** देवता और उसके विनियोग और विशेषतः मन्त्र के ब्राह्मण को प्रयत्न पूर्वक जानना चाहिए। जो व्यक्ति मन्त्र के उक्त ऋष्यादि आधारों को जाने बिना ही यजन [याजन] [अध्ययनाध्यापन] जप, अग्नि होत्रादि कर्मकाण्डगत क्रियाओं का सम्पादन करता कराता है, उसके यह सभी कर्म अत्यल्प फल के देने वाले होते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति मन्त्रों के **ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, ब्राह्मण, मन्त्रार्थ** और **ज्ञानकर्म** को जानता है, वह भी प्रत्येक ऋषि द्वारा अतिथिवत् वन्दनीय होता हैं और देवता के सायुज्य को प्राप्त करता है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। ऋग्वेद के भाष्य कर्तावैङ्कट माधव ने भी इसी की पुष्टि में कहा है —

मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दो दैवतविन्न यः। याजनाध्यापनादेति छन्दसां यातयामताम्[4]॥
मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दो दैवतवित्तु यः। याजनाध्यापनाभ्यां स श्रेय एवाधिगच्छति॥

जो वेद का अध्येता मन्त्रों के **ब्राह्मण, ऋषि, छन्द, देवता** आदि का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही [यजन] याजन, [अध्ययन+] अध्यापन, करता कराता है उसके द्वारा प्रयुक्त वे मंत्र यातयाम=बासी हो जाते हैं, दूषित हो जाते हैं, निष्फल, निरर्थक हो जाते हैं इसके विपरीत जो अध्येता मन्त्रों के ब्राह्मण, ऋषि, छन्द, देवता आदि का ज्ञाता होता हैं वह यजन याजन अध्ययनाध्यापन के द्वारा निःश्रेयस् को प्राप्त होता है। यजुः सर्वानुक्रम सूत्र में भी इसी आशय को इस प्रकार व्यक्त किया है—**ऋषि-दैवत-छन्दांसि···गायत्र्या-**

---

१. **येन यज्ञेन पूजनीयं सर्वरक्षकमग्निवत्तपनं पूजयन्ति**—य० भा० ३१.१६।
२. **अन्यत्रोपात्तानां शब्दानां वाक्यानाञ्च यथास्थानमुपयोगो विनियोगः।** मौद्गल्य के विनियोग रहस्यम् लेख से।
३. **नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोग प्रयोजनम्। प्रतिष्ठानं स्तुतिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते।**
४: ऋग्वेदभाष्य ६.६२.१-ण.७ ४. य० स० क्र० सू० १

दीन्येतानिअविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते, जपति, जुहोति, यजते, याजयते, तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवत्य-थान्तराश्वगर्तेवापद्यते, स्थाणुं वर्च्छति, प्रमीयते वा पापीयान् भवत्यथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्यवीर्यवद थयोऽर्थवित् तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा, हुत्वेष्ट्वातत्फलेन युज्यते ।

ऋषि—

अब विमर्षणीय सूक्त के **ऋषि, देवता, छन्द** और **स्वर** पर क्रमशः विचार करते हैं। सर्व प्रथम सूक्त के **ऋषि** पर विचार प्रस्तुत है। सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय ऋषि-ज्ञान की अनिवार्यता स्वीकार करता है। प्रसिद्ध भाष्यकार वैंकट माधव तो अर्थ-ज्ञान में ऋषि-ज्ञान परम उपकारक मानता है उसके शब्द इस प्रकार हैं—

अर्थज्ञाने ऋषिज्ञानं भूयिष्ठं उपकारकम् । वक्ष्यन्तऋषयस्तस्मात् स्वरूपस्थास्तु देवताः[1] ॥

वेदार्थज्ञान में ऋषितत्त्व का ज्ञान अतिशय उपकारक है, इसीलिये प्रत्येक सूक्त पर प्रत्येक मन्त्र पर ऋषियों का नामोल्लेख है, देवता तत्त्व तो स्वरूपस्थ है, नित्य है वह तो यहां तक कहता है, कि ऋषियों के नाम ऋषियों के गोत्र ज्ञान से वेदाध्यायी को दीर्घायुष्य, पुत्र, कीर्ति, धन, स्वर्ग, मित्रता की प्राप्ति होती है। उसके शब्द देखिये।

ऋषि-नाम+आर्ष गोत्राणां-ज्ञानमायुष्यमुच्यते । पुत्र्यं पुण्यं यशस्यं च स्वर्ग्यंधन्यममित्रहम्[2] ॥

'ऋषि' शब्द **'ऋषीं गतौ'**[3] धातु से औणादिक **इन्** प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है[4]। गति के **ज्ञान, गमन** और **प्राप्ति** ये तीन अर्थ प्रसिद्ध ही हैं। धात्वर्थं के आधार पर ऋषि शब्द का अर्थ-ज्ञानी, पदार्थ के मूलतत्त्व की तह तक पहुंचने वाला अथवा सूक्ष्म-रूप से उनको प्राप्त करने वाला है। यास्क ने तत्त्वार्थ के द्रष्टा, तत्त्वधर्म के वास्तविक ज्ञाता अथवा मन्त्रार्थ के द्रष्टा को ऋषि कहा है[5]। औपमन्यव आचार्य केवल स्तोमों=स्तुतिप्रवण सूक्तों के द्रष्टा को ऋषि मानता है[6]।

सूक्त रचयिता [प्रथम मत]—

प्रत्येक सूक्त या मन्त्रों के आरम्भ में उल्लिखित ऋषि नामों का तत्तत् सूक्त अथवा मन्त्रों के साथ क्या सम्बन्ध है यह बात विचारणीय है। इस विषय में एक विचार यह है कि जिस सूक्त या ऋचा के आरम्भ में जिस ऋषि का नाम अंकित है वही उस सूक्त या ऋचा का रचयिता है। जैसे आज-कल कोई रचयिता, पुस्तक या लेख लिखता है तो उस पर उसका नाम अंकित होता है उसी प्रकार मन्त्रों के रचयिता ऋषियों के नाम उन-उन सूक्तों या मन्त्रों के ऊपर अंकित है। और उन विभिन्न कालों में उत्पन्न ऋषियों के द्वारा रचित सूक्तों के संग्रह का नाम ही वेद है। यह विचार पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुगामी कतिपय भारतीय लेखकों का है। भारतीय वचारिक परम्परा का यह निष्कर्ष है कि वेद अपौरुषेय हैं—किसी मनुष्य [चाहे फिर वह ऋषि ही क्यों न हो] के द्वारा रचित

---

१. ऋग्वेद भाष्य १.१.१. श्लोक २७
२. ऋग्वेद भाष्य ६.६२.१ श्लोक २
३. तुदादिगण ७
४. इगुपधात् कित्—उणादि० ४.१२०
५. **'ऋषिर्दर्शनात्'** । निरु० २.११॥ **'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'** निरु० १.२०॥ **'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ।'** निरु० ७.३॥
६. **स्तोमान् ददर्शेति-औपमन्यवः ॥** निरु० २.११.

नहीं हैं—वे तो ईश्वरीय शाश्वत वाणी हैं, । ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, स्मृतिग्रन्थ, दर्शनशास्त्र तथा रामायण, महाभारतादि सब एक स्वर से इस मान्यता के उद्घोषक और पोषक हैं। वेदों की अन्तःसाक्षी भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करती है। एक बात और है—कई सूक्तों के ऋषि जड़पदार्थ अथवा क्षुद्रप्राणी हैं[1]। तो क्या इन जड़ पदार्थों ने अथवा मछली जैसे क्षुद्रप्राणियों ने उन मन्त्रों की रचना की थी ? क्या यह सर्वथा असंभव नहीं है ? इसी प्रकार कई सूक्तों के ऋषि श्रद्धा, काम, वाणी आदि मनोभाव हैं[2]। तो क्या आत्मारहित मनोभाव-मात्र मन्त्रों के निर्माता बन गये ? इन बातों से स्पष्ट है कि यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि सूक्तों पर अंकित ऋषि उनके रचयिता हैं।

तत्त्वार्थद्रष्टा [द्वितीय मत]—

दूसरा विचार यह है कि सूक्तारम्भ में अंकित ऋषि उन-उन मन्त्रों के तत्त्वार्थद्रष्टा हैं। वेद का [=सूक्तों का] रचयिता तो परमेश्वर ही है, किन्तु परमेश्वर के द्वारा सर्गारम्भ में वेदज्ञान प्रदान कर दिये जाने के पश्चात् जिन-जिन ऋषियों ने भगवत्कृपा से सर्वप्रथम विविध सूक्तों अथवा मन्त्रों के तत्त्वार्थ का दर्शन किया—समाधि-प्रज्ञा द्वारा ज्ञान प्राप्त किया और उसको दूसरे मनुष्यों में प्रसारित किया उन ऋषियों का नाम, उनके प्रति कृतज्ञताप्रकाशनार्थ तत्तत् सूक्तों के आरम्भ में अंकित कर दिया गया[3]। इस प्रकार के विचारकों का अभिप्राय यह है कि सूक्तों के ऊपर प्रदत्त ऋषिनाम वेदमन्त्रों के समान शाश्वत नहीं हैं। अपितु इस कल्प [=सृष्टि] में जिन ऋषियों ने इदम्प्रथमतया मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार किया और उसके परिशीलन तथा प्रचार में अपना जीवन लगा दिया उनके इतिहास के संरक्षणार्थ यह नामांकन की व्यवस्था की गई है। यह विचार यद्यपि पहिले विचार से समीचीनतर प्रतीत होता है, तथापि इससे समस्या का समाधान नहीं होता। क्योंकि यदि तत्त्वार्थद्रष्टा ऋषियों के इतिहास को संरक्षित करने के लिये उनके सांस्कारिक नाम सूक्तों पर अंकित किये गये हैं तो इसकी वेदार्थ में—मन्त्रार्थ-ज्ञान में क्या उपयोगिता हो सकती है। जब वे सांस्कारिक ऋषिनाम मन्त्रवत् शाश्वत नहीं और न ही उनका मन्त्रगत विषय के साथ कोई सम्बन्ध है तो उनसे मन्त्रार्थ को जानने में कैसे सहायता मिल सकती है ?

कविनिबद्ध वक्ता [तृतीय सिद्धान्त मत]—

इस विषय में तीसरा विचार यह है कि सूक्तारम्भ में अंकित ऋषिनाम वस्तुतः [वेदमन्त्रवत्] शाश्वत हैं—वे ऐतिहासिक नाम नहीं हैं। जिस अचिन्त्यशक्ति परमात्मा ने वेदमन्त्रों की रचना की है उसी ने उन-उन सूक्तों या मन्त्रों के आरम्भ में ऋषि-नामों का भी सन्निवेश किया है और वेदमन्त्रों के साथ ही उन ऋषिनामों का ज्ञान भी ईश्वर ने अपनी व्याप्ति-शक्ति से समाधि-प्रज्ञालीन ऋषियों को प्रदान किया है। अर्थात् वे ऋषि कवि-निबद्ध वक्ता हैं। जैसे किसी नाटक में नाटककार

---

१. ऋ० ३.३३ के ४, ६, ८, १० मन्त्रों का ऋषि 'नदी' है। ऋ० ८.६७ के ऋषि 'जालनद्धा मत्स्याः' =जाल में फंसी मछलियां हैं। ऋ० १०.१०८ के कई मन्त्रों का ऋषि -देवशुनी सरमा' है।

२. ऋ० १०.१५१ का **ऋषि श्रद्धा कामायनी है। ऋ० १०.१२५ का ऋषि वागाम्भृणी है।**

३. **यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात् तत्कृतमहोपकार स्मरणार्थं तन्नाम-लेखनं प्रति मन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्ति। ऋ० भा० भू० पृ० ३७२**

विभिन्न पात्रों के नामों का अंकन करके अपना कथन [रचना] प्रस्तुत करता है वैसे ही तत्तत् ऋषि नामों के सन्निवेश के साथ ही उस दिव्य कवि परमात्मा ने दिव्य काव्य[1] वेद का प्रणयन किया[2]।

इस विचार का तात्पर्य यह है कि प्रतिसर्ग जब भी वेद का आविर्भाव होगा उसके मन्त्रों के वही ऋषि होंगे—उन मन्त्रों के आरम्भ में वे ही ऋषिनाम सन्निविष्ट होंगे जो इस समय हैं। जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल के दुष्यन्त, कण्व, शकुन्तला आदि नामों के आगे लिखित वाक्य या कथोपकथन उन लोगों के नहीं हैं अपितु उस काव्य [=नाटक] के रचयिता कालिदास के हैं, वे पात्रनाम तो केवल कविनिबद्धवक्ता हैं। उसी प्रकार मधुच्छन्दा, वामदेव, अत्रि, अथर्वा, वसिष्ठ तथा गृत्समद आदि ऋषि-नामों के आगे प्रदत्त सूक्त या मन्त्र भी उन मधुच्छन्दा आदि के वाक्य नहीं हैं—उनके द्वारा रचित नहीं हैं, अपितु वे सूक्त या मन्त्र तो परमकवि परमात्मा की ही रचना हैं। परमात्मा ने केवल उनके नाम से वे सूक्त या मन्त्र कहलवाये हैं—वे ऋषिनाम कविनिबद्धवक्तृ नाम हैं।

मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों के इतिहास-संरक्षण की बात भी इसमें संगत हो जाती है। जिन-जिन ऋषियों ने जब-जब भी किन्हीं सूक्तों या मन्त्रों के तत्त्वार्थ का दर्शन किया, प्रवचन किया अथवा प्रचार किया तब-तब वे तत्तत्-मन्त्रार्थ या प्रवचन की महिमा के कारण उसी नाम से प्रसिद्ध हो गये जो कि सूक्त अथवा मन्त्र के आरम्भ में सन्निविष्ट था। उनका अपना सांस्कारिक नाम उस वैदिक नाम के समक्ष विलुप्त अथवा विस्मृतप्राय हो गया जैसे प्राचीनकाल में भरत, व्यास आदि नाम तथा मध्यकाल में भर्तृहरि, विक्रमादित्य और कालिदास आदि नाम अन्ततः पदवी के समान प्रसिद्ध हो गये और तत्तत्-नामधारी मूल पुरुषों के सदृश गुणों के धारणकर्ता होने के कारण, अपने सांस्कारिक नामों की अपेक्षा उन कालिदास आदि नामों से प्रख्यात हो गये।

मनुष्येतर ऋषि —

जिन सूक्तों पर जड़पदार्थ, क्षुद्रप्राणी अथवा मनोभाव-सूचक ऋषिनाम अंकित हैं, उनकी समस्या भी इस तृतीय विचारधारा के द्वारा समाहित हो जाती है। वे नदी, मत्स्य तथा श्रद्धा आदि ऋषि वस्तुतः कवि-निबद्ध वक्ता हैं। जैसे कि कोई रचयिता अपने ग्रन्थ में 'नदी', 'पहाड़' आदि का नाम देकर उनसे ही उनकी जीवनी अथवा स्थिति का उल्लेख करवा देता है, वही स्थिति वेद में 'नदी' आदि ऋषियों की है। वास्तव में यह तो भावाभिव्यक्ति का एक प्रकार है। किसी के गुणों का हूबहू वर्णन करने के लिए उसी पदार्थ के मुख से उन्हें कहलवा देना एक विशिष्ट रोचकता उत्पन्न कर देता है। 'कागज की आत्मकथा, 'कलम की कहानी अपनी जुबानी', 'नदी का आत्मचरित' आदि रचनाए प्रसिद्ध ही हैं।

ऋषिनामों के कविनिबद्धवक्ता होने की स्थिति में मन्त्रार्थज्ञान के लिये वस्तुतः ऋषिज्ञान का होना अत्यावश्यक है। यदि कोई पाठक शकुन्तला, कण्व, दुष्यन्त आदि नामों के पढ़े बिना [=जाने बिना] ही 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अध्ययन करे—उन-उन पात्रों के वाक्यों अथवा कथनोपकथनों को पात्रनामज्ञान के बिना पढ़े तो उससे पाठक को कुछ लाभ हो सकता है? पात्रनामज्ञानपूर्वक ही नाटक

---

१. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ अथर्व० १०.८.३२.
२. द्र०—पं० उदयवीर शास्त्री का लेख—'ऋग्वेद के ऋषि'-पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा का हीरक-ज़यन्ती-स्मारक ग्रन्थ, पृ० ५६.

आदि के कथनोपकथनों का पठन लाभकर हो सकता है। इसी प्रकार तत्तत्-सूक्त के ऋषि के ज्ञान के पश्चात् ही सूक्त अथवा मन्त्र का पढ़ना सार्थक हो सकता है किंच ऋषिनामों के भी मन्त्रवत् शाश्वत होने के कारण तत्तत् ऋषिनाम के साथ तत्तत् सूक्त अथवा मन्त्र का मूलतत्त्वनिवेश अथवा गूढ़ाभिप्राय की दृष्टि से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य है। अतएव ऐसे अनेक ऋषिनाम हैं जिनका उल्लेख प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मन्त्रों में भी है। अर्थात् वे ऋषिनाम वास्तव में सामान्य नाम [Common Noun] या गुणप्रधान नाम हैं न कि विशिष्ट नाम [Proper Noun]। यह बात पृथक् है कि उन वैदिक साधारण नामों के अनुकरण पर पीछे के ऐतिहासिक मनुष्यों [राजाओं, ऋषियों आदि] के भी वे ही नाम रख दिये गये। आज भी सहस्रों लोग अपने सन्तानों के रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, भरत, वसिष्ठ, सीता, अनसूया आदि नाम रखते हैं। इसीलिये मनुस्मृति में लिखा है—'सर्गारम्भ में सब नामों और कर्मों का निर्धारण वेद के शब्दों के आधार पर किया गया[1]।

वंशकुलसूचक विशेषण—

इस पर एक प्रश्न उठ सकता है कि जिन ऋषियों के साथ उनके वंशसूचक अथवा पितृसूचक विशेषण लगे हैं उनका समाधान कैसे होगा ? इस पर यह कहा जा सकता है कि वस्तुत: वे नाम भी साधारण नामों से सम्बद्ध हैं। जैसे कई सूक्तों का[2] ऋषि सोमाहुति है और उनके साथ 'भार्गव' विशेषण है। तो यहां पर वह सोमाहुतिभृगु वंश का अथवा भृगु नाम के ऋषि की सन्तान नहीं है। भृगु एक साधारण नाम है। जो अन्दर बाहर से परिशुद्ध हो वह कोई भी मनुष्य भृगु नाम से अभिहित किया जा सकता है। उस भृगु से प्राप्त-ज्ञान [=प्रभावित] को भार्गव कहेंगे। अब सूक्त का जो कविनिबद्ध वक्ता सोमाहुति ऋषि है वह शुद्धाचरणशील गुरु का शिष्य है। इस प्रकार की संगति सर्वत्र सम्भव है।

पुरुष-सूक्त का ऋषि [नारायण]—

इस पुरुष-सूक्त का ऋषि नारायण है। इस सूक्त का देवता [=प्रतिपाद्य विषय] यद्यपि **'पुरुष'** प्रसिद्ध है, तथापि कुछ वैदिक **'नारायण'** को ही इसका देवता मानते हैं[3]। **'नारायण'** और **'पुरुष'** एक ही हैं यह हम प्रकरणान्त में दिखायेंगे। महर्षि व्यास के अनुसार नारायण नाम परमात्मा का है।

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः। स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः[4] ॥

'नारायण' शब्द में दो पद हैं। **'नार'** पूर्वपद है और **'अयन'** उत्तरपद है। **'नार'** पद के विविध दृष्टियों से विभिन्न अर्थ होंगे। **'अयन'** पद इण् गतौ[5] अथवा 'अय गतौ'[6] धातु से भाव या कर्तृत्वादि अर्थों में ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होगा[7]। **'गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्चेति'** यह प्रसिद्ध ही है। भाव में तो **'इतिः आयो गतिर्वा अयनम्**— गति का नाम **'अयन'** है। कारकार्थ में—**'यन्ति अयन्ते गच्छन्ति प्राप्नु-**

---

१. **सर्वेषां तु नमानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥** मनु० १.२१

२. ऋ० २.४.७.

३. पुरुषनामकः श्रीनारायणो देवता...॥ पुरुषसूक्तमन्त्रः हस्तलेख ६६२७.

४. म० भा०। शा० प० ३५१.१४.

५. अदादिगणीय ३५४.

६. भ्वादिगणीय ४७०

७. ल्युट् च। अष्टा० ३.३.११५. **करणाधिकरणयोश्च**। अष्टा० ३.३.११७. **कृत्यल्युटो बहुलम्**। अष्टा० ३.३.११३.

वन्ति यं सोऽयनः'—जिस को प्राप्त होते हैं वह **'अयन'** है। **अय्यते प्राप्यते वा सोऽयनः**—जो प्राप्त किया जाता है वह **'अयन'** है। अथवा **'यन्ति अयन्ते गच्छन्ति जानन्ति वा येन सोऽयनः'**—जिसके द्वारा किसी को प्राप्त होते हैं अथवा जानते हैं वह **अयन** हैं। अथवा **'यन्ति अयन्ते यस्मिन् सोऽयनः'**—जिसमें गति करते हैं—जो सबकी सहज क्रिया का आधार है—आश्रय है वह **अयन** है। अर्थात् **गति, गन्तव्यस्थान, गतिसाधन, ज्ञानसाधन, आश्रयस्थान, शरण** आदि को **'अयन'** कहा जाता है। मनु ने **'अप्'=आपः** को **'नारा'** कहा है। **नृ नये'** धातु[1] से कर्तृत्व में **ण** प्रत्यय[2] करने पर **'नार'** शब्द सिद्ध होगा। नार से स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय[3] करने पर **'नारा'** बनेगा। **'नरयन्ति नृणन्ति नयन्ति संघातरूपतां पदार्थान् यास्ता आपो नाराः'**—जो पदार्थों को संघात-रूप प्रदान करते हैं, वे जल=आपः नारा कहलाते हैं। अथवा—**'नरयति नृणाति नयतीति वा स नरोऽग्निः[4]—तस्य नरस्याग्नेः सूनवो नाराः आपः[5]'**—**नयन**=मार्गदर्शन करने वाला अग्नि **'नर'** कहलाता है, उससे उत्पन्न जल[6] उसके अपत्यवत् होने के कारण **'नारा'** कहलायेंगे। **नाराणामयनो नारायणः**—उन नारा [=आपः] का अयन=आश्रयस्थान होने से अथवा—**'नाराः आपः अयनं ज्ञानप्राप्तिसाधनं यस्य स नारायणः'—आपः**=जल उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कराने वाले हैं—उसकी महिमा की ओर संकेत करने वाले हैं इसलिये वह नारायण है[7]।

'नरयति नृणाति नयति प्राणिनः कर्मफलानीति नरः परमात्मा'—मनुष्यों को कर्मफलों की ओर ले जाने के कारण परमात्मा नर है। **नरस्येमे नारा मुक्तजनाः**—उस **नर** (=परमात्मा) के भक्तजन=मुक्तावस्था प्राप्त जो लोग हैं वे **'नार'** हैं। **नाराणामयनो नारायणः**—उन मुक्तों का जो आश्रयस्थान या प्राप्तव्य तत्त्व परमात्मा है वह **नारायण**[8] है। नर सम्बन्धी जन्म या कर्मफल आदि को नार कहेंगे[9]। उस नार=नरजन्म अथवा कर्मफल को जिसके आश्रय से प्राप्त करते हैं, वह परमेश्वर नारायण है।[10]

नरयन्ति नृणन्ति नयन्ति प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति वस्तुस्वरूपादि स्वबुद्धौ येन तज्ज्ञानं नारम्[11]—जिससे मनुष्य वस्तु के स्वरुप आदि को अपनी बुद्धि में प्राप्त कराते हैं उस ज्ञान को नार कहा गया है। **'नारस्य ज्ञानस्यायनोनारायण :**—ज्ञान का आदिम तथा मुख्य उद्भव-स्थान भी नारायण नाम से

---

१. भ्वादिगणीय [७६७] तथा क्रयादिगणीय [२४]
२. ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः। अष्टा० ३.१.१४०॥
३. अजाद्यतष्टाप्। अष्टा० ४.१.३॥
४. नृ नये+अच् अज्विधिः सर्वधातुभ्यः—वा०, अष्टा० ३.१.१३४॥
५. नर से अपत्यार्थ में 'तस्यापत्यम्' अष्टा० ४.१.९२ से अण्॥
६. 'अग्नेरापः' तै० उ० २.१.
७. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ स० भा० स० पृ० ३९ [द्र०-मनु० १.१०.]
८. **नारा मुक्तास्तदाश्रयत्वाद् वा नारायणः।** स० भा० स० पृ० ३९
९. **नरस्येदं नारम् 'तस्येदम्'** अष्टा० ४. ३.१२० से अण्।
१०. **नरसम्बन्धि नारमयते ऽनेनेति नराणां सम्बन्धीनि जन्मादीनि तत्कर्तृत्वसम्बन्धेन तदयनत्वाज् जगज्जन्मादिकर्तृत्वाद् वा।** स० भा० स० पृ० ३९
११. **नृ+घञ्। अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्॥** अष्टा ३. ३. १९॥

अभिहित होगा।[१]

त्रिपद नारायण शब्द —

यहां तक हमने 'नारायण' शब्द में दो पद मानकर उनकी व्याकृति और व्युत्पत्ति के विषय में विचार किया। पर 'नारायण' शब्द में तीन पदों का सन्निवेश भी सुसम्भव है —न+अर+अयन= नारायण। 'न' निषेधार्थक अव्यय है। 'अर' पैनी नुकीली वस्तु को कहते हैं जो सरलता से किसी में प्रविष्ट हो जाये—घुस जायें वे अर कहलाते हैं।[२] अथवा जो नोकदार होने के कारण चुभते हैं—कष्ट पहुंचाते हैं, वे अरे कहलाते हैं। इस सहज प्रवेश सादृश्य से अथवा कष्ट प्रदान साम्य से दोष भी 'अर' अरे कहलायेंगे। दोष शीघ्र ही मनुष्य में प्रविष्ट हो जाते हैं। दोष प्रविष्ट होकर सदा कष्ट पहुंचाते हैं। **अराः=दोषाः न अराः [=नाराः=] गुणाः, नाराणां गुणानामयनम् पराकाष्ठास्थानम् नारायणः**—समस्तशुभगुणों का परमधाम परमात्मा नारायण है, क्योंकि उसमें गुण ही गुण हैं[३] दोषों की गन्ध भी उसमें नहीं हैं।[४]

अविद्यमाना अरा दोषा येषु ते वेदा नाराः तेषामयनो नारायणः—सब प्रकार के दोषों से रहित होने के कारण वेद 'नार' हैं उनका 'अयन' मुख्य उद्गम स्थान होने से परमात्मा नारायण है।[५]

रमणं रः=आनन्दः[६]। न रः=अरः [=अरमणम्] शोको दुःखम्। न अरः=नारः (=नार-मणम्)=आनन्दः। नारः='आनन्दः'=अयनं स्वरूपं यस्य स नारायणः—नार अर्थात् आनन्द ही स्वरूप है जिसका वह परमात्मा 'नारायण' है।[७]

व्याकरण तथा स्मृति आदि शास्त्रों के आधार से हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'नारायण' नाम उस परमपुरुष परमेश्वर का है। ऊपर हमने वैदिकों के उद्धरण से यह भी दिखाया है कि इस पुरुषसूक्त का न केवल ऋषि ही 'नारायण' है, अपितु इसका देवता=प्रतिपाद्य विषय=स्तोतव्य देव भी 'नारायण' है। वस्तुतः 'नारायण' का इस सूक्त के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। यद्यपि साक्षात् 'नारायण' शब्द इस सूक्त में दृष्टिगत नहीं होता, पर गूढ़ रूप में वह विद्यमान अवश्य है। 'नर' या 'नार' का वाचक 'पुरुष' शब्द सूक्त की आदिम पांच ऋचाओं में अविकल रूप से तथा आगे की अन्य कुछ ऋचाओं में भी आया है। अष्टादश ऋचा में 'पुरुष' पद तो है ही, साथ में 'अयन' शब्द भी आया है—**'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**—अयन के लिए—उस महान् आदित्यवर्ण पुरुष की प्राप्ति के लिए अर्थात् **पुरुषायण**

१. **नारं ज्ञानं विषयतया तदयनत्वाद् वा।** स० भा० स० पृ ३९
२. **ऋच्छन्ति गच्छन्ति सहजतया प्रविशन्तीति—अराः। न्+अच्।**
'अज्विधिः सर्वधातुभ्यः' वा०। अष्टा० ३. १. १३४॥
३. **जगत्कर्तृत्वधातृत्वसंहर्तृत्व-न्यायकारित्व-व्यापकत्वसर्वज्ञत्वादि गुण परमात्मा में सदा वर्त्तमान** रहते हैं। द्र०—स्वा० द० कृत आर्योद्देश्यरत्नमाला १ रत्न
४. **अरा दोषास्तद्विरुद्धा गुणा नारास्तेषामयनमिति दोषविरुद्धगुणाश्रयत्वाद् वा। अराणां दोषाणामयनं न भवतीति दोषाश्रयो न भवति, दोषगन्धविधुर इति वा॥** ॥ स० भा० स० पृ० ३९
५. **दोषरहिता नारा वेदाः प्रतिपाद्यतया तदयनत्वात् सदागमैकविज्ञेयत्वाद् वेदप्रतिपाद्यत्वाद् वा।** स० भा० स० पृ० ३९
६. **रमुक्रीडायाम् धातु से बाहुलकाद् भाव में ड प्रत्यय** [रम्+ड=रः]।
७. **नारमणमयनं येनेति नारमणवत्वाद्वा॥** स० भा० स० ॥

के लिए=मोक्ष के लिए पुरुषज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात हुआ कि मन्त्र का साक्षात्कर्त्ता अथवा मन्त्र का द्रष्टा ऋषि होता है। ऋक्, अथर्व और सामवेद के पुरुष सूक्तों का ऋषि नारायण है। पुरुषमेधाध्याय [३१ वां अध्याय] का भी नारायण ऋषि है। शुक्ल यजुः—सर्वानुक्रमसूत्रकार ने लिखा है: **'देव सवितर्द्वावध्यायौ पुरुषमेधो नारायणः पुरुषो ददर्श।**'[1] अग्रिम सूत्र में ही दिया है—**'अद्भ्यः' षड्ऋच उत्तरनारायणो मन्त्रः**'[2] अर्थात् अद्भ्यः' से लेकर अन्तिम छह मन्त्र उत्तरनारायण के हैं।

शौनक के ऋग्विधान में **नारायण** को **'वेदगर्भ-शरीर'** से स्मरण किया गया है।[3] एक हस्त-लिखित पुरुष सूक्त प्रति में ऋषि **'अन्तर्यामी'** लिखा हुआ है और नारायण का सम्बन्ध देवता के साथ जोड़ा गया है।[4]

देवता तत्त्व की महिमा —

उपरि वर्णित ऋषितत्त्व का परीक्षण हो लेने के उपरान्त क्रमोपात्त **देवतोपपरीक्षा** आवश्यक है, मन्त्रार्थ निणय में जहां ऋषि-ज्ञान उपकारक है, वहां देवता-ज्ञान महोपकारक है। **बृहद्देवताकार** ने तो आग्रह पूर्वक कहा है, कि मन्त्र मन्त्र में वर्णित देवता तत्त्व को प्रयत्न पूर्वक जानना चाहिये, यत : दैवतज्ञ ही मन्त्रार्थ को जान सकता है। देवता तत्त्व को याथातथ्य रूप से जाने विना कोई भी व्यक्ति लौकिक एवं वैदिक कर्मों का फल प्राप्त नहीं कर सकता। तद्यथा —

'वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः। दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ॥
नहि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्। लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते ॥'[5]

अत : विमषणीय सूक्त के देवता का याथातथ्य वर्णन अभीष्ट है।

एक व्यापक प्रश्न —

वैदिक सूक्तों के नामकरण का प्रश्न एक व्यापक प्रश्न है। सम्प्रति प्रश्न एक मात्र ऋग्वेद के दशम मण्डलान्तर्गत नब्बेवें सूक्त से सम्बद्ध है। वैसे तो यह आदिष्ट देवताक सूक्त है, आदिष्ट देवताक होने मात्र से जिज्ञासा शान्त नहीं हो जाती। अन्ततः प्रश्न तो ज्यों का त्यों वना ही रहता है, कि सूक्त का देवता पुरुष ही क्यों ? क्या हेतु है ? क्या तर्क है ? इत्यादि। इन प्रश्नों की जिज्ञासा भूमि पर ही समाधान भित्ति खड़ी की जा सकेगी।

एक आभावान् मनका —

वेद परम कवि का महाकाव्य है, काव्यमयी मणिमाला है, प्रत्येक सूक्त उस माला में पिरोया हुआ मणि है, एक मनका है। यह साम्य दृष्टि स्थापित होने के उपरान्त जब कोई भी मनका हाथ में आता है, तो मन स्वतः ही कुछ पारखी सा कुछ संशयी सा हो जाता है। मनके की आभा, मनके की

---

१. शु० य० स०—३. १३.
२. वही ३, १४,
३. **वेदगर्भशरीरेण स वै नारायण स्मृतः। शौ० ऋ०**
४. The Government Oriontal Manscripts library MADRAS में उपलब्ध 'पुरुषसूक्त मन्त्र' No 6627
५. बृ० दे० १. २-४,

गुरुता, मनके का रूप-रंग, पारखी को अपने नाम करण के लिये आह्वान करते हैं, मानो पूछते हों कि बोलिये मुझे किस नाम से बुलाओगे, हीरा, पन्ना, पुखराज अथवा किसी और नाम से ; बस वही स्थिति वैदिक माला के इन सूक्त मणियों की है, सूक्त मनकों की है। विमर्षणीय सूक्त भी उस माला का एक आभावान् गुरुतर मनका है, प्रश्न यह है कि इसे क्या नाम दें, क्यों दें ? फिर उसमें क्या हेतु है, क्या तर्क है।

देवता, मंत्रका शीर्षक है —

यह प्रश्न सर्वथा वैसा ही है कि जैसे कोई सम्पादक किसी चित्र, कविता अथवा समस्या के विषय में अपने पाठकवृन्द से पूछे कि इन का शीर्षक क्या होगा ? उस पर प्रति पाठक जो भिन्न प्रति क्रिया होती है, वह किसी से छिपी नहीं चित्र एक शीर्षक अनेक, कविता एक शीर्षक अनेक, समस्या एक समाधान अनेक, कुछ वैसी ही स्थिति इन वैदिक सूक्तों की है, मानो इनके सम्पादक ने इनकी रचना कर, ऋषियों के सम्मुख समस्या रख दी हो, कि इनका देवता ढूंढिये। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपनी अपनी ऊह के आधार पर इनके भिन्न भिन्न शीर्षक ढूंढ लिये और उनको सूक्त के शीर्ष पर अङ्कित कर दिया। **शीर्ष** की वैदिक संज्ञा **द्यु** लोक एवं मूर्धा है[1]। अतः देवता शीर्षस्थ अथवा द्यु-[लोक] स्थ मूर्धन्य होना चाहिये[2]। सम्भवतः इसी सिद्धान्त को अभिलक्ष्य करके आचार्य यास्क ने देव[ता] का निर्वचन **द्युस्थानो भवतीति वा देवः**[3] किया है। **द्युस्थानो भवतीति वा देवः** कहो, अथवा **शीर्षस्थानो भवतीति वा देवः** कहो एक ही बात है। देवता को द्यु स्थान पर अधिष्ठित करते ही न केवल मन्त्र ही द्योतित होने लगेगा प्रत्युत उसके शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षर द्योतित होने लगेंगे। दीपक को उन्नत स्थान पर रखते ही भवन का हर पदार्थ और कोना-कोना द्योतित होने लगता है। दीपक स्वंय भी दीपित होता है और अन्यों को भी द्योतित करता है, तद्वत् देवता के शीर्षस्थ होते ही जहाँ स्वयं दीपित होने लगता है वहां उस से मन्त्र का पद-पद, अक्षर-अक्षर द्योतित होने लगता है अतः यास्क ने कहा **दीपनाद् वा द्योतनाद् वा देवः**[4] [ता]। आचार्य यास्क के देव [ता] निर्वचन विमर्षणीय सूक्त की देवता पर अक्षरशः चरितार्थ होता है। स्वयं भगवती श्रुतिने **पुरुष** देवता का अभिषेक करते हुए, उसे सर्वोच्च पद पर आसीन किया है-**त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः**[5]। **त्रिपादस्यामृतं दिवि**[6]। पुरुष अपने त्रिचरण से ऊर्ध्व लोक में उदय को प्राप्त होता है, उसके ये तीनों चरण द्युलोक में अमृत हैं, यास्क के **द्युस्थानो भवतीति वा देवः** निर्वचन का आधार सूक्तोक्त चरण द्वय में निहित है। निस्सन्देह यास्क के निर्वचन **देव** परक हैं, देवता परक नहीं ; किन्तु **देव** और **देवता** एकार्थ के ही प्रतिपादक हैं इसका प्रतिपादन स्वयं यास्कने वहीं '**यो देवः सा देवता**'[7] कह कर किया है।

दकार अक्षर का देवता —

प्रसिद्ध दकार-त्रय[8] उपदेशमें क्या यही कुछ नहीं है ? प्रजापति ने असुर, मनुष्य, देव कक्षा-त्रय के सामने एक मात्र द अक्षर का उपदेश दिया और पूछा **व्यज्ञासिष्टाऽऽइति** क्या तुम समझ पाए कि दकार अक्षर का क्या अर्थ है 'द' मन्त्र का क्या देवता है। इस पर प्रतिकक्षा भिन्न प्रतिक्रिया

---

१. शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत -ऋ० १०. ९०-१४ ;
२. दिवं यश्चक्रे मूर्धानं- अ. १०-७-३२ ;
३. निरुक्त- ७-४-१५
४. निरुक्त- ७-४-१५
५. त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः-ऋ. १०-९०- ४ ;
६. त्रिपादस्यामृतं दिवि-ऋ. १०-९०-३ ;
७. नि० ७. ४. १५ ;
८. बृ० ३०-५-२

हुई और परिणाम स्वरूप **द** मन्त्र के तीन देवता ढूंढ लिये गये **दया, दान और दमन**। अक्षर एक और देवता तीन-तीन सर्वथा यही स्थिति विमर्षणीय सूक्त की भी है, आदिष्ट देवताक सूक्त होने से निः सन्देह इसकी संज्ञा **पुरुष** है परन्तु **पुरुष** से कितने प्रकार के पुरुष अभिप्रेत हैं। सूक्त के शब्दों में विराट्, स्वराट्, एकराट्, सम्राट्: परिव्राट्, अथवा यज्ञराट् में से कौन सा? अथवा सभी। गीता के शब्दों में क्षर, अक्षर, अव्यय पुरुष में से कौन सा? अथवा सभी।

देवता अर्न्तनिहित है —

देवता तत्त्व को कहीं वाहिर से खोज कर नहीं लाना होता वह तो सूक्त में, सूक्त के मन्त्र मन्त्र में विद्यमान रहता है, उस अर्न्तनिहित तत्त्व को ही तो देवता कहते हैं, ऋषि उसी का प्रत्यक्ष करता है। सूक्त के प्रथम द्रष्टा नारायण ने **पुरुष** को कहीं बाहिर से लाकर स्थापित नहीं कर दिया वह तो सूक्त के मन्त्र मन्त्र में विद्यमान था, ऋषि नारायण ने वह सूत्र हस्तगत किए जिनके आश्रित पुरुष देवता को ढूंढ पाया। वैङ्कट माधव ने कहा **स्वरूपस्थास्तु देवता**[१] यजुसर्वानुक्रम सूत्र में इसी की पुष्टि में कहा **देवता मन्त्रान्तर् भूता**[२]।

देवता विज्ञान के आधार –

सूक्त अथवा मन्त्र के देवता का ज्ञान अत्यन्त यत्न साध्य है। ऋग्वेद भाष्यकार वेङ्कट माधव स्वयं अपनी असमर्थता इन शब्दों में व्यक्त करता है।

देवता तत्त्व विज्ञानं महता तपसा भवेत्। शक्यते किमस्माभिर्याथातथ्येन भषितुम्।[३]

देवता तत्त्व विज्ञान महान् तपः साध्य है, क्या हम जैसों द्वारा देवता तत्त्व का याथातथ्य वर्णन कर सकना संभव है? कदापि नहीं। देवता तत्त्व विज्ञान के लिए किस किस योग्यता की आवश्यकता है, उसके लिए वृहद् देवना कार शौनक का कथन चिन्तनीय है—उसका कहना है कि—

योगेन, दाक्ष्येण' दमेन, बुद्ध्या, बाहुश्रुत्येन, तपसा नियोगैः उपास्यास्ता कृत्स्नशो देवता।।[४]

सूक्त अथवा मन्त्र वर्णित सभी देवताओं की योग, दक्षता, बुद्धि, पाण्डित्य, तथा नियोग द्वारा उपासना करनी चाहिये। उल्लिखित योग्यता से सम्पन्न आचार्यों ने देवतोपपरीक्षा के कुछ सूत्र निर्धारित किये हैं जिनके आधार पर हम पुरुष देवतोपरीक्षा करेंगे, वे सूत्र निम्न हैं —

प्रथम सूत्र —

१ — आचार्य यास्क का प्रवचन है—**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति**[५]—जिस कामना वाला ऋषि जिस देवता के आधार पर आर्थपत्य [अर्थ का स्वामी] होऊं ऐसी इच्छा करता हुआ स्तुति करता है उस **देवता** वाला वह मन्त्र होता है। अथर्ववेदीय सर्वानुक्रमणिकाकार भी आचार्य यास्क का अनुमोदन करता है, तद्यथा — **यत्काम मन्त्रद्रष्टा वा भवति, यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिः प्रयुज्यते**[६] बृहद्देवताकार शौनक भी इसी आशय को कहता है —**अर्थमिच्छन् ऋषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति। प्राधान्येन स्तुवन्**

१. वैं० मा० ऋ. भा० १-१-१;
२. यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम् –१
३. वैं० मा० ऋ० भा० - १-१-१;
४. वृहद्देवता ८- १३०
५. निरुक्त, ७-१
६. अ० वृ० स० क्र०—

भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः[1] । ऐसा कथन है कि किसी वस्तु की कामना करते हुए एक द्रष्टा जिस किसी देवता की स्तुति करता है वही उस मन्त्र का **देवता** होता है । किसी देवता की प्रमुख रूप से भक्ति पूर्वक स्तुति करने वाला मन्त्र उसी **देवता** को सम्बोधित करता है ।

द्वितीय सूत्र —

२ —कात्यायन सर्वानुक्रमणि में लिखा है—**यस्य वाक्यः स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता**[2]— जिसका स्तुति वाक्य है और उससे जो उक्त है, स्तुत्य है, **वह देवता** है ; इस वाक्य में **तेन** सर्वनाम से किस का बोध होता है, ऋषि का अथवा ऋचा का इस पर षड्गुरु शिष्य ने वेदार्थ दीपिका में लिखा है कि-**तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता** । उस वाक्य [ऋचा] से जो प्रतिपाद्य वस्तु है, वही **देवता** है । इसी आशय का समर्थन ब्राह्मण ने भी किया हैं, तद्यथा – **यां वै देवतामृगभ्यनुक्ता यां यजुः सैव देवता**[3] – निश्चय से जिस **देवता** का ऋग्वेद की ऋचाएं अनुवदन करती हों और जिस **देवता** का याजुष ऋचाएं अनुमोदन करती हों वह ही [मन्त्र का] **देवता** है ।

तृतीय सूत्र —

३ – शतपथ ब्राह्मण में लिखा है – **यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते**[4] अर्थात् जिसके लिए हवि दी जाती है **वह देवता है** जिस के लिये नहीं दी जाती वह नहीं । ऐतरेय ब्राह्मण भी हवि के रूप परिवर्तन से इसी की पुष्टि करता है-**अथो खल्वाहुर्यस्यै कस्यै च देवतायै पशुरालभ्यते सैव मेधपतिरिति**[5] फिर निश्चय से यह कहा जाता है कि-जिस किसी भी देवता के लिये पशु का आलम्भन किया जाता हो वह **देवता** है यजुस्सर्वानुसूत्र में देवताओं के दो विभाग करते हुए एक को हविर्भाक् भी कहा है तद्यथा-**देवता मन्त्रान्तर्भूता अग्न्यादिका हविर्भाजः स्तुतिभाजो वा**[6] ।

त्रि-सूत्रों की एक सूत्रता –

यहां देवता निर्णायक सभी प्रमाणों को तीन सूत्रों में आवद्ध किया है । इन तीनों का भी एक अन्तर्यामी सूत्र है, **एकोद्देश्यता** और वह है **देवता आह्वान = आमन्त्रण,** अतः एक सूत्र में कहा जाए तो – **"जिसका आह्वान किया जाए वह देवता है"** फिर चाहे आह्वान का माध्यम **स्तुति-गान** हो [१] ऋचा-उच्चारण हो [२] अथवा हवि-दान हो [३] । फिर [१] स्तुति [२] ऋचा [३] हवि तीनों भी तो एक ही अर्थ में आवद्ध हैं, स्तुति और ऋचा दोनों पर्याय ही तो हैं उद्देश्य भी दोनों का एक ही है देवता आह्वान, हवि का तो उद्देश्य ही आह्वान है, यदि प्रथम दो विन्दुओं को **स्तुति सूत्र** में आवद्ध कर लिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा इस प्रकार देवता आह्वान के दो साधन हो गये [१] स्तुति [२] हवि । स्तुति **वाणि** का विषय है और हवि **पाणि** का, स्तुति **वाचा** है और हवि **कर्मण है** देवता का आह्वान वाचा और कर्मणा होने के साथ साथ **मनसा** भी होना चाहिये । अतः आचार्य यास्क ने अपने दैवत लक्षण में **यत्काम** शब्द डाल कर **मनसा** को भी ग्रहण कर लिया है । उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यदि देवता लक्षण इस प्रकार कर लिया जाय तो कोई आपत्ति न होगी । ऋषि अर्थ की

---

१. बृ० दे० १-१६,
२. का० स० अ० - २-४
३. श० ब्रा० ५-१-२, ७-५-१, ४ ;
४. श० ब्रा० ६-४-२, १५ ;
५. ऐ० ब्रा० २-६
६. य० स० सू० १

इच्छा से जिसका मनसा, वाचा, कर्मणा आह्वान करता हैं वह **देवता** है। एक सूत्र में आबद्ध त्रि-सूत्रों को संक्षेप में लिखकर ही पुरुष देवता का उपयुक्त परीक्षण करेंगे।

त्रि-सूत्र —

१ — मन्त्र द्रष्टा कामना से जिसकी स्तुति करता हो वह **देवता** है।

२ — जिसे ऋषि अथवा ऋचा कहती हो वह **देवता** है ॥

३ — जिसके लिये हवि दी जाती हो वह **देवता** है।

पुरुषसूक्त का देवता-परीक्षण —

देवता-परीक्षण की सर्वप्रथम कसौटी यह है कि'मन्त्रद्रष्टा कामना-मुख से जिसकी स्तुति करता हो वह **देवता है**'। इससे पूर्व कि हम इस कसौटी पर सूक्त-वर्णित पुरुष देवता की परीक्षा करें, यह जान लेना आवश्यक है, कि स्तुति का क्या लक्षण है और स्तुति की क्या पहचान है, मेरे विचार में तो स्तुति का लक्षण **'गुणकीर्त्तनं स्तुतिः'** अथवा **'यथार्थवर्णनं स्तुतिः'** है। किसी भी पदार्थ के गुण-कीर्त्तन अथवा यथार्थ वर्णन को स्तुति कहते हैं। मन्त्र में स्तुति की पहचान के लिये प्रथम पुरुष के द्योतक **तद् एतद् इदम्** आदि सर्वनामों तथा प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग देखना होगा[1]। जिसके लिये इन सर्वनामों का प्रयोग हो, उसे **देवता** जानना चाहिये। अब कहा जा सकेगा कि 'स्तोता कामना मुख से जिस पदार्थ [प्रथम पुरुष के परिचायक **तद् एतद् इदमादि** सर्वनामों तथा प्रथम पुरुष की क्रियाओं द्वारा] की स्तुति करता है, वह स्तुत्य व्यक्ति ही '**देवता**, है। विमर्षणीय सूक्त में **'पुरुष'** को पन्द्रह बार **'तद्'** सर्वनाम के प्रयोग द्वारा आठ बार, **'इदम्'** सर्वनाम के प्रयोग द्वारा तीन बार, **'यत्'** सर्वनाम के प्रयोग द्वारा एक बार, **'एतत्'** सर्वनाम के प्रयोग द्वारा स्मरण किया गया है। इससे सिद्ध है कि विवेचनीय सूक्त का देवता **'पुरुष'** ही है।

स्तुति की पहचान के लिये प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग भी सहायक है, सूक्त में वैसे तो कुल बाईस क्रियाओं का प्रयोग हुआ है, परन्तु सोलह क्रियाएँ तो ऐसी हैं कि जिनका साक्षात् सम्बन्ध पुरुष ही से है, उनका कर्त्ता पुरुष ही है। अतः सिद्ध है कि सूक्त का देवता **पुरुष** से भिन्न और कोई नहीं।

आचार्य यास्क के दैवत लक्षण में यह विशेषता है कि स्तोता स्तुति से पूर्व कामना अवश्य करता है। कामना का अभिप्राय इच्छा, अभिलाषा इत्यादि है। जब-जब स्तोता कामना पूर्वक स्तुति करेगा तब-तब देव को अपने सम्मुख अनुभव करेगा और 'वह' सर्वनाम के स्थान पर **'आप'** या **'तू'** का, **तद्**, एतद्, **इदम्** के स्थान पर **'युष्मद्'** शब्द का प्रयोग करेगा। यही कारण है कि स्तोता अन्त में आत्म विभोर होकर बोल उठा —

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुम्म इषाण सर्वलोकम्म इषाण [यजु० ३१ २२;]

यहां देवता के लिये युष्मद् सर्वनाम **'ते'** का एवं संबोधन **'इष्णन्'** का प्रयोग हुआ है और

---

१. यास्क ने भी ऋचाओं के त्रिविध भेद दिखाते हुए इसी की ओर इंगन किया है। वे तीन हैं, परोक्षकृता: प्रत्यक्षकृता: आध्यात्मिक्यश्च [नि० ७. १. १.]। परोक्षकृता ऋचायें स्तुति-प्रधान है प्रत्यक्ष-कृता ऋचायें प्रार्थना-प्रधान और आध्यात्मिक ऋचाएं उपासना-प्रधान होती हैं। स्तुति में स्तोता प्रथम पुरुष का प्रयोग करता है, प्रार्थना में मध्यम पुरुष का और उपासना में उत्तम पुरुष का।

स्तोता ने अपनी अभिलषित कामना भी प्रकट की है **'अमुम् म इषाण सर्वलोकम्** म इषाण' । हे इष्णन् ! मेरे लिये चाहने वाले ! यदि कुछ चाहते हो, तो मेरे लिये **उस लोक** को चाहो और **सर्वलोक** को चाहो । स्पष्ट है कि स्तोता **'अमुम्'** और **'सर्वलोकम्'** की कामना कर रहा है । व्यक्ति के लिए प्राप्तव्य भी दो ही लोक हैं, एक परलोक और दूसरा इहलोक । यहां **'परलोक'** के लिये **'अमुम्'** और **'इहलोक'** के लिये **'सर्वलोकम्'** का प्रयोग हुआ है । लोक शब्द का अर्थ दर्शन है, वह अवस्था जिसमें अपने इष्ट के दर्शन होते हों । जिसमें परमसत्ता के दर्शन हों वह **'परलोक'** और जिसमें सब प्रकार के ऐश्वर्य पुत्र, कलत्र, धन, धान्य, सेवक, सेविकाएं, यश, कीर्त्ति आदि के दर्शन हों उसे **'सर्वलोक'** कहते हैं । अतः इस सूक्त में ऋषि कामना से प्रेरित होकर ही पुरुष देवता की स्तुति कर रहा है । इसलिये आचार्य यास्क के अनुसार इस सूक्त का देवता **'पुरुष'** निश्चित है । यह हुई सकाम स्तुति । स्तोता की इससे उन्नत स्थिति वह है कि जिसमें उसे अपने आराध्य देव के दर्शन हो जाएं, फिर तो जो स्तुतिगान मुखरित होगा, वह जहां सर्वथा निष्काम होगा वहां साथ-साथ आत्म-विश्वास से युक्त भी होगा । ऐसे ही स्तोता के मुख से निकले हुए ये स्तुति वाक्य मननीय हैं **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।''** मानो वह निष्काम भाव से जन-जन को मृत्यु अतिक्रमण का अनन्य पथ बता रहा है, कि ऐ लोगो ! मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, वह अखंडैकरस अखंडैक वर्ण महान् पुरुष है, उसको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण संभव हैं, इससे अन्य कोई और पथ नहीं है । इससे भी यही प्रमाणित होता है कि सूक्त का देवता एक मात्र महान् **'पुरुष'** है

आचार्य यास्क के देवता लक्षण में विशेष बल स्तुति पर है । ऋषि सकाम होकर अथवा निष्काम होकर जिसकी स्तुति करता है वह **देवता** है । यजुर्वेद के उत्तर नारायण मन्त्रों में सकाम स्तुति का वर्णन है, तो पूर्व नारायण एव ऋग्थर्वसाम पुरुष सूक्तों में निष्काम स्तुति का । **'सहस्रशीर्षा'** से आरम्भ होकर **'यत्र साध्याः सन्ति देवाः'** तक सोलहों मन्त्र पुरुष की ही स्तुति के हैं । इससे भी यही प्रमा-णित है कि सूक्त का देवता **'पुरुष'** है ।

'द्वितीय बिन्दु' —

देवता लक्षण के द्वितीय बिन्दु में कहा गया है कि जिसे ऋषि अथवा ऋचा कहती हो वह **'देवता'** है, शतपथ ब्राह्मण में भी इसका अनुमोदन पाया जाता है तद्यथा **'यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव 'देवता'** अर्थात् जिसका ऋग्वेद की ऋचाएं अनुवदन करती हों और जिस को यजुर्वेद के मन्त्र प्रतिपादित करते हों, वह व्यक्ति ही देवता पद का पात्र है । इस कसौटी पर तो एक मात्र **'पुरुष'** व्यक्ति ही ऐसा है जिसे देवता पद पर अधिष्ठित होने का अधिकार है । न केवल ऋग्वेद की ऋचाओं ने ही इसका अनुवदन किया है, न केवल यजुर्वेद के मन्त्रों ने ही उसका प्रतिपादन किया है, अपितु सामवेद और अथर्ववेद की ऋचाओं ने भी उसका अनुमोदन किया है । एकमात्र यही सूक्त है जो चारों संहिताओं में उपलब्ध है अतः सिद्ध है कि विमर्षणीय सूक्त का देवता **'पुरुष'** हैं ।

तृतीय बिन्दु —

देवता लक्षण के तृतीय बिन्दु में कहा गया है, कि जिसके लिये हवि दी जाती हो अथवा पशु का आलम्भन किया-जाता हो, वह पदार्थ **देवता** है । इस कसौटी पर विमर्षणीय सूक्त का देवता तो खरा उतरता ही है साथही अपनी विशेषता लिए हुए है, वह यह कि 'पुरुष स्वयं **होता** भी है, स्वयं **हवि** भी है और

स्वयं हव्य भी। गीता का **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।**[1] श्लोक सर्वथा सूक्त के पुरुष पर चरितार्थ होता है, इसी आशय को सूक्त के अन्तिम मन्त्र **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः** में आवद्ध किया है, सूक्त में पुरुष के विशेषणों में एक विशेषण **सर्वहुत्**[2] भी है, जिसका यह अर्थ तो है ही कि **सर्वं हूयतेऽस्मिन्निति स सर्वहुत्** सब जिसमें आहुति देते हैं वह सर्वहुत् है। इस दृष्टि से **पुरुष** ही देवता सिद्ध होता है, परन्तु इस **पुरुष** की विशेषता यह है कि वह स्वयं अपने को भी आहुति बनाता है, अतः सर्वहुत का दूसरा निर्वचन इस प्रकार है **सर्वस्मिन् हूयते येन स सर्वहुत्** अर्थात् जो सब में अपने को आहुति बनाता हैं, वह **सर्वहुत्**, इसी की व्याख्या में आचार्य सायण ने अपने ऋग्भाष्य में कहा है **सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्**[3] इसी की पुष्टि में शतपथ श्रुति में क्या ही अच्छा कहा है—**हन्ताहं भूतेषु-आत्मानं जुह्वानि भूतानि चात्मनि इति। तत् सर्वेषु भूतेषु आत्मानं हुत्वा भूतानि चाऽऽत्मनि**[4]। क्या ही अच्छा हो कि समस्त भूतो में अपने आप को हवि बना दूं और सब भूतमात्र मुझ आत्मा में अपने आप को हवि वना दें, तो मैं इन समस्त प्राणियों में श्रेष्ठता को स्वराज्य को प्राप्त हो जाऊं। अव यदि दैवत लक्षण में इतना भाग और जोड़ लिया जाय तो अच्छा हो कि जो [अपनी आत्मा को] सब प्राणियों के लिए हवि बनाता है वह **देवता** है। इसी आशय को सूक्त के **यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमन्वत**[5] **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**[6]। **देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्**[7] मंत्र चरणों में आवद्ध किया है। अतः निश्चय से कहा जा सकता है कि सूक्त का देवता **पुरुष** है।

देवतोपपरीक्षा के स्वतन्त्र सूत्र —

उक्त त्रि-विन्दुओं के आधार पर देवतोपपरीक्षा हो लेने के उपरान्त यजुर्वेद भाष्यकार आचार्य उवट के स्वतन्त्र-सूत्रों के आधार पर पुरुष देवतोपपरीक्षा करेंगे। उसने अपना स्वतन्त्र पथ अपनाया है। उसका कथन है कि हम **गुरुतः तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः। ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छन्दसं च यत्**[8] — अर्थात् गुरु [परम्परा] से, तर्क से, तथा शतपथ की श्रुतियों के आधार पर ऋषि, देवता और छन्दों का वर्णन करूंगा। इस प्रकार स्वतन्त्र सूत्र भी तीन ही हैं।

१—गुरु परम्परा के आधार पर
२—तर्क शास्त्र के आधार पर
३—शतपथ श्रुतियों के आधार पर

गुरु परम्परा से —

उवटाचार्य के **गुरुतः** का अभिप्राय गुरुपरम्परा है। अन्तेवासी गुरु से सुन कर ही किसी विषय का निश्चय करता है। उसके लिए गुरु का उपदेश आप्त वचन है, फिर यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से सृष्टि के आरम्भ तक जा पहुंचती है, फिर तो **स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**[9] कह कर मौन धारण करना होता है अन्यथा अनवस्था दोष के भागी बनना होगा। इसी **गुरुतः** अर्थात गुरुपरम्परा से आ रहे

---

१. गीता. ४.२४
२. ऋ. १०-९०.९,१०,
३. ऋ. सा. भा. १०-९०-८
४. श. ब्रा. १३.७-१-१
५. ऋ. १०-९०-६
६. ऋ. १०.९०.८,९,
७. ऋ. १०-९०-१५,
८. य. उ. भा. १.१
९. योग. द.

ज्ञान को न्याय की परिभाषा में **शब्द प्रमाण** कहना उपयुक्त होगा। इसके भी **स्वतः** और **परतः** प्रमाण रूप दो भेद हैं। अन्तेवासी के वर्तमान गुरु ने अपनी स्थापना को अपने गुरु के वाक्य से और उनके गुरु ने भी अपने गुरु के वाक्य से प्रमाणित किया, प्रत्येक गुरु यही कहकर समाधान करता है **'इति शुश्रुमधीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे'**[1] इस प्रकार उनकी स्थापना **परतः** प्रमाण पर आधारित हैं वेद परमाप्त का उपदेश होने से स्वतः प्रमाण हैं उनकी प्रमाणिकता के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं विमर्षणीय सूक्त के देवता **'पुरुष'** की सिद्धि शब्द प्रमाण के उभयविध प्रमाणों से परिपुष्ट है। परतः प्रमाण से भी, स्वतः प्रमाण से भी।

स्वतः प्रमाण से —

विमर्षणीय सूक्त के देवता से सम्बद्ध यह बात अति विशेष है कि यह सूक्त चारों वेदों में उपलब्ध है, वेद स्वतः प्रमाण हैं जिसके लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं, पुरुष को गौरवान्वित करते हुए स्वयं भगवती श्रुति ने चारों ही वेदों के सूक्तों के माध्यम से कहा है **पुरुष एव इदं सर्वम्**[2] **एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः**[3]। **तस्मात् विराडजायत विराजो अधिपूरुषः**[4]। **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्**[5]। इत्यादि। अतः स्वतः प्रमाणों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि सूक्त का देवता **पुरुष** हैं।

परतः प्रमाण से —

यह गुरु परम्परा एक ओर ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, दूसरी ओर कुल क्रमागत वेदपाठी ब्राह्मणों द्वारा भी सुरक्षित चली आ रही है, आज भी वेदपाठी सूक्त अथवा मन्त्र का उच्चारण करते समय सर्वप्रथम मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द, और स्वर का उच्चारण अवश्य करते हैं। इस वेद पाठियों की कुल क्रमागत परम्परा से भी सूक्त का देवता **पुरुष** ही सिद्ध होता हैं। सूक्त अथवा मंत्र चतुर्मुख है यह हम ऋषि प्रकरण में विस्तार से दिखा आए हैं। यदि **ऋषि** एक मुख है तो **देवता** दूसरा मुख है। मंत्र मंत्र पर **ऋषि** के साथ **देवता** का नामोल्लेख रहता हैं। **ऋषि** द्रष्टा है और **देवता** दृष्टतत्त्व, मंत्र पर उस ऋषि का नाम उल्लिखित है जिसने देवता का सर्व प्रथम दर्शन किया। सूक्त पर नारायण ऋषि उल्लिखित है उसने समाधिस्थ होकर देवता तत्त्व को जाना होगा, साथ ही श्रुति परम्परा ने भी इसमें योग दान दिया होगा और यह परम्परा अग्नि, वायु, आदित्य अङ्गिरा ऋषियों तक जा पहुंची होगी कि जिनकी हृदय गुहा में ऋग्यजुसामाथर्व संज्ञक ज्ञान का आविर्भाव हुआ था यह परतः प्रमाण की अविच्छिन्न धारा भी स्वतः प्रमाण के मूल स्रोत में जा पहुंचती है। इससे यह सुस्पष्ट है कि सूक्त का देवता **पुरुष** है।

भाष्यकारों से —

देवता ज्ञान का एक स्रोत वेद भाष्यकार भी हैं, क्योंकि वेद-भाष्यकर्त्ता को मन्त्रभाष्य करने से पूर्व मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और स्वर को जानना आवश्यक है, इनका ज्ञान चाहे तो श्रुति पर-

---

१. य. ४०.१३

२. ऋ. १०-९०-२ य. ३१-२ सा. पू. ६१९ अ. १९-६-४

३. ऋ १०-९०-३ य. ३१-३ सा. पू. ६२० अ. १९-६,३

४. ऋ. १०-९०-५ य. ३१-५ सा. पू. ६२१ अ. १९-६.९

५. य. ३१-१८

म्परा से करें अथवा स्वोपज्ञ ऊह के आधार पर करे, उन्हें इनका ज्ञान आवश्यक है। भाष्यकारों की इस परम्परा में सर्व प्रथम स्कन्द स्वामी हैं तो सर्वान्तिम दयानन्द स्वामी हैं। ऋग्वेद के भाष्यकर्त्ता सत्रह व्यक्ति हैं जिनमें से ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त पर तीन का ही भाष्य उपलब्ध है, वैङ्कटमाधव, सायण और दयानन्द का, यजुर्वेद के भाष्यकारों की संख्या सात है सर्वप्रथम शौनक ऋषि हैं तो सर्वअन्तिम ऋषि दयानन्द हैं यजुर्वेदीय पुरुषमेधाध्याय पर शौनक, उवट, महीधर और दयानन्द का भाष्य उपलब्ध है। सामवेदीय और अथर्ववेदीय पुरुष सूक्तों पर आचार्य सायण का भाष्य उपलब्ध है। प्रायः इन सभी भाष्यकारों ने सूक्त का देवता **पुरुष** ही माना है।

भाष्यकार माधव —

ऋग्वेद भाष्यकार वैङ्कट माधव देवता विषयक अपना मत प्रस्तुत न करके शतपथ श्रुति को उद्धृत कर अपना पुरुषसूक्त भाष्य आरम्भ करता है—तद्यथा—**अत्रवाजसनेयकम्-पुरुषो ह नारायणो ऽकामयत्** इत्यादि। इस से ज्ञात होता है कि **'पुरुष नारायण'** को सूक्त का **देवता** मानता है।

शौनक —

यजुर्वेद भाष्यकार उवट ने यजुर्वेदीय पुरुषमेधाध्याय पर अपना भाष्य न देकर शौनक भाष्य को उद्धृत किया है, उसी के आधार पर कहा जा सकता है कि शौनक **नारायणाख्य पुरुष** विशेष को सूक्त का देवता मानता है, वह कूर्म पुराण का एक श्लोक भी उद्धृत करता है। तद्यथा

सहस्रमूर्धानमनन्तशक्तिं सहस्रबाहुं पुरुषं पुराणम्। शयानमब्धौ सलिले तवैव नारायणाख्यं प्रणतोऽस्मि रूपम्॥[1]

उवटाचार्य —

उवटाचार्य शौनक भाष्य उद्धृत करने से पूर्व अवतरणिका में लिखता है —पुरुष सूक्तस्य नारायण ऋषि : **पुरुषो देवता**······ मोक्षे विनियोगः[2]।

आचार्य सायण —

चतुर्वेद भाष्यकार आचार्य सायण ने ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त की अवतरणिका में इस सूक्त का देवता प्रकृति-विकृति से भिन्न चेतन पुरुष को माना है उसके शब्द ये हैं— **अव्यक्तमहदादि विलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः ······ श्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता**[3]।

महीधर —

आचार्य सायण का अनुसरण करता है तथा स्वतन्त्र रूपेण **जगद्बीज पुरुषाख्य** देवता मानता है।

स्वामी दयानन्द —

आपाततः स्वामी दयानन्द सरस्वती का देवता विषयक मत सभी से भिन्न प्रतीत होता है[4]। उन्होंने अपने यजुर्वेद भाष्य में अध्याय गत - मन्त्र के देवता निम्नलिखित दिये हैं —

१,३,४,६,८-१६ तक	का पुरुष देवता
२	का ईशान देवता
५	का स्रष्टा देवता

१. कू. पु. देवीस्तवः
२. उवट. भा. अवतरणिका—य. अ. ३१
३. सा. भा. ऋ. १०-९०-१
४. य. भा. अ. ३१

७	का स्रष्टेश्वरो देवता
१७-१९, २२	का आदित्य देवता
२०	का सूर्य देवता
२१	का विश्वेदेवा देवता

इसी प्रकार 'पुरुषसूक्तमन्त्र:' नामक हस्तलिखित पुस्तक में 'पुरुष-नामकः श्री नारायणो देवता'[1] लिखा है। वरदराज अपनी पुरुष-सूक्त व्याख्या में 'पुरुषो नारायण:' ही लिखते हैं।

देवशर्मा ने तो अपने भाष्य में श्रीकृष्ण को देवता माना है। लिखा है ...'भगवान् श्रीकृष्णः पुरुषो देवता[2]' इसी प्रकार वरदराज ने 'पुरुषसूक्त-भाष्यम्'[3] में 'विष्णुवासुदेवादिनामकः पुरुषो देवता' लिखा है। तेलगू में एक हस्तलिखित पुस्तक **'पुरुषसूक्त-न्यास में जगद्बीजः श्री पुरुषोत्तमः परमात्मा** देवता लिखा है[4]।

उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि सूक्त के देवता विषयक पर्याप्त मतभेद है समासेन — पुरुष अर्थात् जगद्बीज [१] उपादान रूप में — निमित्त कारण रूप में [२] उभयथा, अन्यथा, सर्वथा।

पुनश्च — प्रकृतसूक्त का नाम **नासदीय, केन, स्कम्भ** आदि सूक्तों की भांति कि प्राय: प्रथम पद विशिष्ट से अभिहित न होकर अपने प्रतिपाद्य [अन्त:सूत्र] के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। **केन** की शैली प्रश्नोत्तर की है। कौन ? किसने ये द्यावापृथिवी थामे हुए हैं; **नासदीय** की शैली नेति-नेति की है अनिर्वचनीयता की है पुरुषसूक्त में आरम्भ में ही स्थापना हो गई है — **'पुरुष एवं इदं सर्वम्' !**

सूक्त के सोलह मंत्रों का देवता सर्वात्मा पुरुष है इसमें सभी भाष्यकार सहमत हैं अन्तर केवल यजुर्वेदीय पुरुषमेधाध्याय के सम्बन्ध में है उबट, महीधर आदि भाष्यकार आरम्भिक सोलहों मन्त्रों का देवता पुरुष लिखते हैं और अन्तिम छह का आदित्य[5]। 'शुक्लयजु: सर्वानुक्रमसूत्र' का भाष्य करते हुए 'याज्ञिकानन्तदेव' इसका कारण लिखता है ... **'अस्य षड्चस्यादित्योपस्थाने विनियोगः, अतएवादित्यो देवता[6]'** अर्थात इन षड्ऋचाओं का आदित्य के उपस्थान में विनियोग होने से इनका देवता आदित्य है। कुछ विद्वान् इस पुरुषमेधाध्याय का देवता नारायण पुरुष स्वीकार करते हैं। वे ऋषि एवं देवता दोनों को संयुक्त करके देवता का निर्धारण करते हैं। यह मान्यता स्व-स्व सम्प्रदाय-दृष्टि के आधार पर समुत्पन्न हुई प्रतीत होती है। क्योंकि 'नारायण - पुरुष' को देवता मानने से उनके इष्टदेव–परक अर्थ करने में सुविधा होती है। यथा अनन्ताचार्य ने इसका अर्थ विष्णुपरक किया है, साथ ही यह युक्ति भी दी है कि इस सूक्त का विनियोग विष्णु की आराधना में होने से भी इसका देवता विष्णु [नारामण पुरुष] सिद्ध होता है।[7]

---

१. The Govt. oriental Manuscripts Library, Madras में उपलब्ध।
२. श्री श्रीपुरुषसूक्तम् - भगवद्दर्शनाचार्य देवशर्माकृत द्वितीय संस्करण, पृ० १३, पं० १७
३. अडयार पुस्तकालय में हस्तलेख के रूप में उपलब्ध है।
४. The Government Oriental Manuscripts Library, Madras में उपलब्ध ।
५. उवट - महीधर कृत य० भा० ३१. १.
६. शु० य० स० ३.१४, याज्ञिकानन्तदेव - विरचित भाष्यसहितम् (पृ० २६६)
७. शास्त्रमुक्तावली -९ पुरुषसूक्तभाष्यम् [भाष्य आरम्भ करने से पूर्व पुरुष-सूक्त माहात्म्य और देवता विचार के अन्तर्गत]

तर्क से अर्थात् अनुमान से—

समस्या के निर्णयार्थ यदि कोई परम्परा अथवा शब्द प्रमाण उपलब्ध न हो, उस अवस्था में तर्क को ही ऋषि मान लेना चाहिये। आचार्य यास्क कहते हैं **'तर्को ऋषिः'** 'मनुष्यों ने ऋषयों के अभाव में विद्वानों से पूछा कि अब हमारे मध्य कौन ऋषि होगा उस पर देवों ने कहा कि ऐसी अवस्था में तर्क ही ऋषि होगा '[1] तर्क की ही अपर संज्ञा अनुमान प्रमाण है हमने उवटाचार्य के **'गुरुतः'** से शब्द प्रमाण और **'तर्कतः'** से अनुमान प्रमाण माना है। अनुमान के पञ्चावयवों में हेतु की प्रधानता रहती है। यहां कुछ हेतु विन्दु उपस्थित कर विमर्षणीय सूक्त के देवता का परीक्षण किया जायेगा —

१. सूक्त में अनेक वार 'पुरुष' पद का प्रयोग होने से।
२. सूक्त की विचार धारा 'पुरुष' — केन्द्रिक होने से।
३. सृष्टि उत्पत्ति के विभिन्न कारणों का नामोल्लेख 'पुरुष' द्वारा होने से।
४. रचना विषयक संप्रश्नों का समाधान एक ही 'पुरुष' द्वारा होने से।
५. सूक्त के अध्येता को विभिन्न कक्षागत अर्थों की प्रतीति एक ही 'पुरुष' पद द्वारा होने से।

प्रथम हेतु —

सूक्त में अनेक वार **पुरुष** पद का प्रयौग होने से यह **प्रथम हेतु** अपने आप में इतना प्रवल है कि अब अन्य तर्क की आवश्यकता नहीं रहती। क्या यही परिपुष्ट प्रमाण नहीं कि सम्पूर्ण ऋक् संहिता में **पुरुष** पद का प्रयोग कुल मिलाकर चौदह वार हुआ हो और उनमें से नौ बार पुरुष सूक्त में ही उपलब्ध हो। ऋग्वेद में कुल १०२८ सूक्त हैं जिनमें से एक मात्र दशम मण्डल के नव्वे वें सूक्त में पुरुष पद का प्रयोग नौ बार हुआ है, शेष १०२७ सूक्तों में कुल मिलाकर चार वार अर्थात् १०४७२ मन्त्रों में कुल १३ बार और सूक्त के १६ मंत्रों में नौ बार इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि सूक्त में **पुरुष** देवता की कितनी अधिक प्रतिष्ठा है। सूक्त के तृतीय मंत्र में कहा भी है **'एतावानस्य महिमाअतो ज्यायाँश्च पूरुषः'**। अतः प्रथम हेतु से ही सिद्ध है कि सूक्त का देवता **पुरुष** है।

द्वितीय हेतु —

सूक्त की विचार धारा पुरुष केन्द्रिक होने से इस द्वितीय हेतु से भी यही प्रमाणित होता है कि सूक्त का देवता पुरुष है। सूक्त के प्रतिपादन का मध्यवर्ती विन्दु **पुरुष** ही है। सूक्त की दृष्टि में वह सब कुछ महत्त्वपूर्ण है जिसका आराध्य **पुरुष** है, जिस कार्य का फल साक्षात् पुरुष अर्थात् मानव जीवन के लिये न हो वह उसे स्वीकार नहीं। सूक्त के इस दृष्टि – कोण का लक्ष्य है पुरुष की प्रतिष्ठा को परिस्थापित करना। यदि सूक्त में सृष्टि रचना का वर्णन है तो उसका लक्ष्य है **'पुरुष'**। यदि सूक्त में ऋग्यजुसामाथर्व नामक ज्ञान के आविर्भाव की बात कही गई है तो उसका भी लक्ष्यहै **'पुरुष'**। यदि ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्ररूप अंग चतुष्टय से निर्मित समाज रचना के संकेत किये गये हैं, तो उसका भी लक्ष्य है **'पुरुष'**। यदि यज्ञ के प्राथमिक धर्मों तथा उसके स्वरूप का वर्णन है तो उसका भी लक्ष्य है **'पुरुष'**। यदि मृत्यु अतिक्रमण रूप अनन्य पथ का दिग्दर्शन है, तो उसका भी लक्ष्य है **'पुरुष'**। सूक्त की विचार धारा पुरुष केन्द्रिक होने से सूक्त का देवता **'पुरुष'** स्वतः सिद्ध है।

---

१. मनुष्या वा ऋषिसूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति, तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् नि० १३.१.१२

तृतीय हेतु —

तृतीय हेतु है, सृष्टि उत्पत्ति के तीनों कारणों का इंगन एक ही 'पुरुष' तत्त्व द्वारा किया जाना। सूक्त का प्रतिपाद्य विषय है 'सृष्टि-उत्पत्ति' सूक्त ने सृष्टि उत्पत्ति के निमित्त आदि विभिन्न कारणों की ओर इंगित किया है, जिस शब्द विशेष से इंगित किया है वह शब्द विशेष है **'पुरुष'** उपादान कारण की संज्ञा भी **'पुरुष'** निमित्त कारण की संज्ञा भी **'पुरुष'** और अन्य कारण की संज्ञा भी **'पुरुष'**। 'पुरुष' संज्ञा सन्देह की जनक न हो जाये इसलिये उसका निराकरण करने के लिए सूक्त में विशेषणों का प्रयोग हुआ है निमित्त कारण को **'सहस्रशीर्षाक्षपाद'** उपादान कारण को **'इदं सर्वम्'** और अन्य कारण को **'दशाङ्गुल'**। इस प्रकार जिसने रचा वह भी 'पुरुष' जिससे रचा भी **पुरुष'** जो कुछ रचा वह भी 'पुरुष' जिसके लिए रचा वह भी **'पुरुष'** जो कुछ आगे रचा जाएगा वह भी होगा **'पुरुष'** यह तृतीय हेतु है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि सूक्त का देवता **'पुरुष'** ही है।

चतुर्थ हेतु —

चतुर्थ हेतु में जैसा कि पूर्व निर्देशित किया जा चुका है कि सूक्त में **"कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानम्"**[1] जैसे महनीय प्रश्नों के उत्तर एक पुरुष शब्द से ही दिये गये हैं। नासदीय सूक्त से ठीक अगले सूक्त में यह प्रश्न उठाया गया है कि इसकी प्रमा क्या थी! किस प्रतिमा या नमूने को लेकर सृष्टिकर्त्ता ने इसका सूत्रपात किया ? किस आयोजन या रचना विधि का अनुसरण यहां किया गया ? पुनश्च किस निदान या उपकरण सामग्री से इनकी रचना की गई ? विमर्षणीय पुरुषसूक्त में प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द द्वारा दिया गया है वह है **पुरुष**। पुरुष ही **प्रमा** थी, पुरुष ही **प्रतिमा** थी और पुरुष ही **निदान** था। यहां प्रमा प्रतिमा कार्य जगत् के और निदान कारण जगत् का वाचक हैं। कार्य जगत् के दो रूप हैं प्रमा और प्रतिमा। प्रतिमा का अर्थ है 'नमूना'। ब्रह्माण्ड नमूना था, वह प्रतिमा था जिसके अनुरूप पिंड पुरुष का तक्षण किया गया जिसे प्रमा कहा जा सकता है। अथवा इसे उलट कर भी कहा जा सकता है कि पिंड वह प्रतिमा थी कि जिसके अनुरूप विशाल ब्रह्मांड का तक्षण किया गया। दोनों को ही प्रतिमा और दोनों को ही प्रमा कह सकते हैं। इन दोनों की सम्मितता के आधार पर ही **'पिंड ब्रह्माण्ड-योरैक्यम्, पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्, 'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे, पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा'** जैसे सूत्र प्रसिद्ध हुए। फिर इनका निदान भी प्रकृति पुरुष ही था जिसको सूक्तगत **'पुरुष एव इदंसर्वम्'** मन्त्र चरण में कह दिया है। इस प्रकार पुरुष ही प्रतिमा है, पुरुष ही प्रमा है और पुरुष ही निदान है। उक्त कारण से सूक्त का देवता पुरुष है। गीता के शब्दों में पिंड और ब्रह्मांड की सम्मिलित संज्ञा **'क्षर पुरुष'** है। पिंड में शयन करने वाली सत्ता की संज्ञा **'अक्षर पुरुष'** और ब्रह्माण्ड में शयन करने वाली सत्ता की संज्ञा **अव्यय पुरुष'** है।

उक्त विवेचन में जिन्हें प्रमा या प्रतिमा संज्ञाओं से अभिहित किया गया है वह प्रजापति का विजायमान रूप है और जिसे निदान संज्ञा से अभिहित किया गया है वह प्रजापति का अजायमान रूप है। निदान भूत प्रकृति पुरुष **'पुरुष एव इदं सर्वम्'** प्रतिमा और प्रमा रूप उभयविध पुरों में शयन करने वाले उभयविध पुरुष अव्यक्त हैं। इसीलिए उनके लिए स्पष्ट कहा गया है **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'**।

---

१. ऋ० १०-१३०-३,

'पञ्चम हेतु' —

किसी भी सूक्त अथवा मन्त्र के बहुविध अर्थ होते हैं। उनमें से त्रिविध अर्थ अति प्रसिद्ध हैं। एक आध्यात्मिक, दूसरा आधिदैविक और तीसरा आधिभौतिक, अर्थ का साक्षात् कर्त्ता किसी प्रकार का भी अर्थ करे उसके दर्शन में सर्व प्रथम जिस अर्थ का साक्षात्कार होता है वह **'पुरुष'** हैं। यदि आध्यात्मिक अर्थ उसे अभिप्रेत है तो भी पुरुषरूप में दर्शन होता है, यदि आधिदैविक अर्थ उसे अभिप्रेत है तो भी जिस अर्थ का साक्षात्कार होता है वह भी **'पुरुष'** ही है। यदि आधिभौतिक अर्थ उसे अभिप्रेत है उस अवस्था में भी जो रूप उभर कर आता है वह **पुरुषरूप** ही है। इन तीनों का अतिक्रमणकर यदि किसी को अधिराष्ट्र अर्थ अभिप्रेत है तो जो समाज का रूप उभरकर आता है वह भी **पुरुषाकृति** में ही है। इस प्रकार सूक्त की देवता पुरुष होने का यह पञ्चम सम्भाव्य कारण है।

शतपथ के आधार पर —

यजुर्वेद भाष्यकार उवट ने देवता ज्ञान में गुरुपरम्परा, तर्कशास्त्र एवं शतपथश्रुति को परम सहायक माना है।[1] उनमें से गुरुपरम्परा एवं तर्क पर आधारित देवता तत्त्व का परीक्षण हो चुका, अब शतपथ श्रुति की सहायता से सूक्त के देवता का निर्णय करना शेष है। यह उचित भी है यतः शत-पथ ब्राह्मण भी तो यजुर्वेद की ही टीका है, उसमें यजुर्वेद के अध्यायों और मन्त्रों का विनियोग कर्म काण्डगत विभिन्न यज्ञों में किया है, अतः स्वाभाविक है कि शतपथ श्रुति को देवता निर्णय में प्रमाण माना जाए।

शतपथ में पुरुष मेधाध्याय का विनियोग पुरुषमेधक्रतु में हुआ है ?[2] उसी प्रसंग में सूक्त के देवता विषयक सूत्र का प्रतिपादन भी हुआ है। शतपथ के पुरुषमेध प्रकरण में वर्णित है–**नियुक्तान् पुरुषान् ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेन अभिष्टौति "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"** [वा०सं० ३१।१-१६] **इत्येतेन षोडशर्चेन**।[3] अर्थात् वेदिस्थ दक्षिणदिशा में [उत्तराभिमुख] बैठा हुआ ब्रह्मा नारायण पुरुष देवताक् **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः** से आरम्भ होकर **यज्ञेन यज्ञमयजन्त** पर समाप्त होने वाले सोलह ऋचात्मक सूक्त से नियुक्त पुरुषों की स्तुति करता है इस ब्राह्मण-श्रुति में वह सूत्र निहित है जिसके आधार पर हम सूक्त के देवता का निर्णय कर सकते हैं, इस वाक्य में **स्तोता स्तुति** वाक्य और **स्तुत्य** तीनों का उल्लेख है।

स्तोता स्वयं ब्रह्मा है, स्तुति मंत्र सहस्रशीर्ष सूक्त है, स्तुत्य नियुक्त पुरुष है। यदि यह ज्ञात हो जाए कि यह नियुक्त पुरुष कौन हैं, तो देवता तत्त्व के निर्णय करने में कुछ भी कठिनाई नहीं। नियुक्त पुरुषों के लिए उससे ऊपर की काण्डिका में ही कहा है। **'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्**।[4] ये **नियुक्त पुरुष** पुरुषमेधक्रतु के लिए आलब्ध ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र ही तो हैं अन्य नहीं, अतः इन्हीं की स्तुति में ब्रह्मा, **सहस्रशीर्षापुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात् स भूमिं सर्वतस्पृत्वा अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्,**[5] **पुरुष एव इदं सर्वम्। उतामृतत्वस्य ईशानः। एतावानस्य महिमा। अतो ज्यायांश्च पूरुषः**[6]**, सजातो अत्यरिच्यत** इत्यादि स्तोत्र पाठ करता है, अतः ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र नियुक्त पुरुष ही सूक्त के **देवता** हैं, इन्हीं का आलम्भन किया जाना है।

---

१. **गुरुतः तर्कतश्चैव तथा शातपथ श्रुतेः**। उवट य० भा. १.१.
२. श. ब्रा. १३.६,१२;
३. श० ब्रा० १३-६-२,१२;
४. य० ३०, ५;
५. ऋ० १०-९०-१
६. ऋ-१०-९०-२,३,

कण्डिका के "**नियुक्तान् पुरुषान्……ब्रह्मा……अभिष्टौति**[1]-वाक्य से यह तो सिद्ध हो गया कि विमर्षणीय सूक्त का देवता 'नियुक्त पुरुष' हैं क्योंकि आचार्य यास्क के दैवतलक्षणानुसार वह व्यक्ति ही देवता है जिसकी स्तुति की जाए, यहां ब्रह्मा नियुक्त पुरुषों की स्तुति करता है अतः 'नियुक्त पुरुष' ही देवता हैं, । शतपथ भाष्यकार हरि स्वामी ने इसी कण्डिका के भाष्य में पूर्व पक्ष उपन्यस्त कर उसका समाधान प्रस्तुत किया है, जिससे यह सिद्ध होता हैं, कि सूक्त का देवता नियुक्त पुरुष नहीं अपितु पुरुष पशु होने चाहियें उसका भाष्य इस प्रकार है "**नारायणेन पुरुषाः स्तोतुं शक्यते कथं ? सहस्र शीर्षा पुरुष : इत्यनेन नारायणेन सूक्तेन पुरुष पशवोऽभिष्टोतुं शक्यते**"[2] अर्थात् 'नारायण सूक्त से नियुक्त पुरुषों की स्तुति कैसे की जा सकती है ? पुरुष पशुओं की स्तुति की जा सकती है ।

नियुक्त पुरुषों की स्तुति का निषेध और पुरुष पशुओं की स्तुति का विधान संभवतः इसलिये है कि पुरुष मेध ऋतु के लिये पुरुष पशु आलब्ध किये जाने चाहिए थे न कि नियुक्त पुरुष अतः ब्रह्मा आलब्ध पुरुष पशुओं की स्तुति करे, न कि आलब्ध नियुक्त पुरुषों की । हमारे विचार में इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । जब तक पुरुष का संज्ञपन नहीं हो जाता तव तक वह पशु है, संज्ञप्त होते ही वह नारायण पुरुष का अवयव है । संज्ञपन का अर्थ ही नारायण अवयवी के उपयुक्त अवयव का निर्माण है । जब तक व्यक्ति किसी अवयवी [समाज] का उपयुक्त अवयव=अंग नहीं बनता तब तक व्यक्ति पशु है । अतः संज्ञप्त होने से पहले आलब्ध पुरुष पशु की स्तुति और संज्ञप्त होने के उपरान्त नियुक्त पुरुषों की स्तुति विहित है । यह दोनों की स्तुतियां अन्ततः साक्षात् अवयवी नारायण की ही स्तुतियां हैं । अतः पुरुष पशु की स्तुति कहो, नियुक्त पुरुषों की स्तुति कहो अथवा नारायण पुरुष की स्तुति कहो एक ही बात है । हरि स्वामी ने भी यही समाधान प्रस्तुत किया है—"**उच्यते नारायणः एतेन सूक्तेन साक्षात् स्तूयते सर्वभावायावयवशः**"[3] अर्थात् इस सूक्त से नियुक्त ब्राह्मणादि पुरुषों की स्तुति वास्तव में साक्षात् नारायण पुरुष की ही स्तुति है क्योंकि नियुक्त पुरुषों का नारायण पुरुष के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, अवयवावयवी भाव सम्बन्ध है । इस विषय में पुरुष पशु भी उसी में गृहीत हो जाते हैं । इसकी पुष्टि में प्रमाण उपस्थित करते हुए कहता है **पुरुष एव इदं सर्वम्** ।[4] **पशूस्तांश्चक्रे । ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**—इत्यादि । तो इस प्रकार अवयवों की स्तुति व्याज से अवयवी की स्तुति समझी जानी चाहिये ।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि नियुक्त पुरुषों का नारायण पुरुष के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, अवयवावयवी भाव सम्बन्ध है नियुक्त पुरुषों की स्तुति साक्षात् नारायण पुरुष की स्तुति है । अवयव की स्तुति वास्तव में अवयवी की ही स्तुति है, यथा मुख, बाहु, ऊरू, पाद आदि अवयवों की स्तुति वस्तुतः साक्षात् अवयवी पिण्ड पुरुष की ही स्तुति है और यहां शतपथ के प्रमाण से ब्राह्मणादि नियुक्त पुरुषों की स्तुति व्याज से साक्षात् नारायण पुरुष की स्तुति है अब जानना यह है कि नियुक्त पुरुष ब्राह्मणादि अवयवों का अवयवी नारायण पुरुष कौन है? जिसे सूक्त का '**देवता**' घोषित किया जा सके और कहा जा सके कि उसका मुखावयव ब्राह्मण है, [**ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्**] बाहू अवयव राजन्य है [**बाहू राजन्यः कृतः**] ऊरू अवयव वैश्य है, [**ऊरूतदस्य यद् वैश्यः**] पादावयव शूद्र हैं [**पद्भ्यां शूद्रो अजायत**] हमारी सम्मति में वर्णात्मा पुरुष ही वह अवयवी है जिसके नियुक्त पुरुष ब्राह्मणादि वर्ण अवयव हैं । ब्राह्मणादि वर्णों का वर्णात्मा पुरुषावयवी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है और ब्राह्मणादि वर्ण अवयवों की स्तुति साक्षात् वर्णात्मा

---

१. श० ब्रा० १३.६ २,१२,
२. शत० ब्रा०-१३-६-२-१०
३. श० ब्रा० १३-६-२-१२ [हरि स्वामी भाष्य]
४. ऋ० १०-९०-२,

पुरुषावयवी की स्तुति है, जिसकी स्तुति की जाती है वह **'देवता'** है अतः सूक्त का **'देवता'** वर्णात्मा-पुरुष निश्चित हुआ।

नियुक्त पुरुषों के आलम्भन का उद्देश्य है, पुरुषमेध क्रतु और पुरुषमेध क्रतु का उद्देश्य है ऐसे पुरुष का निर्माण कि जिसके सहस्रशिर, सहस्रचक्षु, सहस्रबाहु, सहस्रकर, सहस्रऊरू सहस्र चरण हों। वह मति दे तो सहस्रसिरों से, वह देखे तो सहस्र आँखों से वह रक्षा करे तो सहस्रबाहुओं से वह कृति करे तो सहस्र करों से वह स्थिति दे तो सहस्र ऊरूओं से वह गति दे तो सहस्र चरणों से। ऐसे पुरुष को ही समाज-पुरुष, राष्ट्र-पुरुष, और सम्राट् पुरुष और शास्त्रीय परिभाषा में वर्णात्मा पुरुष कहा गया है। ब्राह्मणादि चारों आलब्ध पुरुष ही तो वर्णात्मा पुरुष के मुख, बाहु, ऊरू चरण अंग [आँरगन] हैं और उन ही के सम्मिलन से वर्णात्मा पुरुष [आरगंनाइजेशन] का निर्माण होता है।

अब पुरुषमेध की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि ब्रह्मा [आचार्य] द्वारा वर्णात्मा पुरुष के मुखादि अवयवों के स्थानापन्न बनने के लिये सर्मपित वर्णी [ब्रह्मचारी] ब्राह्मणादि आलब्ध पुरुष पशुओं के मेधा की रक्षा [मेधृ मेधायाम्] पशुत्व की हिंसा [मेधृ हिंसायाम्] और उनमें परस्पर संगमन [मेधृ संगमे] स्थापित करा, अंगी=अवयवी=आर्गनाइजेशन का अंग=अवयव=आर्गन बना देना **पुरुषमेध** क्रतु है।

हम लिख चुके हैं कि वर्णात्मा पुरुष की ही अपर संज्ञा राष्ट्र पुरुष है और विश्व के विभक्त राष्ट्रों के राष्ट्र-पुरुष अवयव हैं यदि सभी राष्ट्रों को राष्ट्र-पुरुष=वर्णात्मा-पुरुष, विश्वात्मा-पुरुष अवयवी के अवयव बन जाएं अर्थात् वर्णात्मा पुरुष के सहस्रों मुखावयव [ब्राह्मण] सहस्रों बाह्वयव [क्षत्रिय] सहस्रों ऊर्वयव [वैश्य], सहस्रों पादावयव [शूद्र], विश्वात्मा पुरुषावयवी के अवयव बन जाएं तो वर्णात्मा-पुरुषावयव की स्तुति साक्षात् विश्वात्मा-पुरुष की स्तुति समझी जाएगी और उस अवस्था में विश्वात्मा-पुरुष सूक्त का **देवता** होगा। यदि इस तादाम्य सूत्र को सर्वात्मा-पुरुष [ब्रह्म] के साथ जोड़ लिया जाय तो अन्ततः यह विश्वात्मा-पुरुषावयव की स्तुति भी साक्षात् सर्वात्मा-पुरुषावयवी की स्तुति होगी और सूक्त का देवता सर्वात्मा पुरुष होगा और उसके लिये कहा जा सकेगा **'सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।'**[1]

सूक्त की अन्तः साक्षी—

शतपथ श्रुति के आधार पर अब निश्चय से कहा जा सकता है कि सूक्त का देवता पिण्ड पुरुष से आरम्भ कर सर्वात्मा पुरुष तक अनेक हैं. उनमें तादात्म्य सम्बन्ध होने से पहला दूसरे का अवयव है और दूसरा पहलों का अवयवी, इस अवयवावयवी अर्थात् अङ्गाङ्गी भाव सम्बन्ध से जितने भी पुरुषों की कल्पना की जा सके वे सभी पुरुष इस सूक्त के देवता हैं सूक्त में इसकी अन्तः साक्षी भी विद्यमान हैं वहां पूछा गया है कि **"यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् कौ बाहू कावूरू पादावुच्येते**[2]**"** अर्थात् जिस पुरुष को धारण किया है उसकी कितने प्रकार कल्पना की है? उसका मुख क्या है बाहू क्या है? ऊरू क्या है? और चरण क्या है? सूक्त वर्णित इस अन्तःसाक्षी से स्पष्ट है कि पुरुष कल्पना में दो बातें विशेष होनी चाहिएं, एक यह कि उसके अवयवों की संज्ञाएँ वही होंगी जो संज्ञाएं पिण्ड पुरुष के अवयवों की हैं अर्थात् मुख. बाहु, ऊरू, चरण आदि। दूसरी

---

१. ऋ० १०-९०-१-२-३. २. ऋ० १०-९०-११

यह कि अवयवी की संज्ञा भी पुरुष ही होगी। इसी सिद्धान्त की स्थापना सूक्त की अन्तः साक्षी में विद्यमान हैं। उपर्युक्त स्थापना को स्पष्ट करने के लिए सूक्त में दो पुरुषों का वर्णन भी किया है. एक 'वर्णात्मा पुरुष' का दूसरे 'विराट् पुरुष' का। वर्णात्मा पुरुष के चार घटकों की संज्ञा मुख, बाहू, ऊरू, चरण रखी गयी है। दूसरे विराट् पुरुष की उत्पत्ति सर्वात्मा पुरुष के अवयवों से दिखाई गयी है, तद्यथा–**नाभ्या असीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्।**[1] **चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।**[2]

अन्त में यह लिखकर विराम लेते हैं कि देवतोपपरीक्षा के जो भी सूत्र थे उनके आधार पर विमर्षणीय सूक्त के देवता का निरीक्षक हो चुका अब विद्वत् समाज की मनीषा-निकषा ही शेष है जिस पर परख कर विज्ञजन अपना निर्णय देंगे। अन्त में महाभारत कार व्यास के शब्दों में निर्णीत पुरुष देवता को नमस्कार कर देवता प्रकरण को समाप्त करते हैं–

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः। पादौ यस्याश्रिता शूद्राः तस्मै वर्णात्मने नमः।[3]

छन्द तत्त्व —

ऋषि विवेचन और देवतोपपरीक्षा के उपरान्त छन्द का वर्णन अभीष्ट है सर्वानुक्रम सूत्रकार ऋषि और देवता ज्ञान के साथ मन्त्रार्थ में छन्द ज्ञान भी आवश्यक मानता है, तद्यथा – **एतानि** [ऋषि देवता छन्दांसि] **अविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते, जपति, जुहोति, यजते, याजयते, तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति।**[4] ऋग्वेद भाष्यकार वेंकट माधव पादावसान ज्ञान के लिए छन्दोज्ञान को सहायक मानता है उसके शब्द इस प्रकार हैं – **पादावसान विज्ञानं छन्दो ज्ञानेन सिध्यति।**[5]

छन्द का अर्थ —

छन्दोविषयक जानकारी से पूर्व छन्द शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है, छन्द शब्द **छदि संवरणे** धातु से निष्पन्न होता है। पाणिनि ने वैदिक साहित्य में छन्द शब्द के प्रयोग को देखकर ही संवरणार्थ[6] का निश्चय किया होगा। वैदिक साहित्य में इसका प्रायः यही अर्थ दृष्टिगत होता है।

तै० संहिताकार ने लिखा है 'ते [देवाः] **छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्'**[7] अर्थात् देवताओं ने छन्दों के माध्यम से अपने को आच्छादित करके अपनी रक्षा की, यही छन्दों का छन्दत्व है यहां देवता शब्द का अर्थ मंत्र गत वर्ण्यविषय लेना चाहिए। इसी प्रकार ताण्ड्य-ब्राह्मणकार ने भी अपना मत व्यक्त किया है **'तानि यदस्मा-अच्छदयंस्, तस्माच्छन्दांसि वै देवतानि पवित्राणि।'**[8] तै० आ० में ध्येय प्राणरूप देव को छन्दों से छत्र अर्थात् रुका हुआ बताया है[9]।

दैवत-ब्राह्मणकार एवं यास्क इस शब्द को बहुत स्पष्ट कर देते हैं। दैवत-ब्राह्मणकार ने लिखा है··· **'छन्दांसि छन्दयतीति वा'**[10] एवं यास्क ने लिखा है **'छन्दांसि छादनात्'**[11] अर्थात् आच्छादित करने के कारण छन्द की संज्ञा छन्द है।

---

१. ऋ० १०-९०-१४,
२. ऋ० १०-९०-१३,
३. म० भा० १२-४७-४३.
४. शु० य० स० १.१. पृ०८
५. ऋ० वे० मा० भा० १.१.२८
६. पा० [धा० पा० चु०] ४३
७. तै० सं० ५.६.६.१.
८. तां० ब्रा० ६.६.६.
९. त० आ० २.१.६.
१०, दै० ब्रा० ३, १६,
११. निरु० ७, १२,

लौकिक भाषा में रूढ़ार्थ में प्रयुक्त छन्द शब्द भी इसीलिये छन्द कहा जाता है कि वह कवि के भावों को लय और ताल में आबद्ध कर देता है, आच्छादित कर देता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी देह की सुरक्षा के लिए अपनी देह को सुन्दर वस्त्रों से आच्छादित कर लेता है उसी प्रकार कोई कवि अपने भावों को स्थायित्व तथा मर्यादित करने के लिये छन्दों से आच्छादित कर लेता है, मर्यादित कर लेता है। सम्भवत: काठक संहिताकार ने इसीलिए कहा — **छन्दास्येष वस्ते। छन्दोभिरेवेनं परिदधाति'**[1] **छन्दासि मीयमान':**[2]

स्वयं भगवती श्रुति ने इसी आशय को विवृत करते हुए **'अक्षरेण मिमते सप्तवाणी:'**[3] उसे अक्षर से परिमित वाणी वाला कहा है, इसी मन्त्रचरण पर सायण स्वयं लिखता है — **किंचाक्षरेणाक्षरेणैव सप्तवाणी वागधिष्ठिते न सप्त छन्दांसि मिमते निर्माणं कुर्वन्ति। ··· अक्षरैः पादाः परिमीयंते पादैश्छन्दांसि'**।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से छन्द के दो अर्थ उभर कर सम्मुख आते हैं — प्रथम —आच्छादित करने के कारण छन्द को 'छन्द' कहते हैं। द्वितीय, परिमित अक्षर का होने के कारण छन्द छन्द हैं।

पुरुषसूक्त - गत छन्द ——

प्रत्येक छन्द की अपनी विशेषताएं होती हैं इस कारण छन्द का जानना अत्यधिक आवश्यक है। पुरुषसूक्त का अन्तिम मन्त्र **त्रिष्टुप्** छन्द वाला है। सर्वानुक्रमसूत्रकार भी इसकी साक्षी देता है — **'सहस्रशीर्षा षोडशर्चमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्त्यम्'**[4] शुक्लयजु:-गत पुरुष-सूक्त में उत्तरनारायण के छह मन्त्रों के आदि तीन मन्त्रों का छन्द **त्रिष्टुप्** है, दो का **अनुष्टुप्** और अन्तिम का पुन: **त्रिष्टुप्** है। इनकी तालिका निम्नलिखित है —

४, ५, ७, १२, १३, १५, २०, २१,	—**अनुष्टुप्**
१-३, ८-११, १४	--- निचृत् अनुष्टुप्
६---	--- विराट् अनुष्टुप्
१६,	--- विराट् त्रिष्टुप्
१७, १९	— भुरिक् त्रिष्टुप्
१८,	— निचृत् त्रिष्टुप्
२२;	— निचृत् आर्षी-त्रिष्टुप्

स्वर मीमांसा —

वैदिक वाङ्मय में **'अनन्ता वै वेदा:'**[5] एक प्रसिद्ध उक्ति है, इस उक्ति का आधार वैदिक शब्द हैं, कोई विरला ही ऐसा शब्द होगा कि जिसके एक से अधिक अर्थ न हों। शब्दों की अनेकार्थता ही मन्त्रों की अनेकार्थता का कारण है और मन्त्रों की अनेकार्थता वेदों की अनन्तता का कारण है। मन्त्रों में पठित शब्द कहां किस अर्थ का वाचक है, इसका नियामक **स्वर** तत्त्व है। स्वर शास्त्र के असाधारण वेत्ता वैङ्कट माधव अर्थ ज्ञान के जहां अन्य उपयोगी तत्त्व बताता है वहां स्वर तत्त्व को परम उपयोगी

---

१. का० सं० १९. ५.
२. का० सं० ३४. १४; मै० सं० ३. १. ५;
३. ऋ० १. १६४. २४. [सा. भाष्य]
४. शु० य० स० ३. १४.
५. तैत्तिरीय ब्रा०

बताता है, उतना ही जितना कि व्यक्ति-जीवन के लिये प्राण। उसका कहना है कि **'माधवस्यत्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितिः।'**[1] तथाच **'निरुक्तमग्रतः कुर्यात्, यावत् प्राणः तथा स्वरम्'**[2]। अर्थात् माधव का यह स्पष्ट मत है कि स्वर ज्ञान से ही शब्दों को व्यवस्थित और नियमित किया जा सकता है जिस प्रकार जीवन का आधार प्राण है उसी प्रकार अर्थं का आधार स्वर हैं। व्यक्ति अर्थ ज्ञान के लिए पहले पद-कृति जाने, पश्चात् पद-स्वर जाने, फिर अर्थ करे ऐसा करने पर उसे किसी प्रकार की बाधा नहीं आएगी, स्वर उसका पथ प्रदर्शक बन जाता है। जिस प्रकार अन्धकार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ यात्री ठोकर नहीं खाता, उसी प्रकार स्वरों द्वारा नीयमान शब्द अपना अर्थस्फुट करते हैं। वैङ्कट माधव का यह कथन विचारणीय है —

अन्धकारे दीपिकाभिर् गच्छन् न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ॥[3]

यदि यह कहा जाए तो उचित ही होगा — कि मन्त्रों के छन्द शरीर हैं, ऋषि चक्षु हैं, देवता आत्मा हैं और स्वर प्राण हैं।

'स्वर' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है, लेकिन यहां अभिप्राय है **'स्वर्यन्तेऽर्था एभिः'**[4]। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, ऋक् प्रातिशाख्य आदि में **स्वर** के लिये **स्वार** एवं **यम** का प्रयोग हुआ है। **स्वार** शब्द का वही अर्थ है जो **स्वर** शब्द का एवं **यम** शब्द का अर्थ है **'अर्थनियामक'**।

इस प्रकार तत्तत् शब्दगत अर्थ स्वरों से निर्धारित किया जाता है। यथा **'मा'** शब्द के दो अर्थ हैं, एक **'माम्'** द्वितीय निषेधात्मक **न** या **नहीं**। इन दोनों में कौनसा अर्थ अभीष्ट है, यह स्वर के द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। अनुदात्त होने पर सर्वनाम होगा और उदात्त होने पर निषेधार्थक।

वाक्य निर्णय भी स्वर के द्वारा किया जाता है। कहीं-कहीं मुद्रणादि दोष के कारण विरामादि चिह्नों के अंकित न होने से यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि वाक्य कहां समाप्त हुआ है और कहां से आरम्भ। इस समस्या का स्वर के द्वारा अत्यन्त सरलता से हल किया जा सकता है। तद्यथा **पत्नीवन्तं गृहं गृह्णान्यग्न,** यहां **'पत्नीव'** अन्तिम पदद्वय क्या पूर्व वाक्य से सम्बद्ध हैं ? संदेह प्राप्त होने पर स्वर के द्वारा ही निश्चय किया जा सकता है। यदि आमन्त्रित होने से अनुदात्त है, तब तो पूर्व वाक्य के साथ अन्वय वाला होना चाहिये, यदि आद्युदात्त है, तो उत्तर के साथ। इसी प्रकार **क्षयं गतः देवदत्तः** में **'क्षय'** शब्द के दो अर्थ हैं — निवास और विनाश। यदि आद्युदात्त है, तब तो अर्थ होगा **गृहं गतः** यदि अन्तोदात्त होगा तो **मृतः**।

इस प्रकार वेदार्थ निर्णय स्वराधीन ही है। स्वर से या वर्ण से मिथ्या प्रयुक्त दुष्ट शब्द उसके अर्थ को न कहता हुआ प्रयोक्ता के लिये हानिकर भी हो सकता है।

श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा का वचन है —

दुष्टो मन्त्रः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥[5]

अर्थात् — स्वर अथवा वर्ण से अशुद्ध उच्चरित दुष्ट मन्त्र उस अर्थ को नहीं कहता [जिसके

---

१. ऋ० वें० मा० भाष्य० १. १. २६. २. वही० १. १. २

३. स्वरानुक्रमणी १. ८. । ४. अमरकोष, भानुजी दीक्षित सुधा १।६।४

५. महाभाष्य में भी यह वचन पठित है, उसमें प्रसंग के अनुरूप **मन्त्र** के स्थान पर **'शब्दः'** पाठ दिया है

लिए उसका उच्चारण किया जाता है।] वह वाग् रूपी वज्र यजमान को नष्ट करता है जैसे स्वर के अपराध से **इन्द्र शत्रु** ने किया।

इस वचन में इन्द्र शत्रु की जिस आख्यायिका की ओर संकेत है, उसके अनुसार त्वष्टा नाम के असुर ने अपने पुत्र वृत्र की वृद्धि के लिए जो यज्ञ किया था उसमें इन्द्र द्वारा भेदनीति से अपनी ओर मिलाए गए ऋत्विजों ने **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'** मन्त्र में अन्तोदात्त इन्द्रशत्रु पद के स्थान में **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'** आद्युदात्त पद का प्रयोग कर दिया। उससे इन्द्र वृत्र का शत्रु बन गया।

एक और उदाहरण जो अति प्रसिद्ध है — **'भ्रातृव्यस्य वधाय'** 'भ्रातृव्य' शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं — एक शत्रु, दूसरा भतीजा। स्वर के बिना भ्रातृव्य शब्द का क्या अर्थ लिया जाए, यह सन्देह ही रहता है। भतीजे के दायभाग के हरण का इच्छुक चाचा इस मन्त्र को उपस्थित करके कहे कि भतीजे को नष्ट करने में कोई पाप नहीं क्योंकि वेद के उपर्युक्त मन्त्र में भतीजे को मारने की आज्ञा है। ऐसे स्वार्थान्ध व्यक्ति द्वारा **'भ्रातृव्यस्य वधाय'** वाक्य का किये गए अर्थ का विरोध किस आधार पर किया जाए ?

ऐसी समस्या का समाधान स्वर शास्त्र के द्वारा ही संभव है क्योंकि आद्युदात्त **भ्रातृव्य** पद का अर्थ **शत्रु** है और अन्त:स्वरित का अर्थ **भतीजा** और यहां मन्त्र में आद्युदात्त **भ्रातृव्य** पद प्रयुक्त है, अत: वेद में शत्रु के नाश का विधान है न कि भतीजे के नाश का, अत: इस मन्त्र का भतीजे के मारने के लिये अर्थ हो ही नहीं सकता।

शाखा प्रवचनकारों ने अपने काल में स्वरोच्चारण के शैथिल्य का अनुभव और स्वर के अभाव में **भ्रातृव्य** शब्द के अर्थ में सन्देह निवृत्यर्थ **भ्रातृव्यस्य** के स्थान में **द्विषतः** स्पष्टार्थक पद रख दिया, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह ही न हो।

सृष्टि के आरम्भ से वर्तमान की सुदीर्घ अवधि तक वेद अपने स्वरूप में सुरक्षित रह सके, उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन, एवं मिश्रण नहीं हो सका उसका बहुत बड़ा कारण उदात्तादि स्वरों का प्रयोग है। मन्त्रों पर स्वराङ्कन पद्धति तो बहुत पीछे चलकर प्रयोग में आई होगी कि जब लेखन कला का विकास हुआ होगा आरम्भ में तो स्वराभिव्यक्ति उच्चारण पर ही निर्भर रही होगी। उस समय शिर हस्त चालनादि की भी आवश्यकता न रही होगी। शिर अथवा हस्त चालन द्वारा स्वराभिव्यक्ति की आवश्यकता तब से हुई होगी कि जब से संस्कृत बोलचाल की भाषा न रही और उसका प्रयोग सर्वथा लुप्त हो गया। आदि में एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा कि जब स्वराभिव्यक्ति उच्चारण मात्र से जान ली जाती थी कि जब संस्कृत भाषा लोक भाषा थी उसे साधारण व्यक्ति भी लिख समझ सकता था।

आज भी यह देखने में आता है कि जो भाषा लोक व्यवहार में आती है उसमें स्वराभिव्यक्ति न तो उदात्तादि चिह्नाङ्कन द्वारा ही की जाती है और न ही हस्तादि चालना द्वारा ही, फिर भी अर्थाभिव्यक्ति के लिए विभिन्न चिह्नों का प्रयोग देखने में आता है और वक्ता भी अपने आशय की अभिव्यक्ति के लिए अपने हाथ, शिर मुख आदि की विभिन्न मुद्राएं बनाता है। यह भी तो स्वर प्रक्रिया ही है इसके बिना लोक में भी वाक्य का अर्थ अनर्थ में बदल जाता है इसे एक दो उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं। देखिए वाक्य एक ही है परन्तु उच्चारण मात्र से निषेध और विधि दो विपरीत अर्थों का ज्ञापक हो

जाता है, एक साधारण वाक्य है — **'रोको मत जाने दो'** इस साधारण से वाक्य का भी स्वराभिव्यक्ति के अभाव में अर्थ का अनर्थ हो सकता है वेद मन्त्रों की तो कथा ही क्या ? पाठक इस वाक्य का क्या अर्थ ले, निषेध, अथवा आज्ञा। जब तक कि इस वाक्य के लिखने में **रोको** ! अथवा **मत** ! शब्द के आगे कोई विशेष चिह्न न लगा हो, और इसी प्रकार उच्चारण करते समय **रोको** अथवा **मत** शब्द पर बल न दिया गया हो, जैसे ही वक्ता ने रोको ! पर बल दिया तो श्रोता ने समझ लिया कि निषेध किया है मुझे रुकना चाहिए। वक्ता ने जैसे ही **मत** शब्द पर बल दिया तो श्रोता ने समझ लिया कि जाने का आदेश है। पहली बार वक्ता ने **'रोको ! मत जाने दो'** का प्रयोग किया और दूसरी बार **'रोको मत ! जाने दो'** का प्रयोग किया।

एक अन्य प्रयोग लीजिए। एक दुकानदार ने सूचना पट्ट लगा रखा था जिस पर लिखा था **'यहां पर देशी खाण्ड मिलती है'**। दो मित्रों में बात हो रही थी एक ने कहा कि चलो अमुक दुकान से देसी खाण्ड ले आएं वहां शुद्ध मिलती है। देसी मिलती है।दुकान पर पहुंचकर जैसे ही पहले ने देसी खाण्ड मांगी कि दूसरे ने रोकते हुए कहा कि क्या ले रहे हो यहां देसी खाण्ड नहीं मिलती देखते नहीं साफ तो लिखा है और यहां शब्द बल देकर पट्ट पढ़ते हुए बोला कि **'यहां परदेशी खाण्ड मिलती है'** इस उदाहरण से अति स्पष्ट है कि वक्ता ने स्वर प्रयोग द्वारा सूचनापट्ट के आशय से सर्वथा विपरीत अर्थ लगा लिया और अर्थ का अनर्थ कर दिया। यह साधारण लोक भाषा के अर्थों की स्थिति है, वैदिक भाषा की तो कथा ही क्या ! अतः मंत्रार्थ कर्त्ता को न केवल ऋषि, देवता, छन्द ज्ञान ही आवश्यक है अपितु स्वर ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है।

स्वर प्रकार —

ये स्वर तीन प्रकार के होते हैं, उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित। अनुदात्त स्वर नीचे पड़ी रेखा से, अंकित किया जाता है। स्वरित ऊपर खड़ी रेखा से, एवं उदात्त अचिन्हित होता है।

इन स्वरों में उदात्त और अनुदात्त स्वतन्त्र होते हैं, लेकिन स्वरित उभय समाहाररूप। महामुनि पाणिनि ने इसे इस प्रकार सूत्रित किया है **उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। समाहार स्वरितः**[१]। जो ताल्वादि स्थानों के ऊर्ध्व भाग से निष्पन्न **'अच्'** है, वह **उदात्त** संज्ञक होता है; जो ताल्वादि के निम्न भाग से उत्पन्न **'अच्'** है वह **अनुदात्त** संज्ञक होता है एवं **उदात्त** और **अनुदात्त** के लक्षण-वर्ण-धर्म वाला **स्वरित** होता है।

पतंजलि के अनुसार स्वरों की संख्या सात है।[२] नारदीय शिक्षा[३] में पांच।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचितौ तथा निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदास्तु पंचमः॥

नारदीय शिक्षा के अनुसार ही जो संगीत शास्त्र में प्रसिद्ध षड्जादि स्वर हैं वह भी ये साम स्वर ही हैं। उनसे अंशतः भी भिन्न नहीं हैं, **तद्यथा-उदात्तो निषाद गान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ। स्वरितप्रभवाह्येते षड्जमध्यमपंचमाः** — अर्थात् गांधार, निषाद को **उदात्त**, धैवत को **अनुदात्त**, षड्ज, मध्यम, पञ्चम को **स्वरित** कहते हैं।

---

१ अष्टाध्यायी

२ १।२।३३

३ ७।१९.

सामवेदी' परम्परा की साक्ष्य —

वैदिक मन्त्रों के षड्जादि स्वरों का उल्लेख अन्य भाष्यकारों ने नहीं किया है। मात्र एक दयानन्द ने अपने सम्पूर्ण वेदभाष्य में प्रति-सूक्त, प्रतिमन्त्र स्वर का उल्लेख भी किया है। ऋषि के इस उल्लेख का आधार कुछ पिंगल 'छन्दः-शास्त्र' है तो कुछ ऋषि का जन्मना एक औदीच्य [सामवेदी] ब्राह्मण होना — वह भी कुछ कम प्रामाणिक नहीं। दयानन्द ने पुरुष-सूक्त के आदिम पन्द्रह मन्त्रों का स्वर [अनुष्टुभ्-उपयोगी] गान्धार और सोलहवें मन्त्र का स्वर [त्रिष्टुभ्-उपयोगी] धैवत अंकित किया है। तीन सप्तकों के स्वर वही सात ही रहते है, छन्द यद्यपि ७ × ३ = २१ हो जाते हैं।

द्वितीय अध्याय

सूक्त का संगति-सूत्र

वेद-तालिका, 'पुरुष-सूक्त —

वेद के सूक्त, मन्त्र और यहाँ तक कि उसके पद भी रहस्यात्मक हैं। 'मन्त्र, शब्द का तो अर्थ ही है– 'रहस्य' [मन्त्रि गुप्तभाषणे[1]]। पुरुष-सूक्त अपनी रहस्यमयता के लिए अति प्रसिद्ध है। इस सूक्त की रहस्यमयता के उद्घाटित हो जाने से वेद के बहुत से रहस्यों के उद्घाटन स्वतः होंगे। पुरुष-सूक्त को वेदों के समझने की कुञ्जी कहा जा सकता है।

वेद की प्रायः यह शैली है कि वह किसी भी गूढ़ रहस्य को समझाने के लिए सुपरिचित **'मानों'** का अवलम्ब लेता है, जिससे वेद के अध्येता को कोई भी विषय शीघ्र बुद्धिगम्य हो जाए। इस मान की वैदिक संज्ञा **'देवता'** है। कुछ मान तो सामान्य व्यक्ति के लिए भी सुपरिचित हैं। प्रबुद्ध व्यक्ति उनके आधार पर विभिन्न क्षेत्रों-कक्षाओं अथवा अधिकारों में प्रवेश पा सकता है। वे सुपरिचित मान हैं–सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वर्षा, पर्वत, नदी, समुद्र, वृक्ष, वनस्पति. पशु, [अश्व, गौ, अजा, अवि] पक्षी, [सुपर्ण, हंस] यज्ञ, लोक, और पुरुष; हम देखते हैं कि समाज ने व्यक्ति और राष्ट्र के हित को सम्मुख रखते हुए पृथक्-पृथक् क्षेत्रों के लौकिक मान निर्धारित किए हैं। शिक्षा-क्षेत्र के पृथक्, क्रीड़ा-क्षेत्र के पृथक् और व्यापार-क्षेत्र के पृथक्। ये वैयक्तिक मान ऊँचाई, योग्यता, शक्ति, सामर्थ्य आदि के आधार पर पृथक्-पृथक् है।

सूक्त-प्रतिपादित मान—

पुरुष-सूक्त में दो मान निर्धारित किए गए हैं– एक लोकगत, दूसरा पुरुषगत। वेद तथा वैदिक साहित्य में **लोक** को **ब्रह्माण्ड** तथा **पुरुष** को **पिण्ड** संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। ये दोनों ही मान सर्वोपरि हैं –मानों की पराकाष्ठा, इनकी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य [प्र] मान की आवश्यकता भी नहीं इन दोनों की प्रामाणिकता अन्योन्याश्रित है—पुरुष की प्रामाणिकता लोक से और लोक की प्रामाणिकता पुरुष से। पुरुष की प्रामाणिकता के लिए कहा जायेगा **पुरुषोऽयं लोकसम्मितः**[2] और लोक की प्रामाणिकता के लिए कहा जाएगा **'लोकोऽयं पुरुषसम्मितः'**। पिण्ड की प्रमाणिकता ब्रह्माण्ड से और ब्रह्माण्ड की प्रामाणिकता पिण्ड से। सूक्त की केन्द्रीय विचारधारा का यही वह **'प्रथम बिन्दु'** है जिस पर पुरुष-सूक्त अपने अध्येता को पहुंचाना चाहता है। इसी से **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'**। **यथा कायस्तथा**

---

१. धा० पा० चु० ग० १४५

२. च० सं० शरीर स्थान ५.३,

सर्वम् ।[1] **'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्**[2] । **पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा**[3] । **पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**[4] जैसे सूत्र प्रसूत हुए हैं ।

[प्र] मानों की पराकाष्ठा —

प्रत्येक व्यक्ति के लिए ये दोनों ही मान अत्यन्त परिचित हैं—पुस्तक के खुले पन्ने की भांति सदा सामने हैं, जिस पर पिण्ड और ब्रह्माण्ड अंकित हैं । जीवन भर जूझते रहने पर भी विराट् पुस्तक के ये पन्ने उलटे नहीं जा सकते । वेद के अध्येताओं एवं वैज्ञानिकों के लिए खुली चुनौति है कि कोई माई का लाल इन पन्नों को माप कर तो दिखाए ? इनके ओर-छोर का पता तो लगाए । इसलिए पुरुष सूक्तोक्त पुरुष और लोक, पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों ही मान व्यक्ति के अध्ययन की चरम सीमा हैं ।

निस्सन्देह **'पिण्ड'** और **'ब्रह्माण्ड'** दोनों ही मान [प्र] **माणों** की पराकाष्ठा हैं । दोनों अपने आप में परिपूर्ण हैं–भगवती श्रुति ने कहा भी है—**"पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते । उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ।**[5] ब्रह्माण्ड भी पूर्ण है, पिण्ड भी पूर्ण है पूर्ण होने से ही तो पिण्ड की संज्ञा पुर हैं । उपनिषद् शान्ति मन्त्र में इसी आशय को विवृत किया है—**'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते**[6] ।

रचना का आधार अनुकरण —

पुरुष सूक्त के अध्येता को यह बात सर्वथा हृदयङ्गम कर लेनी चाहिए कि रचना का यह दायित्व न केवल **'सर्वात्मा-पुरुष'** पर ही है अपितु **'कर्मात्मा-पुरुष'** पर भी है । यदि **पिण्ड** [कर्मात्मा] और **'ब्रह्माण्ड**, [लोकात्मा] दोनों पुरुषों की रचना का दायित्व **'सर्वात्मा-पुरुष'** पर है, तो **'वर्णात्मा'** और **'आश्रमात्मा'** दोनों पुरुषों की रचना का दायित्व **कर्मात्मा–पुरुष** पर है । सर्वात्मा पुरुष की रचना सर्वज्ञ की रचना होने से परिपूर्ण है, कर्मात्मा पुरुष की रचना भला ही अनुकरण पर आधारित हो परन्तु वह भी पूर्ण होनी चाहिए, अतः अनुकरण के लिए सर्वात्मा **पुरुष** ने पिण्ड और ब्रह्माण्ड दो-दो मान [मॉडल] उपस्थित कर दिए और कर्मात्मा पुरुष को आदेश दिया, कि इन दोनों [प्र] मानों का सूक्ष्म अध्ययन करो और अपनी रचना में दोनों के गुण कर्म स्वभाव संक्रान्त कर परिपूर्ण बनाओ । **'आश्रमात्मा'** की रचना **'लोकात्मा'** [ब्रह्माण्ड] की और **'वर्णात्मा'** की रचना **'कर्मात्मा'** [पिण्ड] की अनुकृति में करो । इस पर भी यदि सामग्री की अपेक्षा हो तो **'आश्रमात्मा'** के निर्माणार्थ **'वायव्य' 'आरण्य' 'ग्राम्य'** त्रिविध पशुओं को आदर्श [मॉडल] समझ लेना और **'वर्णात्मा'** पुरुष के निर्माणार्थ सामग्री अपेक्षित हो तो ग्राम्य पशुओं के **'अश्व, गौ, अजा, अवि'** चतुर्विध पशुओं को आदर्श मान लेना परन्तु अपनी रचना में किसी प्रकार की त्रुटि न रहने देना, जिससे कि तेरी [कर्मात्मा पुरुष की] रचना के लिए भी कहा जा सके । **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** वह [ब्रह्माण्ड] भी **पूर्ण** है और **'यह'** [आश्रमात्मा] भी **पूर्ण** है, तथैव वह [पिण्ड] भी पूर्ण है और यह [वर्णात्मा] भी पूर्ण है । सूक्त की केन्द्रीय विचार धारा का यही **द्वितीय बिन्दु है** कि कर्मात्मा पुरुष वर्णात्मा और आश्रमात्मा का निर्माण सर्वथा **पिण्डात्मा और लोकात्मा** के अनुकरण पर करे।

---

१. मा० उ० का० आलात शान्तिप्रद ३६
२. यो० कु० उ० १.८१,
३. श० ब्रा० ७.५.२.१७
४. श० ब्रा० ४.३.४,३,
५. अथर्व. १०-८,२९,
६. उपनिषद् शान्तिमंत्र

पुरुषेतर पिण्डों की प्रामाणिकता —

पुरुष सूक्त में जहाँ पुरुष पिण्ड का उल्लेख हुआ है, वहाँ ग्राम्य पशुओं के व्याज से अन्य चार अश्व, गौ, अजा, अवि-पिण्डों का भी उल्लेख हुआ है। ब्रह्माण्ड की प्रामाणिकता के लिए पुरुष पिण्ड तो प्रमाण है ही किन्तु अश्व, गौ, अजा, अवि पिण्ड भी कुछ कम प्रमाण नहीं हैं। पुरुष सूक्त के माध्यम से भगवान वेद के अध्येता को यह भी बोध कराना चाहते हैं कि लोक-प्रसिद्ध **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** सूत्र में पठित **'पिण्ड से 'पुरुष'** पिण्ड ही गृहीत न करना अपितु **'अश्व, गौ, अजा,** और **'अवि' पिण्ड** भी गृहीत समझना। सूक्त की केन्द्रीय विचार धारा का यह **'तृतीय विन्दु'** है जिसके आधार पर **'लोकोऽयं पुरुष सम्मितः** की भाँति **लोकोऽयं अश्व सम्मितः। लोकोऽयं गोसम्मितः।' लोकोऽयं अजासम्मितः।' लोकोऽयमविसम्मितः'** कहा जा सकता है तथा च **पुरुष-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्** की भाँति **'अश्व-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्।' गो-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्' 'अजा ब्रह्माण्डयोरैक्यम्'** और **अवि-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्।'** जैसे सूत्र निर्मित किये जा सकते हैं।

समकक्षवाद का मूल —

पुरुष-सूक्त का अध्ययन करते हुए लोक और पुरुष दोनों ही मानों का संकेत सूक्त के **'पुरुषं कतिधा व्यकल्पयन्' तथा लोकाँ अकल्पयन्'**[1] मन्त्र-चरणों से मिलता है। सूक्त के देवता को देखते हुए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि समकक्षता का एक-मात्र मान [पुरुष] होना चाहिए था, न कि **'लोक'** और **'पुरुष'** दो-दो। विचार करने पर यह शंका निर्मूल प्रतीत होती है, क्योंकि अन्ततोगत्वा लोक भी तो पुरुष सम्मित ही है **'पुरुष एव इदं सर्वम्'**। उसका निर्माण भी तो परात्पर पुरुष-सम्मित हैं। पुरुष-सम्मित होने से लोक की संज्ञा भी विराट्-पुरुष मानी गई है। यही कारण है कि सूक्त का देवता **'पुरुष'** हैं, जो अपने उदर में समस्त अर्थों को समेटे हुए है। पुरुष ही वह मान है जिससे परमात्मा को स्वराट् **पुरुष,** लोकात्मा को **विराट् पुरुष** वर्णात्मा को **सम्राट्-पुरुष** आश्रमात्मा को **परिव्राट् पुरुष** और पिण्डात्मा को **एकराट् पुरुष** संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। संभावनाओं का यह अन्तर्यामी सूत्र केन्द्रीय विचार धारा का **'चतुर्थ बिन्दु'** है, जिसके आधार पर **'अनन्ता वै वेदाः'**[2] जैसे महनीय सूत्रों तथा **अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज, अधिराष्ट्र,** आदि विभिन्न कक्षाओं की प्रसूति हुई।

दो सं-पूरक मानचित्र —

पुरुष-सूक्त की केन्द्रीय विचारधारा के प्रथम विन्दु **'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्'** एवं बहुजन विदित **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** जैसे सूत्रों ने वैदिक एवं भागवत साहित्य को प्रभावित किया है, जिनका मूल उद्गम पुरुष-सूक्त है। सूक्त में **पिण्ड** को **पुरुष** एवं **ब्रह्माण्ड** को **लोक** कहा गया है। पुरुष, जहाँ पुरी में शयन करने वाले तत्त्व का वाचक है वहां स्थूल अन्नमय देह का भी वाचक है।,[3] पिण्ड, ब्रह्माण्ड का लघु मानचित्र है, जो महत्त्व भौगोलिक मानचित्रों का है, उससे कहीं अधिक महत्त्व पिण्ड-मानचित्र का है। मानव-सुलभ अल्पज्ञता के कारण भौगोलिक मानचित्र में त्रुटि की सम्भावना है, परन्तु सर्वज्ञ, सर्वातिशायी सत्ता द्वारा निर्मित पिण्ड-मानंचित्र में किसी प्रकार की त्रुटि संभव नहीं। जो कुछ **'ब्रह्माण्ड'** में है उसका अणु-अणु और तिल-तिल **'पिण्ड'** में है। इसलिए आवश्यक है कि पिण्ड-ब्रह्माण्ड-चित्रों के

---

१. पु० सू० ११.१४ २. तै० ब्रा० ३.१०-११,४,

३. अथ० ११.८.१८

मान बिन्दु निर्धारित कर लिये जाएं।

स्थूल मान बिन्दु —

सूक्त में पुरुषकल्पना के सर्व प्रथम केन्द्र-बिन्दु की ओर तत्पश्चात् ऊर्ध्व, अधः बिन्दुओं की ओर निर्देश किया गया है, पुरुष का केन्द्र **'नाभि'** है तो लोक का केन्द्र **'अन्तरिक्ष'** है। पुरुष का उर्ध्वबिन्दु **'शीर्ष'** है तो लोक का **'द्यौः'**। पुरुष का अधः बिन्दु **'चरण'** है, तो लोक का **'भूमि'**। **'शीर्ष'** और **'पाद'** दोनों ही आद्यन्त छोर हैं। यह हुआ पुरुष के भौतिक देह का प्रारूप।

सूक्ष्म मान बिन्दु—

सूक्त के चौदहवें मन्त्र में सूक्ष्म देह के मान बिन्दु बताए गए हैं। पुरुष का केन्द्र **'मन'** है तो लोक का केन्द्र **'चन्द्र'** है। पुरुष में पूर्व-सीमा **'चक्षु'** है तो, लोक में **'सूर्य'** है। पुरुष में दक्षिणोत्तर सीमाएं **'कर्ण'** हैं तो लोक में **'दिशाएं'** हैं। पुरुष में पूर्व में **'मुख'** है, तो लोक में **'अग्नि'** और **'इन्द्र'** हैं।[1] यदि इसी को ज्यामिति की भाषा में कहा जाए तो नाभि को केन्द्र मानकर शीर्ष और चरण-बिन्दु तक खींची गई बाह्यरेखा पिण्ड-मानचित्र का अग्रभाग [फ्रंट एलिवेशन] है मन को केन्द्र-बिन्दु मानकर पूर्व के चक्षु और मुख तथा दक्षिणोत्तर कर्णों से बनाया रेखाचित्र-पिंड-मानचित्र का उपरि दर्शन [प्लान] है।

इसी प्रकार लोक के मानचित्र का केन्द्र-बिन्दु अन्तरिक्ष लोक, ऊर्ध्व-बिन्दु द्युलोक और अधः-बिन्दु भूलोक, ब्रह्मांड-मान-चित्र का अग्रभाग [फ्रंट] है। चन्द्र और सूर्य चक्षु-स्थानीय, दिशाएं श्रोत्र-स्थानीय, अग्नि मुख-स्थानीय और प्राण श्रोत्र-स्थानीय, यह ब्रह्माण्ड-मानचित्र का प्लान है। अथर्ववेद में इसका वर्णन है तद्यथा — **यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षमुतोदरम्। दिवंयश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।**[2]

भूमि जिसका चरण है, अन्तरिक्ष जिसका उदर अथवा नाभि है, द्युलोक जिसका शीर्ष अथवा मूर्धा है, सूर्य और चन्द्र जिसकी दोनों आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है, वायु जिसका प्राण है और दिशाएं जिसके संदेश ग्राहक कान हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को प्रणाम है।

महाभारत में लोकात्मा का स्पष्ट वर्णन इस प्रकार किया है —

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः॥[3]

तैत्तिरीयोपनिषद् में पिंड के मान बिन्दु इस प्रकार दिए हैं — **'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः तस्येदमेव शिरः, अयं दक्षिणः पक्षः, अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा, इदं पुच्छं, प्रतिष्ठा।'**[4]

इसमें दक्षिण और उत्तर का वर्णन, **'अयम्'** सर्वनाम के प्रयोग से किया गया है। **'अयम्'** सर्व-नाम से क्या अभीष्ट है, यह वृहदारण्यक उपनिषद्[5] में स्पष्ट कर दिया है। वहां लोकात्मा एवं पिंडात्मा का वर्णन करते हुए कहा है कि 'बाहू इसकी उत्तर-दक्षिण दिशाएँ हैं' इत्यादि। इस प्रकार पुरुष-मानचित्र की रेखाएँ स्पष्ट हो आती हैं।

उक्त विवेचन से हमें दो प्रकार की संज्ञाओं का बोध हो गया—एक पिंडगत, दूसरी लोकगत दोनों संज्ञाओं को अन्योन्य पर लागू कर देने से पुरुषात्मा में लोकों का और लोकात्मा में पुरुषावयवों का पता चल सकेगा।

---

१. ऋ० १०.९०,१३,१४,
२. अर्थ० १०.७.३२;
३. शा० प० ४७.४८;
४. तै० उ० २.१;
५. बृ० उ० ५.५.४;

'लोकोऽयं पुरुषसम्मितः' —

यह बात अति प्रसिद्ध है कि ब्रह्मांड का विभाजन लोको में किया गया है **--भूः, अन्तरिक्ष' द्यु** और **स्वः** में, बहुशः **द्यु और स्वः** एक होकर आये हैं। हमारे बिवेचन के अनुसार यदि लोकात्मा को पुरुष माना जाय तो, द्युलोक की संज्ञा शीर्ष होगी। द्युलोक-स्थित सूर्य और चन्द्र उसकी आंखें होंगी, दिशाएँ कान, इन्द्र मुख और वायु प्राण कहलायेगा। इस प्रकार लोकात्मा, पुरुष-सम्मित होने से 'वैराज' संज्ञा को प्राप्त करेगा। सूक्त का यही 'वैराज' पुरुष है।

'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः' —

सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में विराट् की उत्पत्ति के पश्चात् 'पुर' की उत्पत्ति कही गई है। यहां 'पुर' से तात्पर्य अन्नमय पुरुष है। इस पुरुष की आकृति सर्वथा विराट् के अनुरूप है। जिस ओर विराट् के चरण हैं उसी ओर इसके चरण हैं और जिस ओर विराट् का शीर्ष है, उसी ओर इसका शीर्ष है। यद्वत् पुरुषसम्मित लोकात्मा को पुरुषावयवों से अभिहित किया गया है, तद्वत् लोकसम्मित पिंडपुरुष को लोकावयवों से अभिहित किया जाना चाहिए। पुरुष के **'शीर्ष'** को **'स्वः'**, **'मुख'** को ,**द्यु'**, **उदर** को **'अन्तरिक्ष'**, और दोनों **'चरणों'** को **'भूलोक'**, जिससे पुरुष भी लोकसम्मित हो जाए।

आत्रेय की शारीरक साक्षी —

इस बात का भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने चरक-संहिता[1] में स्पष्टतः वर्णन किया है। "पुरुष लोकसम्मित है, जितने भी इस लोक में मूर्तिमान् भाव हैं उतने ही पुरुष में हैं और उतने ही इस लोक में।" इस प्रकार कहते हुए आत्रेय को अग्निवेश ने कहा कि हे भगवन् ! इतने वाक्यमात्र से आपके कहने का अभिप्राय हम अच्छी तरह नहीं समझ पाए। हम आपके द्वारा विस्तृत व्याख्या सुनना चाहते हैं। भगवान् आत्रेय ने उससे कहा -- लोक के अवयव-भेद असंख्य हैं और पुरुष के अवयव-भेद भी असंख्य हैं, उन सबका परिगणन असम्भव है। उनमें से कुछ मोटे-मोटे अवयव-भेदों की समानता दिखाने के लिए यहां कहा जायेगा। उनके वर्णन को एकाग्रचित्त होकर श्रवण कर। छह धातुएं मिलकर लोक कहाता है **--१, पृथिवी, २. जल, ३. तेज' ४. वायु, ५. आकाश, ६. 'अव्यक्त ब्रह्म'**। ये ही छह धातुएं मिलकर पुरुष कहाता है। **'पृथिवी'** पुरुष की **'मूर्ति'** है, **'क्लेद'**[पसीना] **'जल'** है, शरीर की **'उष्णता' तेज** व **'अग्नि'** है, **'प्राण' 'वायु'** है, **'छिद्र-समूह 'आकाश'** है, और **'अन्तरात्मा 'ब्रह्म'**। इस प्रकार पुरुष छह-धातुओं का समूह है। जैसे लोक में ब्रह्म की विभूति दिखाई देती है वैसे ही पुरुष में अन्तरात्मा की। जैसे लोक [ब्रह्माण्ड] में ब्रह्म की विभूति प्रजापति है, उसी प्रकार पुरुष [पिंड] में अन्तरात्मा की विभूति मन है। जैसे लोक में आदित्य है वैसे ही पुरुष में आदान। जो लोक में इन्द्र है वह पुरुष में अहंकार है। जो लोक में रुद्र है वही पुरुष में रोष है। जो लोक में चन्द्र है वही पुरुष में प्रसाद है। जो लोक में मरुद्गण है वही पुरुष में उत्साह है। जो लोक में वसु है वह पुरुष में सुख है। जो लोक में अश्विनीकुमार है वही शरीर में शरीर-कान्ति है। जो लोक में विश्वेदेवाः हैं, वही पुरुष में सब इन्द्रियां और सब इन्द्रिय-विषय हैं। जो लोक में अन्धकार है वही पुरुष में मोह है। जो लोक में ज्योति है वही पुरुष में ज्ञान है।

जैसे लोक में सृष्टि का आरम्भ है वैसे ही पुरुष में गर्भाधान है। जैसे सतयुग वैसे बचपन। जैसे त्रेता वैसे यौवन। जैसे द्वापर वैसे वृद्धावस्था। जैसे कलियुग वैसे रुग्णता। जैसे युग का अन्त वैसे मृत्यु। इस प्रकार हे अग्निवेश ! लोक और पुरुष के अवयव-भेदों को जो यहां पर नहीं भी कहे गये हैं उनकी कल्पना द्वारा समानता का बोध करो।[2]

१. शरीर स्थान अ० ५ पृ० ३६४, ३६५; २. द्र० पृ० स० १३६ टि० सं० १।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय और अग्निवेश के संवाद से यह ज्ञात हुआ कि पुरुष लोकसम्मित है। लोक की दिव्य शक्तियां पुरुष में आ विराजीं। इस प्रकार पुरुष जहाँ लोक-सम्मित हुआ वहाँ वह देवों का आवासस्थान भी बन गया।

पिण्ड ब्रह्माण्डोपनिषद् की साक्षी—

वैसे तो उपनिषदों में पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता का निरूपण बहुत्र हुआ है, परन्तु एक उपनिषद् का नाम ही **'पिण्डब्रह्माण्डोपनिषद्'** है, उसकी अष्टमी कण्डिका का आरम्भ इस प्रकार हुआ है — **"पिण्डमेव सोम्य ब्रह्माण्डं विजानीहि। पिण्डेब्रह्माण्डं समाप्यते"** अर्थात् 'हे सोम्य! इस पिण्ड को ब्रह्माण्ड ही जान, पिण्ड में ब्रह्माण्ड समाप्त है। यदि यह प्रश्न हो कि कौन से और कितने लोक हैं, तो सुनो! "ब्रह्मरन्ध्र से चरणतल तक चौदह लोक हैं।" यदि यह पूछो कि "सात द्वीप कौन से हैं देह में विद्यमान सात धातुएं ही सात द्वीप हैं" और चौदह लोकों का नाम और स्थान निर्देश इस प्रकार है—"पांव का निम्न भाग **तल,** पांव का ऊपरी भाग **वितल,** दोनों घुटने **सुतल** जंघाएं, **महातल** और जंघामूल **तलातल** गुह्य देश **रसातल** और कटिप्रदेशस्थ **पाताल** को मिलाकर **सातलोक** कहे गए हैं।[1]

पिण्ड में सप्तलोक—

नाभिकेन्द्र में **भूः** लोक उससे उपरिभाग में **भुवः** लोक हृदय को **स्वः** लोक जान, कण्ठ देश में **महः** लोक, मुख प्रदेश में **जनः** लोक, ललाट प्रदेश में **तपो** लोक, और ब्रह्मरन्ध्र में, मूर्धा में **सत्य** लोक, जान इस प्रकार देह में चौदह भुवनों का नाम और स्थान निर्देश समझना चाहिए।[2]

पिण्ड में सुमेरु आदि पर्वत—

इस पिण्ड में दिशाएं क्या हैं? वनस्पतिएं क्या हैं? मेरु और पर्वत कौन से खण्ड हैं? अग्रभाग और पृष्ठभाग दोनों पसलियां ही दिशाएं हैं, शरीर के रोम ही वनस्पतियां हैं, इस शरीर के नव खण्ड हैं, मेरुदण्ड ही सुमेरु है और अन्य अस्थियां पर्वत हैं।[3]

देहगत नदी समुद्र —

पिण्ड पुरुष में श्रोत्रादि सात सिन्धु हैं, जो कि शब्दादि विषय नदियों के जल से तृप्त नहीं होते।[4] यदि यह प्रश्न हो कि—देह में महोदधि कौन है? **'उदर'** ही **'महोदधि'** है, **'बुभुक्षा'** ही **'वाडवानल'** है, **'डकार'** लेना ही **'तरङ्ग'** है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप **'पुरुषार्थ** ही **रत्न** हैं, **'ब्रह्म'** और **'सत्य-नौका'** हैं।[5]

---

१. के लोका इति ब्रह्मरन्ध्रात् आपादतलंलोकाश्चतुर्दश। के सप्तद्वीपा इति सप्तधातवः॥ तथाहि पादाधस्तात् तलं ज्ञेयम्, पादोर्ध्वं वितलं, तथा जानुनोः सुतलं विद्धि, सक्थिदेशे महातलं॥ सक्थिमूले तला–तलं, गुह्ये देशे रसातलं, पातालं कटिसंस्थं च सप्तलोकाः प्रकीर्तिता॥ ९॥

२. भूर् लोकं नाभिमध्ये तु, भुवर् लोकं तदूर्ध्वके, स्वर् लोकं हृदयं विद्यात्, कण्ठदेशे महस्तथा, जनलोकं वक्त्रदेशे, तपोलोकं ललाटके, सत्यलोकं ब्रह्मरन्ध्रे, भुवनानि चतुर्दशइति॥ १०॥

३. काः ककुभः का वनस्पतयः, कानि खण्डानि, मेरूःपर्वताश्चेति। अग्रेपृष्ठं पर्श्वौ च ककुभौ, लोमानि वनस्पतयो, रेकाण्यस्य नवखण्डानि, कशेरुका, सुमेरूः, अपराणि कीकसानि पर्वताः॥११॥

४. के सिन्धव इति श्रोत्रादीनि सप्त सिन्धवः। न तृप्यन्ति श्रवणादिभिर्नदीभिरनात्र तिरोहितं किञ्चन।

५. को महोदधिरिति च पिचण्डो महोदधिर्, बुभुक्षा वाडवः, उद्गारा वीचयः, पुरुषाकारो रत्नानि च, ब्रह्मचर्यं च सत्यं च कोलौ [प्लवौ] अत्र॥ १२॥

पुर में नगर-अरण्य —

पुर में सूर्य-चन्द्र कौन हैं ? नगर कौन से हैं और अरण्य कौन से हैं? **'बाईं'** और **'दाईं'** **'आंखें'** **'सूर्य'** और **'चान्द'** हैं आंखों का **'खुलना'** **'बन्द'** होना **'दिन'** और **'रात'** हैं, **'सुमतियां'** **'नगर'** हैं, और **'कुमतियां'** ही **'अरण्य'** हैं।[1]

पिण्ड में मित्र, शत्रु, प्रलय और महाप्रलय —

इस शरीर में मित्र और शत्रु कौन हैं ? प्रलय और महाप्रलय क्या हैं ? **'सुकृत'** और **'दुष्कृत'** ही **'मित्र'** और **'शत्रु'** हैं, विजित और अजित इन्द्रियें ही मित्र और शत्रु हैं, सुषुप्तावस्था प्रलय है और मृत्यु महाप्रलय है।[2]

पिण्ड क्षेत्र है —

यदि पूछो कि देह में धरा क्या है ? उसमें बोया गया बीज क्या है ? सिंचाई के लिए वारिवाह क्या हैं ? खेती क्या है ? स्वर्ग क्या है ? नरक क्या है ? तो सुनो **'बुद्धि'** ही **'भूमि'** है, **'शब्द'** ही **'मेघ'** है, **'पुण्यापुण्य'** **'बीज'** हैं, रूप रस गन्धादि **'विषय'** ही **'खेती'** है, **'सुख,** ही **'स्वर्ग'** है, **'दुख'** ही **'नरक'** है।[3]

इससे आगे पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता का निरूपण और भी मनोहारि है, विस्तारभय से हम यहीं विराम लेते हैं।

देह की संज्ञा पुरुष —

जहां देह की संज्ञा **पुर** और **गृह** है, वहां **पुरुष** भी है अथर्ववेद में वर्णन है कि 'देवों ने रेतस्-शक्ति को आज्य बनाकर **'पुरुष'** में प्रवेश किया तद्यथा— **'रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्'**[4] सूर्य और वायु ने पुरुष का विभाजन किया और क्रमशः चक्षु और प्राण बनकर रहने लगे[5] **'संसिच्'** नामक देवों ने मर्त्य को सर्वतः सिक्त करके समस्त सम्भारों का सम्भरण किया[6] इसलिये विद्वान् लोग इस **'पुरुष'** [पिण्ड] को **'ब्रह्म'** मानते हैं।[7]

देह की संज्ञा 'लोक' —

अथर्ववेद में कहा गया है कि **'देवा पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते[8]।'** ब्रह्माण्ड के

---

१. **अथ कौ सूर्याचन्द्रमसौ, कानि नगराणि, का अरण्यानि, इति। चक्षुषी वाम दक्षिणे सूर्याचन्द्रमसौ, निमेषोन्मेषौ दिवानिशौ, सुमतयो नगराणि, कुमतयोर् अरण्यानि ॥ १३ ॥ पिण्डब्रह्माण्डोपनिषत्**

२. **अथ कानि मित्रामित्राणि, कौ प्रलयमहाप्रलयाविति। सुकृतदुष्कृतानि जिताजितानि वा खानि मित्रामित्राणि, सुषुप्तं प्रलयो मरणं महाप्रलयः ॥ १४ ॥**

३. **का धरा, किं बीजं, को वारिवाहः, किं सस्यं कः स्वर्गः, को नरक, इति। बुद्धिर्धरा, नादो वारिवाहः, सुकृतदुष्कृतानि बीजानि, विषयाः सस्यं, सुखं स्वर्गो, दुःखं नरक इति ॥ १५ ॥** [पिण्डब्रह्माण्डोपनिषद्] केशव भाष्येण भूषिता भाषा दीपिकया च दीपिता सा च जानकी प्रसाद श्रेष्ठिना धर्मोपकाराय मुरादाबाद नगरे लक्ष्मीनारायण यंत्रालये मुद्रापिता वि० सम्वत् १९६२;

४. अथर्व० ११. ८. २९;

५. **सूर्यश्चक्षुर् वातः प्राणं, पुरुषस्य विभेजिरे।** अथर्व० ११. ८. ३१.

६. **संसिचो नाम ते देवा ये सम्भारान् समभरन् सर्वं संसिच्य मर्त्यम्।** अथर्व० ११. ८. १३.

७. **तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।** अथर्व० ११. ८. ३२

८. ११-८-१०

देवों ने अपने पुत्रों के लिए मानव शरीर रूप यह **'लोक'** देकर, प्रजापति नामक लोक में निवास करना आरंभ किया और आत्मा ने अपने निवास के लिए शरीर को **'लोक'** बनाकर प्रवेश किया, इस प्रकार वैदिक भाषा में हमारी यह देह **पुरुष** भी है, **लोक** भी है ।

पुरुष देह न केवल लोक-सम्मित ही है, अपितु इसे तीन चार भागों में विभक्त करके इसमें लोकलोकान्तर का स्थान भी विनिश्चित कर दिया गया है । अथर्व वेद में प्रश्न किया गया है **'कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् । कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ।'**[1] "किस अंग में भूमि है ? किस अंग में अन्तरिक्ष ? किस अंग में द्युलोक ? किस अंग में उत्तर दिव प्रतिष्ठित है ?" यजुर्वेद में जैसे इसी के प्रत्युत्तर में कह दिया गया हो कि-**'अन्तस्ते द्यावा पृथिवी दधामि, अन्तर् दधामि ऊरु अन्तरिक्षम् सजूर्देवेभिर्‌अवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ।'**[2]

हे मघवन् ! "तेरे इस शरीर में मैं द्युलोक और पृथिवीलोक को रखता हूं, विस्तृत अन्तरिक्ष लोक को भी रखता हूं, साथ ही इसमें देवों की [उस] अधरोत्तरी से [लोक-व्यवस्था से] प्रसादित करता हूं कि तू भी देवों की तरह यहाँ आनन्दित होकर रह सके ।"

दिव-स्वर् की क्षितिज रेखा —

इस प्रकार पुरुष देह में तीन लोकों की स्थापना और उनमें देवों का आवास स्थिर होने के पश्चात् क्या यह उत्तम न होगा, कि मनुष्य देह में इन लोकों की सीमाएं निर्धारित कर ली जाएं ? इस प्रसंग में अथर्व में लोकावयवों को देहांगों की संज्ञा देते हुए भूमि को चरण, अन्तरिक्ष को उदर, दिव् को मूर्धा कहा है,[3] उसी अनुकृति में चरण को पृथिवी-लोक, उदर को अन्तरिक्षलोक, मूर्धा को द्युलोक कहा जाएगा । द्युलोक और स्वर् लोक, दोनों परस्पर इतने अनुस्यूत है कि सहसा दोनों के बीच विभाजक रेखा खेंच सकना कठिन प्रतीत होता है । जिस प्रकार शिर और मुख परस्पर इतने अनुस्यूत हैं कि मुख कहने पर शिर, और शिर कहने पर मुख गृहीत कर लिया जाता है, तद्वत् भ्रान्ति से द्युलोक कहने पर स्वर्-लोक और स्वर्‌लोक कहने पर द्युलोक भी समझ लिया जाता है । जाबाल ने अपनी उपनिषद् के खण्ड २ में इस समस्या का समाधान **"भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्यौर्‌लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवति"** भ्रू रेखा को विभाजक रेखा मानकर किया है । अर्थात् जो भौहों और घ्राणेन्द्रिय का सन्धि-बिन्दु है, वही द्युलोक और स्वर्‌लोक का सन्धि-बिन्दु है ।

इस प्रकार यदि हम ऊर्ध्व-दिशा से अधः-दिशा की ओर चलें, तो मनुष्य के मूर्धा अथवा शीर्ष की संज्ञा **'स्वर्‌लोक'** होगी, भ्रू से लेकर कण्ठ भाग तक के मुख भाग की संज्ञा **'द्युलोक'** होगी, कण्ठ भाग से लेकर कटि प्रदेश तक की संज्ञा **'अन्तरिक्ष लोक'** होगी; कटि प्रदेश से पाद-पर्यन्त भाग की संज्ञा **पृथिवी लोक'** होगी ।

ब्रह्माण्ड में प्रतिलोक ग्यारह देवताओं का आवास होता है, क्या शरीर-सदन में भी स्थिति वही है, इस विषय में यजुर्वेद में कुछ संकेत मिलते हैं:—

ये देवासो दिवि एकादशस्थ पृथिव्यामधि एकादशस्थ । अप्सुक्षितो महिना एकादशस्थ ते देवासो

---

१. १०-७-३ २. ७-५

३. १०-७-३२

यज्ञमिमं जुषध्वम् ।[१]

देह में देवों के इस प्रत्यक्ष अवतरण का वर्णन कहीं "गावो गोष्ठ इवासते"[२] मानो लोक काव्य का रूपक देते हुए कहीं तो गोष्ठ कहकर किया गया है, तो कहीं दैवी-संसद कहकर और कहीं देवयजनी[४] और कहीं देवसदन[५] कहा गया है ।

देवों के नाम और स्थान —

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु तीन लोक हैं और तदनुसार देवता भी तीन ही हैं—क्रमशः **अग्नि वायु और आदित्य**[६] आचार्य यास्क ने निरुक्त में यद्यपि अन्तरिक्ष लोक के वायु और इन्द्र दो देवता माने हैं ।[७] इतना ही क्यों अन्यत्र वेद एवं वेदेतर साहित्य में तो इन्हीं तीन देवताओं का विस्तार तैंतीस, तीन सौ तैंतीस और फिर छः हजार तीन सौ तैंतीस **'त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः'**[८] माना है हम यहां यथाभीष्ट देवताओं का अवतरण पुरुष शरीर में दिखाते हैं । तद् यथा **"यथाऽसौ दिवि आदित्यः, एवमिदं शिरसि चक्षुर्; यथाऽसावन्तरिक्षे विद्युद्; एवमिदमात्मनि हृदयम्; यथाऽयमग्निः पृथिव्याम्, एवमिदमुपस्थे रेत, इति ।**[९] जैसे लोक में बाहिर तीन ज्योतियां है वैसे ही पुरुष के अन्दर भी ये तीन ज्योतियां हैं—जैसे लोक में वह **सूर्य** है, वैसे ही, मुख पर यह **'चक्षु** है; जैसे अन्तरिक्ष में वह **'विद्युत्'** है, वैसे ही आत्मा में यह **'हृदय'** है, और जैसे पृथिवी पर यह**'अग्नि'** है; वैसे ही, उपस्थ में यह **वीर्य** है ।

पाञ्च भौतिक देह —

ऐतरेय आरण्यक में **"स एष पुरुषः पञ्चविधः तस्य यदुष्णं तद् ज्योतिर्; यानि खानि स आकाशो; ऽथ यत् लोहितं स श्लेष्मा; यद् रेतस् ता आपः; यच्छरीरं सा पृथिवी; यः प्राणः स वायुः"**[१०] कहकर पुरुष में पञ्चभूतों का आवास इस प्रकार बताया है—यह पुरुष पञ्च तत्त्वों से बना है; उसका **'उष्ण'** भाग **'अग्नि'** है; जो इन्द्रियों के **'विवर हैं**; वे **'आकाश'** हैं; जो **'लोहित श्लेष्मा'** और **'वीर्य'** हैं वे **'जल'** हैं; जो **'स्थूल-शरीर'** है; वह **'पृथिवी'**; और जो **'प्राण'** है; वह **वायु** हैं । इन्हीं पञ्चभूतों से बने पुर में पुरुष ने प्रवेश किया है, यजुर्वेद में कहा भी है **"पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश'** ।

अथर्व वेद में प्राथमिक देवों की संख्या १० मानी है । वहां वर्णित है कि ब्रह्माण्ड स्थित देव अपने पुत्रों के लिये पुरुष-देह रूप लोक में स्थान देकर स्वयं त्रिलोकी में बने रहे । इन देवपुत्रों का संख्यान इस प्रकार है—**प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाक् और मन** ।[११]

देवों के लिए स्पृहणीय देह —

इस बात को ऐतरेय उपनिषत्कार[१२] ने बड़ी ही आलंकारिक भाषा में वर्णित किया है कि—ब्रह्माण्ड के देवताओं ने प्रजापति से प्रार्थना की कि हमारे निवास के लिए कोई घर दो, इस पर प्रजापति

---

१. य० ७-१४; २. अथ० ११.८,३२;
३. जै० उ० ब्रा० २- १,१२,१३; ४. य० ३-५;
५. अथ० ५-४,३; ६. शत० ११-२.३-११,
६. निरुक्त० ७-५; ८. अथ० ११-५-२;
९. ऐ० आ० ३-१-२; १०. ऐ० आ० २-३,३;
११. अथ० ११-८,४; १२. ऐ० उ० २-३;

उनके लिये **'गाय पशु'** का ढांचा बना लाया; किन्तु देवों ने **'नोऽयमलमिति'** कह कर अस्वीकार कर दिया, फिर प्रजापति ने **'अश्व-पशु'** का ढांचा दिखाकर कहा कि इसमें निवास करो, इस पर भी देवों का वही उत्तर था—**'नोऽयमलम् इति'** अन्ततोगत्वा प्रजापति ने **'पुरुष-देह'** को उपस्थित किया, जिसे देखते ही देव हर्षातिरेक से नाच उठे और बोले कि अहा ! **'पुरुषो वा सुकृत'** बस **'पुरुष पुण्यमय'** है, फिर क्या था देव पुरुष-देह के अवयवों को आपस में बाँट और तथास्तु कह कर उसमें प्रविष्ट होने लगे। कौन कहां प्रविष्ट हुआ इसका वर्णन इस प्रकार है—

देवों का अन्तःपुर —

'अग्नि' 'वाक् शक्ति' बन कर **'मुख'** में, **'वायु प्राण'** बन कर **'नासिका'** में, **'आदित्य चक्षु'** बन कर **'आंखों'** में, **'दिशाएं श्रोत्र'** बन कर **'कानों'** में, **औषधियाँ रोम'** बन कर **'त्वचा'** में, **'चन्द्रमा' 'मन'** बन कर **'हृदय'** में, **'मृत्यु' 'अपान'** बन कर **'नाभि** में, और **'जल' 'रेतस्'** बन कर **'शिश्न'** में आ विराजा।

अथर्व संहिता में तो शरीर में दैवीभावों के साथ आसुरी भावों का भी प्रवेश माना है, जिनकी संख्या सौ से भी अधिक है और सूक्त की समाप्ति पर पुरुष का अभिनन्दन करते हुए वहां कहा है—
"तस्माद् वै विद्वान् 'पुरुषम्' इदं 'ब्रह्म' इति मन्यते"[1]।

पुरुष और देवों का सधस्थ —

इस प्रकार हमारे पास पुरुष मानचित्र की पर्याप्त सामग्री हो गई; अब पुरुष रूप सधस्थ पर विश्वेदेवा और यजमान अपने अपने आसन पर आसीन हो सकते हैं। इससे पहिले कि विश्वेदेवा शरीर वेदी पर आसीन हों, उन्होंने उचित समझा कि सर्व प्रथम यज्ञ के यजमान [कर्मात्मा] **'पुरुष पशु'** को यूप से बांध लिया जाए। सूक्त में वर्णित है कि **देवा 'अबध्नन् पुरुषं पशुम्।'**[2] देवों ने मेरुदण्ड रूप यूप से पुरुष को बाँधा। बस विश्वेदेवा और यजमान शरीर सधस्थ पर आसीन होना ही चाहते थे कि यज्ञ के मनोनीत पुरोहित सर्वात्मा पुरुष ने आदेश दिया कि **'अस्मिन् सधस्थे······विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत'**[3] इस पर कर्मात्मा पुरुष यजमान ने अपने आसन पर आसीन होते हुए कहा कि जब जब शरीर सधस्थ पर आसीन होने का अवसर आया था, तो मैं ही इसमें पूर्व आया था और आज भी मैं ही सब से पूर्व आसीन होता हूं अतः आप मुझे पुरुष नाम से सम्बोधित करें। **'पूर्वमेव अहम्+आसम् तस्मात् पुरुषः'**[4] इस प्रकार पुरुष पिण्ड रूप सधस्थ पर यजमान सहित विश्वेदेवाओं के आसीन होने पर यजमान ने यज्ञ के मनोनीत पुरोहित का सूक्त के शब्दों में अभिनन्दन किया—**'यो देवेभ्यः आतपति यो देवानां पुरोहितः। पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये।'**[5]

सूक्त के अन्तर्यामी सूत्र **'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्"** पुरुष और लोक दोनों ही मान एक दूसरे के संपूरक हैं, पिण्ड, ब्रह्माण्ड सम्मित है और ब्रह्माण्ड पिण्ड सम्मित है एवं पिण्ड मान के अन्तर्गत अश्व, गौ, अजा, अवि पिण्ड भी गृहीत हैं, पिण्ड मान में सर्वोपरि तथा सर्वान्त मान पुरुष पिण्ड ही है, इन सब स्थापनाओं के प्रकाश में एक अन्य मान की संभावना अति स्पष्ट है वह मान है **'यज्ञ'**।

---

१. अथ० ११-८,३२;
२. ऋ० १०-९०,१५;
३. सं० वि० ३६
४. तै० आ० १-२३,४;
५. य० ३१.२०;

यज्ञोऽयम्पुरुष सम्मितः —

सूक्त में 'पुरुष' और 'यज्ञ' दोनों ही एक दूसरे के पर्यायवाची तथा संपूरक हैं। सूक्त में इसका संकेत "**यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत**"[1] "**तं यज्ञं······पुरुषं जातमग्रतः।**"[2] "**तस्मात् यज्ञात् सर्व-हुतः।**"[3] **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**[4] इत्यादि मन्त्रों के द्वारा किया गया है, इससे स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि सूक्त में पुरुष [पिण्ड] मान का तो स्पष्ट उल्लेख है ही किन्तु 'यज्ञ' मान का भी संकेत है। यह ठीक है कि विराडादि पुरुषों के अङ्गों की भांति यज्ञ पुरुष के अङ्गों का आकलन नहीं किया गया तथापि सूक्त में पुरुष को यज्ञविशेषण द्वारा स्मरण किया गया है। शतपथकार ने '**पुरुषो वै यज्ञः**'[5] कहकर इसका अनुमोदन ही किया है। शतपथकार यज्ञ और पुरुष को एक दूसरे का [प्र] मान निर्धारित करता है तद्यथा—**पुरुषौ वै यज्ञः तेनेदं सर्वं मितम्।**[6] **यज्ञेन वै पुरुषः सम्मितः**[7] तथा च इसके विपरीत "**पुरुष सम्मितो यज्ञः**"[8] भी कहा गया है, अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है यज्ञ से यह विराट् सम्मित है। यज्ञ से पुरुष सम्मित है, पुरुष से यज्ञ सम्मित है। सूक्त के **यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधाव्यकल्पयन्**[9] मन्त्र चरण के आधार पर जितने भी मानों की कल्पना की जाए अन्ततो गत्वा वे सभी मान 'पुरुष' [प्र] मान के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।

परिव्राट्-पुरुष मूर्त यज्ञ है —

पुरुष की यज्ञ रूपता दिखाने के लिए एक ही प्रमाण पर्याप्त है। संन्यास की दीक्षा ग्रहण करते समय व्यक्ति अपने में यज्ञांगों को आरोपित कर स्वयं मूर्तिमान् यज्ञ बन जाता है अब उसे आहुति देने की अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत अन्याश्रमी ही उसमें आहुति देते हैं। '**संन्यासी**' मूर्त '**यज्ञ**' है इस बात की पुष्टि उसके गैरिक वस्त्रों से होती है; मनु के '**आत्मन्यग्नीन् समारोप्य**'[10] का ज्वलन्त प्रमाण है न केवल संन्यासी ने अपने आप में अग्नि को ही समारोपित किया होता है अपितु यज्ञ के समस्त अवयवों को भी आरोपित किया होता है।

तद्यथा—"इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये उस विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रम रूप यज्ञ का अपना '**आत्मा**' ही '**यजमान**' होता है, '**श्रद्धा पत्नी**' होती हैं, शरीर ही '**समिधा**' है '**हृदय**' ही '**वेदि**' है, '**रोम**' ही '**कुशाएं**' हैं, '**वेद**' ही उसकी '**शिखा**' है, '**हृदय**' ही, '**यूप**' है, '**संकल्प**' ही '**घृत**' है, '**मन्यु**' ही '**पशु**' है, '**तप**' ही '**अग्नि**' है, '**दमन**' ही '**शमयिता**' हैं, '**वाणी**' ही '**दक्षिणा है**, '**प्राण**' ही '**होता**' है, '**चक्षु उद्गाता**' है, उसका '**मन अध्वर्यु**' है, '**श्रोत्र ब्रह्मा है**, जितना कुछ '**धारण**' करता है वही '**दीक्षा**' है, जो कुछ '**खाता**' है वह '**हवि**' है, जो कुछ वह '**पीता**' है वह उसका '**सोमपान**' है, वह जो इधर उधर '**भ्रमण**' करता है, वह '**उपसद्**' है, वह जो '**गमन**' करता है, '**बैठता**' और '**उठता**' है वह उसका '**प्रवर्ग्य**' है, उसका '**मुख**' ही '**आहवनीय अग्नि**' है, जो संन्यासी का '**विज्ञान**' है वही '**व्याहृति आहुति**' हैं, उस विज्ञान का '**प्रचार**' करना ही उसकी '**आहुति**' है, वह जो प्रातः काल '**भोजन**' करता है वह उसकी '**समिधा**' है, उसके प्रातः मध्याह्न और सायं ये **तीनों** '**काल**' ही उसके '**तीन सवन**' हैं, '**दिन रात**' ही '**दर्श पौर्णमास**'

---

१. ऋ० १०-९०,६,
२. ऋ० १०-९०,७,
३. ऋ० १०-९०,८,
४. ऋ० १०-९०,१६,
५. श० ब्रा० १-३-२,१,
६. श० ब्रा० १०-२.१,२;
७. श० ब्रा० १-३-२,१,
८. श० ब्रा० ३.१.४,२३,
९. ऋ० १०,९०,११,
१०, मनु० ३-६८;

हैं, **'अर्धमास'** और **'मास'** ये उसके **'चातुर्मास्य'** है, वसन्तादि 'ऋतुएं' ही पशुओं के बांधने के **'पाश'** हैं **'सर्ववेदयज्ञ'** ही उसका **'जरामर्य सत्र'** है, **'मृत्यु ही अवभृत'** स्नान है—इस प्रकार **'पुरुष' 'यज्ञरूप'** है।[1]

इसी प्रकार यदि पुरुषावयवों को यज्ञ के घटक अवयवों में आरोपित कर दिखाया जाय तो यज्ञ की पुरुष रूपता प्रगट हो सकती है। संन्यासी की आत्मा को यजमान, श्रद्धा को पत्नी, शरीर को समिधा, उरस्थल को वेदी लोमो को बर्हि, वाणी को होता, प्राण को उद्गाता, चक्षु को अध्वर्यु, और मन को ब्रह्मा माना गया है। यदि इन्हें उलटकर यज्ञ के घटक यजमानादि पात्रों को पुरुषावयवों से अभिहित किया जाय तो यज्ञ-पुरुष का रूप निम्न प्रकार होगा। यज्ञ-पुरुष का यजमान ही आत्मा है, यजमान-पत्नी ही श्रद्धा है, समिधाएं ही उसका शरीर हैं, यज्ञवेदी ही उरस्थल है, उस पर छितराई गई कुशाएं ही यज्ञ-पुरुष के लोम हैं, यज्ञ में होता ही यज्ञ-पुरुष के घटक [वाक्] वाणी है, उद्गाता ही प्राण है, अध्वर्यु ही चक्षु है, और ब्रह्मा मन है। शतपथकार ने इस बात की सम्पुष्टि निम्न प्रमाणों से की है, निश्चय ही यज्ञ का यजमान आत्मा है और ऋत्विज् उसके अंग हैं। [**आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गानि ऋत्विजः**] यज्ञ पुरुष की तीन इन्द्रियों का वर्णन करते हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है **'अथ त्रीणि वै यज्ञस्य इन्द्रियाणि होता ऽध्वर्यु ब्रह्मा।'** अग्नि को जहां शिर कहा है वहां धूएं को यज्ञ का प्राण कहा है, **'शिर एवा ऽग्नि यज्ञस्य प्राणो धूमः'** अन्यत्र अध्वर्यु को मन,[2] उद्गाता को श्रोत्र[3] कहा है। आहवनीय अग्नि और गार्हपत्य अग्नि को प्राण और उदान माना है।[4]

महाभारत शान्तिपर्व में तो यज्ञपुरुष के १६ घटकों का वर्णन करके यज्ञ-पुरुष को मानो सोलह कला पूर्ण बना दिया है।

'ओषध्यः पशवो वृक्षाः वीरुदाज्यं पयोदधि। हविर्भूमिर्दिशश्श्रद्धा कालश्चैतानि द्वादश॥
ऋचो यजूंषि सामानि यजमानश्च षोडश। अंगान्येतान् हि यज्ञस्य यज्ञो मूलमिति स्मृतिः।'

महा. भा. १२-२६०-२५

पुरुष सूक्त की केन्द्रीय विचार धारा का द्वितीय विन्दु यह था कि कर्मात्मा पुरुष वर्णात्मा और आश्रमात्मा का निर्माण सर्वथा पिण्डात्मा और लोकात्मा पुरुषों के अनुकरण पर करे। इसलिए ऋग्वेद १०.९० मन्त्र १२ में प्रश्न मुख से पूछा गया था कि—वर्णात्मा का मुख क्या है, भुजाएं क्या है ऊरू क्या हैं और पैर क्या हैं? जिसका उत्तर भी वहीं[1] अंकित है कि—ब्राह्मण वर्णात्मा पुरुष का मुख है, क्षत्रिय भुजाएं हैं वैश्य ऊरू हैं; और शूद्र चरण हैं। इसी आधार पर अब जो भी चित्र संभव होगा वही वर्णात्मा=सम्राट्= राष्ट्र पुरुष का चित्र होगा। [विशद वर्णन अष्टम अध्याय में]

पुरुष-लोक-वर्ण-सम्मित आश्रमात्मा—

लोकात्मा और देहात्मा में सामाञ्जस्य दिखाते हुए आत्मद्वय के अंगों को एक दूसरे में

---

१. **यज्ञस्य आत्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरम् इध्मम्, उरोवेदिः, लोमानि बर्हिः, वेदः शिखा, हृदयम् यूपः, काम आज्यम्, मन्युः पशुः, तपो अग्निर्, दमः शमयिता, दक्षिणा वाक्, होता प्राणः, उद्गाता चक्षुर् अध्वर्युः मनो, ब्रह्मा श्रोत्रम्,**......तै० आ० १०-६४,१,

२. शिरः एवाग्निः श० ब्रा० १०.१.२.५, ३. यज्ञस्य प्राणो धूमः श० ब्रा० ६.५.३,८,

४. प्राणोदानौ+एव+आहवनीयश्च गार्हपत्यश्च श० ब्रा० २-२-२,१८;

आरोपित दिखाया गया : चरणों को पृथवी लोक, नाभि और उरस् को अन्तरिक्ष लोक, मुख [कंठ से भ्रूतक के भाग] को द्युलोक और शीर्ष को स्वर् लोक के रूप में चित्रित करते हुए वर्णात्मा पुरुष के मुख का स्थानापन्न ब्राह्मण माना गया है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि यदि मुख का स्थानापन्न ब्राह्मण है, तो शीर्ष का स्थानापन्न कौन है ? समाधान में कहना होगा कि—वर्णात्मा पुरुष के वर्णन में शीर्ष का छूटना ही ठीक था, क्योंकि वर्णात्मा पुरुष की सीमा मुख अर्थात द्युलोक=देवलोक=विद्वद् लोग [विद्वांसो हि देवाः] तक। मुख से ऊपर शीर्ष का स्थानापन्न संन्यासी है, जो आश्रमात्मा पुरुष का शीर्षस्थ व्यक्ति है। सूक्त में जैसा स्पष्ट वर्णन वर्णात्मा पुरुष का हैं वैसा आश्रमात्मा का नहीं, ज्ञात होता है कि **'आश्रम'** शब्द का प्रयोग पर्याप्त पीछे चल कर हुआ है। वेदों में जीवन के इन व्यक्ति परक विभागों का नाम **'आश्रम'** शब्द से व्यक्त न कर **'लोक'** संज्ञा से व्यक्त किया गया है—परन्तु वैदिक स्वोपज्ञ शैली के अनुसार अभीष्ट आश्रमात्मा पुरुष के मान भी पुरुष, लोक एवं वर्ण सम्मित ही निर्धारित किए गए हैं—

पद्भ्यां व्रती अजायत —

हमारी केन्द्रीय स्थापना का द्वितीय बिन्दु यह था कि यथा लोक और पुरुष परस्पर एक दूसरे से सम्मित हैं तथैव वर्णात्मा पुरुष भी लोक-संमित एवं पुरुष-संमित है और उसी युक्ति से आश्रमात्मा [पुरुष] भी लोक-संमित। पुरुष-संमित। वर्ण सम्मित होना चाहिए। लोक में निम्न लोक **'पृथिवी'** पुरुष में निम्न अंग **चरण**, वर्णों में निम्न वर्ण **'शूद्र'** और आश्रमों में निम्न आश्रम, **'ब्रह्मचर्य'** है, अतः आश्रमात्मा के घटक ब्रह्मचर्याश्रम को—'लोक'-परिभाषा में पृथवी लोक 'पुरुष'-परिभाषा में चरण, 'वर्ण' परिभाषा में शूद्र कहा जायगा। ब्रह्मचारी को पृथिवी की भांति सब आश्रमों की प्रतिष्ठा, चरणों की भांति गति स्थिति शील [ब्रह्मचर्य और संन्यास में गति शील, गृहस्थ और वानप्रस्थ में स्थिति शील] ब्रह्मचर्य सूक्त में मानों ब्रह्मचारी शब्द का निर्वचन ही कर दिया हो। **ब्रह्म इष्णन् चरति इति ब्रह्मचारी** एवं शूद्र की भांति तपस्वी और शुश्रूषा शील [श्रवण शील एवं सेवाशील] होना चाहिए। शूद्र के लिए यथा वेद में कहा **पद्भ्यां शूद्रोऽजायत** तद्वत् प्रकारान्तर से ब्रह्मचारी के लिए भी कहा जाएगा—**पद्भ्यां व्रती अजायत।**

मध्यं [ऊरु] तदस्य यद् गृही —

लोक में मध्य-लोक **'अन्तरिक्ष'**=[मरुत्, विद्युत्] हैं, पुरुष में मध्य-अंग **'नाभि=उदर' 'उरस्'** हैं, वर्णों में मध्य **'वर्ण' मध्यं तदस्य यद् वैश्यः'** है; वैश्य-क्षत्र हैं; आश्रमों में मध्यआश्रम **गृहस्थ गृही-गृहिणी** हैं। अतः आश्रमात्मा के घटक गृहस्थाश्रम को 'लोक' परिभाषा में अन्तरिक्ष लोक, 'पुरुष'-परिभाषा में नाभि, उदर, हृदय वर्ण-परिभाषा में वैश्य कहा जाएगा। गृही को अन्तरिक्ष की भांति विशाल हृदय, नाभि और उदर की भांति सब आश्रमों की नाभि चक्र और आश्रय स्थान तथा वैश्य की भांति अर्थ और काम का उपभोक्ता एवं व्यवस्थापक होना चाहिए। वैश्य के लिये यथा वेद में कहा **'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः'** तद्वत् प्रकारान्तर से गृहस्थ के लिए भी कह सकेंगे—**मध्यं तदस्य यद् गृही।'**

वानप्रस्थोऽस्य मुखम् —

लोक में उत्तर-लोक 'द्यु' है, पुरुष में उत्तर-अंग **'मुख'** है, वर्णों में उत्तर वर्ण **'ब्राह्मण'** है, आश्रमों में उत्तर-आश्रम **'वानप्रस्थ'** है। अतः आश्रमात्मा के **वानप्रस्थ** को लोक-परिभाषा में द्युलोक,

पुरुष-परिभाषा में **मुख अंग** वर्ण-परिभाषा में **ब्राह्मण** वर्ण कहेंगे अर्थात् **वानप्रस्थ** को **द्यु** की भांति प्रकाशमान्, मुख की भांति **वक्ता, द्रष्टा, श्रोता,** और **ब्राह्मण** की भांति **ज्ञानी त्यागी** तथा **तपस्वी** अध्यापनाध्ययन शील होना चाहिए। **ब्राह्मण** के लिये यथा वेद में कहा **'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्'** तद्वत् प्रकारान्तर से **वानप्रस्थ** के लिए भी कह सकेंगे—**'वानप्रस्थोऽस्य मुखम्'** ।

शीर्ष्णो यती [संन्यासी] समवर्तत —

लोक-मण्डल में **स्वर्** लोक अवशिष्ट रह जाता है, और आश्रम मण्डल में **संन्यास**। इस प्रकार परिशिष्ट न्याय से **'स्वः' संन्यास** का वाचक हुआ। शतपथकार ने चतुर्थ लोक के विषय में विकल्प माना है **"तद् यद् इमांल्लोकान् अति चतुर्थम् अस्ति वा न वा"**[1] यही विकल्प संन्यास के बारे में है, **'संन्यास'** है भी और नहीं भी। सो 'लोक-परिभाषा में **संन्यासाश्रम** की संज्ञा **'स्वर्लोक'** है। जिस प्रकार द्युलोक एवं स्वर्लोक के बीच विभाजक रेखा खींचना कठिन है, और जिस प्रकार मुख और शीर्ष के बीच विभाजक रेखा खींचना कठिन है, तद्वत् ब्राह्मण और संन्यासी के बीच भी विभाजक रेखा खींचना कठिन है, दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव एक से हैं। बस यही कहा जा सकता है कि यदि ब्राह्मण, वर्णात्मा पुरुष का मुख है, तो संन्यासी आश्रमात्मा पुरुष का मस्तिष्क और मूर्धा है। यदि ब्राह्मण वर्ण विराट् का द्युलोक है, तो संन्यासी आश्रम-विराट् का स्वर् लोक है। संन्यासी का स्थान उसी प्रकार सर्वोच्च है, कि जिस प्रकार मूर्धा और स्वर् लोक का, ब्राह्मण मुखवत् मुख्य है तो संन्यासी मूर्धावत् मूर्धन्य है। ब्राह्मण मुखवत् ज्ञान को विहृत करता है, तो संन्यासी मूर्धावत् ज्ञान को संहृत करता है।

शतपथ की परिभाषा में शिर को कूर्म कहा गया है और पौराणिक धारणा के अनुसार समुद्र-मन्थन कूर्म की पीठ पर ही होता है। पिण्ड गत मस्तिष्क की संज्ञा शिर है, अतः शिर कूर्म है। ब्रह्माण्ड-गत द्युलोक की संज्ञा शिर है, अतः सूर्य कूर्म है। मनुष्य के शिर कूर्म की पीठ पर देह-समुद्र का मन्थन होता है। सूर्य-कूर्म की पीठ पर द्यावा पृथिवीस्थ उभय समुद्रों का मन्थन होता है, तो संन्यासी-कूर्म की पीठ पर वर्ण-आश्रमरूप उभय समुद्रों तथा राष्ट्र एवं विश्व रूप उभय समुद्रों का मन्थन होता है। संन्यासी भी कूर्मवत् अपनी चित्त वृत्तियों को सब ओर से संहृत कर लेता है।[2]

नित्य मूर्धिन स्थिति—

लोक मण्डल में उत्तम लोक **स्वः** है, पिण्ड में उत्तमाङ्ग-शीर्ष अथवा मुर्धा है, वर्णों में उत्तम वर्ण ब्राह्मण है, आश्रमों में उत्तमाश्रम संन्यास है। अतः संन्यास का संज्ञा लोक दृष्टया स्वर् लोक, पुरुष [अङ्ग] दृष्ट्या शीर्ष अथवा मूर्धा, वर्ण दृष्ट्या ब्राह्मण होगी। संन्यासी को स्वर् लोक की भांति सर्वोन्नत, स्वयं राजमान् एवं अन्य सभी को अपने प्रकाश से आलोकित करने वाला, शिर की भांति निःश्रेयस् का दोहन कर्त्ता, मूर्धा की भांति नित्य मूर्ध्निस्थित, समस्त विचारों को बांधने वाला, प्रज्ञावान्, बोद्धा, मन्ता, शास्ता, और नियन्ता होना चाहिए। उसे ब्राह्मण की भांति ब्रह्म तथा वेद का जानने वाला, त्यागी, तपस्वी, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द त्रिविध प्रमाणों पर आधारित उपदेशों का वक्ता आप्त, ब्राह्मणों का राजा सोम,[3] सौम्य, शान्त, गम्भीर, न्यायकर्त्ता, दया और आनन्द का प्रदाता, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, संसार का उपकारक, सर्वमित्र, सत्यार्थ-प्रकाशक परिव्राट् होना चाहिये। ज्येष्ठ ब्रह्म के

---

१. श० ब्रा० १-२-५-१२; २- गीता २-५८,

३. यजु० ६-४०,

लिए यथा वेद में कहा—"स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः"[1] तद्वत् ब्राह्मणों के राजा संन्यासी के लिये भी कहा जागगा "स्वर् यस्य च केवलं तस्मै [संन्यासिने] नमः"

संन्यास की संज्ञा 'स्वः' —

स्वः पद का प्रयोग केवल ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये हुआ है। **'स्वर् यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'**[2] गायत्री मन्त्र के साथ वहुधा तीन महाव्याहृतियों का प्रयोग होता है वहां क्रम **भूर् भुवः स्वः** यह रहता है; और मोटे रूप से भूः का अर्थ **सत्**, **भुवः** का अर्थ **चित्** और **स्वः** का अर्थ **आनन्द** लिया जाता है। भूः भुवः स्वः कह लो अथवा सच्चिदानन्द कह लो बात एक ही है।

ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द है, जीवात्मा सत्-चित् है उसे आनन्द की उपलब्धि करनी है, आनन्द की उपलब्धि ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। जिस दिन उसे आनन्द की उपलब्धि हो गई उसी दिन से संन्यासी अपने नाम के साथ आनन्द शब्द के प्रयोग करने का अधिकारी हुआ संन्यासी अर्थात् आनन्दावस्था में स्वर्लोक में नित्य स्थित।

संन्यास की राह में तीन पड़ाव —

स्वर् लोक का पथिक वैदिक शब्दों में कहता है — **पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षम् आरुहम्-अन्त रिक्षात् दिवम्-आरुहम्। दिवो [नाकस्य पृष्ठात्] स्वर्ज्योतिर्-अगाम्-अहम्।**[3]

इस मन्त्र से ज्ञात हुआ है कि उस गन्तव्य [ज्योतिर्मय] स्वर्लोक तक पहुंचने के लिए पूर्व के तीनों आश्रम साधन हैं। एक **'स्वः'** की ओर उन्मुख-**पृथिवी**, **अन्तरिक्ष**, **दिव्**—तीन **'स्वर्-ग'**; अन्तिम आश्रम **स्वः** है और **स्वः** की ओर ले जाने के कारण तीनों आश्रम **स्वर्+ग** हैं।

संभवतः इसी कारण वैदिक साहित्य में तीन स्वर्गों का ही वर्णन मिलता है, तीन से अधिक का नहीं। यजुर्वेद में "**त्रीन्...समसृपत् स्वर्गान्**"[4] का प्रयोग मिलता है। शतपथकार वेद का अनुमोदन करता हुआ लिखता है—**त्रयः स्वर्गा लोकाः**[5]। चारों वेदों में स्वर्ग शब्द ५० स्थलों पर प्रयुक्त हुआ हैं जिनमें २८ स्थलों पर वह विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। तथा—स्वर्ग पर प्रकाश डालने वाला, [विशेष्य] पद पन्थाः है, तद्यथा '**श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः "पन्थां स्वर् गम्" अधिरोहयैनम् येन रोहात् परमापद्य यद् वयं उत्तमं नाकं परमं व्योम।**[6]

जहां स्वर्ग तीन हैं वहां स्वः की ओर पहुंचाने वाले पड़ाव भी तीन हैं, साधारण पथिक को इन तीनों पड़ावों की अपेक्षा रहती है, जवकि विश्वतोधार यज्ञ के प्रवर्तक परिव्राट् को इनकी अपेक्षा नहीं रहती—**स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं, सुविद्वांसो वितेनिरे॥**[7]

संन्यासी [परिव्राट् पुरुष] का विश्वतोधार यज्ञ सर्वातिशायी विराट् पुरुष का सर्वहुत यज्ञ है।

संन्यासी का आदित्यवर्ण —

पुरुषसूक्त में वर्णात्मा पुरुष के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार घटकों का वर्णन हुआ है, परन्तु उन्हें वर्ण नाम से अभिहित नहीं किया गया, किन्तु आश्चर्य का विषय है कि आश्रमात्मा के सर्वोच्च घटक संन्यासी के वर्ण की घोषणा कर दी गई है—**'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः**

---

१. अथर्व० १०-८-१,
२. अथर्व०-१०. ८. १.
३. यजु० १७. ६७.
४. यजु०-१३. ३१
५. श० ब्रा०-७. ५. १. ९.
६. अथर्व०-११. १. ३०.
७. यजु०-१७. १८.

परस्तात्"[1] सूक्त का ऋषि बड़े ही आत्मविश्वास के साथ कहता है, कि मैं आश्रमात्मा के घटक उस **महान्पुरुष** को जानता हूं वह **तम** से परे है और उसका **'आदित्यवर्ण'** है।

वर्ण का अर्थ आचार्य यास्क के अनुसार किसी **व्रत** का **वरण**[2] करना है। संन्यासी ने एक महान् व्रत का वरण किया है, वह है **'अखण्डता व्रत'**। पुरुष-सूक्त में संन्यासी की इस भावना को **'आदित्यवर्णम्'** द्वारा प्रकट किया है। संन्यासी अदिति का पुत्र आदित्य है, उसे देश और काल की सीमाएं बांध नहीं सकतीं। संन्यासी आदित्य की भांति सर्वत्र प्रकाश फैलाता है। उसका तो उद्घोष ही है—**"वसुधैव कुटुम्बकम्"**; उसका अपना पराया कुछ नहीं, वह सबका, सब उसके।

इस प्रकार यहां हमने पुरुषसूक्त की केन्द्रीय विचारधारा के द्वितीय विन्दु पर-आधृत वर्णात्मा पुरुष एवं आश्रमात्मा पुरुष का चित्रण किया, जिससे समाज-निर्माण और व्यक्ति निर्माण में सहायता मिलेगी तथा च शिक्षाशास्त्री एवं समाजशास्त्रियों के लिए भी उपयोगी हो सकेगा।

लोकोऽयम्+अश्व सम्मितः —

पुरुष-सूक्त की केन्द्रीय विचार धारा के **'तृतीयविन्दु'** में प्रतिपादित किया गया है कि यह ब्रह्माण्ड न केवल [पिण्ड] पुरुष सम्मित ही है, अपितु अश्व-सम्मित, गो-सम्मित, अजा-सम्मित और अवि-सम्मित भी है। पुरुष-सूक्त के ऋषि ने ग्राम्य पशुओं के व्याज से, अश्व, गौ, अजा, अवि पिण्डों को भी गृहीत किया है जिससे **पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्**, से न केवल **'पुरुष-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्'** ही समझा जाए, अपितु **अश्व-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्' गो-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्' 'अजा-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्'** एवं **'अवि-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्** भी समझा जाए।

ब्रह्माण्ड की अश्वरूपता—

शतपथ ब्राह्मणमें ब्रह्माण्ड को अश्वरूप में प्रतिपादित किया है, तद्यथा—"यह ब्रह्माण्ड ही मानो मेध्य अश्व है, उषा ही इस अश्व का सिर है, सूर्य इसकी आंख है, वायु इसका प्राण है वैश्वानर अग्नि ही इसका खुला हुआ मुख है, सम्वत्सर इस मेध्य अश्व का आत्मा है, अन्तरिक्ष लोक इसका उदर है, पृथिवी लोक इसका खुर है, दिशाएं इसके पार्श्व हैं, द्यु-लोक इसकी पीठ हैं, अवान्तर दिशाएं इसकी पसलियां हैं, ऋतुएं इसके अंग हैं, मास और अर्धमास इसके जोड़ हैं, दिनरात, स्थिति-स्थान हैं, नक्षत्र अस्थियां हैं, वादल मांस हैं, रेत=सिकता ही उदर में पड़ा हुआ अध पचा भोजन है, नदियां ही अन्तड़ियां हैं, पहाड़ ही जिगर और फेफड़े हैं, ओषधि-वनस्पतियां ही लोम हैं, उदय सूर्य पूर्वार्ध है, अस्त-सूर्य उत्तरार्ध है, विद्युत् का चमकना विराट् अश्व का जम्भाई लेना है, उसकी कड़कड़ाहट उसका धूल झाड़ना हैं, वरसना मानो विराट् अश्व का वीर्यषेचन है। यह गर्जन विराट् अश्व का हिनहिनाना है।

---

१. यजु० ३१. १८ २. निरु० २. ३.

३ उषा अश्वस्य मेधयस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्, वातः प्राणो, व्यात्तमग्निर् वैश्वानरः, संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठम्, अन्तरिक्षम् उदरम्, पृथिवी पाजस्यम्, दिशः पार्श्वे, अवान्तर दिशः पर्शवः, ऋतवोऽङ्गानि, मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि, अहोरात्राणि प्रतिष्ठा, नक्षत्राणि अस्थीनि, नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः, सिन्धवो गुदा, यकृच्चक्लोमानश्च पर्वता, ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि, उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ् जघनार्धः। यद् विजृम्भते तद् विद्योतते। यद् विधुनुते तत् स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति। वागेवास्य वाक्। श० ब्रा० १०-६, ४; ऋ० १.१६२;

काल-[सम्वत्सर] अश्व—

शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त उद्धरण में उषा, सूर्य, वायु, वैश्वानरअग्नि, द्यु, अन्तरिक्ष, पृथिवी दिशाएं, अन्तर्दिशाएं, ऋतुएं, मास, अर्धमास, दिन, रात, नक्षत्र, बादल आदि अवयवों को देखकर ज्ञात होता है कि इनका अवयवी, सम्वत्सर अश्व है। कण्डिका में सम्वत्सर को आत्मा प्रतिपादित किया गया है, यथा चक्षु, श्रोत्र, घ्राणादि अवयवों का अवयवी आत्मा है तथा उषा सूर्य वायु वैश्वानरादि अवयवों का अवयवी सम्वत्सर है यहां सम्वत्सर ही मेध्य अश्व है, कारण कि अश्व पशु के अङ्गोपाङ्गों को आरोपित कर वर्णन किया गया हैं। स्वयं भगवती श्रुति ने काल-अश्व का स्पष्ट वर्णन किया है तद्यथा—

"कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षोऽजरो भूरिरेताः।[1]

लोकोऽयम् गो-सम्मितः—

अथर्ववेद के नवम काण्डगत सप्तम सूक्त को उपसंहृत करते हुए कहा है—"**एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्**।[2] निश्चय ही यह संसार गौ रूप है तथा च'**उपैनं विश्वरूपा सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद'**—जो व्यक्ति गौ के इस सर्वरूप, विश्वरूप, विराट् रूप को जान जाता है, उस व्यक्ति के लिए सभी पशुओं का विश्वरूप=विराट्रूप प्रकट हो जाता है। सूक्त में इस विराट् को ही गौ मान कर साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है, तद्यथा

"प्रजापति और परमेष्ठी ही ब्रह्माण्ड गौ के दो सींग हैं, इन्द्र उसका शिर है, अग्नि ललाट और यम गले की सन्धि है, नक्षत्रों का राजा चन्द्रमा मस्तिष्क है, इस विराट् गौ के द्युलोक और पृथिवी लोक ऊपर नीचे के दो जबड़े हैं, विद्युत् जिह्वा है, मरुद्गण दांत हैं, रेवती गर्दन है, कृत्तिका नक्षत्र कन्धे हैं, ग्रीष्म ऋतु ही कन्धे की हड्डी है, विश्व अर्थात् समस्त संसार वायु अर्थात् प्राण है, मेघ उसका कण्ठ है, विधरणी, लोकों को पृथक्-पृथक् स्थापित करने वाली शक्ति उसका निवेष्य अर्थात् बैठने के कूल्हे या सीमा है, श्येन याग उसका क्रोड़ भाग है, अन्तरिक्ष उसका पाजस्य अर्थात् पेट है, बृहस्पति उसका ककुद् या कोहान भाग है, बड़ी दिशाएं उसके गले के मोहरे हैं, विश्व की दिव्य शक्तियों की पालयित्रियां पीठ के मोहर हैं, उपसद् इष्टियां उसकी पसलियां हैं, मित्र वरुण, त्वष्टा और अर्यमा दोनों बाहुओं के ऊपर के भाग हैं, विद्युत् गुह्य भाग है, वायु पुच्छ भाग है, वहता हुआ वायु उसके बाल हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय उसके कूल्हे हैं, सेनाएं उसकी जंघाएं है, धाता और सविता दोनों टखने हैं गन्धर्व जंघाएं हैं, अप्सराएं खुरों के ऊपर पीछे की ओर लगी खूंटियें हैं अदिति शफ=खुर हैं, समस्त चेतना उसका हृदय है, मेधा बुद्धि उसका यकृत=जिगर है, व्रत उसकी आंते हैं, भूख उसकी कोख है-अन्न या जल उसकी वनिष्ठु=गुदा या बड़ी आंत है, पर्वत मेघ, प्लाशिएं छोटी आंते हैं।

सर्वव्यापक आकाश उसका चमड़ा है, ओषधियां उसके लोम हैं, नक्षत्र उसके रूप अर्थात् उसके देह पर चितकबरे चिह्न हैं। देवजन गुदा हैं, सामान्य मनुष्य उसकी आंते हैं, राक्षस लोग उसके लोहित

---

१. अथर्व० १९-५३;

२. **प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे, इन्द्रः शिरो, अग्निर्ललाटम्, यमः कृकाटम्, सोमोराजा मस्तिष्को, द्यौरुत्तर हनुः, पृथिव्यधरहनुः, विद्युज्जिह्वा, महतोदन्ताः,** रेवतीर्ग्रीवा, कृत्तिका स्कन्धाः, धर्मोवहः, **विश्वं वायुः, स्वर्गोलोकः, कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः, श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं, पाजस्यं बृहस्पतिः, ककुद् बृहतीः, कीकसाः, देवानां पत्नीः पृष्टयः उपसदः पर्शवः, इत्यादि अथर्व ९-७;**

हैं, इतर जन तिर्यंग् योनियां अधपचा अन्न हैं, बादल उसकी चर्बी हैं इत्यादि यही विश्वरूप सर्वरूप गौरूप विराट् है।[१]

वैदिक कोष निघण्टु का आरम्भ ही **'गौ'** शब्द से हुआ है, परन्तु वहाँ यह **'पृथिवी'** नामों में पठित है। **'गौ'** और **'पृथिवी'** की तुल्यता एक बात में अवश्य है कि जिस प्रकार गौ अपने स्तनों में दूध भर कर मनुष्य के ग्रास का प्रबन्ध करती है, तद्वत् पृथिवी रूपी गाय भी गेहूं, जौ, चावल रूप अनन्त स्तनों में दूध भर कर प्राणी मात्र के ग्रास का प्रबन्ध करती है। अथर्व में पृथिवी की स्तुति में कहा गया है, कि जो सुशील गाय की भांति बिना हिले-डुले अपनी दुग्धधाराओं से हमें आप्यायित करती रहती है : **"सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती"**[२]।

पृथिवी की गौ सम्मितता

राजनीति के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है, कि शासक को चाहिए कि वह सारी पृथिवी को प्रत्यक्ष गो रूप समझ कर, उसकी सुरक्षा का व्रत लेकर, समाधिस्थ [सावधान] होकर, इस मन्त्र का जाप करता रहे : **"चतुःपयोधि पयोधरां, धर्मवत्सवतीम्, उत्साहबालधिं, वर्णाश्रमखुरां, कामार्थश्रवणां, नयप्रतापविषाणां, सत्यशौच चक्षुषं, न्याय मार्गाभिमुखीम्' इमां गां गोपायामि, अतस्त-महं मनसापि न सहेयं, योऽपरा ध्येतस्यै"**[३] अर्थात् राजा समाधिस्थ होकर इस मन्त्र को जपे कि—मैं इस गो रूप पृथिवी की रक्षा करता हूं—'चार समुद्र जिसके स्तन हैं, धर्म रूप बछड़े वाली, चार वर्ण, चार आश्रम रूप आठ शफों वाली, काम और अर्थ कानों वाली, नीति और प्रताप सींगों वाली, सत्य और शौच नेत्रों वाली, न्याय मार्ग पर चलने वाली, गौ को जो अपने मन में भी पीड़ा पहुंचाने का विचार करेगा, वह महान् अपराधी समझा जायेगा, फलतः मैं उसे कभी सहन नहीं करूंगा और उसे कड़े से कड़ा दण्ड दूंगा।

महाकवि कालीदास ने महाराजा दिलीप के द्वारा पृथिवी रूपी गाय के दुहे जाने का वर्णन किया है : **"दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्"**[४]।

त्रिविध अज—

वैदिक साहित्य में ब्रह्माण्ड की सम्मितता न केवल **'पुरुष'**, **'अश्व'** **'गो'** पिण्डों से दर्शायी है, अपितु **'अजा'** पिण्ड से भी दर्शायी है। **'अजा'** शब्द का लोक विदित रूढ़ार्थ **'बकरी'** है। दार्शनिक अर्थ **'प्रकृति'** है, वैय्याकरण अर्थ कोई भी **'अजन्मा'** गतिशील तत्त्व है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने तीन अनादि सत्ताओं को **'अज'** और **'अजा'** संज्ञा से अभिहित किया है, तद्यथा—

> **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।**
> **अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनाम् भुक्त भोगामजोऽन्यः**[५]॥

लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण की एक **'अजा'** है, जो अपने ही रंग रूप वाली अनेक प्रजाओं का सृजन कर रही है, एक **'अज'** है, जो उस **'अजा'** के साथ प्रीति करता है, उसके साथ सो जाता है, दूसरा **'अज'** है जो भुक्त भोगा **'अजा'** को छोड़कर रहता है। **'अज'** का अर्थ है : **अ+ज**=जो नहीं पैदा

---

१. तुलना कीजिए अथर्व ११.३ से
२. अथर्व० १२-१, ४५;
३. नी० वा० व्यव० स०
४. रघु० १-२६
५. श्वे० ३०४.५;

होता=अजन्मा=अनादि तत्त्व। तीन अ+ज अर्थात् अनादि हैं, एक भोग्य=सत्त्व, रज और तम रूपिणी **'अजा'** प्रकृति, दूसरा भोगने वाला **'अज'**=जीवात्मा, तीसरा न भोगने वाला साक्षी मात्र **अज**=परमात्मा।

त्रिवर्णा [गुणा] अजा—

मंत्र वर्णित **'लोहित'** वर्ण **'रजस्'** गुण का, **'शुक्ल'** वर्ण **'सत्त्व'** गुण का और **'कृष्णवर्ण' 'तमस्'** गुण का वाचक है। इसी **'सत्त्व' 'रजस्' 'तमस्'** रूपा प्रकृति से **'विराट्'** का जन्म होता है, जो अजा का विजायमान रूप है। प्रजापति के अजायमान और विजायमान दोनों रूप इसी अजा की अपेक्षा से हैं। प्रजापति जब केन्द्रोन्मुखी होता है, तब उसका रूप अजायमान होता है और जब केन्द्रापगामी होता है, तब उसका रूप विजायमान होता है। प्रकृति के लोहित शुक्ल कृष्ण वर्ण उसकी विविधता के, चंचलता के द्योतक हैं। प्रकृति के इस चित्रित रूप को बकरी पशु में प्रत्यक्ष किया जा सकता है। प्रकृति भी बकरी पशु के समान चितकबरी और चंचला है, जिस विराट् की सम्मितता अजा से की गई है, वह स्वयं भी तो चितकबरा है; चित्र विचित्र है; **'विशेषेण राजत इति 'विराट्'** है।

जब कोई भी वस्तु केन्द्रोन्मुखी होती है: तब सभी विविधताएं केन्द्र में स्थित हो जाती हैं, शून्य में विलीन हो जाती हैं, और जैसे ही केन्द्रापगामी होती हैं, वैसे ही विविधता को प्राप्त हो जाती हैं, अनेकता को प्राप्त हो जाती हैं, यह चक्र अबाध गति से चलता रहता है। कभी केन्द्रोन्मुखी तो कभी केन्द्रापगामी, कभी अजायमान कभी विजायमान।

अज एकपाद् देवो[1]—

इस नित्य सिद्धान्त की सूचना [अज] बकरी अपने आचरण से देती है। बकरी अत्यन्त चञ्चल पशु है। बकरी की यह चञ्चलता उस समय सर्वथा लुप्त हो जाती है, जब वह एक पांव पर खड़ा होती है। किसी वस्तु का एक पांव पर खड़े हो जाना वस्तु की स्थितिशीलता का परिचायक है, अडिगता का, अजायमान अवस्था का, **'अ+जा'** का। ऋग्वेद में **'अज'** को **एकपाद्'** कहा भी गया है। शतपथ कारने भी मानो इसी की पुष्टि में कहा है—**'एकपदा ह भूत्वाजा उच्चक्रमुः'**[2]। पुरुष-सूक्त में भी मानो अज पुरुष को अभिलक्ष्य करके कहा गया हो—**'पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'**[3] तथा च—**त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः पादोस्येहाऽभवत् पुनः'**[4]। बकरी का एक पांव पर स्थित होना सभी गतियों को शून्य में परिवर्तित कर देना है मानों शून्य उसकी चञ्चलता को निगल गया हो केन्द्र की परिभाषा शून्य से बढ़कर की भी तो नहीं जा सकती, शून्य नित्य है,=अजन्मा है,=अनादि है। ऋग्वेद में अज की इस अवस्था का वर्णन **अजस्य नाभावध्येकमर्पितम्**[5] मंत्रचरण में किया है। किसी ऐसी ही सत्ता के लिए संभवतः यजु-मन्त्र में कहा है—**'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'**[6]

यजुर्वेद में प्रश्न हुआ है कि कौन है ? कि जो नामरूपात्मक जगत् को निगल रहा है, फिर अगली ही ऋचा में उत्तर दिया गया है, कि अजा ही है कि जो इस नाम रूपात्मक जगत् को निगल

---

१. ऋ० ७.३५.१३; २: श०-८.२ ४,१;
३. ऋ०-१०. ९०. ३; ४. ऋ०-१०-९०-४;
५. ऋ० १०-८२.६; ६. यजु० ३२-८;

जाती है : **'अजारे पिशङ्गिला'**[1], प्रकृति रूप अजा समस्त विश्व को उगल भी देती है निगल भी जाती है, ठीक उसी प्रकार कि जिस प्रकार बकरी=अजा, कटु, अम्ल, तिक्त, मधुर, कषाय रस युक्त समस्त ओषधि वनस्पतियों को निगल जाती है, [निगल जाने का अर्थ है केन्द्र में सिमिट जाना अजायमान अवस्था='अजएकपाद्'] ।

वैदिक साहित्य में प्रकृति की एक संज्ञा **अश्वत्थ**[2] है। प्रकृति को **अश्वत्थ** कहने के दो कारण हैं, एक तो यह कि प्रकृति अश्ववत् स्थित रहती है, दूसरे यह कि प्रकृति का क्या भरोसा कि कल रहे भा या न रहे। **"न-श्व=अ-श्वः, तद्वत् तिष्ठति इति अश्वत्थः**। 'प्रकृति की **अजा'** और **'अश्वत्थ'** संज्ञाएं दोनों पशुओं की गति को अभिलक्ष्य करके की गई हैं। जहां अज [वकरा] पशु एक पांव जमाकर और तीन पांव उठाकर खड़ा हो सकता है, वहाँ अश्व पशु तीन पांव जमाकर और एक पांव उठाकर खड़ा होता है। **अश्व** की स्थिति के बारे में शतपथ में उल्लेख भी हुआ है **'अश्वस्त्रिभिस्तिष्ठंस्तिष्ठंति'**[3] और जब उसे दौड़ना होता है, तो वह चारों पावों का उपयोग करता है।

विराट् का अजा रूप—

निश्चय से अज=अनादि=अजन्मा परमात्मा ने इस संसार को सबसे प्रथम नाना प्रकार से रचा था और उसमें स्वयं व्याप्त हो गया था। इसलिए ब्रह्माण्ड की अजा रूप में कल्पना की जाती है। मानो उस विराट्अज का पृथिवी ही वक्षस्थल है, द्यौ पृष्ठ है, अन्तरिक्ष मध्य=उदरभाग है, दिशाएं दायें बायें पार्श्व भाग हैं, दोनों समुद्र, [द्यावा पृथिवी] उसकी कोखें हैं, सत्य=व्यक्त जगत् और ऋत=अव्यक्त जगत् उसकी दो आंखें हैं, यह विश्व उसका देह है, श्रद्धा प्राण है, विराट् शिरोभाग है और जो यह पञ्च भूतों को ओदनवत् पचाकर निगल जाने वाला महान् अजन्मा परमात्मा है वह ही उसका **'आत्मा'** है[4]।

ग्राम्य पशु और समस्या-समाधान —

पुरुष-सूक्त में **'अश्व' 'गौ' 'अजा'** और **'अवि'** चार **'ग्राम्य'**=सामाजिक पशुओं का उल्लेख हुआ है। ये चारों ही पुरुष-पशु के अन्तेवासी होकर रहें, इसका भी विशेष प्रयोजन है। प्रथम यह कि मनुष्य की दैनिक समस्याओं का समाधान सहज ही उपलब्ध हो जाये, द्वितीय यह कि पुरुष को समाज-निर्माण में इनसे कुछ सहयोग मिल सके, कुछ सीख सकें, तृतीय यह कि सृष्टि रचना विषयक जिज्ञासाओं का समाधान भी इन ग्राम्य पशुओं के माध्यम से किया जा सके। सृष्टि के कारण रूप से कार्य रूप में परिवर्तन होने में उसे किस-किस अवस्था से गुजरना होगा, कब क्या अवस्था थी, हुई और होगी इत्यादि प्रश्नों तथा इसी प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों की समाधान भूमि भी यही ग्राम्य पशु हैं—तद्यथा कारण के **'नित्यत्व'** का प्रतिपादन **'अजा'** पशु से और कार्य जगत् के **'अनित्यत्व'** का प्रतिपादन **'अश्व'** पशु से किया गया है। यह विश्व प्रलयावस्था में अजा था और रचनावस्था में अश्व है। **'प्रकृति-अजा'** ने **विश्व** रूप **अश्व** के रूप में आने तक दो अवस्थाएं पार की, एक **अवि** रूप और दूसरे **गो** रूप। सर्व प्रथम वह अजा रूप थी, फिर अवि रूप धारण किया, तत्पश्चात् गोरूप और अन्त में अश्व रूप।

---

१. यजु०२३.५६; २. यजु० १२-७९; ३. श० ब्रा० ७. ३. २. १४;

४. **"अजः पञ्चोदनो व्यक्रामत, तस्योर इयमभवत्, उदरम् अन्तरिक्षम्, द्यौस्ते पृष्ठम्, दिशः पार्श्वे, दिशश्चातिदिशश्चशृङ्गे, सत्यंचऋतञ्च चक्षुषी, विश्वरूपम् श्रद्धा,** अथ० १९-५-२०-२१ अथ० पैप्पला० ९.५. २०-२१;

प्रकृति अजा रूप में—

यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय में एक ही प्रश्न को दो बार दोहराया गया है और उत्तर भी दो बार दिया गया है। प्रश्न पूछा गया—"**किं स्विदासीत् पिलिप्पिला, किं स्विदासीत् पिशङ्गिला**"[1] अर्थात् कौन सी वस्तु **पिलिप्पिला** थी और कौनसी **पिशङ्गिला** थी। **पिलिप्पिला** का सीधा अर्थ है पिलपिली गिलगिली वस्तु। परन्तु पिशङ्गिला शब्द का अर्थ जानना होगा। **पिशङ्गिला** का अर्थ है, रूपों को निगल जाने वाली। निघण्टु में '**पिश**' शब्द '**रूप**' नामों में पठित होने से रूप का वाचक है और गिल का अर्थ है निगल जाना, तो जो रूपों को निगल जाये सो पिशंगिला है। प्रश्न पूछा गया था कि पिशंगिला कौन है तो उत्तर दिया गया कि '**रात्रि**' ही '**पिशङ्गिला**' है जो समस्त रूपों को निगल जाती हैं। वह तम रूप पर्दा डाल देती है, कि समस्त रूप छिप जाते हैं। दिनावसान पर आने वाली रात्रि क्या सब रूपों को निगल जाती है ? नहीं-नही यह रात्रि तो आवरण मात्र डाल देती है, निगलती नहीं। प्रश्न तो यह था न ? कि कौन है जो कि समस्त रूपों को निगल जाता है ? तो समाधान रूप में ऐसे ही तत्त्व का नाम लेना चाहिए था कि जो वास्तव में रूपों को निगल जाए, अतः उत्तर रूप में वही कहा कि '**रात्रि**।'[2] यहाँ '**रात्रि**' का रूढार्थ न लेकर '**प्रलयकालीन रात्रि**' लेना चाहिये, प्रलयकालीन रात्रि अर्थ लिया जाने पर ही कहा जा सकेगा कि यही वह रात्रि है, जो रूपात्मक जगत् को निगल जाती है। ऋषि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद भाष्य में यही प्रतिपादित किया है कि "**सर्वेषामवयवानां निगलिका' सर्वस्थूल विनाशिका** [रात्रि=प्रलयः]। नासदीय सूक्त में उक्त अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—"**तम आसीत् तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्, तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्**।"[3]

रात्रि का पर्याय अजा—

पिशङ्गिला क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर दिये जाने पर भी मानो जिज्ञासु को इस उत्तर से समाधान प्राप्त नहीं हुआ; वह पुनः पूछ बैठा कि अरे निश्चय से बताओ ! कि वह '**पिशङ्गिला**' कौन है ? और अरे भई ! यह भी निश्चय से कहो कि वह किस प्रकार समस्त रूपों को निगल जाती है, तो इस पर उत्तरदाता भी मानो समाधिस्थ होकर बोल उठा, कि अरे भई कह तो दिया '**अजा**' ही **पिशङ्गिला** होकर समस्त रूपों को निगल जाती है और यह जो पूछते हो कि किस प्रकार निगल जाती है ? तो भाई सुनो ! जिस प्रकार कुत्ता अपने उगले हुए को पुनः निगल जाता है, तद्वत् यह प्रकृति रूपा अजा भी अपनी उगली हुई सृष्टि को प्रलयावस्था में पुनः निगल जाती है अर्थात् कारणरूप में परिवर्तित करती है। बस कुत्ते और अजा में यही अन्तर है कि कुत्ता उसे अपने से बाहिर उगल कर पुनः निगलता है, परन्तु अजा उसे अपने अन्दर ही उगलती है, पुनः अन्दर ही निगलती है जुगालती रहती है। यह प्रक्रिया सतत चलती रहती है। सुनो अरे भई सुनो ! "**अजारे ! पिशङ्गिला श्वावित् कुरु पिशङ्गिला**।"[4]

अजा से अविरूप में—

जब अजा अपने उदर से सृष्टि को उगलती है, तो वह '**पिलिप्पिला**' अवस्था होती है, **गिल-गिली सी, लिसलिसी सी**, मानो नवजात शिशु मानो ऊन से भरी भेड़ हो, जो हाथ में लेते ही फिसल जायेगी सम्भाली न जायेगी। बस ऐसी ही अवस्था के बारे में पूछा गया था कि '**पिलिप्पला**' क्या

---

१. यजु० २३-११
२. यजु० २३-१२
३. ऋ० १०.१२९.३
४. यजु० २३.५६

है ? तो उत्तर देते हुए कहा गया कि अरे भई एक बार बता तो दिया, फिर दुबारा पूछते हो, तो कान खोलकर सुन लो कि **'अविरासीत् पिलिप्पिला'**[1] सृष्टि के आरम्भ में यही नवजात पृथिवी ही पिलपिली थी। मानो हाथ से फिसल जायेगी फिर क्या होगा, परन्तु उस धाता ने इसे थामा हुआ था, फिर समय आया कि वह **अवि** रूप से **गो** रूप में परिवर्तित हुई।

पिलपिली अवि [भेड़]—

तो यह **अजा** रूप में विद्यमान रहती है और जब यह सृष्टि कार्य रूप में आती है तब यह **'अश्व'** रूप में विद्यमान रहती हैं। जब कारण रूप से कार्य रूप की ओर अग्रसर होती है, तो उस समय सृष्टि **'अवि'** रूप में परिणत हो जाती है। **पिलपिली** अवस्था को प्राप्त हो जाती है स्वयं श्रुति ने कहा भी है **"अविरासीत् पिलिप्पिला"**[2] घनी ऊन वाली अवि-भेड़ पर हाथ डालते ही ऐसा लगता है मानो कोई पिलपिली वस्तु हो उसमें हाथ धंस जाता है। सृष्टि रचना-उपक्रम के समय प्रकृति की भी यही अवस्था थी, वह पिघली हुई थी, उसे कोई भी रूप दिया जा सकता था। किसी भी सांचे में ढाला जा सकता था। सर्वथा वैसी ही कि जैसी कुम्हार के चाक पर रखी हुई पिलपिलि मिट्टी। अब चाहो कोई रूप दे दो, चाहो उससे कुछ भी बना लो, चाहे पृथिवी लोक, बनाओ। चाहे द्यु लोक। चाहे त्रिलोकी घड़लो। अब तो वह **अविरूप** में है, **पिलिप्पिला** है।

अवि सम्मितोऽयं विराट् —

'विराट्' और **'अवि'** की परस्पर सम्मितता दिखाने के लिए अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का उनतीसवां सूक्त पर्याप्त है, उसका देवता ही **'शितिपाद अवि'** है, चोथे पांचवें मंत्र में **'शितिपादमविं लोकेन सम्मितम्'**[3] वाक्य आए हैं। जिस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में **'लोहित' शुक्ल कृष्ण** रूपा **अजा** का वर्णन है, उसी प्रकार मैत्रायणी संहिता में **कृष्णा, लोहिनी** और **बलाक्षी** रूपा **'अवि'** का वर्णन है **'यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् साविः कृष्णाभवद्, यद् द्वितीयं सा लोहिनी, यत् तृतीयं सा बलाक्षी।'**[4] अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में रचना से पूर्व जो प्रलयकालीन तम को हटाया गया, तब जो **'अवि=पृथिवी'** की अवस्था थी, उसका वर्ण **लाल** था, मानो **लाल भेड़** हो। जब तम को तीसरी बार हटाया गया, तब जो **अवि=पृथिवी** उसका वर्ण **'श्वेत'** था, मानो सफेद **भेड़ हो**। प्राय भेड़ तीन रंगों की ही उपलब्ध होती है, **काली, लाल** अथवा **श्वेत**। अजा की भांति चितकबरी नहीं। अवि के ये तीनों वर्ण त्रिगुणात्मिका प्रकृति के ही द्योतक हैं वहां पृथिवी की तीन अवस्थाओं के भी द्योतक हैं। शतपथ में **'पृथिवी'** को **'अवि'** कहा गया है **इयं [पृथिवी] वा अविरियं हीमा सर्वा प्रजा अवति**[5] अर्थात् यह **'पृथिवी' 'अवि'** है, निश्चय ही यह समस्त प्रजा की रक्षा करती है। जिस प्रकार भेड़ अपनी ऊन से पुरुष और अन्य प्राणियों के शरीरों को आच्छादन देती है उसी प्रकार पृथिवी भी अपनी ओषधि-वनस्पति रूप ऊन कपासादि से आच्छादन का प्रबन्ध कर सब की रक्षा करती है। तथा च सृष्टि के आरम्भ में जब कि प्राणियों की रचना माता पिता के बिना हुई थी, उस समय सूर्य पिता हुआ, तो पृथिवी माता बनी। उसीने समस्त प्राणियों को अपने उदर में रखकर रक्षा की थी, और अब भी आपिपीलिकाहस्ति पर्यन्त प्राणियों को अपने गुहादि क्रोड में लेकर रक्षा करती है। इसकी संभावना तभी है कि जब पृथिवी पिलिप्पिला अवस्था

---

१. यजु० २३.५४ २. यजु० २३.५४ ३. अथर्व० २९.३.३
४. मै० ४.५.७ ५. शतपथ० ६.१.२.३३

से कठोर अवस्था को प्राप्त हो जाए कि जब उस पर ओषधि वनस्पति रूप ऊन आ जाए। पृथिवी की इन तीन अवस्थाओं का अवि पशु के तीन वर्णों द्वारा प्रतिपादन किया गया है। पृथिवी रूप अवि भी इन्हीं तीनों रूपों को धारण करती है, यदि देखना हो तो इसके तीनों रूपों का दर्शन प्रतिदिन किया जा सकता है। सूर्य वह शक्ति है, जो सभी वस्तुओं में रूपरंग भरता है। सृष्टि के आरम्भ में पृथिवी के त्रिविध रूपों का कारण भी सूर्य ही था और आज भी सूर्य ही है। सूर्य के कारण पृथिवी के ये तीनों रूप प्रतिदिन देखे जा सकते हैं। सूर्य के अस्त होते ही पृथिवी **'काली भेड़''** बन जाती है; सूर्य के उदय होते ही पृथिवी 'लाल भेड़ बन जाती है और मध्याह्न के समय तो पृथिवी **'श्वेत भेड़'** का रूप धारण कर लेती है। पृथिवी रात्रि को दिन की अपेक्षा पिलपिली और मध्याह्न में कठोर हो जाती है। जो पृथिवी मध्याह्न में सर्वथा शुष्क और नीरस होती है, वही पृथिवी रूप अवि रात्रि को गीली और सरस हो जाती है। ओषधियों का अधिपति चन्द्रमा अपना रस बरसा कर पृथिवी रूप अवि के ओषधिरूप रोमों=वालों को भिगो जाता है और जब व्यक्ति फैली हुई घास पर हाथ अथवा पैर मारता है, तो ऐसा लगता है कि पृथिवी **पिलिप्पिला** है।

किसी भी वस्तु का विराट् रूप उसका विवृत रूप=खुला हुआ रूप है। खुले हुए रूप की पहिचान है, उसके तीनों लोकों का प्रत्यक्ष हो जाना; वस्तु के त्रिविध लोकों का प्रत्यक्ष होना उसके सत्त्व रजस् और तमस् त्रिविध रूपों का प्रकट होना और इन तीनों रूपों का भी आधार हे, मूल प्रकृति जब प्रकृति अपने इन तीनों सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों को अभिव्यक्त करती है, तब उसका वह विराट् रूप होता है। **'तम'** का सम्बन्ध **'पृथिवी'** लोक से है, **'रजस्'** का **'अन्तरिक्ष'** लोक से और **'सत्त्व'** का **'द्युलोक'** से। यह आवश्यक नहीं कि विराट् रूप में उसके तीन लोक ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों की भांति प्रकाश में आएं, अपितु हर वस्तु की, हर तत्त्व की, यहाँ तक कि अणु-अणु की अपनी त्रिलोकी ह बस उस वस्तु का अपनी-अपनी त्रिलोकी के रूप में स्पष्ट हो जाना, उसके विराट् रूप का दर्शन है। इस प्रकार ग्राम्य पशु **'अवि'** के रूप में यही समझना होगा कि अवि के **'कृष्ण' 'लोहित'** और **'श्वेत'** वर्ण वाली होना उसके तमस् रजस् और सत्त्वरूप का प्रगट होना है-अर्थात् उसके पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक तीनों लोकों का अस्तित्व में आना है। और जब लोक [ब्रह्माण्ड] की ग्राम्य पशु अवि से तुलना की जायेगी, तो पृथिवी में ही उसके विराट् रूप का दर्शन होगा, न कि ब्रह्माण्ड में। पीछे उल्लेख हुआ है कि यह पृथिवी अवि है। इसके पिलपिली अवस्था से ठोस अवस्था तक पहुंचने में जो तीन **काला लाल और श्वेत** वर्ण प्रकट हुए हैं वही पृथिवी-अवि का विराट् रूप है।

ग्राम्य पशुओं की इस चौकड़ी में क्रम इस प्रकार रहना चाहिये—सर्व प्रथम अजा पश्चात् अवि तत्पश्चात् गौ और अन्त में अश्व। प्राय: देखा गया है कि यदि इन ग्राम्य पशुओं को समूह रूप में हांका जाय, तो बकरी सबसे आगे रहेगी, बकरी के पीछे अवि और अवि के पीछे गौ। ध्यान रहे कि इन ग्राम्य पशुओं जो हांकने वाला पुरुष भी तो ग्राम्य पशु ही है। उसे इनके पीछे रहना होता है। ग्राम्य पशुओं की चाल के इस क्रम से मनुष्य को इस बात का प्रत्यक्ष कराया जा रहा है कि विश्वरचना में भी यही क्रम रहता है। सृष्टि रचना से पूर्व प्रकृति अपनी अजा अवस्था में होती है, उस समय उत्पत्ति की स्थिति नहीं होती, सर्वथा अ+जा [न जाता] होती है। उसके अनुपद अवि है, उस अवस्था में प्रत्येक वस्तु का यही रूप होता है कि वह पिलपिली अवस्था से ठोस अवस्था की ओर आये। यही उसका

अविरूप होता है। वस्तु के ठोस रूप होते ही वह सबका आधार बन जाती है। पृथिवीरूप अवि का भी पिलपिली अवस्था से ठोस अवस्था में आ जाना प्राणियों की प्रतिष्ठा बनाना है। पृथिवी भी अवि [ग्राम्य पशु] की भांति ओषधि वनस्पति रूप बालों से भर जाती है और प्राणी मात्र के वस्त्र और आच्छादन का प्रबन्ध करती है।

इससे अगला क्रम गौ पशु का है। गौ, पृथिवी की वह अवस्था है कि जब पृथिवी सूर्य को केन्द्र बनाकर अपनी धुरी पर घूमने लगती है और परिणाम स्वरूप अपनी कुक्षी में अजस्र दुग्ध धाराओं को भर लाती है। किसी भी वस्तु के अवि और गोरूप में यही अन्तर होगा कि वस्तु के ऊपर आवरण का आ जाना अविरूप है और उसके गर्भ में दुग्ध का भण्डार भर जाना गोरूप हैं। जब उसकी कुक्षी में दुग्ध की बहुतायत हो जाती है तब वह अविरूप से गोरूप में उत्क्रमण करती है।

अब आया अश्व पशु, इसका सम्बन्ध पृथिवी से न होकर द्युलोक से है। इसलिए अश्व विराट् का वर्णन करते हुए हमने वेद के प्रमाण से अश्व को सूर्य अथवा काल कहा है। यह काल रूप अश्व ही है, जो अजा को अवि और गोरूप में परिवर्तित करता है; कारण से कार्य रूप में परिणत करता है। जहां काल-अश्व अन्य ग्राम्य पशुओं का अधिष्ठाता है, वहां उस काल अश्व को हाँकने वाला पुरुष भी पशु हैं, जो सबका अधिष्ठाता, नियन्ता है, इनकी एक-एक चेष्टा और गति के पीछे विद्यमान है, मानो वह विश्व के हर प्राणी को चला रहा है।

ग्राम्य पशुओं की लोक सम्मितता दिखाने का एक मात्र प्रयोजन यह है कि कर्मात्मा पुरुष के सामने यह आदर्श रहे कि जब-जब वह वर्णात्मा अथवा आश्रमात्मा पुरुषों का निर्माण करने लगे, तो इन ग्राम्य पशुओं की उपेक्षा न करे। यतः वर्णात्मा पुरुष की भी प्रकृति-विकृति है, कारण और कार्य भाव है। शूद्र वह अजा पशु है, जिसमें से पशुओं का विकास होना है। वैश्य अविरूप है, ब्राह्मण गोरूप है और क्षत्रिय अश्वरूप है। वैश्य का कर्त्तव्य हैं कि वह व्यक्तियों को बाह्य परिधान वस्त्र आच्छादन देता रहे। और उसके साथ-साथ उनके लिए दुग्ध सामग्री का भी प्रबन्ध करे। इस बात को अवि पशु से सीखा जा सकता है। जहां वैश्य व्यक्तियों की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, इसका प्रतिनिधित्व ग्राम्य पशु गौ के द्वारा कराया गया है। गौ पशु अपनी कुक्षी में दुग्ध धाराओं का समेटे हुए है। इनको सुव्यवस्थित और अनुशासित रूप से चलाने के लिए क्षत्ररूप शासक पशु की आवश्यकता है, जिसे कल की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। इन सबका शास्ता परिव्राट् पुरुष है, जो वर्णात्मा पुरुष के चतुर्विध घटक ग्राम्य पशुओं को हाँकता है।

सूक्त की केन्द्रीय विचार धारा के तृतीय बिन्दु अश्व गौ, अजा, अविरूप पिण्डों की ब्रह्माण्ड से सम्मितता दिखाने के सुपरिणाम, जहाँ वर्णात्मा पुरुष का सुव्यवस्थित निर्माण होगा, वहां मेध-प्रकरण की पूर्वपीठिका भी व्यवस्थित हो सकेगी। परिणाम स्वरूप अश्वमेध, गोमेध, अविमेध और अजामेध का स्पष्टीकरण किया जा सकेगा, जिसका विशद वर्णन पञ्चम अध्याय में किया जायगा। सूक्त की केन्द्रीय विचारधारा के **'तृतीय बिन्दु'** का स्पष्टीकरण यहीं समाप्त करते हैं।

केन्द्रीय विचार धारा का चतुर्थ बिन्दु—

पुरुष सूक्त अपने अध्येता को ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखागत शास्त्र का अध्ययन अत्यन्त सरल उपाय से कराता है। वह उपाय है—कि प्रति शाखागत शास्त्र को सर्वप्रथम पुरुष रूप में कल्पित
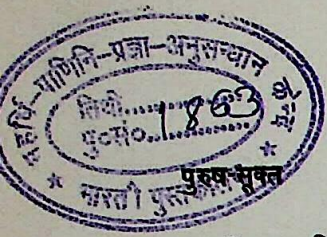
कर लेना चाहिए, [सूक्त के **'यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्'** से यही ध्वनित होता है] जिससे वह शास्त्र अति शीघ्र बुद्धिगम्य हो जाए। पुरुष सूक्त के इसी एक सिद्धान्त ने वेद वैदिक एवं वैदिकेतर [भागवत्=पुराण, इतिहास काव्य आदि शास्त्रों को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने अपने अपने शास्त्र को पुरुष रूप में कल्पित करके प्रतिपादित किया तद्यथा—

[क] १-ज्येष्ठ ब्रह्म-पुरुष—

अथर्ववेद[1] में ज्येष्ठ ब्रह्म को निम्न प्रकार पुरुषाकृति में बांधा गया है:—

'यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षम्-उतोदरम्, दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्—तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश् च पुनर्णवः। 'अग्निं यश्चक्रे आस्यम्, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः, यस्य वातः प्राणापानौ, चक्षुर्, अङ्गिरसोऽभवन्, दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः; तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः;

—भूमि जिसका चरण [पादपीठ] है, अन्तरिक्ष उदर है, द्युलोक मूर्धा [शिर] है, सूर्य आंख है, चन्द्रमा मन, और अग्नि मुख है, वायु जिसका प्राण और अपान है, दिशाएं जिसकी विश्वतो मुख श्रुतियां हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।

२-स्कम्भ पुरुष—

अथर्ववेद के प्रसिद्ध स्कम्भ सूक्त[2] में 'स्कम्भ [पुरुष] का कल्पना द्रष्टव्य है—

यस्य शिरो वैश्वानरश् चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्,
अङ्गानि यस्य यातवः; ....
यस्य ब्रह्म मुखम्, आहुर् जिह्वा मधुकशामुत,
विराजम्-ऊधो यस्याहु=स्कम्भं तं ब्रूहि—कतमत्स्विदेव सः

वैश्वानर जिसका शिर है, अंगिरा जिसका चक्षु है, गतिमान समस्त लोक जिसके अङ्ग है, ब्रह्म अर्थात् वेद जिसका मुख है, वर्षा आदि ऋतुएं जिसकी जिह्वा हैं, विराज् जिसका ऊधस् है बताओ वह सबका आधार **'स्कम्भ पुरुष'** कौन है?

३-अज पुरुष—

अथर्ववेद[3] में अज पुरुष का कितना विशद वर्णन है:—**'अजो वा इदमग्रे व्यऽक्रमत। तस्योरः इयम्—अभवद्, द्यौः पृष्ठम् अन्तरिक्षं' मध्यं दिशः पार्श्वे, समुद्रौ कुक्षी, सत्यं च ऋतं च चक्षुषी, विश्वं सत्यम् श्रद्धा प्राणो, विराद् शिरः।**

अर्थात् सृष्टि के भी पूर्व वह अजन्मा परमेश्वर इस संसार में व्याप्त है जिसकी छाती यह भूमि थी, पीठ द्यौः थी अन्तरिक्ष उदर था दिशाएं दोनों पार्श्व थीं और समुद्र कुक्षी थे, सत्य और ऋत उसकी आंखें बने। विश्व और सत्य, श्रद्धा और प्राण कहलाए, जबकि विराट् शिरः स्थानीय हुआ।

४-ओदन पुरुष—

अथर्ववेद[4] में ओदन-पुरुष का भी वर्णन द्रष्टव्य है। **'तस्यौदनस्य' बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्, द्यावा पृथिवी श्रोत्रे, सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी, सप्तऋषयः प्राणापानाः।**

उस ओदन पुरुष का बृहस्पति शिर है, ब्रह्म-ब्रह्मज्ञान या वेद उसका मुख है, द्यौ और पृथिवी

---

१. अथर्व० १०.७.३२-३४
२. अथर्व० १०-७.१८,१९,
३. अथर्व० ९.५.२०,२१,
४. अथर्व० ११.३.१,२,

उसके कान हैं, सूर्य और चन्द्रमा उसकी दो आंखें हैं, सात ऋषि उसके प्राण अपान आदि शरीरगत वायु हैं।

५–राजाधिराज-सम्राट्-पुरुष —

सूक्त में चार पुरुषों का वर्णन है उनमें से चातुर्वर्ण्य पुरुष का विशद वर्णन अष्टम अध्याय में करेंगे, यहां हम इस, से भिन्न यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के आरम्भिक मन्त्रों में वर्णित राजाधिराज पुरुष का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत करेंगे। राज्याभिषेक के अवसर पर राष्ट्र पुरोहित राजा और प्रजाजन दोनों का प्रतिनिधि होकर पूछता है; हे सुश्लोक! सुमङ्गल! सत्यराजन्! प्रजाजनों को अपना परिचय देते हुए बताएं, कि आप **'कोऽसि'! कतमोऽसि! कस्मै त्वा! कायत्वा?**[१] कौन हैं! आपकी श्रेणी कौनसी है किस प्रयोजन के लिए यहां आपका अभिषेक किया गया है; इसके समाधानोत्तर में जो विश्वसम्राट् पुरुष अपना परिचय देता है उसे तूलिका अथवा छैनी से चित्रित अथवा उत्कीर्ण कर सकना कठिन है वह कहता है कि :—

> **शिरो मे श्रीर्, यशो मुखं, त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि,**
> **राजा मे प्राणो अमृतं, सम्राट् चक्षुर्, विराट् श्रोत्रम्,**
> **जिह्वा मे भद्रं, वाङ् महो, मनो मन्युः, स्वराड् भामः,**
> **मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीर्, अङ्गानि मित्रं, मे सहः;**
> **बाहू मे बलमिन्द्रियम्, हस्तौ मे कर्मवीर्यम्,**
> **आत्मा क्षत्रम् उरो मम, पृष्ठीर् मे राष्ट्रम्-उदरम्,**
> **अंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी, ऊरू अरत्नी जानुनी,**
> **विशो मेऽङ्गानि सर्वतः; नाभिर् मे चित्तम्=विज्ञानम्,**
> **जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि, विशि राजा प्रतिष्ठितः;**[२]

—हे प्रजाजनो! राज्य में अभिषिक्त मुझ राजा का राष्ट्रों की श्रीः ही **शिर** हैं, यश, **मुख** है, राष्ट्र-तेज, ओज, कान्ति, पराक्रम, शौर्य मेरे **केश** और **श्मश्रु** हैं, राष्ट्रों के विभिन्न जनपदों के राजा मेरे **प्राण** और जीवन **अमृत** हैं, राष्ट्रों के सम्राट् मेरी **आंख** हैं, वि-राज [विगत शासन] स्थिति मेरे **श्रोत्र** हैं, राष्ट्रों की भद्रवाक् ही मेरी **जिह्वा** है, राष्ट्रों की महत्ता ही मेरी **वाणी** ह, राष्ट्रों का मन्यु ही मेरा **मन** है, राष्ट्रों के व्यक्ति व्यक्ति की दीप्ति ही मेरा **क्रोध** है, राष्ट्रों के आमोद प्रमोद ही मेरी **अंगुलियां** हैं मेरे **अंग** हैं, राष्ट्रों पर आने वाली हर आपत्ति को सहन करने वाले मेरे मित्र ही मेरी **सह** [न] शक्ति हैं। सेनापति और समस्त सैन्यबल ही मेरी **बाहू** हैं, वीर्योचित कर्म ही मेरे **हाथ** हैं, राष्ट्रों को क्षति से बचाने वाला क्षात्रबल मेरा **आत्मा** और विशेषकर मेरी **छाती,** है **ढाल** है; राष्ट्र और जनपद मेरी **पीठ** हैं [**विशः**] वैश्य और प्रजाएं क्रमशः **उदर, कन्धे, ग्रीवा, जांघ, गट्टे, घुटने** अधिक क्या कहूं मेरे अङ्ग ही हैं। राष्ट्र की चिन्तन शक्ति मेरी **नाभि** है और राष्ट्रों की धारणाशक्ति मेरी **जंघाएं** और **पैर** हैं। यही कारण है कि मैं—

> **प्रतिक्षत्रे, प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे, प्रत्यश्वेषु, प्रतितिष्ठामि गोषु प्रत्यङ्गेषु, प्रतितिष्ठामि आत्मन्, प्रति प्राणेषु, प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे।**[३]

---

१. यजु० २०. ४   २. यजु० २०. ५–९   ३. यजु० २०. १०

६-वर्णात्मा पुरुष —

वेद की छाया में महाभारत कार ने **'वर्णात्मा पुरुष'** का वर्णन निम्न शब्दों में किया है :

ब्रह्म वक्त्रं, भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः। पादौ यस्याश्रिता शूद्राः, तस्मै वर्णात्मने नमः।[१]

ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय भुजाएं हैं वैश्य [सम्पूर्ण] ऊरु-उदर हैं' आश्रयभूत शूद्र जिसके चरण हैं उस वर्णात्मा पुरुष को नमस्कार है।

वेदेतर संस्कृत साहित्य में समुपलब्ध 'पुरुष'—

इस प्रकार वेद-संहिताओं में समुपलब्ध पुरुष–कल्पना के छः प्रसंगों का वर्णन हुआ। पुरुष-सूक्त की पुरुष-रूप कल्पना का प्रभाव वेदेतर साहित्य में भी इतना हुआ कि विभिन्न क्षेत्रों में पुरुषों की कल्पना की जाने लगी। समुपलब्ध पुरुष-कल्पनाओं के ये प्रसंग इस कल्पना-शैली के जहां सजीव उदाहरण हैं, वहां वे मनोरंजक भी कम नहीं।

७-संवत्सर पुरुष—

तैत्तिरीय-संहिता[२] में संवत्सर की भी पुरुष के रूप में कल्पना की गयी है.........**'संवत्सरो वा अग्निर्ऋतुस्थास्तस्य वसन्तः शिरो, ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षो, वर्षाः पुच्छम् शरदुत्तरः पक्षो हेमन्तो मध्यम्, पूर्वपक्षाः चितयः परपक्षाः पुरीषम्, अहोरात्राणि इष्टकाः।**

८-लोकात्मा पुरुष—

शान्ति पर्व[३] में आया है:—**'यस्याग्निरास्यं, द्यौर्मूर्धा, खं नाभिश्चरणौ क्षितिः, सूर्यश्चक्षुर्, दिशः श्रोत्रे, तस्मै लोकात्मने नमः।** प्रकारान्तर से इसी 'लोक पुरुष' का वर्णन **'अमूर्त=सर्व भूतान्तरात्मा'** रूप में मुण्डकोपनिषद्[४] में भी हुआ है तद्यथा **'अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे, वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी एष भूतान्तरात्मा॥**

९-[सप्तांग] राज्य पुरुष—

राज्य की पुरुष-रूप कल्पना अनेक स्थानों पर की गई है। शुक्रनीति में पुरुष के सप्तांगों का सविस्तर वर्णन आया है। **'दृगमात्य, सुहृच्छोत्रं मुखं कोशो, बलं मनः। हस्तपादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि।**[५]

१०–दण्ड-पुरुष—

दण्ड का वर्णन शान्तिपर्व में 'उग्र महान् पुरुष, के रूप में पर्याप्त विस्तार से हुआ है।

नीलोत्पलदलश्यामचतुर्दंष्ट्रश्, चतुर्भुजः, अष्टपाद्, नैंकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान्, जटी, द्विजिह्वस्, ताम्रास्यो, मृगराजतनुच्छदः एतद् रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुराधरः[६]

११-वेद पुरुष—

कौषीतकी उपनिषद् १-६ में वेदों की भी पुरुष रूप में कल्पना की गई है, **यजुः** [वेद] को

---

१. महा० भा० ३.१८७.१३
२. तैत्ति० सं० ५,७.६.५.६,
३. म० भा० शा० प० ४७.६८,
४. मु० उ० २.१.४,
५. शु० नी० १.६१-६२,
६. म० भा० शा० प० १२१.१५,१६,

उदर, साम [वेद] को शिर और ऋक् [वेद] को मूर्ति=शरीर माना है, तद्यथा—**यजूदरः, सामशिरा असावृङ् मूर्तिरव्ययः**"

याज्ञवल्क्य के नाम से प्रचलित पाणिनीय-शिक्षा में भी वेद पुरुष की कल्पना की गई है। वेदांग शब्द ही इसका प्रमाण है कि इनका अङ्गी वेद पुरुष है तद्यथा—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते, ज्योतिषामयनं चक्षुर्, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते। शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।[1]

वेद पुरुष के छन्द तो पैर हैं, कल्प [शास्त्र] हाथ है, ज्योतिष [शास्त्र] उसके चक्षु हैं, निरुक्त श्रोत्र कहा गया है। शिक्षा [शास्त्र] वेद का घ्राण कहा गया है, व्याकरण को मुख इसलिए वेद का अध्येता इन उपर्युक्त वेदाङ्गों का अध्ययन करके ही ब्रह्म=वेद लोक में महिमा को प्राप्त होता है।

१२-पुराण पुरुष—

पद्म पुराण [१-६२-२-७] में विष्णु को शरीर मानकर १८ पुराणों को भगवान् के १८ विभिन्न शरीरावयवों के रूप में विभक्त किया गया है।

"ब्रह्म मूर्धा हरेरेव, हृदयं पद्मसंज्ञितम्, वैष्णवं दक्षिणो बाहु, शैवं वामो महेशितुः, ऊरू भागवतं प्रोक्तं, नाभिः स्यान्नारदीयकम्। मार्कण्डेयं च दक्षाङ्घ्रिर्, वामो ह्याग्नेयमुच्यते, भविष्यं दक्षिणो जानुर्विष्णोरेवमहात्मनः, ब्रह्मवैवर्तसंज्ञं तु वामजानुरुदाहृतः, लैङ्गं तु गुल्फकं दक्षं वाराहं वामगुल्फकम् स्कन्दं पुराणलोमानि, त्वगस्य वामनं स्मृतम्, कौर्मं पृष्ठं समाख्यातं, मात्स्यं, मेदः प्रकीर्त्यते, मज्जा तु गारुडं प्रोक्तं ब्रह्माण्डमस्थि गीयते।'[2]

१३-काव्य पुरुष—

काव्य-मीमांसा में काव्य का भी पुरुष रूप में वर्णन किया हैं—

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः पैशाचं पादौ उरो मिश्रम्, समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि उक्तिवर्णं च ते वचः रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।[3]

अर्थात् काव्य पुरुष का शब्दार्थ शरीर है, संस्कृत भाषा मुख है, प्राकृत भाषा बाहु है, अपभ्रंश भाषाएं जघनस्थल हैं, पैशाच भाषा पैर और मिश्रभाषा ऊरू हैं, वचन विन्यास वाणी है, तो रस आत्मा और छन्द रोम हैं, अनुप्रास उपमादि अलङ्कार आभूषण हैं।

इस प्रकार पुरुष सूक्त की केन्द्रीय विचार धारा के चतुर्थ बिन्दु गत सिद्धान्त ने वैदिक एवं वैदिकेतर साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया है यह दिखाकर संगति-सूत्र नामक द्वितीय अध्याय को समाप्त करते हैं।

---

१. पा० शि० ४१.४२, २. पद्म पुराण १.६२.२.,७

३. काव्य मीमांसा, पृ० १३.१४,

तृतीय अध्याय

परमतत्त्व पुरुष

प्रथम अध्याय में पुरुष-सूक्त की इयत्ता, स्थिति, महत्ता, क्रमादिभेद तथा ऋषि, देवता, छन्द स्वर आदि पर विचार किया गया ; वह हमारा सूक्त से प्रथम [प्रायः बहिरंग] परिचय था। अनन्तर हमने सूक्त के अन्तः सूत्र-रूप महावाक्य को ग्रहण करने का यत्न किया—**लोकोऽयं पुरुष सम्मितः।** इस अध्याय में सूक्त के प्रमुख आधार [परम तत्त्व] **'पुरुष'** का विवेचन प्रस्तुत है।

हमारे 'विवेचनात्मक अध्ययन' के विषय वैदिक 'पुरुष-सूक्त' की इस संज्ञा का कारण इस सूक्त का प्रतिपाद्य देवता है। जैसा कि प्रथम अध्याय में लिखा जा चुका है—सूक्त अथवा मन्त्र जिस विषय को कहे उसी को देवता कहा जाता है। सूक्त में स्वयं **'यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्'**[1] कह कर पुरुष की बहुविध-कल्पना का संकेत विद्यमान है।

सूक्त में क्रमशः **'तीन पुरुष'** प्रकाश में आते हैं—**ब्रह्माण्ड पु०, पिण्ड पु०,** एवं **समाज पु०।** पुरुष के निवास के लिए सर्वप्रथम **'पुर'** की आवश्यकता होती है; और सूक्त में ब्रह्माण्ड-रूप पुर, पिण्ड-रूप पुर और समाज-रूप पुर के स्पष्ट संकेत भी हैं। मनुष्य देह की भाँति उनके मुख, बाहु, ऊरु एवं पाद अवयवों तक का स्पष्ट उल्लेख किया गया है ; व्युत्पत्त्या इन तीनों पुरों में शयन करने वाला तत्त्व स्वतः पुरुष कहलाएगा। **'ब्रह्माण्ड'**—पुर में निवास अथवा शयन करने वाले पुरुष को **विराट्** अथवा **ब्रह्म, 'पिण्ड'**-पुर में निवास अथवा शयन करने वाले पुरुष को **एकराट्** अथवा **आत्मा** और **'समाज'-पुर** में बसने अथवा शयन करने वाले पुरुष को **सम्राट्** अथवा राजा कल्पित किया जा सकता है। इस प्रकार सूक्त के प्रतिपाद्य पुरुष को स-विशेष [विशिष्ट संज्ञा से युक्त] तीन विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है।

ऋक्-संहिता में पुरुष शब्द का प्रयोग कुल चौदह बार हुआ है, उसमें भी नौ बार पुरुष-सूक्त में, केवल पांच बार अवशिष्ट संहिता में। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि सूक्त के प्रतिपाद्य विषय पुरुष का कितना महत्व है। इसी प्रकार—यजुः-संहिता में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग **छब्बीस** बार हुआ है, जिसमें से पुरुष शब्द का दस वार प्रयोग पुरुषमेधाध्याय [अध्याय ३१] में हुआ है, सोलह वार अवशिष्ट संहिता में। अथर्व संहिता में पुरुष शब्द का प्रयोग **एक सौ सोलह** वार हुआ है जिसमें से केवल नौ वार पुरुष-सूक्त में।

'पुरुष' शब्द का निर्वचन, अर्थ और व्यापकता

आचार्य यास्क का मत—

प्रसंगोपात्त 'पुरुष' शब्द के निर्वचन, अर्थ और उसकी व्यापकता पर विचार प्रस्तुत है।

---

१. पु० सू० १०. ९०. ११

आचार्य यास्क ने निरुक्त में पुरुष शब्द के निम्न निर्वचन किए हैं— [क] पुरिषादः ; [ख] पुरिशयः; [ग] पूरयतेर्वा ; [घ] पूरयति-अन्तर् इति [आन्तरपुरुषमभिप्रेत्य][1]

यास्क के अन्तिम निर्वचन से ज्ञात होता है कि आन्तरपुरुष को अभिप्रेत करके यह निरुक्ति की गयी है। वह आन्तरपुरुष ईश्वर है इस बात को पुनः वहीं तैत्तिरीय आरण्यक की एक **'ऋचा'** से स्पष्ट भी कर दिया गया है।[2] प्रतीत होता है जैसे वैदिक साहित्य में उपलब्ध सभी निर्वचनों को अर्थ-दृष्ट्या प्रस्तुत सूची में समाविष्ट कर लिया हो।

१. पुरिषादः[3] —

यास्क ने प्रथम निर्वचन 'पुरिषादः' 'पुरिसीदति इति' किया है। निर्वचन करते हुए यास्क ने सर्वप्रथम, अपनी शैली के अनुसार, शब्द को अतिपरोक्षवृत्ति से परोक्ष-वृत्ति वाला बनाया है, अर्थात् 'पुरुषः' से 'पुरिषादः' बनाया है, जिसे व्याकरण-प्रक्रिया से सिद्ध किया जा सकता है। 'पुरिषादः' वद सप्तम्यन्त 'पुरि' उपपद पूर्वक षद्लृ धातु से घञ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। पुनः इस परोक्ष-वृत्ति पुरिषादः का प्रत्यक्ष-वृत्ति 'पुरिशः' शब्द बनेगा जो कि पुरि उपपदपूर्वक षद्लृ धातु से 'ड' प्रत्यय करने पर सुखेन साध्य है। अनन्तर सप्तमी लुक्, पुर् को 'उ' का आगम, और सुबत्पत्ति करके पुरि-षः पुरुषः।

स्कन्द स्वामी—दुर्गाचार्य—स्वामी दयानन्द का मत—

[i] **'पुरिषादः'** निर्वचन में जो षद्लृ धातु का प्रयोग हुआ है, उसके तीन अर्थ हैं—**'विशरण'** **'गति'** और **'अवसाद'**। तुदादि गणीय **'शद्लृ'** धातु का अर्थ **'शातन'** होता है।[4] इस प्रकार पुरिषादः में चार अर्थ निहित हैं। इनमें से गति अर्थ को मानकर स्कन्द स्वामी ने **'पुरुष'** का निर्वचन किया है— 'जो भोक्ता बनकर शरीर को प्राप्त करता है'[5] वह [आत्मा] इसी अर्थ में 'वाचस्पत्यम्' में भी सूर्य को पृथिवी-अन्तरिक्ष और द्युलोक में गति करने के कारण पुरुष माना है...

'सीदति-गच्छति द्युलोकान्तरिक्षपृथिवीषु सूर्यो वा'

[ii] निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग ने **'पूः'** का अर्थ **'शरीर'** अथवा **'बुद्धि'** किया है और **'षद्लृ'** धातु से निष्पन्न माना है। उन दोनों में जो विषय की उपलब्धि के लिए **पूः** में बैठता है उस [आत्मा] को **पुरुष** माना है।[6]

[iii] स्वामी दयानन्द के मत में **'संसार रूपी पुर'** में जो व्याप्त होकर ठहरा हुआ है वह

---

१. निरु० २,३

२. **यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदम्पूर्णम्पुरुषेण सर्वम्।** तै० आ० १०.१०.२०

३. तुलना कीजिए-**अश्वत्थे वो निषदनम्**ःऋक् १०.९७.५; यजु. १२.७९.,३५.४

४. **'शद्लृ' शातने**-धा० पा०, तु० ग०, १४४

५. **अथवा शदिर् [षदिर्] गत्यर्थः तस्मात् पुर् शब्दोपपदेडप्रत्ययः। पुरं शरीरं भोक्तृत्वेन गच्छतीति पुरिशः** सञ्कारषकार-व्यापत्योकारस्योपजनेन पुरुषः। अस्मिन् पक्षे पुरिशदो गमनमस्येति व्युत्पत्ति-वचनम्। निरु० २।३ पर स्क० भा०

६. **पूः शरीरं बुद्धिर्वा तयोरसौ विषयोपलब्ध्यर्थं सीदतीति पुरिषादः इति पुरुषः।** निरु ०२।३ दु० टी०

पुरुष है ।[1] यहां पुरुष शब्द को ब्रह्म का वाचक माना है ।

[iv] मंगलाचार्य ने 'पुरुष' शब्द का निर्वचन किया है, जो 'मन' एवं 'इन्द्रियादि' के साथ बैठता है वह 'पुरुष' है । तद्यथा—'पुरुभिः मन इन्द्रियादिभिः सीदति इति वा पुरुषः'[2]

इस निर्वचन से 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति 'पुरु' उपपद पूर्वक 'षद्लृ' धातु से 'ड' प्रत्यय करने पर सिद्ध होती है ।

[v] अहिर्बुध्न्य संहिताकार भी 'पुरुष' शब्द को 'षद्लृ' धातु से व्युत्पन्न मानता प्रतीत होता है । तभी वह पुरुष का निर्वंचन करते हुए लिखता है……

'पुरा सीदति [कर्माणि] कार्याणि कारयन् प्राणिनोऽखिलान्'[3]

इससे पुरुष शब्द पुर् उपपदपूर्वक षद्लृ धातु से 'ड' प्रत्यय करके प्रकृति को 'उ' का आगम करने से व्युत्पन्न होगा ।

'षद्लृ' धातु से पुरुष शब्द को मानने का मूल सम्भवतः यजुर्वेद के इस मन्त्र—अश्वत्थे वो निषदनम्[4]……में निहित है जिसे यास्क ने अपनाया और उसी का अनुसरण उत्तरवर्ती विद्वानों ने भी किया ।

उपर्युक्त विवेचन से पुरुष का एक व्यापक अर्थ प्रकाश में आता है —'जो पुर को प्राप्त करता है वह पुरुष है ।' 'सीद्' का प्रचलित अर्थ बैठना लिया जाये तो 'जो पुर में बैठता है' उसे 'पुरुष' कहेंगे ।

२-पुरिशयः—

यास्क का द्वितीय निर्वचन 'पुरिशय' अर्थात् 'पुरि शयनात् पुरुषः' है । अर्थात् 'पुरि' [पुर में] 'शयन' करने के कारण पुरुष 'पुरुष' कहलाता है ।[5] यास्क ने यह निर्वचन शीङ् धातु के आधार पर किया है । पहले इस धातु से परोक्ष-वृत्ति 'पुरिशय' बनाया जो कि पुरि उपपद पूर्वक शीङ् धातु से अच्[6]-प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है । इसका प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द पुरिश=पुरिष होगा जो कि पुरि उपपद पूर्वक शीङ् धातु से ड प्रत्यय करने पर निष्पन्न होगा । इससे 'पुरुष' शब्द बनाने के लिए प्रकृति को 'उ' का आगम होगा ।

वैदिक एवं वेदेतर साहित्य में प्राप्त होनेवाले शयनार्थक निर्वचनों को यास्क के उक्त निर्वचन के अन्तर्गत रखा जायगा । वे इस प्रकार हैं...

ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत पुराणादि ग्रन्थों में उपलब्ध निर्वंचन...

[i] गोपथब्राह्मणकार ने पुर में शयन करने के कारण 'प्राण' को 'पुरुष' कहा है—'प्राण एष

१. पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्तत इति पुरुषः । ऋ० भा० भू०-सृष्टि उत्पत्ति विषय, पृ० ४०४, पं० ७ ।

२. मगलाचार्य-कृत पु० सू० भा० १

३. अ० बु० सं० ५६.३३

४. यजु० १२.७९; ३५.४; ऋ० १०.९७.५

५. शयन का अर्थ यहां निवास करता है । निरु० २.३ [च० भा०]

६. अधिकरणे शेतेः । अष्टा० ३।२।१५

स पुरि शेते पुरिशेत इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते ।[१]'

[ii] शतपथकार वायु को भी पुरुष मानता है। ये प्रत्यक्ष दीखने वाले लोकपुर है और यह सर्वत्र वहने वाला वायु पुरुष है:—'**इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं [वायुः] पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः**[२]' ।

[iii] तैत्तिरीय आरण्यककार ने कहा है कि योगी उपासना से उस परात्पर पुरिशय=समस्त प्राणीमात्र की हृदय-गुहारूप पुर में शयन करने वाले [परमात्म] पुरुष का प्रत्यक्ष करता है —'**स एतस्मात् जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते**' ।[३] इस पर—सायण का उद्गार भी हृदयस्पर्शी है ।[४]

[iv] बृहदारण्यकोपनिषद् में सभी पुरों में शयन करने के कारण परमात्मा को पुरुष माना है : '**स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः ।**'[५]

[v] प्रश्नोपनिषद् भी आरण्यक की वात की ही पुष्टि करते हुए कहती है कि योगी उपासना से उस 'परात्पर पुरिशय' पुरुष को देखता है —'**परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।**'[६]

महाभारत ने भी पुरुष को शीङ् धातु से ही निष्पन्न माना है। शयन का आधार नव द्वार वाला पुर है —

[vi] '**नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम् व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात् पुरुष उच्यते ।**'[७]

पुर उपपद पूर्वक **शीङ्** धातु से '**ड**' प्रत्यय लगाने पर पृषोदरादि की पद्धति से '**उ**' का आगम करने से '**पुरुष**' शब्द सिद्ध होगा ।

[vii] ब्रह्मपुराण में ब्रह्म को व्यक्ताव्यक्त जगत् में शयन करने के कारण पुरुष कहा है — '**अव्यक्ते च पुरे शेते पुरुषस्तेन चोच्यते ।**'[८]

[viii] भागवत में 'जीव-रूप से जो पुरों में शयन करता है' उसे पुरुष माना है —

'**पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषि देवताः । शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥**'[९]

सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ ब्रह्मपरक किया है ।[१०] अर्थात् जिसने नृ, तिर्यग्, ऋषि, देवता-रूप पुरों को बनाया है और उनमें जो जीव-रूप से शयन कर रहा है, इस कारण वह पुरुष है, अथवा जो नृ-तिर्यगादि पुरो में अन्तर्यामी रूप से शयन करता है वह पुरुष है ।[११]

---

१ गो० ब्रा० १.१.३९

२. शत० ब्रा० १३.६.२.१

३. तै० आ०।सा० भा० ७.८ [पृ० ८८]

४. **यं उपासनया ब्रह्मलोकं प्राप्तः स एतस्मात् सर्वजीवसमष्टिरूपादुत्कृष्टाद्धिरण्यगर्भादप्युत्कृष्टं सर्वप्राणिहृदयेशयं (पुरिशयं) परमात्मानं पश्यति ।** तै० आ० ७.८ सा० भा० [पृ० ८८]

५. बृ० उ० २.५.१८

६. प्र० उ० ५।५।

७. म० भा० । शा० प० २१०.३८

८. ब्र० पु० ३०.३८

९. भा० पु० ७।१४।३७

१०. यथा-कृष्णप्रिय व्याख्याकार, श्रीधर स्वामी, वीर राघव विजयधर तीर्थ आदि ।

११. शुकदेव कृत सि० प्र० (टी०) ।

[ix] शंकरविजयकार ने भी शीङ् धातु को ध्यान में रखकर पुरुष का निर्वचन किया है। उसने पुरु संज्ञक शरीर में शयन करने के कारण हरि को पुरुष माना है —**'पुरुसंज्ञे शरीरेऽस्मिन् शयनात् पुरुषो हरिः'**[1]

इस निर्वचन से **'पुरुष'** शब्द की व्युत्पत्ति **'पुरु'** उपपद पूर्वक **'शीङ्'** धातु से **'ड'** प्रत्यय करने पर सिद्ध होती है।

शंकराचार्य ने भी यत्र तत्र **'पुरुष'** शब्द की व्याख्या करते समय अधिकतर **'पुरुष'** शब्द को **'शीङ्'** धातु से ही निष्पन्न माना है।[2]

[x] अनन्ताचार्य ने अपने पुरुष-सूक्त भाष्य में एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका भाव है कि सम्पूर्ण पुर में आकर शयन करने के कारण ही तत्व चिन्तकों ने उसे 'पुरुष' कहा है—

पुरमाक्रम्य सकलं शेते यस्मान्महाप्रभुः। तस्मात् पुरुष इत्येवं प्रोच्यते तत्त्वचिन्तकैः।[3]

[xi] ईश्वर कृष्ण-कृत 'सांख्यकारिका' की ५५ वीं कारिका पर वाचस्पति मिश्र की टीका है—**'पुरुषः' इति। पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः। लिङ्गं च तत्सम्बन्धीति चेतनोऽपि तत्सम्बन्धी भवतीत्यर्थः।'**

'पुरुष' शब्द का अर्थ ही है-**'पुरि'** अर्थात् **'लिंग'** शरीर में रहने वाला। **'लिंग'** शरीर **'बुद्धि'** से सम्बद्ध है, अतः चेतन पुरुष भी बुद्धि और उसके दुःखादि गुणों से सम्बद्ध होता है।'[4]

उपर्युक्त निर्वचनों से ज्ञात होता है कि जो सत्ता **'पुर'** में शयन करती है वही **'पुरुष'** संज्ञा को प्राप्त करती है,+फलतः [१] ब्रह्माण्ड रूपी पुर में शयन करने के कारण **'ब्रह्म पुरुष'** कहलाएगा। [२] पिण्ड-रूपी पुर में शयन करने के कारण **'जीव' 'पुरुष'** कहलाएगा। [३] **ब्रह्माण्ड 'पुर'** में शयन करने के कारण **'वायु'** और [४] **पिण्ड 'पुर'** में शयन करने के कारण **'प्राण'** भी **पुरुष** संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

[३] पूरयतेर्वा—

पुरुष के तृतीय निर्वचन को यास्क ने **'पूरयतेर्वा'** कह कर व्याख्यात किया है। इस निर्वचन के अनुसार **'पुरुष'** शब्द **'पूरी आप्यायने'** धातु से **'कुषन्'** प्रत्यय करने पर और पृषोदरादि पद्धति से ऊकार को ह्रस्व करने पर सिद्ध होता है।

[४] पूरयति अन्तः—

यास्क ने चतुर्थ निर्वचन अन्तर्यामी-पुरुष को लक्ष्य में रख कर किया प्रतीत होता है—**'पूरयति अन्तः इति'**। इस निर्वचन से भी पुरुष शब्द की सिद्धि पूर्ववत् ही होगी। प्रतीत होता है कि आचार्य यास्क ने इस निर्ववचन का आधार **'पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश'**[5] इस याजुष् ऋचा को बनाया हो।

कई भाष्यकार इन दोनों 'पूरयतेर्वा' एवं 'पूरयति' को मिलाकर अर्थ करते हैं और पूरयतेर्वा

---

१. शं० वि० १३।—, श० क० को० से उद्धृत।

२. पुरुषः पुरि शयनाद् वा पुरुषः। ई० उ० १६। शां० भा०।

३. अनन्ताचार्य कृत पु० सू० भा०, पृ० ११

४. तत्त्वकौमुदी प्रभा-आद्या प्रसाद मिश्र-कृत हिन्दी टीका, पृ० ३०९

५. यजु० २३.५२

की व्याख्या में ही अगला चरण लेते हैं ।[1]

स्कन्द स्वामी ने यास्क के 'पूरयति आन्तरपुरुषम् का अभिप्राय' क्षेत्रज्ञ पुरुष माना है जो कि इन्द्रिय प्राणादि रूप पुरि-अष्टक पंचभूतादि जनित स्थूल शरीर को व्याप्त करके पूरित करता है उसे पुरुष कहते हैं । अथवा जो परिपूर्ण सकल विश्व का संविभाग करके पूरित कर रहा है उसे पुरुष कहते हैं ।[2]

दुर्ग ने भी सब ओर व्यापक होने के कारण 'पुरुष' माना है ।[3] स्वामी दयानन्द ने इससे साम्य रखता हुआ अर्थ किया है जो परमेश्वर स्वयं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने स्वरूप से व्याप लेता है, वह पुरुष है । दूसरा निर्वचन किया है……जो जीव के अन्तःकरण में अभिव्याप्त होकर पूरित करता है वह ईश्वर पुरुष है ।[4]

अहिर्बुध्न्यसंहिताकार ने पॄ धातु से भी 'पुरुष' शब्द का ग्रहण किया है:—

'पूर्णत्वात् पुरुषो नित्यं पॄणातेः पूर्णार्थकात्'[5]

उपर्युक्त निर्वचनों से भी 'पुरुष' शब्द पॄ धातु से कुषन् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है । पॄ के ॠ को उर् आदेश होगा ।[6]

व्याख्यात्मक शैली पर आधृत [व्याकरणेतर] निर्वचन—

अब उन निर्वचनों का उल्लेख किया जाएगा जो कि इन चारों निर्वचनों से भिन्न हैं, लेकिन संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध होते हैं । इनमें से कुछ निर्वचन ऐसे हैं जिनमें केवल धातु का निर्देश किया जा सकता है, उन्हें पूर्ण रूपेण व्याकरण प्रक्रिया से सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

तैत्तिरीय आरण्यककार ने पुरुष के विषय में जो लिखा है उससे ज्ञात होता है कि वह 'पुर अग्रगमने' से पुरुष की निरुक्ति करना चाहता है : 'मैं पहले ही वर्तमान था इससे पुरुष का पुरुषत्व है ।'[7] इसी पुरुष को उसने सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपात् माना है । इसी संकेत के आधार पर सम्भवतः स्वामी दयानन्द ने भी उणादि-कोष-व्याख्या में पुरुष शब्द की सिद्धि 'पुरति=अग्रे गच्छति' की है ।[8] पुर धातु से कुषन् प्रत्यय करने पर पुरुष शब्द व्युत्पन्न होगा । यही बात कोषकार ने भी कही है…

१. 'पूरयतेर्वा, पूर्णमनेन……॥ पूरयत्यन्तरित्यन्तर०' निरु० २.३। दु० टी० पृ० १०९

२. पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य अन्तर पुरुषः क्षेत्रज्ञस्तमभिप्रेत्योच्यते तेन हि इन्द्रियप्राणादिरूपं पुरि-अष्टकं स्थूलञ्च……। स्कन्द भा० २।३

[Anthology of vedic hymns By. Bhomanand p. 253]

३. पूर्णमनेन पुरुषेण सर्वगतत्वाज्जगदिति पुरुषः । निरु० २.३। दु० टी० पृ० १०९

४. यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात् सः पुरुषः । यो जीवस्यापि अन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । ऋ० भा० भू० (सृष्टि-विद्याविषय) [पृ० ४०४]

५. अ० बु० सं०, ५९.५

६. उदोष्ठ्य पूर्वस्य । अष्टा० ७।१।१०२

७. पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वं । स सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् भूत्वा उदतिष्ठत् । तै० आ० १।२३।४

८. पुरः कुषन् उणादि ४.७४, स्वा० द० कृत व्याख्या

'पुरति-अग्रे गच्छति-इति पुरुषः ।'[१]

मंगलाचार्य ने भी अपने पुरुष-सूक्त के भाष्य में प्रथम-मन्त्रगत पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए तैत्तिरीय-आरण्यककार के इस निर्वचन को दिया है और इस पुरुष से ब्रह्म की ओर इंगित किया है। प्रमाण दिया है "सदैव सौम्येदमग्र आसीदिति" जिस की आगे व्याख्या करते हुए लिखा है :—**'महदादि-सकल-जगदधिष्ठानं शुद्धबुद्धसत्यचिदानन्द नित्यनिर्विकार-निरुपाधिकं ब्रह्मैव सृष्टेः पूर्वमेव स्थितत्वात् पुरुष इत्यर्थः ।**[२]

वाचस्पत्यम्-कोषकार ने इसी से साम्य रखता हुआ एक निर्वचन उद्धृत किया है—जो प्राचीन काल में पहले ही वर्तमान था—**'आसीत् पुरा पूर्वमेवेति'** ।

इसे **'पुर्'** उपपद पूर्वक **'अस्'** धातु से अच् प्रत्यय करके व्युत्पन्न किया जा सकता है। पृषोदरादित्वात् 'उ' का आगम और धातु के उकार का लोप।

एक और निर्वचन **मंगलाचार्य** ने 'पुरुष' शब्द का किया है : **'पुरूणि महदादितत्त्वानि सनोति माययोपेतत्वेनेति पुरुषः'**[३] जो 'पुरूणि' अर्थात् महदादि तत्त्वों को देता है—संविभक्त करता है, इसकी पुष्टि में प्रमाण दिया है ··**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।'** इस प्रकार इस पुरुष-निर्वचन को भी वह परमेश्वर-परक ही मानता है।

अहिर्बुध्न्य संहिताकार की एक अन्य कल्पना भी द्रष्टव्य है;

फलानि पुरुषेभ्यश्च सनोति क्रियर्याचितः । ततः पुरुष इत्येवम्······अभिधीयते ।।[४]

'वाचस्पत्यम्' में इससे साम्य रखता हुआ एक निर्वचन उपलब्ध होता है—**'पुरूणि बहूनि फलानि मनोभिलषितानि सनोति ददाति वा'** जो बहुत से मनोवांछित फलों को देता है।

इन सभी निर्वचनकारों ने **'षणु दाने'** धातु को ध्यान में रख कर निर्वचन किए हैं। इन निर्वचनों से पुरुष शब्द की सिद्धि पुरु उपपद पूर्वक 'षणु दाने' धातु से 'ड' प्रत्यय करने पर होगी।

'वाचस्पत्यम् में एक स्वोपज्ञ भी **'पुरूणि भुवनानि संहारसमये स्यति=अन्तं करोति-इति ।'**

भुवनों का संहार समय में जो अन्त करता है, वह पुरुष है। यह निर्वचन **'षो'** [अन्तकर्मणि]' धातु को ध्यान में रखकर किया गया है।पुरु उपपद पूर्वक 'षो' धातु से 'क' प्रत्यय करने पर यह शब्द सिद्ध होता है।

मंगलाचार्य जिसे **[आत्मनि प्रति-संहरति इति]** आत्म-पुरुष स्वीकार करते हैं।[६]

शतपथ ब्राह्मण एवं बृहदारण्यकोपनिषद् पुरुष शब्द को **'उष दाहे'** धातु से सिद्ध करते प्रतीत होते हैं। **'स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत्तस्मात् पुरुषः ।**[७]

---

१. श० क० को० [पुरुष शब्द]

२. मंगलाचार्य कृत पु० सू० भा०

३. मंगलाचार्य कृत पु० सू० भा०

४. अ० बु० सं० ५९.३३

५. **धात्वादेः षः सः ।** अष्टा: ६।१।६३। से ष को स और **'आदेश प्रत्यययोः'** (अष्टा० ८.३.५९) से स को ष।

६. मंगलाचार्यकृत पु० सू० भा० १।

७. शत० ब्रा० १४।४।२।२। बृ० उ० १.४.१।

जो इस सम्पूर्ण से पहले था जिसने सम्पूर्ण पापों को जला दिया वह **'पुरुष'** है। इस निर्वचन से पुरुष शब्द की सिद्धि **'पुर्'** उपपद पूर्वक **'उष'** धातु से **'क'** प्रत्यय करने पर होगी। बृहदारण्यककार ने इसका निर्वचन आत्मपरक किया है। यह निर्वचन परमात्मा में भी व्याप्त हो सकता है।

रामानुजाचार्य ने अपने पुरुष-सूक्त-भाष्य में पुरुष शब्द की व्याख्या करते समय इसे 'उष 'दाहे' धातु ही सिद्ध किया है —**'पुरः उषति = प्रकाशयति-इति पुरुषः दाहप्रकाशयोरेकाधिकरणत्वात्'**[1]

अर्थात् जो पुर को प्रकाशित करता है वह पुरुष है। यहां रामानुजाचार्य जी ने परम पुरुष को अभिप्रेत करके लिखा है।

पुनश्च **'विश'** धातु से : **बृहदारण्यक**,[2] **शतपथ**[2] **'पुरः पुरुष आविशत्'** के अतिरिक्त कठोपनिषद्[3] **सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः'** [विश्-णु] एवं गीता[4] में **'यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः'**।

अरुणोपनिषत्कार को भी पुरुष में 'विश' धातु ही ग्राह्य है-**'पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्'**[5] 'पुरुष' शब्द के निवर्चन के सम्बन्ध में लौकिक संस्कृत साहित्य में भी यत्र-तत्र सामग्री मिलती है। यथा —'शिशुपाल वध' में 'विश्' धातु को ध्यान में रखकर 'पुरुष' शब्द का निर्वचन किया गया है— **'पुरुषः पुरं प्रविशति स्म पञ्चभिः, सममिन्द्रियैरिव नरेन्द्र सूनुभिः'**[6] विश् धातु से सम्पन्न होने वाले समस्त निर्वचनों का आधार यजु-संहिता का **'पञ्चस्वन्तः पुरुष आ-विवेश'** मंत्र चरण ज्ञात होता है।

प्रोफेसर एम० ए० **महेन्दले** ने निरुक्त [२.१] के **'अपि-अक्षरवर्णसामान्यात्-निर्ब्रूयात्'** कथन के आधार पर 'पुरुष' शब्द का निर्वचन, उपनिषद् के वाक्य **'पुमान् रेतः सिञ्चति' योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः'** से ग्रहण किया प्रतीत होता है : पुरुषः— पु=[पुमान्]+रु=[रेतः]+षः= [सिञ्चति]'। वे उपनिषद् से साम्य रखता हुआ ऐतरेय आरण्यक का प्रमाण भी उद्धृत करते हैं :— **'पुरुषे ह वा अयं आदितो गर्भो भवति, यद् एतत् रेतः तद् एतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः तेजःसम्भूतम् आत्मन्येवात्मानं बिभर्ति यदेतद् यथा स्त्रियां सिञ्चति अथ-एनम् जनयति तदस्य प्रथमं जन्म'**[7]।

अहिर्बुध्न्य-संहिताकार ने जहां पूर्व तीन धातुओं से पुरुष शब्द को व्युत्पन्न माना है वहां **'अस्'** धातु से भी व्युत्पन्न मानते हैं। **'पुरि सन्, सन् पुरीवायं पुरादूर्ध्वंभुर्दत् परात्'**[8]

सूक्त में पुरुष पद का निर्वचन—

सर्वान्त में सूक्त में निगूढ रुपेण विद्यमान **'पुरुष निर्वचन'** का उद्घाटन कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। जिस सूक्त की संज्ञा 'पुरुष' हो, जिसमें पुरुष के स्वरुप का विशद वर्णन हो उस सूक्त में भला पुरुष पद का निर्वचन न हो यह कैसे संभव था। अतः पुरुषमेधाध्याय के उत्तरनारायणानुवाक के **'पूर्वो यो देवेभ्यो नमो रुचाय ब्राह्मये'**। मंत्रार्ध में **'पूर्व-रुच्'** पदद्वय **'पुरुष'** पद का निर्वचन ही तो हैं

१. रामानुजाचार्य-कृत पु० सू० १
२. बृ० उ० २।५।१८; शत० ब्रा० १४. ५. ५. १८ में भी उपलब्ध है।
३. क० उ० ६. १७
४. भ० गी० १५.१७
५. अ० उ० ३. [उ० वा० म० से उद्धृत]
६. शिशु० व० १३. २८
७. Upnishadic Etymalogies by M. A. Mahendale, Deacan College, Poona, Bhartiya Vidya Volumes XX-XXI-Munish Indological Felicitation Volume, page 40.
८, अ० बु० सं० ५९.३४

'यः देवेभ्यः पूर्वं रोचते स पुरुषः' । **पूर्व-रुच्** निर्वचन में आया **रुच्** शब्द **'दीप्तावभिप्रीतौ रुच्'** धातु ही है; जिसका अर्थ है दींप्तिमान् होना और प्रीतिमान् होना । पुरुष केवल दीप्तिमान् ही नही वह सदा से ही दीप्तिमान् है **पूर्व-रुच् है** । सूक्त के ऋषि ने पुरुष के इस दिव्य स्वरूप को समझ कर ही उसका यह निर्-वचन किया है पुरुष जहां **'तमसः परस्तात्'** है वहां **,दीप्तिपुरस्तात्'** भी तो है, अतः उत्तरनारायण के अठारहवें मंत्र में उस महान् पुरुष को **'आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्'** कहा है वहां बीसवें मन्त्र में [दीप्ति पुरस्तात्] पूर्वरुच् = पुरुष कहा है । जो देवों के लिए आदर्श दीप्तिमान् है और आदर्श प्रीति भाजन है ।

वेद एवं वेदेतर साहित्य में उपलब्ध निर्वचनों में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत होता है । वेदेतर साहित्य में उपलब्ध निर्वचनों के आधार पर यदि पुरुष का चित्रण किया जाए तो वह पुर में शयन करने अथवा बैठने वाली सत्ता मात्र है, परन्तु सूक्तगत निर्वचन के आधार पर **'पुरुष' 'पुर'** में पूर्वसे ही दीप्तिमान और प्रीतिमान् तत्त्व रुप में सामने आता है ऐसा तत्त्व कि जो पुर की सभी दिव्य शक्तियों के लिए आदर्श दीप्तिमान् और प्रीतिभाजन व्यक्ति है अन्त में सूक्त के शब्दों में **पुरुष के पूर्वरुच्** रूप को नमस्कार कर पुरुष निर्वचन प्रकरण को उपसंहृत करते हैं —

यो देवेभ्यः आतपति, यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो नमोरुचाय ब्राह्मये ।

इस प्रकार पुरुष शब्द के जितने निर्वचन उपलब्ध हुए हैं, उनको यहां संगृहीत करने का प्रयत्न किया है । निष्कर्ष यह निकलता है कि भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा अभिमत निर्वचन भिन्न-भिन्न धातुओं को ध्यान में रखकर किए गए हैं । इन सम्पूर्ण निर्वचनों को देखने से ज्ञात होता है कि कुछ निर्व-चनों से तो हम पुरुष शब्द की व्याकरण-प्रक्रिया से व्युत्पत्ति आसानी से कर सकते हैं, लेकिन कुछ तो इस प्रकार के हैं जिनकी धातु का पता तो चल जाता है पर जिनकी शेष व्याकरण-प्रक्रिया प्रसिद्ध नहीं है ।

विभिन्न निर्वचनों के आधार पर उपलब्ध निष्कर्ष का आकलन —

उपर्युक्त निर्वचनों के आधार पर पुरुष शब्द निम्न तत्त्वों का वाचक हुआ :

[क]— (१) महद् ब्रह्म सर्वक्षेत्र-क्षेत्रज्ञ पुरुष — अव्यय पुरुष
(२) जीवात्मा क्षेत्रज्ञ-पुरुष — अक्षर पुरुष
(३) देह क्षेत्र — क्षर पुरुष
(४) इदं सर्वम्
(५) प्राण
(६) वायु

[ख]—इसके अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय में पुरुष संज्ञा विष्णु,[१] रुद्र,[२] वासुदेव-संकर्षण- अनिरुद्ध[३] आदि की भी हैं । हम यहां उनका उल्लेख न करके पुरुष-सूक्त के पुरुष का ही उल्लेख करेंगे ।

सूक्त में पुरुष रूपेण वर्णन (१) **सहस्रशीर्षाक्षपाद्** पुरुष, (२) **दशाङ्गुल** पुरुष, (३) **विराट्** पुरुष, (४) **यज्ञ** पुरुष, और (५) **समाज** पुरुष का वर्णन हुआ है । उनमें से भी सहस्रशीर्षाक्षपाद् पुरुष-जिसे सर्वातिशायी सत्ता माना है-का वर्णन अभीष्ट है । पहले ही मन्त्र में विषय की प्रस्तावना करते हुए

---

१. मा० पु० २.९.१४
२. वा० पु० ३०.१८१-१८८
३. मा० पु० ३.१

पुरुष को सहस्र सिरों वाला, सहस्र आंखोंवाला और सहस्र चरणों वाला कहा गया है: 'वह इस भूमि को चहुं ओर से ढके हुए है, और वह ढक कर भी दश अंगुल ऊपर उठा हुआ है'। दूसरे मन्त्र का आशय है कि 'भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् [काल-स्वरूप] सब कुछ पुरुष ही है [अमरों एवं मर्त्यों पर उसी का एकाधिकार है]। तृतीय मन्त्र में कहा गया है कि पुरुष की महिमा अनिवार्य है—ये अशेष भूत इसके एक चरण हैं, शेष तीन चरण तो द्युलोक में अमर रुप से नित्य विराजमान है। त्रिपाद् पुरुष का उत्थान होने पर, उसका एक चरण ही हमारे सामने दृश्यमान रह जाता है। वहां से वह इधर-उधर, उनके रूप में प्रसृत हुआ जो कि खाते हैं और जो नहीं खाते। विराट् की उत्पत्ति इसी से हुई है, 'विराज्' से पुनः अधिपुरुष की। उत्पन्न होते ही पुरुष धरती को लांघ गया। वह पृथिवी की भूमिका भी है और उपसंहार भी। पुरुष की गरिमा को इन स्पष्ट शब्दों द्वारा संकेतित करके अगले मन्त्रों में वेद, पुरुष से भूतमात्र की 'व्युत्पत्ति' बताता है और वह भी यज्ञ द्वारा जिसे मनीषी शास्त्रकार इस सृष्टि का प्रसव कारण मानते आये हैं। यह एक सुन्दर उत्थानिका है एक ऐसी असीम गरिमा की, जिसके तुंग शृंग पर खड़े होकर आप दिक्-काल की परिधि को लांघ जाते हैं।

इस प्रकार पुरुष-सूक्त का 'पुरुष' परम सत्ता का वाचक है। 'पुरुष' के पुरुष-सूक्त-गत भाव को लेकर वैदिक साहित्य में परमात्मा के लिए पुरुष शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है। अब उनका अति संक्षिप्त वर्णन यहां किया जाता है।

ब्राह्मण साहित्य में अधिकतर **प्रजापति** को **पुरुष** कहा है[१] जो कि परम पुरुष का ही अपर नाम है।[२] **आरण्यक ग्रन्थ**[३] में **'पुरुष'** को **'परम सत्ता'** स्वीकार करते हुए लिखा है कि—'जिससे न कोई पर है न अपर है, न छोटा है न बड़ा, वह वृक्ष के समान स्तब्ध द्युलोक में अकेला रहता है, यह सम्पूर्ण कृति उस पूर्ण पुरुष की है—**यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥**

उपनिषद् वाङ्मय में भी **'पुरुष'** को **'आदिसत्ता'** स्वीकार किया है। उसे **'भूतानि योनिः'**[४] कहा गया है। इस पुरुष का इस प्रकार का दर्शन पुरुष-सूक्त में बहुत विस्तार एवं स्पष्ट रूप से होता है। वहां सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति इस पुरुष को निमित्त कारण मानकर हुई है।

इस पुरुष का वह रूप जिसको जानकर मृत्यु को पार किया जा सकता है—जिसे उत्तर-नारायण ने **'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'** कहा है—उसका क्रमोदय **कठोपनिषद्** में किस विशिष्टता के साथ हुआ है: **'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥'**[५]

इसी प्रकार—जब व्यक्ति नाम-रूप से विमुक्त हो जाता है, तब जिस प्रकार नदियों की दशा, समुद्र में मिल जाने पर होती है, ठीक वही स्थिति व्यक्ति की होती है वह नाम-रूप से विमुक्त होता हुआ दिव्य अवस्था को पहुंच जाता है :···**तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।**'[६]

प्रश्नोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन है और उसे ही **'वेद्य पुरुष'**[७] कहा है।

गीता में इसी पुरुष को **'उत्तम पुरुष'** और **'अव्यय पुरुष'** कहा है। कहीं-कहीं **'अक्षर पुरुष'** भी

१. प्रजापतिः पुरुषः। जै० ब्रा० २, ४७

२. यजु० ३२।१।

३. तै० आ० १०. १० (बीसवीं ऋचा)

४. श्वे० उ० १. २

५. क० उ० ३. ११

६. मु० उ० ३.८

७. प्र० उ० ६.६

अव्यय पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वेदेतर साहित्य में भी '**पुरुष**' पद का प्रयोग '**पूर्ण पुरुष**' के लिए हुआ है।

महाभारत के **शान्तिपर्व** में उक्त 'पुरुष' पर विस्तार से चर्चा की गई है। वहां इसे अन्य 'पुरुषों' की योनि कहा है[1] और इसे शाश्वत, अव्यय, अप्रमेय, सर्वग कहा है : 'यह किसी के द्वारा भी देखा नहीं जा सकता। यह अशरीरी होने पर भी सभी के शरीरों में निवास करता है। शरीरों में निवास करने पर भी यह कर्मों से लिप्त नहीं होता।'[2]

प्रायः पुरुष-सूक्त के शब्दों में ही वह—'**विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः। एकश्चरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम्**' ॥[3] इसी प्रसंग में उसे परमात्मा, नित्य, निर्गुण, नारायण एवं सर्वात्म-पुरुष कहा है [कर्मात्मा पुरुष तो कर्मों में लिप्त रहता है लेकिन यह सर्वात्मा पुरुष तो कमल दल पर अम्भः कणवत् अलिप्त रहता है]।[4]

गीता के शब्दों में—**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**[5]। अन्यत्र भी गीता में उक्त पुरुष के गुणों का वर्णन करते हुए और उसे '**परं ब्रह्म**', '**परं धाम**', '**पवित्र**', '**शाश्वत**', '**दिव्य**', '**आदि देव**', '**अज**' एवं '**विभु**' विशेषणों से स्मरण किया है तद्यथा—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्**।[6]

पुराण-साहित्य ने भी परमात्मा को 'पुरुष' नाम से अभिहित किया है। **ब्रह्म-पुराण** में वह—'**परः स पुरुषो ज्ञेयो ह्यव्यक्तोऽक्षर एव तु। अपरश्च क्षरस्तस्मात्प्रकृत्यन्वित एव च। निराकारात्सावयवः पुरुषः समजायत**।[7]

मनु की दृष्टि में वह चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों से अग्राह्य, अपितु ज्ञान-ग्राह्य है—**प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्**।[8] अगले ही श्लोक में उसके अन्य नामों का निर्देश किया है। कुछ उसे **अग्नि** कहते हैं, कुछ **प्रजापति**, कुछ **इन्द्र** कहते हैं, कुछ **प्राण** कहते हैं और कुछेक के मत में वही **शाश्वत ब्रह्म** है।[9] यह श्लोक यजुर्वेद के '**तदेवाग्निस् तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**'[10] मन्त्र की छाया है। इस मन्त्र में परमात्मा के अनेक नाम दिए हैं, यह मन्त्र पुरुष-सूक्त के अगले अध्याय का प्रथम मन्त्र ही है। मनु ने उपर्युक्त दोनों श्लोकों को एक साथ देकर यह स्पष्ट कर दिया कि पुरुष-सूक्त [यजु० ३१ अ०] में जिस पुरुष का वर्णन हुआ है वह पुरुष एवं ३२ वें अध्याय में वर्णित परमात्मा एक ही है, वे दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं। उसके ये विविध नाम तत्तत्कार्य-हेतुक हैं। इसी प्रसंग में उस पुरुष-रूप प्रजापति को '**षोडशी**' भी कहा है। जिसका विस्तृत वर्णन हम इसी अध्याय में आगे करेंगे। पुरुष-मेधाध्याय में पुरुष के द्वारा सृष्टि-उत्पत्ति को दर्शाया है, अगले ही अध्याय में उसके स्वरूप को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है और यत्र तत्र

---

१. म० भा०। शा० प० ३५०.१६
२. म० भा०। शा० प० ३५१.१-३
३. म० भा०। शा० प० ३५१.५
४. म० भा०। शा० प० ३५१.१४,१५
५. भ० गी० १५.१७
६. भ० गी० १०.१२
७. ब्र० पु० १६१.६,७
८. मनु० १२.१२२
९. **एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्**। मनु० १२.१२३
१०. यजु० ३२.१,

उसकी उपासना का भी संकेत किया है—'जिसने सृष्टि की रचना की और पालन कर रहा है उसकी हम उपासना करें—**कस्मै देवाय हविषा विधेम'** ।[1]

सृष्टि-उत्पत्ति-प्रकरण में जहां उसका मान बताया गया है वहां वह किसी अपेक्षा से है, लेकिन उसके स्वरूप-वर्णन में तो वह माप-रहित है...

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः । हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ।[2]

परमात्मा के लिए **'पुरुष'** पद का प्रयोग **दर्शनों** में भी हुआ है । अधिकतर दर्शन इसे **ईश्वर** अथवा **परमात्मा** अथवा **ब्रह्म** कहते हैं ।

योगसूत्रकार **पतंजलि** उसे पुरुष विशेष कहते हैं **'क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।**[3]

'क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और वासनाओं से असम्वद्ध, अन्य पुरुषों से विशेष [विभिन्न, उत्कृष्ट] **चेतन** ईश्वर है ।' यहां उस **'विशेष पुरुष'** को ही ईश्वर कहा है ।सामान्य पुरुष क्लेशादि कर्मों से युक्त होता है, लेकिन ईश्वर इसका अतिक्रमण करके ठहरता है इस कारण वह 'पुरुष-विशेष' है ।

यह स्वयं कमलदल पर जलविन्दुवत् क्लेशकर्मादि से असम्वद्ध रहता हुआ जीव के कर्मो के फलों को प्रदान करता है । इसी विशेषता को ध्यान में रखकर **गौतम** लिखते हैं **'ईश्वरः कारणं पुरुष-कर्माफल्य दर्शनात्'**[4] पुरुष का कर्मफल प्रदाता-पुरुष ईश्वर है ।

इस प्रकार उपरिवर्णित ग्रन्थों में पुरुष का विस्तृत वर्णन हुआ है । कई विचारको ने उसकी इन्द्रियों का भी वर्णन किया है । स्वयं पुरुष-सूक्त में भी उसकी कुछ इन्द्रियों का वर्णन हुआ है । उसकी इन इन्द्रियों का वर्णन सापेक्ष दृष्टि से हुआ है अर्थात् कर्मात्मा पुरुष को, परमात्मा पुरुष का 'महतो महीयान' रूप दिखाने के लिए हुआ है । **श्वेताश्वतर** का कवि उसमें इन्द्रियाभास देखता है : **'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रियविर्वाजतम्'**[5] यद्यपि सत्य यह है कि वह **अपाणिपादो, जवनो, गृहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम् ।**[6] ऋषियों की इस प्रत्यक्षा-नुभूति के अनन्तर ईश्वर सिद्धि न्याय की एक मुख्य युक्ति बन गई । उदयनाचार्य तदर्थ अनुमान प्रमाण का आश्रय ले कर नौ हेतु एक ही कारिका में एकत्र गिना दिये : **'कार्यायोजनघृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।**[7]

जो विद्वान् शब्द-प्रमाण का आश्रय लेकर ईश्वर की सिद्धि करते हैं, उनके प्रति पुर्वपक्षियों की यह शंका होती है कि वेद की रचना तो ऋषि आदि के द्वारा भी सम्भव है । इसी का वर्णन वेदान्त में वहुत तर्कपूर्ण दृष्टि से किया गया है । उसका उल्लेख यहां करेंगे ।

वेदान्त दर्शन के द्वितीय सूत्र में ब्रह्म की सिद्धि **'जन्माद्यस्य यतः'** सूत्र द्वारा की है अर्थात् जिससे इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहृति होती है, ब्रह्म वह है । अगले सूत्र में हेतु दिया है—**'शास्त्र योनित्वात्'** अर्थात् वेद-रूप शास्त्र का कारण होने से । ये दोनों ही स्थितियाँ पुरुष-सूक्त में उप-

---

१, यजु० ३२.६.७, २. यजु० ३२.३ ३. यो० सू० १.२४
४. न्या० सू० ४.१.१६, ५. श्वे० उ० ३, १७ ६. श्वे० उ० ३-१६;
७. न्या० कु०

लब्ध हैं : वहां वह **सृष्टिकर्त्ता** भी है और सृष्टि-विद्या-रूप वेद का **निर्माता** भी। इस विषय में यह शंका होनी स्वाभाविक है कि वेदान्त की दृष्टि से यदि ईश्वर को सृष्टि उत्पादक स्वीकार भी कर लें तब भी वह वेदादि का कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वेदादि की रचना तो ऋषि भी कर सकते हैं। इस शंका का निवारण वेदान्त सूत्रकार एक और सूत्र **'तत्तु समन्वयात्'** [सृष्टि और शास्त्र (वेद विद्या) में समन्वय होने से] द्वारा करते हैं।

इस प्रकार **वेदान्त सूत्र** में पुरुष को जगत् की उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति का, एवं वेद-रूप-शास्त्र का रचयिता उभय समन्वयकार [सङ्गीतकार] माना है।

पुरुष की कलात्मकता—

किसी भी कर्मात्मा पुरुष की महत्ता उसकी कलाओं से आँकी जाती है। कोई आठ-कला-युक्त है, कोई बारह-कला-युक्त, तो कोई (महापुरुष) सोलह-कला-समन्वित भी होता है, [जिसे दरशाने के लिये ही सम्भवतः **'सकल'** शब्द का निर्माण हुआ]। **'सकल'** शब्द लोक में कृत्स्नता अथवा पूर्णता का द्योतक है। यह इसीलिये है कि प्रत्येक पुरुष **षोडश-कला**-युक्त होकर उत्तम पुरुष बन जाए।

इस जगत् में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की नाप के लिये मनुष्य के द्वारा कल्पित अनेक नाप-तोल हैं। दूरी, लम्बाई और मोटाई का ज्ञान करने के लिये हम तत्सम्बन्धी माप का सहारा लेते हैं। [आज के वैज्ञानिक युग में तो विद्युत् और किरण जैसी सूक्ष्म और इन्द्रियातीत वस्तुओं के नापने के लिये भी अनेक प्रकार के अति विचित्र मापदण्डों की कल्पना की जा चुकी है।] प्रश्न उठता है - क्या आत्मा की विभूतिमत्ता और विकास-रूप शक्ति के नापने के लिए भी इस प्रकार का कोई मापदण्ड है ? इसके उत्तर में हमारा कहना है कि आत्म-शक्तियों की पूर्णता को बताने के लिये ही कलारूप मापदण्ड की कल्पना की गई थी।

सृष्टि में हमारे सामने षोडश-कला चन्द्रमा प्रत्यक्ष उदाहरण है। चन्द्रमा प्रतिदिन एक-एक कला बढ़कर पूर्णिमा को अपनी सकल कलाओं के साथ विकसित होकर सामने आता है।[1] पन्द्रह दिन की पन्द्रह कलाएं होती हैं और एक कला जो अव्यक्त होती है वह अमावस्या के अन्धकार में से चन्द्रमा में प्रविष्ट हो जाती है, यदि अमावस्या के चन्द्रमा में यह कला न रहे, तो कलाओं का पुनः उदय नहीं हो सकता।

षोडशी पुरुष—

वेद में पुरुष का एक विशेषण **'षोडशी'** है।[2] षोडशी पूर्णता का प्रतीक है, जिसमें सोलह कलाएं एक रस विद्यमान रहती हैं कभी न्यूनाधिक नहीं होतीं, वह शतपथ-ब्राह्मणकार और कौषीतकी-ब्राह्मणकार ने आदित्य को षोडशी कहा है[3], चन्द्रमा भी षोडशी है क्योंकि उसमें कलाओं का उत्तरोत्तर विकास होता है [प्रथम को उत्तम पुरुष एवं द्वितीय को प्राकृत पुरुष कहा जा सकता है। यजुर्वेदीय पुरुषमेधाध्याय में **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्'**—कहकर आदित्य पुरुष अथवा लोकोत्तर पुरुष की ओर निर्देश है।

---

१. षोडशकलो वै चन्द्रमाः। ष० ब्रा० ४।६

२. त्राणि ज्योतीषि सचते स षोडशी। यजु० ३२।५।।

३. असौएव आदित्यः षोडशी वज्रस्य भर्ता। शत० ब्रा० ८।५।१।१०।। कौ० ब्रा० १७, १

ब्रह्म स्वरूप से **अ-कल** होते हुए भी, औपचारिक दृष्टि से **स-कल** है। [ब्रह्म के द्वारा रचित जगत् भी **स-कल** है। मनुष्य की जहां तक दृष्टि जाती है सर्वत्र ब्रह्म की कला ही दृष्टिगोचर होती है, इसी उपचार से ब्रह्म को सकल कहा गया है।]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में षोडश कलावान् पदार्थ—

ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न पदार्थों को षोडश-कल माना है।

१. **षोडश कलं वा इदं सर्वम्।** शत० ब्रा० १३।२।२।१३
२. **षोडशकलः प्रजापतिः।** शत० ब्रा० ७।२।२।१७
३. **षोडशकला देवाः।** जै० ब्रा० १।२७
४. **षोडशकलो वै चन्द्रमाः** ष० ब्रा० ४।६
५. **स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः।** श० १४।४।३।२२
६. **षोडशकलो वै पुरुषः।** जै० ब्रा० १।१३१।३३१
७. **षोडश कलं वै ब्रह्म।** जै० उ० ब्रा० ४।११।४।२

षोडशकलावान् की पुरुष संज्ञा

ब्राह्मणों ने, जिनको षोडशकल कहा है, उन्हीं को प्रायः पुरुष भी कहा है:

१, **पुरुष एव इदं सर्वम्।** ऋ० १०।९०।२
२. **पुरुषो हि प्रजापतिः** शत० ब्रा० ७।४।१।१५
३. **पुरुषो वैश्वदेवः।** मै० सं० ४।६।८
४. **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु चन्द्रमाः।** यजु० ३२।१
५. **पुरुष एव सविता।** जै० उ० ब्रा० ४।१२।१।१७
६. **पुरुषो वै संवत्सरः।** शत० ब्रा० १२।२।४।१

७. ब्रह्म के लिए पुरुष नाम का प्रयोग बहुधा हुआ है। यही नहीं गृहस्थ [आश्रम] की संज्ञा भी **पुरुष** है, और चारों वर्णों के सम्मिलित रूप की संज्ञा भी '**पुरुष**' है।

[क] **तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः।** यजु० ३२।१—
[ख] **एतावान् पुरुषो यदात्मा प्रजा जाया।** तां ब्रा० ३।४।३; १३।३
[ग] **चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः।** मै० सं० ४।४।६।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जिनकी संज्ञा **पुरुष** है वे सभी **षोडशकल** हैं। उपर्युक्त वर्णन से ब्रह्म से भिन्न सभी को '**इदं सर्वम्**' में समेटा जा सकता है और वह 'षोडश-कल' है। अतः इनके उपचार से ब्रह्म में षोडश कलाएं मानी जा सकती हैं और उसकी संज्ञा '**षोडशी**' भी रखी जा सकती है। इसी बात को भागवत् में प्रतिपादित किया गया हैं कि सर्गारम्भ में भगवान् ने लोक सिसृक्षा से महदादि से सम्भूत षोडश कलाओं वाले पौरुष रूप को धारण किया।[1] इससे दो बातें स्पष्ट हुईं: [१] कि लोक-सिसृक्षु=भगवान् षोडशकल कहलाते हैं, [२] कि कलाकार का वह पुरुष-रूप महदादि से सम्भूत होता है। इन्हीं को सांख्य ने 'गणश्च षोडशक'[2] कहा है। स्वामी दयानन्द ने भी षोडशी शब्द की व्याख्या में

१. **जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया।** भा० पु० १।३।१
२. **ईश्वरकृष्ण-कृत सां० का० २२**

यही प्रतिपादित किया है कि जगत् को रचने की अपेक्षा से ब्रह्म षोडशी कहलाता है।[१] आनन्दगिरी ने अपने प्रश्नोपनिषद् भाष्य में इसी बात की पुष्टि की है।[२]

एक दृष्टि से यह जगत् षोडश-कल है। जगत्-ब्रह्म का एक पाद है, उस एक पाद में १६ कलाएं ही रहती हैं। यदि ऊर्ध्व के तीन पादों की [प्रति-पाद की दृष्टि से] सोलह-सोलह कलाएं मानी जाएं तो ब्रह्म ६४ कलाओं वाला हो जाता है। ब्रह्म का एक-पाद-भूत यह विश्व भी षोडशकलाओं से युक्त है इस दृष्टि से ब्रह्म को ही **षोडश-कल** कहा जाना उचिततम ठहरता है।

वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र आठ स्थलों पर सोलह कलाओं का वर्णन मिलता है। उन पर विचार करने से भी पुनः यही विज्ञात होता है कि सोलह-सोलह के वे गण ब्रह्म के अतिरिक्त उन भिन्न 'पुरुषों' में भी घटित होते हैं।

[ये सोलह कलाएं किस पुरुष की हैं और किस प्रकार घटित होती हैं ? यह अपने आप में पृथक् शोध का विषय है। यहां उनकी गणना-मात्र ही सम्भव है।]

प्रश्नोपनिषद् में षोडश कलाओं का वर्णन—

प्रश्नोपनिषद्[३] में भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने पिप्पलाद आचार्य से षोड़श कलाओं के विषय में जब पूछा तो आचार्य ने कहा है सौम्य ! उस पुरुष को यहीं इस शरीर के भीतर हृदय पुण्डरीकाकाश में ही जानना चाहिये किसी अन्य देश में नहीं। उममें प्रकट होने वाली षोडशकलाएं ये हैं—

१. प्राण	[सं० आठ तथा नौ के साथ ग्राह्य है]
२. श्रद्धा	जिससे मनुष्य ईश्वर को प्राप्त करता है
३. आकाश ४. वायु ५. ज्योति=अग्नि ६. जल ७. पृथिवी	} पंच-स्थूलभूत जिससे स्थूल शरीर बना करता है
८. इन्द्रिय ९. मन	} सं० १ [प्राण] मन और इन्द्रिय तथा उनके विषयों [रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श] से सूक्ष्म शरीर बना करता है।
१०. अन्न	= [जीवन का हेतु]
११. वीर्य	= शक्ति
१२. तप	= नियमबद्धता
१३. मन्त्र	= वेद
१४. कर्म	= [सकाम तथा निष्काम]
१५. लोक	= [समस्त नक्षत्र, और मनुष्य आदि योनियां]
१६. नाम	= [चराचर की 'प्रसिद्धि का कारण']

१. यस्मान्न जातः—[षोडशी] येन षोडशः कला जगति रचिताः ता विद्यन्ते यस्मिन् यस्य वा तस्मात् स षोडशीत्युच्यते। ऋ० भा० भू० [वेद-विषय-विचार], पृष्ठ ३१२, पं० २३

२. पुरुषस्य षोडशकलत्वं न साक्षात्सावयवत्वेन किन्तु कला जनकत्वेन तदुपाधिमत्वादिति वक्तुं यस्मिन्नेता इति वाक्यतात्पर्यमाह षोडशकलाभिरिति।

३. प्र० उ० ६।४

इन १६ कलाओं में जीवात्मा और परमात्मा को छोड़ उन सभी तत्त्वों का समावेश है, जिनके द्वारा मनुष्य संसार-यात्रा में अपने सभी अभीष्टों की सिद्धि किया करता है। इन्हीं सोलह कलाओं की संभावना से युक्त हो जाने पर जीव षोडशकल हो जाता है तो इनकी उत्पत्ति का निमित्त कारण तथा उत्पत्ति के पश्चात् उनका आधार होने से ईश्वर भी षोडश-कल कहलाता है।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण और ब्रह्म की षोडश कलाएं—

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] में ब्रह्म की षोडश कलाओं का वर्णन इस प्रकार है—**सत्-असत्, असत्-सत्, वाक्-मन, मन-वाक्, चक्षु-श्रोत्र, श्रोत्र-चक्षु, श्रद्धा-तप, तप-श्रद्धा**,। ये सोलह कलाएं ब्रह्म की हैं। इन सोलह कलाओं में चार-चार जोड़े हैं। हर जोड़े के स्थान को परिवर्तित कर देने से उनकी संख्या सोलह हो जाती है। इनकी व्याख्या, चिन्तन एवं साधना की अपेक्षा रखती है। इस बात की भी संभावना की जा सकती है कि सर्गारम्भ में विकृति [सृष्टि] इन सोलह अवस्थाओं से होकर पूर्णता तक पहुंची होगी। ये सर्वातिशायी पुरुष की कलाएं न होकर प्रकृति पुरुष की कलाएं सम्भावित हैं। **'नासदीय सूक्त'** को भी इन्हीं के साथ रख कर अध्ययन करें तो, मूल रहस्योद्घाटन की सम्भावना अधिक है। हर जोड़े का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है-सत् और असत् का, मन और वाक् का, चक्षु और श्रोत्र का, तप और श्रद्धा का।

[१] सत्-असत्, कार्य-कारण-भाव—

सत्-असत्, कार्य-कारण-भाव के द्योतक हैं। सत् का अर्थ है अस्तित्व। सर्गारम्भ में प्रकृति [सत् रूप में] विद्यमान तो थी, परन्तु उसका कोई व्यवहार नहीं था। जब कभी भी सृष्टि-रचना होगी तो आरम्भ में यह कहा जायेगा······**"असद्वा इदमग्र आसीत्।"**[2] समस्त आकाश तुच्छ से अपिहित था, कोई हलचल न थी, कोई स्पन्दन न था, असत् का यही अभिप्राय है।

न उस समय द्युलोक था न पृथिवी न अन्तरिक्ष।[3] अर्थात् जगत् का निर्माण न हुआ था। ऐसी अवस्था में प्रजापति ने मनन किया और उसको वह सद्-रूप में ले आया। प्रथम चार कलाओं की गगना कराते हुए सत्, असत् असत्-सत्' कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि सत् के पश्चात् असत् और असत् के पश्चात् सत् अर्थात् सृष्टि के पश्चात् प्रलय[4] और प्रलय के पश्चात् सृष्टि, जन्म के पश्चात् मृत्यु, मृत्यु के पश्चात् जन्म और प्रकृति के पश्चात् विकृति और विकृति के पश्चात् प्रकृति अवश्यम्भावा है। यह परिवर्तन प्रकृति में होता है जो कि महद् ब्रह्म की सामर्थ्य से है, इसलिए उपचार से इन चारों को उसकी कलाएं कहा जा सकता है।

[२] वाक्-मन, मन-वाक्—

जो सम्बन्ध उपर्युक्त चार कलाओं का है—वही [सम्बन्ध] एक और दृष्टि से प्रस्तुत करें तो

---

१. **सच्चाऽसच्चाऽसच्च सच्च, वाक्च मनश्च, [मनश्च] वाक् च, चक्षुश्च श्रोत्रं च, श्रोत्रं च चक्षुश्च, श्रद्धा च तपश्च, तपश्च श्रद्धा च, तानि षोडश ॥१॥ षोडश कलम्ब्रह्म। स य एवमेतत् षोडशकलम्ब्रह्म वेद तमेवैतत् षोडशकलम्ब्रह्माऽप्येति ॥२॥** जै० उ० ब्रा० ४।११।४।१-२

२. तै० उ० २।७, सुबा० उ० ३.१

३. **इदं वा अग्रे नैव किञ्चनास्तीति न द्यौरासीद् आसीन्न पृथिवी नान्तरिक्षम्। तदसदेव सन् मनो कुरुत स्यामिति।** तै० ब्रा० २।२।९।१

४. **'मृत्युर्वा असत्'** शत० ब्रा० १४।४।१।३१

अगली चार [वाक्-मन, मन-वाक्] कलाओं का है : वाक् के पश्चात् मन मन पश्चात् वाक् का। सर्गारम्भ में सर्व प्रथम जब भी चेतन का आविर्भाव हुआ तो उसकी अभिव्यक्ति वाक् द्वारा ही हुई।[1] आज भी इस बात को प्रत्यक्ष किया जा सकता है। जैसे ही मातृकुक्षि से शिशु बाहर आता है कि सर्वप्रथम उसमें किसी भी अन्य क्रिया से पूर्व, वाक् की अभिव्यक्ति होती है। [यही नहीं कदाचित् वागभिव्यक्ति न हो तो किसी भी उपाय से कराई जाती है] यही उसके जीवन की पहिचान है। यह वागभिव्यक्ति, मनन-पूर्वक हो यह आवश्यक नहीं। इस कारण वाक् पूर्व रूप है और मन उत्तर रूप। जिस प्रकार सत्-असत् और असत्-सत् का क्रम है, उसी प्रकार वाक्-मन और मन-वाक् का भी क्रम है : मन को पूर्व देने का अभिप्राय प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट प्राणी मनुष्य के आविर्भाव को दर्शाना है अन्यथा वाग्-अभिव्यक्ति तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग सभी में पाई जाती है। मनुष्य की विशेषता ही मन है [मननात् मनुष्यः]। दो वाणियों के सम्पुट में मन निहित है और हर दो मनों के मध्य वाक्।

वाग्वा अग्निहोत्री [गौ]—

वाक् और मन का सम्बन्ध गौ बछड़े का सा है। वाक् गौ है, मन बछड़ा है।[2] जिस प्रकार बछड़े को साथ रख कर गौ दुही जाती है। तद्वत् मनन को साथ रख कर वाणी का दोहन होता है अथवा मन पूर्व वाक् पश्चात्।[3] देखा भी गया है कि बछड़े को आगे चलाने पर गौ पीछे पीछे दौड़ती है। इसी प्रकार मनन के पीछे वाक्-व्यवहार होता है। इसे परिवर्तित करके ऐसे भी कह सकते हैं गौ के चलाने पर बछड़ा पीछे पीछे चला आता है। प्राण वह रज्जु है जिससे वाक् गौ और मन-वत्स परस्पर बंधे रहते हैं। मन के ही सब कामनाएं आश्रित हैं और मन से ही सब कामनाएं ध्यान में लाई जाती में। फिर वाणी ही सब कामनाओं को व्यक्त करती है।[4] सृष्टि रचना में इन चारों कलाओं की अभिव्यक्ति पराकाष्ठा है और जिसके सामर्थ्य से इनकी अभिव्यक्ति हुई. वह ब्रह्म भी कलायुक्त है।

[३] चक्षु-श्रोत्र, श्रोत्र-चक्षुः—

वागभिव्यक्ति सृष्टि-रचना की जहां पहली आश्चर्यजनक घटना है, वहां चक्षु-अभिव्यक्ति दूसरी है। कदाचित्, शिशु-जन्म होने पर वाग्-अभिव्यक्ति न हो तो उसके जीवित होने का प्रमाण उसकी आंखों से ही होता है। चक्षु और श्रोत्र का भी परस्पर सम्बन्ध है, यही कारण है कि इन दोनों के गोलक समरेखा में बने हुए हैं। वाक् और मन कह कर जहां मनुष्याभिव्यक्ति कह दा गई वहां 'चक्षु-श्रोत्र' कह कर मनुष्येतर प्राणियों की अभिव्यक्ति भी कह दी गई।

[४] श्रद्धा-तप तप-श्रद्धा—

ऋग्वेद के 'श्रद्धा-सूक्त' में, सम्मिलित समाज की यह प्रार्थना है कि हम सब श्रद्धा का प्रातः

---

१. प्रजापतिर्वा इदमासीत्। तस्य वाग्द्वितीयासीत्। का० सं० १२-५

२. वाग्वा अग्निहोत्री। तस्यै मन एव वत्सः, मनसा वै वाचं पृक्तां दुह्रे। वत्सेन वै मातरं पृक्तां दुह्रे। वत्सेन वै मातरं पृक्तां दुह्रे तद् वा इदं मनः पूर्वं पश्चा वागन्वेति। तस्मात् वत्सं पूर्वं यन्तं पश्चा माता अन्वेति। हृदयं एव मेध्य उपदोहनी प्राणो रज्जुः प्राणेनैव वाक् च मनश्चाभिहिते रज्ज्वा वै वत्सं च मातरं चाभिदधाति। जै० ब्रा० १।११।

३. मनः पूर्वरूपम् वाक्-उत्तररूपम्। ऐ० आ० ३।१।१

४. मनसि वै सर्वे कामाः श्रिताः। मनसा हि सर्वान् कामान् ध्यायति। वाग् वै सर्वान् कामान् दुह्रे। वाचा हि सर्वान् कामान् वदति। ऐ० आ० ।३१।२

तथा मध्याह्न के समय सायं समय हवन करते है।[1] श्रद्धा से ही जीवन लाभ करता है।[2] श्रद्धा से अग्नि प्राप्त की जाती है। श्रद्धा से ही हवि दी जाती है और ऐश्वर्य की मूर्धा पर श्रद्धा विराजती है।[3] यजुर्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र में कहा-श्रद्धा ही से सत्य की उपलब्धि होती है।[4] यह आवश्यक है कि वह श्रद्धा हृदय की अन्तस्तल-आकूति से उठी हुई होनी चाहिए।

श्रद्धा शब्द का अर्थ है सत्य को धारण करना **'श्रत् सत्यं यया धार्यते सा श्रद्धा'** इसके दो पद हैं—**'श्रत्'** तथा **'धा'**। सत्य की उपलब्धि श्रद्धा से होती है। इसलिये जीवन में **श्रद्धा पूर्व, तप पश्चात्, तप पूर्व, श्रद्धा पश्चात्,**। श्रद्धा के विना **तप** और **तप** के विना **श्रद्धा** उपलब्ध नहीं होते। इसकी अभिव्यक्ति कर्मात्मा पुरुष में प्रकट होती है और इन सवका आधार सर्वातिशायी पुरुष में है। अघमर्षण सूक्त में सृष्टि रचना के लिये तीन कलाओं का वर्णन है—**ऋत, सत्य** और **तप**। ऋत और सत्य को यहां एकमात्र **श्रद्धा** शब्द द्वारा व्यक्त किया है। उसके साथ तप सम्मिलित है जैसा सम्बन्ध **वाक्-मन** का तथा **चक्षु-श्रोत्र** का है, वैसा ही **श्रद्धा** और **तप** का है। इस प्रकार इन सोलह कलाओं की अभिव्यक्ति जगत् में होने से यह जगत् षोडशकल है। और इनकी अभिव्यक्ति का कारण होने से महद् ब्रह्म षोडश कल कहलाता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् और मन की षोडश कलाएं—

बृहदारण्यक-उपनिषद्[6] में आत्मा को **वाङ्मय, मनोमय** और **प्राणमय** माना है। मन में वहां दस कलाएं परिगणित हैं। **१. काम, २. संकल्प, ३. विचिकित्सा, ४. श्रद्धा, ५. अश्रद्धा, ६. धृति, ७. अधृति, ८. ह्रीः, ९. धीः, १०. भीः,** और प्राण की पांच—**११. प्राण, १२. अपान, १३, व्यान, १४. उदान, १५. समान,** वाक् की केवल एक **१६. कलाशब्दमयी**। इस प्रकार ये सोलह कलाएं कर्मात्मा पुरुष की समझनी चाहियें।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण और प्रजापति की षोडशधा व्याकृति—

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[7] में कहा है कि प्रजापति ने अपने आपको षोडशधा व्याकृत किया **१. भद्रम्, २. समाप्तिः, ३. आभूतिः, ४. सम्भूतिः, ५. भूतम्, ६. सर्वम्, ७. रूपम्, ८. अपरिमितम्, ९. श्रीः, १०, यशः, ११. नाम, १२. अग्रम्, १३- सजाता, १४. पयः, १५. महीया, १६. रसः।**

---

१. श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः। ऋ०१०।१५१।५
२. श्रद्धया विन्दते वसु। ऋ० १०।१५१।४
३. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः। श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि। ऋ० १०।१५१।१
४. श्रद्धया सत्यमाप्यते। यजु० १९।३०
५. श्रद्धा हृदय्याकूत्या। ऋ० १।५१।४
६. त्रीण्यात्मने कुरुत इति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत। अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवम् नाऽश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति, मनसाश्रृणोति। कामः सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानो न इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः। बृ ३.१.५.३।
७. स षोडशधाऽऽत्मानं व्यकुरुत भद्रं च समाप्तिश्चाऽऽभूतिश्च भूतं च सम्भूतिश्च रूपं चाऽपरिमितं च श्रीश्च यशश्च नाम चाऽग्रं च सजाताश्च पयश्च महीया च रसश्च। जै० उ० ब्रा० १.१५.१,२,३

इनका स्पष्टीकरण स्वयं इसी ब्राह्मण ने कर दिया है।

[१]—जो **भद्र** है वह उसका **हृदय** है प्रजापति ने उससे संवत्सर को रचा, इसलिये संवत्सर उसके आदेश में चलता है।

[२]—**समाप्ति** उसका **कर्म** है, कर्म से ही सब कुछ प्राप्त किया जाता है। फल की उपलब्धि होने पर कर्म को समाप्त कर देते हैं, क्योंकि फल को सम्यक्तया प्राप्त कर लिया गया। व्यक्ति की श्रेष्ठता की पहचान इसमें है कि आरम्भ किए हुए कर्म को समाप्त कर के ही छोड़े समाप्ति कर्म से उसने ऋतुओं को बनाया।

[३]-उसका **अन्न** ही **आभूति** है अन्न से ही प्राणिमात्र का आभव होता है और यही उनका ऐश्वर्य है। वह **अन्न** चार भागों में विभक्त है-**अन्न, जल, प्राण** और **तेज**। इसलिये उससे मास, अर्धमास [पक्ष], अहोरात्र [दिन रात्र] और उषा का जन्म हुआ। इसीलिये ये सभी उसकी आज्ञा में चलते हैं।

[४]— उसकी **रेतस्** शक्ति ही **सम्भूति** है, निश्चय ही रेतस्-शक्ति से ही उत्पत्ति सम्भव है। उससे उसने चन्द्र को रचा। जिस प्रकार चन्द्र, आह्लाद और शान्ति देता है तद्वत् सुरक्षित रेतस्-शक्ति व्यक्ति को आह्लाद और शान्ति प्रदान करती है। वैदिक भाषा में चन्द्र का अर्थ पुत्र है। वह भी आह्लाद और शान्ति प्रदान करने के कारण चन्द्र कहलाता है।

[५] इसके जो **प्राण** हैं वही **भूत** हैं। उससे ही उसने वायु की रचना की। यही कारण है कि वायु उसके आदेश में चलता है। पंचभूतों में सर्वप्रथम वायु की ही अभिव्यक्ति होती है। आकाश के पश्चात् उस का ही क्रम है **आकाशाद्वायुः**'।

[६]—उसकी **अपान**- शक्ति ही सर्वम् [सब कुछ] है, उससे उसने पशुओं की रचना की। इसीलिये पशु उसके आदेश में रहते हैं।

[७]—उसकी **व्यान**-शक्ति उसका **रूप** है। उससे उसने प्रजाओं की रचना की। इसीलिये प्रजाएं उसके आदेश में चलती हैं। इसीलिये इन प्रजाओं में रूप देखा जाता है।

[८]—उसका **मन** '**अपरिमित**' है। उससे दिशाओं की सृष्टि की। इसीलिये दिशाएं उसके आदेश में चलती हैं। यही कारण है कि दिशाएं अपरिमित हैं। निश्चय ही मन भी अपरिमित है।

[९]—उसकी **वाक्**-शक्ति ही **श्री** है। उसी से उसने समुद्र को रचा। यही कारण है कि समुद्र उसके आदेश में चलता है।

[१०]—उसका जो **तप** है वही उसका **यश** है। उसी से उसने अग्नि को रचा। यही कारण है कि अग्नि उसके आदेश में चलता है। इसीलिए वह मन्थन करने से और संघर्षण करने से उत्पन्न होती है। इसीलिये कहा कि तप उसका यश है।

[११]—उसकी जो **आंख** है वही उसका **नाम** है। उसी से उसने आदित्य को रचा। यही कारण है कि आदित्य उसके आदेश में चलता है।

[१२]—उसकी **मूर्धा** उसका **अग्र** भाग है अथवा उसका उत्तमांग है। उसी से उसने द्युलोक बनाया। यही कारण है कि द्युलोक उसके आदेश में चलता है।

[१३]—उसके समस्त अंग '**सजाता** कहलाते हैं क्योंकि वह अंगों के साथ उत्पन्न होता है। उससे उसने वनस्पतियों को पैदा किया। इसलिये वनस्पतियां उसके आदेश में चलती हैं।

[१४]—जो उसके **लोम** हैं वही उसका **दुग्ध** है। उससे उसने औषधियों को बनाया। यही

कारण है कि औषधियां उसके आदेश में चलती हैं।

[१५]—उसका **मांस** उसकी **महीया** है। निश्चय ही मांसों से वह महान होता है। उससे उसने पक्षियों को बनाया। यही कारण है कि पक्षी उसके आदेश में चलते हैं।

[१६]—उसकी जो **मज्जा** है वही उसका **रस** है। उस रस से उस ने इस पृथिवी को बनाया। इसलिए पृथिवी उसके आदेश में चलती है। पृथिवी की एक संज्ञा '**रसा** भी है।

निश्चय ही वह अपने को सोलह भागों में विभक्त कर के सब के साथ चल पड़ा। क्यों कि वह सब के साथ चल पड़ा इसी साम्य से साम का सामत्व है। वह ही यह हिरण्मय-पुरुष उदित, हुआ हुआ; प्रजाओं का उत्पादक है।

इस सम्पूर्ण प्रसंग के अध्ययन से प्रजापति को ये सोलह कलाएं त्रिधा विभक्त प्रतीत होती हैं [१]–भद्रं से लेकर रस पर्यन्त-कर्मात्मा पुरुष की, और [२] हृदय से लेकर मज्जा पर्यन्त विश्वात्मा पुरुष की और [३] संवत्सर से लेकर पृथिवी-पर्यन्त सोलह कलाएं विराट् पुरुष की हैं।

शतपथब्राह्मण और शरीर की षोडश कलाएं —

वैदिक साहित्य में पुरुष संज्ञा न केवल महद् ब्रह्म, विराट्, प्रजापति, आदित्य आदि की ही हैं, अपितु स्थूल देह की भी है। छठी शक्ति चेतना से युक्त पांच धातुओं के समन्वय का नाम।[1] उस स्थूल देह का आधार अष्ट धातुएं हैं। शतपथकार[2] ने उन्हें **१ लोम, २ त्वक्, ३ असृक्, ३ मांस, ५ स्नायु, ६ अस्थि, ७ मेद, और ८ मज्जा** द्वयक्षर रूप में गिनाया है।

यह विचारणीय है कि इन नामों में आये हुए दो-दो अक्षरों को मान कर कलाओं की १६ संख्याओं को पूर्ण करना कहां तक युक्त है। क्यों-न प्रत्येक धातु के स्थूल और सूक्ष्म दो भेदों को मान कर सोलह कलाएं मान ली जाएं। शतपथ का भाष्य करते हुए सायण ने लिखा है कि पुरुष शरीर मध्यवर्ती पंचवृत्यात्मक प्राण की ये उपर्युक्त सोलह कलाएं अन्न का अभिसरण दान करती हैं। अर्थात् [प्राणरूप प्रजापति को हवि अर्पण करती हैं।]; जब ये इस दान अभिसरण में समर्थ नहीं होती तो प्राण प्रजापति इनका आदान कर देह से निकल जाता है। इस प्रसंग से यह ज्ञात हुआ कि लोमादि मज्जा पर्यन्त आठों धातुएं प्राण के लिये अन्न-रूप हवि को लाती और उसमें अर्पण कर देती है। इन दोनों प्रकार के कार्य करने कारण दो-दो अक्षरों से ८-१६ कलाओं की सम्भावना हो गई। यह विषय आयुर्वेद-विशेषज्ञों के लिये गवेषणीय है।

छान्दोग्योपनिषद् और चतुष्पाद् ब्रह्म की षोडश कलाएं —

छान्दोग्य-उपनिषद् [४-५-८] में ब्रह्म चतुष्पाद् है, प्रतिपाद में उसकी चार कलाएं दरशायी हैं–

[क]—१. प्राची दिक् कला
२. प्रतीची दिक् कला
३. दक्षिणा दिक् कला
४. उदीची दिक् कला-एष वै सौम्य चतुष्कलः पाद ब्रह्मणः **प्रकाशवान्नाम** (छा० ३-४-५-२);

१, च० सं० १.१६ (शरीर स्थान)

२. तद्वै लोमेति द्वे-अक्षरे। त्वगिति द्वे, असृगिति द्वे मेद इति द्वे मांसमिति द्वे स्नावेति द्वे, अस्थीति द्वे मज्जेति द्वे ताः षोडश कलाः। शत० ब्रा० १०।४।१।१७

[ख]—५. पृथिवी कला
६. अन्तरिक्ष कला
७. द्यौ: कला
८. समुद्रकलैष वै सौम्य चतुष्कल: पादो **ब्रह्मणाऽनन्तवान्नाम** ।४-६-३;

[ग]—९. अग्नि : कला
१०. सूर्य: कला
११. चन्द्र: कला
१२. विद्युत कला-एष वै सौम्य चतुष्कल: पादो ब्रह्मणो **ज्योतिष्मान्नाम** । ४-७-३;

[घ]—१३. प्राण: कला
१४. चक्षु: कला
१५. श्रोत्रं कला
१६. मन : कलैष वै सौम्य चतुष्कल: पादो ब्रह्मण **आयतनवान्नाम** । ४-८-३;

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में चतुष्पाद् ब्रह्म के एक पाद में चार कलाएं दर्शायी हैं, ब्रह्म के चार पाद-प्रकाशवान्नाम, अनन्तवान्नाम, ज्योतिष्मान्नाम और आयतनवान्नाम हैं। 'प्रकाशवान्नाम' में चारों दिशाओं की गणना है, क्योंकि किसी भी वस्तु के दिशा-निर्देश हेतु प्रकाश की परमावश्यकता होती है। बिना प्रकाश के दिशा निर्देश असम्भव है। द्वितीय पाद 'अनन्तवान्नाम' है। इसके अन्तर्गत उसकी अनन्तता की द्योतक चार कलाएं दर्शायी हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और समुद्र। तृतीय पाद 'ज्योतिष्मान्नाम' है। इसमें चारों ज्योतियों का उल्लेख है—अग्नि, सूर्य, चन्द्र एवं विद्युत्। चौथा पाद 'आयतनवान्नाम' है। वह ब्रह्म प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं मन का आधार है, अत: उसके चतुर्थ पाद का नाम आयतनवान् है। चतुष्पाद् ब्रह्म की ये उपर्युक्त षोडश कलाएं ब्रह्म में औपचारिक रूप से निवास करती हैं। इस कारण यहां वह षोडश-कल माना गया है।

पुरुष-सूक्त और षोडश कलाएं—

इस प्रकार यत्र तत्र ब्रह्म की षोडश कलाओं का वर्णन हुआ है। पुरुष सूक्त में भी इनका संकेत मिलता है। इनमें से कुछ तो उपर्युक्त कलाओं के अन्तर्गत आ जाती है और कुछ स्वतन्त्र रूप से भी हैं, तद्यथा—

वैदिक साहित्य के सृष्टि-प्रसङ्ग में प्राय: इस त्रिक का प्रयोग किया जाता है—'सोऽकामयत', 'तदैक्षत', 'स तपोऽतप्यत'। ये परम पुरुष की कामना ईक्षण और तप के द्योतक हैं। पुरुष-सूक्त में इनका संकेत **'सहस्रशीर्षा'**, **'सहस्राक्ष:'** और **'सहस्रपाद्'** से प्राप्त होता है। इस ईक्षण के आधार पर ही ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्म का चिद्रूप सिद्ध किया है।[1] ब्रह्मसूत्र में प्रयुक्त **'अभिध्या'** पद का भी इसी ओर निर्देश है।

[१] इसी प्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस महावाक्य में ब्रह्म के तीन रूपों का वर्णन किया गया है। सृष्टि-उत्पत्ति के लिए ब्रह्म के इन तीन कला-रूपों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

विना **'सत्य'** के सृष्टि की कल्पना भी असम्भव है। यह वह धर्म है जिससे कि जगत् धारित है। इस धारणात्मक शक्ति को ही अथर्ववेद में **'स्कम्भ'**[2] कहा है और पुरुष-सूक्त में **'सम्भृतं'** पद से व्यक्त किया है। ब्रह्मसूत्रकार ने भी अपने सूत्र में **'सम्भृति'** पद का समावेश इसी आशय से किया है।[3]

---

१. वे० सू०—१.१.५. २. अथर्व० १०-८ ३. वे० सू० ३-३-२३

[२] ब्रह्म का **ज्ञानमय** होना भी आवश्यक गुण है। उसके ज्ञानरूप होने के कारण ही सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन करते हुए पुरुष-सूक्त में उससे वेदचतुष्टय-ऋग्यजुः साम और छन्द-रूप ज्ञान का प्रादुर्भाव दर्शाया है [३]ब्रह्म का **'अनन्त'** रूप भी सृष्टि-उत्पत्ति के लिए उतना ही आवश्यक है जितने अन्य रूप। पुरुष-सूक्त में उसके इस **'विभु'** रूप का वर्णन **'सर्वतस्पृत्वा'** एवं **'विश्वतो वृत्वा'** पदों से स्पष्ट किया है। जैमिनीय-उपनिषद् ब्राह्मण में उसे **'सर्व'** कला के रूपमें दिया है। इस प्रकार ब्रह्म के ये तीन रूप **सत्य, ज्ञान** और **अनन्त;** जिन्हें **सम्भरण-ज्ञान** और **विभु** भी कहा जा सकता है, सृष्टि-उत्पत्ति-हेतु तीन कला-रूप हैं।

ब्रह्म का **'आनन्द'** रूप भी अतिप्रसिद्ध है। उपनिषदों में उसे **'सच्चिदानन्द'** कहा है। उसका **'आनन्द'** रूप सृष्टि-उत्पत्ति में एक कला के रूप में प्रकट हुआ है। जै० उ० ब्रा० में वर्णित प्रजापति की षोडश कलाओं में **'रस'** कला इसी ओर संकेत करती प्रतीत होती है। यजुर्वेदीय पुरुष-सूक्त के सप्त-दश-मन्त्रगत **'रसात्'** पद भी यही निर्देश कर रहा है।

जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण[१] में वर्णित **'रूपम्** और **'अपरिमितम्'** कलाओं को पुरुष-सूक्त ने **'महिमा'** एवं **कालातीत** और **देशातीत** रूप से ग्रहण किया है।

वेद एवं उपनिषद्-साहित्य ब्रह्म को सृष्टि का रचयिता होने के साथ-साथ ही उसका स्वामी अथवा शासक भी मानता है—**'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः**[२]', **'ईशते यस्तु सोऽन्यः'**[३]। सृष्टि-स्थिति के लिए उसकी यह एक महत्त्वपूर्ण कला है जिसे पुरुष-सूक्त में **'ईशान'** पद से अभिव्यक्त किया है।

वेद में सृष्टि-कर्ता का **अग्र** होना भी वर्णित है जिसे जै० उ० ब्रा० ने **'अग्र'** कला के रूप में स्वीकार किया है। यजुः पुरुष-सूक्त में भी **'समवर्तताग्रे'** कह कर इस रूप को माना है।

सृष्टि-उत्पत्ति के लिए कुछ आवश्यक गुणों का वर्णन पुरुष-सूक्त में और हुआ है, यथा—**ज्यायान् रूप, विक्रम रूप, अत्यरिच्यत रूप, सर्वहुत् रूप** एवं **यज्ञमय रूप।**

उपर्युक्त सभी रूपों को-जो सृष्टि-उत्पत्ति में आवश्यक कलाएं हैं पुरुष-सूक्त की दृष्टि से देखा जाय, तो नाम एवं क्रम से इस प्रकार होंगी—(१) **कामना,** (२) **ईक्षण,** (३) तप, (४) **विभुता,** (५) **देशातीत कालातीत,** (६) **ईशत्व,** (७) **महिमा,** (८) **ज्यायान्,** (९) **विक्रम,** (१०) **अत्यरिच्यत,** (११) **अग्र-जातम्,** (१२) **सर्वहुत्,** (१३) **सम्भरण,** (१४) **ज्ञानमयी,** (१५) **यज्ञमयी,** (१६) **आनन्दमयी।**

१-कामना कला—

पुरुष-सूक्त के प्रथम-मन्त्रगत 'सहस्रशीर्षा' पद से कामना' कला द्योतित होती है। इसी को हम 'संकल्प' कला भी कह सकते हैं। तीन प्रकार की सृष्टि सम्भावित है। एक **संकल्पमूला'** जिसके लिये शीर्ष शब्द का प्रयोग हुआ है। द्वितीय **'तपोमूला'** जिसके लिये **पाद** शब्द का प्रयोग हुआ है। तृतीय **'दर्शनमूला'** जिसके लिए **'अक्ष'** शब्द का प्रयोग हुआ है।[४] अब जरा महद्-ब्रह्म की **'शीर्ष'** ऊर्ध्व संकल्प कला पर अनुचिन्तन करलें। यहां का **'शीर्ष'** शब्द **'कामना'** अथवा **'संकल्प'** का वाचक है। शीर्ष से अभिप्रेत अष्ट-कपालों का ढांचा मात्र नहीं, 'दिव्य विचारों का केन्द्र' भी है। वेद ने द्वितीय अर्थ को महत्त्व दिया है। श्रुति में शिर की परिभाषा करते हुए कहा है—**शिरो देव कोशः**[५]। यहां देव शब्द का

---

१. जै० उ० ब्रा० १-४-६-२ १. ऋ० १०-१२१-३ २. श्वे० उ० ५-१

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने Vedic Lectures पुस्तक के पुरुष-सूक्त लेख में इसका वर्णन किया है।

२. अथर्व० १०।२।२७

अर्थ दिव्य भाव एवं इन्द्रियां हैं।[1] अर्थात् शिर **संज्ञान कामना** और **संकल्प** का केन्द्र हुआ; तदनुसार **'सहस्र-शीर्षा'** पद से महद् ब्रह्म की **'अनन्तकाम' 'अनन्तज्ञान'** और **'अनन्त संकल्प'** कला ग्राह्य है।

शिर का **'देवकोशः'** विशेषण कामना को मर्यादित करने के लिये है। कामना हो, लेकिन दिव्य हो, तभी वह कला का रूप धारण कर सकती है। [फिर ब्रह्म तो परम देव है, उनकी कामना तो परम दिव्य है।] श्रीकृष्ण ने गीता में स्वीकार किया है, **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि'**।[2] महद् ब्रह्म में निरंकुश कामना का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उसकी प्रत्येक कामना दिव्य है, अखण्ड है, एक रस है। जहां महद् ब्रह्म को **'सहस्रशीर्षा'** विशेषण से स्मरण किया है, वहां अन्यत्र **'दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'**[3] कहकर नमस्कार किया गया है, उस ब्रह्म की द्युलोक मूर्धा है। यहां का मूर्धा, मस्तिष्क अथवा शीर्ष का वाचक है। पुरुष-सूक्त का **शीर्ष** और यहां का **'दिव'** एक ही है। दूसरी ओर अथर्व० में इसे **'देवकोश'** कहा ही है। इन सब के समन्वय से **'सहस्रशीर्षा'** शब्द का अर्थ होगा **'अनन्त-दिव्य-कामनाओं वाला'**। दिव्य कामनाओं से ही अनन्त देवों की प्रसूति सम्भव है। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति की दिव्य कामनाओं का प्रभाव उसके चरित्र पर प्रतिफलित होता है, उसी प्रकार महद् ब्रह्म की दिव्य कामनाओं का प्रभाव आंशिक रूप में लोकोत्तर पुरुषों तथा सृष्टि के कण, कण में प्रतिभासित होता है, जिन्हें हम **'कला'** कहते हैं। उनमें ये कलाएं न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहती हैं, जबकि ब्रह्म में अखण्डैकरस रहती हैं। कलाओं में भी पुनः कामना का स्थान प्रथम है, चेतन-सत्ता में सर्वप्रथम काम का ही प्रादुर्भाव होता है। वेद में कहा भी है—**'कामस्तदग्रे समवर्तताधि'**;[4] इसी प्रकार उपनिषदों के सृष्टि-उत्पत्ति प्रकरण में कामना को ही सर्वप्रथम दर्शाया है, तद्यथा **'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति'**[5] ब्रह्म ने कामना की मैं बहुत हो जाऊं, प्रजावाला होऊं इत्यादि। इस सारी भावना को **सहस्रशीर्षा** पद में आबद्ध कर दिया गया है।

२-ईक्षण कला —

जहां **'कामना'** पुरुष की प्रथम कला है, वहां **'ईक्षण'** द्वितीय कला है। जिसे पुरुष-सूक्त में **'अक्ष'** शब्द से व्यक्त किया गया है। सृष्टि-उत्पत्ति में इस कला का सहयोग अनिवार्य है। सृष्टि-उत्पत्ति से पहिले ईश्वर ने कामना की, विचार किया, संकल्प किया, तत्पश्चात् उसने अपने विचार को मूर्त्त-रूप देने के लिए ईक्षण किया, देखा।[6] **संकल्प [शीर्ष]** और **तप [पाद]** को जोड़ने वाली कड़ी का नाम **'ईक्षण'** [चक्षुः] है। बिना **'ईक्षण'** के कोई भी संकल्प, मूर्त्त-रूप धारण नहीं करता। जिस प्रकार बिना चक्षु के सामान्य व्यक्ति के मस्तिष्क एवं चरण कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, उसी प्रकार बिना **'ईक्षण'** के कोई कामना, आचरण [कार्य रूप] में नहीं आती। जिस प्रकार चक्षु, शीर्ष और पाद को जोड़ने वाली कड़ी है तद्वत **ईक्षण, कामना** और **तप** को जोड़नेवाली कड़ी है। इसी कारण उसका स्थान भी मध्य

---

१. **मनो वै देववाहनम्**। शत० ब्रा० १।४।३।६

२. भ० गी० ७-११

३. अथर्व० १०।७।३२

४- ऋ० १०।१२६।४

५. तै० उ० २.६ द्र० जै० उ० ब्रा० १।४६:१

३. ईक्षण का अर्थ विद्वज्जन पृथक्-पृथक् करते हैं। एक अर्थ इसका 'चक्षु से देखना' भी है जिसको कि हमने मुख्य अर्थ माना है—अथर्व० १३।३।६, **"चक्षुषैक्षत"** इस मन्त्रांश से भी हमारी बात की पुष्टि होती हैं।

में रखा गया है। शतपथकार ने तो चक्षु को ही चरण माना है "**चक्षुरैव चरणं चक्षुषा ह्ययमात्मा चरति**"।[1]

ब्रह्म सूत्रकार तो, ईश्वर की चेतनता तथा जगत्जन्मादि के प्रति निमित्त कारण होने में इस कला का ही प्रमाण देते हैं—"**ईक्षतेर्नाशब्दम्**"।[2]

ब्रह्म के '**ईक्षण**' का एक अर्थ जहां **देखना** है वहां दूसरा अर्थ जगत् के मूल उपादान कारणों को कार्य रूप [जगद्रूप] में परिणत करने का '**ज्ञान**' भी है।[3] वह केवल देखता ही नहीं है अपितु जगत् के मूल उपादान कारणों को कार्यरूप [जगद् रूप] में परिणत करने के ज्ञान को भी ध्यान में लाता है, क्योंकि सृष्टि की रचना ज्ञान-पूर्वक एवं व्यवस्था-पूर्वक है, आकस्मिक नहीं।

उपनिषदों में अनेक स्थानों पर स्रष्टा की इस '**ईक्षण**' कला पर विचार किया गया है। ऐतरेय-उपनिषद्कार कहता है **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत।**[4]

सर्ग से पूर्व एक आत्मा ही था, अन्य कोई वस्तु व्यापार या क्रिया करती हुई न थी, क्योंकि यह समस्त जगत् कारण में लीन था। उस ब्रह्म-रूप आत्मा ने ईक्षण किया—मैं सब लोकों का निर्माण करूं, उसने इन सब लोकों को बनाया। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्[5] में भी वर्णन है।

३—तपोमयी कला—

जहां सूक्त का प्रथम-मन्त्रगत '**सहस्रशीर्षा**' **अनन्त** कामनाओं और '**सहस्राक्ष**' **अनन्त** 'ईक्षणं' की ओर संकेत कर रहे हैं, वहां **सहस्रपात्** पद भी परम पुरुष के **अनन्त तपः** सामर्थ्य की ओर संकेत कर रहा है।

पाद का सम्बन्ध प्रायः तप से जोड़ा जाता है: जिस प्रकार पिण्ड में सबसे निचला भाग पाद [चरण] कहलाता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भूमि, समाज में शूद्र और आश्रमों में ब्रह्मचर्य पादस्थानीय कहलाते हैं। पाद मात्र के लिए तप की महती आवश्यकता है। हिन्दुमात्र सन्ध्या में नित्य प्रार्थना करता है—'**तपः पुनातु पादयोः**।'[6]

शूद्र के सम्बन्ध में जहां '**पद्भ्यामजायत**'[7] कहा गया, वहां '**तपसे शूद्रम्**'[8] भी कहा गया है। उपर्युक्त शास्त्रीय वचनों के अवलोकन से ध्वनित हो रहा है कि तप और पाद का घनिष्ट सम्बन्ध है।

ब्रह्म की इस तपोमयी कला को जानने के लिए **पाद** शब्द पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। '**पद्**' धातु के दो अर्थ हैं-**गति और स्थिति**। एक पाद जहां गति का सूचक है वहां दूसरा पाद स्थिति का। इस गति और स्थिति को संतुलित बनाए रखने ही का नाम 'तप' है। ब्रह्म को गति और स्थिति की आवश्यकता नहीं-वह इन दोनों से ऊपर है। ब्रह्म तो परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक को गति और स्थिति प्रदान करता है। उसकी इस कला के कारण ही सम्पूर्ण सृष्टि गति स्थिति में बंधी हुई है। गति-स्थिति का उसने इतना सन्तुलन किया हुआ है कि कोई वस्तु परस्पर टकराती नहीं, बस इस सन्तुलन

---

१. शत० ब्रा० १०।३।५।७
२. वे० सू० १.१.५
३. वे० सू०। वि० भा० [पृ० ४०]
४. ऐ० उ० १.१.१
५. छा० उ० ६.२.३
६. प० म० वि० [ब्रह्म यंज्ञ प्रकरणम्]
७. पु० सू० १२
८. यजु० ३०।५

का नाम ही 'तप' है। '**द्वन्द्वसहनं तपः**।'[1]

वेद की दृष्टि में सृष्टि का मूल ही 'तपस्' है। यह अनन्त तप भी परमेश्वर का ही सामर्थ्य था। जिसका वर्णन अथर्ववेद में प्राप्त होता है—"**तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ (अथर्व० ११.८.२)**

सृष्टि के उस आरम्भिक काल में प्रलय कालीन समुद्र में दो ही बातें विशेष थीं एक तो स्रष्टा परमेश्वर का, स्रष्टव्य वस्तुओं का पर्यालोचन-स्वरूप तप विद्यमान था दूसरे प्राणियों के द्वारा अनुष्ठित [पुण्यापुण्यरूप तथा सुखदुःखरूपी फलों के लिए उन्मुख परिपक्व उभय-रूप] कर्म भी विद्यमान थे। तब कहीं सृष्टि-रचना का उपक्रम हो सका था अभिप्राय यह है कि उस समय में तप और कर्म ही उपकरण रूप में अवस्थित थे। तप परमेश्वर का अतिविशिष्ट गुण है। तप की पर्यालोचना में उपनिषद् में कहा गया है–'**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः**'[2]

इसी उपनिषद् में कहा—'**तपसा चीयते ब्रह्म**'[3] तैत्तिरीय-उपनिषद् में तो ब्रह्म को ही तप कह दिया है—'**तपो ब्रह्मेति**'[4] उसके इस तप रूप में ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, इसलिए लिखा है '**तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्तपः परमं वदन्ति**।'[5] इस सम्पूर्ण विवेचन से ज्ञात हुआ कि पुरुष की तपः सामर्थ्य अनन्त है। पुरुष की तपोकला वह कला है जिसने पुरुष की संकल्प और ईक्षण दोनों कलाओं को संतुलित किया हुआ है। संतुलन ही सृष्टि रचना का मूल है और वह तप के आश्रित है अतः तपः कला सृष्टि रचना में परम सहायक हैं।

४-विभुता कला—

प्रथम मन्त्र के तृतीय चरण में पुरुष=[महद् ब्रह्म] की चतुर्थ कला का संकेत है। जिसके कारण वह पुरुष हर अणु-अणु में व्याप्त हो रहा है और उसने उसे आवृत्त किया हुआ है, जिसको यहां '**विश्वतो वृत्वा**' [ऋ०] और '**सर्वंतस्पृत्वा**' [यजु०] में प्रकट किया गया है। उसकी यह कला पूर्व की तीन कलाओं को कार्यान्वित करती है। इसी भाव से समन्वित, उक्त मन्त्र का परिवर्तित रूप ऋग्वेद के मन्त्र '**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्**'[6] और गीता के श्लोक '**सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरो मुखम्**'[7] में दर्शनीय है।

महद् ब्रह्म की तीन कलाएं-कामना, ईक्षण और तप जहां विश्वतः होनी चाहिये, वहां वे सर्वतः भी होनी चाहिये। पुरुष के **शीर्ष**, **चक्षु** और **पाद** में कोई भी इन्द्रिय ऐसी नहीं है, जो **आवरण** बन सके और **स्पर्श** कर सके। सृष्टि-रचना के लिए यह योग्यता भी अत्यन्त आवश्यक है कि वह पुरुष अणु-अणु को घेरे हुए हो और उसमें अन्तर्यामी होकर व्याप्त भी हो अथवा यूं कहें कि सब में ओत-प्रोत हो। जिस प्रकार कुम्भकार चाक पर रखे हुए मिट्टी के लौंदे को घट-रूप देते समय, एक हाथ बाहर और दूसरा हाथ अन्दर रखता है—एक से वृत्वा और दूसरे से 'स्पृत्वा' का अभिनय करता है, उसी प्रकार जगद् रचना के समय ब्रह्म का भी बाहर वाला हाथ **विश्वतो वृत्वा** रूप से और अन्दर वाला हाथ '**सर्वंतस्पृत्वा**' रूप से विद्यमान रहता है। यहां का '**विश्वतो वृत्वा** एवं '**सर्वंतस्पृत्वा**' गीताकार के **सर्वतः पाणि**' का द्योतक है। सूक्त में पाणि का वर्णन न कर के उसके कार्य का वर्णन किया गया है। इससे मन्त्र में

---

१. यो० सू० २.१। व्या० भा०
२. मु० उ० १.१.९
३. मु० उ०, १,१.८
४. तै० उ० ३.२
५. म० उ० २२.०
६. ऋ० १०.८१.३
७. भ० गी० १३.१३

उसके 'सहस्रकर' रूप को भी सम्मिलित कर लिया है।

इस प्रकार पुरुष अपने द्वारा रचित सृष्टि में ओत-प्रोत है, यही उसका 'विभु' रूप है। उपनिषद्-कार ने कहा भी है-**स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु**।[1]

५-देशातीत एवं कालातीत कला —

प्रथम मन्त्र के अन्तिम चरण से षोडशी पुरुष का देशातीत होना स्पष्ट है। इसमें दो भाव विद्यमान हैं—**अतिक्रमण** और **स्थिति** सृष्टि रचयिता पुरुष में जहां कामना, ईक्षण, तप और विभुता चार कलाएं होनी आवश्यक हैं, वहां पुरुष की अपनी स्थिति भी आवश्यक है—वह अपने ही स्वरूप में स्थित हो, स्वयंभूः हो, परिभूः हो [किसी अन्य के आश्रित न हो] वह अतिक्रमण करके ठहरता हो, किसका अतिक्रमण करके ? दशांगुल भूमि का। जिसका अतिक्रमण करता हो उसे सब ओर से लपेट कर ठहरा हुआ हो। **'अत्यतिष्ठत् दशांगुलम्'** को गीताकार के शब्दों में **'सर्वमावृत्य तिष्ठति'**[2] कह सकते हैं। सब ओर से आवृत्त करना तो इसलिए आवश्यक है कि जिस उपादान कारण से सृष्टि की रचना होनी है, वह उसकी पकड़ में हो, उस पर स्वामित्व हो और साथ ही उसकी स्थिति उपादान के आश्रित न हो। इसीलिये कहा—**'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्'**। वह सर्वस्रष्टा है, परन्तु किसी से स्पृश्य नहीं अर्थात् वह अस्पृश्य है। वह सब को सब ओर से घेरता है—लेकिन उसको कोई नहीं घेरता।

द्वितीय मन्त्र में उसका कालातीत रूप वर्णित हुआ है। वह सब का काल है, परन्तु उसका कोई काल नहीं। **'इदं सर्वम्'** के लिए भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों का प्रयोग हुआ करता है, षोडशी पुरुष के लिये नहीं। षोडशी पुरुष की कभी ऐसी अवस्था नहीं हो सकती कि [१] जिसमें वह 'होकर न हो' [अर्थात् भूत] [२] जिसमें वह न होकर हो जाए [भविष्यत्] [३] जिसमें वह कभी नहीं था, कभी न होगा, [वर्तमान] में इसी कारण उसे काल का भी काल कहते। [क] **श्वेताश्वतर**-उपनिषद् के **'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा'**[3] श्लोक में विभिन्न वादों का वर्णन करते हुए, काल को भी एक वाद माना है। निःसन्देह सृष्टि-उत्पत्ति में काल भी एक साधारण कारण है, परन्तु षोडशी पुरुष उस काल का भी अधिष्ठाता है। [ख] काल शब्द **"कल संख्याने"**[4] धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है-गणना करना। हम पल, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास और वर्ष की गणना करते हैं और समझते हैं कि हमने काल को गिन डाला, परन्तु यह तो भ्रम-मात्र है। काल की कोई गणना नहीं कर सका है, न कर सकेगा, प्रत्युत काल ने ही अनन्त व्यक्तियों की गणना कर डाली, अनन्त लोक-लोकान्तरों को गिन डाला और अपने मुख का ग्रास बना लिया—**'गन्ता गतिमतां कालः, कालः कलयति प्रजाः**।'[5]

वह महाकाल, 'काल का भी काल' है : **अथर्ववेद** में वरुण भगवान् का वर्णन करते हुए कहा है कि उन्होंने प्राणियों के निमेषोन्मेष और श्वासोच्छ्वास तक को गिना हुआ है।[6]

६-ईशान अथवा ईशित्व कला —

इस विश्व को हम जड़-चेतन, व्यक्ताव्यक्त, मर्त्यामर्त्य तथा साशन-अनशन दो भागों में बँटा हुआ देखते हैं। षोडशी-पुरुष का इन दोनों पर ही स्वामित्व है। उसका ईश्वरत्व अथवा ईशानत्व इस बात से स्पष्ट है कि उसने परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक और चींटी से लेकर हाथी तक को

---

१. म० ना० उ० २.३ यजु० १२-८
२. भ० गी० १.३.१३
३. श्वे० उ० १. २
४. धा० पा० ।चु० ग० (३२३), भ्वा० ग० ४६३
५. म० भा० ।शा० प० २२०, ३५ (पू० सं०)
६. अथर्व० ४।१६।५

निवास तथा आच्छादन देकर बसाया हुआ हैं। इसी कारण तो ऋग्वेद के 'हिरण्यगर्भ सूक्त' में लिखा—'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः।'[1] वह केवल चराचर का ही स्वामी नहीं है, अपितु कठोपनिषद्कार तो उसे भूत-भविष्यत् का भी ईश्वर बताता हे।[2] हम उसको किसी एक के स्वामित्व में सीमित नहीं कर सकते, वरन् जो कुछ भी 'इदं सर्वम्' में समेटा जा सकता है, उस सब का ही वह ईशान [स्वामी] है। इसी को यजुर्वेद ने 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'[3] कह कर सम्पुष्ट किया है।

७-महिमा कला—

पुरुष-सूक्त में पुनः, परम पुरुष की दो और कलाओं का भी वर्णन किया गया है: महिमा और ज्यायान् का। इन रूपों को इन द्वन्द्वों से भी प्रदर्शित किया जा सकता है—लौकिक, पारलौकिक, एतत् तत् निरुक्त एवं अनिरुक्त, अधः एवं ऊर्ध्व, सान्त एवं अनन्त, मर्त्य एवं अमृत। इन द्वन्द्वों के प्रथम रूप महिमास्थानीय हैं। पुरुष के इसी रूप का समय-समय पर बनना बिगड़ना, प्रलय एवं सृष्टि के रूप में होता रहता है।

महिमा परम पुरुष का प्रकट रूप है। प्रकृति का कण-कण, पत्ता-पत्ता उसकी साक्षी दे रहा है। प्रकृति के छोटे से छोटे कण-परमाणु को लीजिये, उसके निर्माण को जान लेना ही परम कलाकार की महिमा को जानने के लिये पर्याप्त है। विज्ञान के द्वारा किये गए नवीन चमत्कार भी उसके सम्मुख फीके पड़ जाते हैं। अधिक दूर न जाकर यदि हम अपने शरीर संस्थान को ही देखें – तो हम आश्चर्य-चकित हो जाते हैं कि एक-एक अङ्ग कितनी कुशलता के साथ बना हुआ है। सबसे बड़ी बात तो मानव में उस चेतना-शक्ति का संयोग है, जिसे कि आज तक वह समझ नहीं पाया। मानव के बनाने का इच्छुक मनुष्य 'ट्यूबबेबीज' में इसी का तो संयोग नहीं कर पा रहा है। यह है उसकी महिमा का छोटा सा निदर्शन।

ब्रह्माण्ड की ओर यदि दृष्टि उठाएं तो लगता है कि पता नहीं हम इन चर्म-चक्षुओं से दिखाई देने वाले समस्त पदार्थों को भी जान सकेंगे अथवा नहीं। हमारे सामने बीस लाख नीहारिकाएं या नक्षत्र-जगत् विस्तृत हैं। कुछ तो पृथ्वी से इतनी दूर कहे जाते हैं कि १८६००० मील प्रति-क्षण की गति से चलने वाला प्रकाश वहां से पांच करोड़ वर्षों में हमारे समीप तक आता है। ऐसे प्रत्येक नक्षत्र जगत् में अरबों नक्षत्र हैं अथवा उन नीहारिकाओं में करोड़ों नक्षत्रों के निर्माण की सामग्री विद्यमान है। ऐसे शंखानुशंख नक्षत्र-जगत् एवं नीहारिकाओं का भी अस्तित्व है, जोकि हमारे दूर-दर्शक-यन्त्र की फोटो-ग्राहिणी शक्ति से भी परे हैं। यह विचारातीत बात है कि मानव बुद्धि उसे जान भी सकेगी या नहीं?

इस प्रकार यह सम्पूर्ण महिमा जो पृथिवी पर दिखाई दे रही है, श्रुति ने जिसको पर्वतों एवं समुद्र के रूप में भी कहा है[4] वह **'अणोरणीयान्' 'महतो महीयान्'** की केवल एक चरण व्यापिनी ही है। उसके 'अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्' होने के कारण ही प्रलयावस्था में भी वह महिमा[5]-रूप पूर्णतया नष्ट नहीं होता, अपितु ऋ० वे० के 'नासदीय-सूक्त' के अनुसार वह सुरक्षित रहता है, जैसा कि कहा है –**'रेतोधा आसन् महिमान आसन्।'**[6]

उसकी इस कला का वर्णन कहां तक किया जाय उसकी विशालता का तो ज्ञानसूर्य की प्रथम

---

१. ऋ० १०-१२१-३; २. क० उ० २-१-१२-१३, ३. यजु० ४०-१

४. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। ऋ० १०।१२१।४

५. मु० उ० २-२-७ ६. ऋ० १०।१२९।५

रश्मि के प्रस्फुटित होते ही "**सहस्रधा महिमान सहस्रम्**"[१] कह कर ऋग्वेद के ऋषि ने अपने उद्गार व्यक्त किए हैं।

८-'ज्यायान्-रूपता' कला—

'ज्यायान्' कला को समझने के लिए हमें पहले 'ज्यायान्' शब्द को समझना चाहिए। 'ज्यायान्' शब्द **प्रशस्य** अथवा **वृद्ध** से '**ईयसुन**' प्रत्यय लगाने पर सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होता है—"यह उससे प्रशंसनीय या महान् है।"[२] यहां उसकी तुलना किसी और से नहीं की जा रही है, अपितु उसकी तुलना अपनी ही एक कला अथवा उसके ही एक भाग से की जा रही है। अन्यों की तुलना में तो वह श्रेष्ठ उपाधि को प्राप्त है ही, लेकिन कहीं व्यक्ति यह न सोच बैठे कि ऊसकी इयत्ता इतनी ही है, इस कारण उस परम पुरुष को उसकी महिमा से प्रशस्यकर बताया है, क्योंकि महिमा तो केवल एक चरण-व्यापिनी ही है, लेकिन उसका 'अमृत' रूप जिसे 'ज्यायान् कहा है, तीन-चौथाई भाग है।

वैदिक साहित्य में प्रयुक्त-'**तत्**', '**अनिरुक्त**', '**ऊर्ध्व**', '**अनन्त**', एवं '**अमृत**' शब्द उसके **ज्यायान्** रूप के द्योतक हैं। उसकी यह कला अप्रकट है, अव्यक्त है।

विज्ञान के चाकचक्य से सम्भ्रम-ग्रस्त मानव, जब इन करिश्मों के कर्त्ता अपने मस्तिष्क के विषय में सोचता है, तो विचार-शृंखला और भी उलझती-सी दिखाई देने लगती है और हठात् ही उसका ध्यान उस परम शक्ति की ओर केन्द्रित हो जाता है, कि जिसने मानव की इस बुद्धि एवं मस्तिष्क को बनाया है। वहां से दृष्टि हटा कर जब मानव उसकी महिमा का निरीक्षण करता है तो सोचता है कि जिसने यह सब कुछ बनाया है वह स्वयम्भू स्वयं, क्या इतने में ही सीमित है ? वेद से उसे उत्तर प्राप्त होता है—नहीं वह इतना ही नहीं अपितु वह तो "**अतो ज्यायांश्च पूरुषः**"।[३] यह सब कुछ तो उसके एक चरण-मात्र में ही है—उसका एक पाद-मात्र है, इससे तीन गुना भाग तो अमृत लोक है, जिसके विषय में प्रश्न करना तो मूर्धावपतन ही है। वेद ने मानो इस अर्धमन्त्र "**एतावास्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः**" को कह कर तो हमारी गम्भीर समस्या को हल कर दिया है। वैसे तो कोई वाणी ऐसी हो ही नहीं सकती, जो उसके उस असीम रूप का वर्णन कर सके। **मौन, शाश्वत, परिपूर्ण, अमृत,** आदि कुछ शब्द ही उसके वाचक हो सकते हैं।

उसके विषय में, यदि कहने का साहस भी किया जाय तो दृश्य जगत् की अपेक्षा से ही कुछ कहा जा सकता है, जिस प्रकार **छान्दोग्योपनिषद्** के ऋषि ने कहा— '**ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः**'[४] पुरुष-सूक्त एवं उपनिषद् ने जहाँ उसे ज्यायान् कहा है, वहां **ऋग्वेद** ने उसे प्रबल शब्दों में कहा—**न किरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिरेवा यथा त्वम्।**[५]

९-विक्रम कला —

इस कला का आधार पुरुष-सूक्त का चतुर्थ मन्त्र **त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि** है।" यहां **चतुष्पाद्ब्रह्म** [परम पुरुष] का वर्णन है।

शब्द साक्षी के आधार पर —

विक्रम पद **वि** उपसर्ग पूर्वक '**क्रमु**' पादविक्षेपे धातु[६] से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—

---

१. ऋ० १०.११४.८ २. अष्टा० ५.३.६१,६२, ३. ऋ० १०.९०.३
४. छा० उ० ३.१४.३ ५. ऋ० ४.३०.१, ६. धा० पा०/भ्वा० ग० ४६७

"विशेष रूप से गति।" मन्त्र में 'वि' के साथ अभि उपसर्ग का प्रयोग भी हुआ है—**"शासनानशने अभि।"** **'अभि'** उपसर्ग लाने से अर्थ हो गया—सभी ओर [से][1] विक्रमण, अर्थात् **व्याप्ति।**

अर्थं दृष्ट्या—

चतुष्पाद् ब्रह्म ने अपने एक पादमात्र स्वरूप में अवस्थाप्य सृष्टि को उत्पन्न किया और वह उसमें अभिव्याप्त हो गया। वैसे तो ब्रह्म में गति का कोई अवकाश नहीं है, लेकिन सृष्टि रचना के बाद वह सभी जीवाजीव [साशन अनशन] में व्याप्त हो गया—यही उसका प्रथम, स्थायी स्पन्दन था।

पुनश्च —

षोडशी-पुरुष का यह चमत्कार है कि एक चरण से उसने तीन लोकों को नाप लिया, जबकि अवशिष्ट तीन चरण एक लोक को नापते हैं। विष्णु के त्रिविक्रम एवं सूक्त वर्णित पुरुष के विक्रम में यही अन्तर है कि विष्णु तीन चरणों से पृथिवी, द्यु और अन्तरिक्ष को नापता है: **"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे"**॥[2]

उस चतुष्पाद्-ब्रह्म का एक पाद [जो कि महिमा रूप है] विराट् है और उसकी महिमा त्रिलोक-व्यापिनी है। विष्णु भी इस त्रिलोकी में ही विक्रमण करता है [और यह विक्रमण तीन प्रकार से करता हैं] तुरीय [लोक] तो उसका है ही नहीं। पुरुष-सूक्त में चतुर्थ लोक (स्वः) की तो बात कही नहीं गई है। बहुत बार द्युलोक के अन्तर्गत ही स्वरलोक को भी समेट लिया जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति पुरुष में शीर्ष और मुख इस प्रकार सहयुक्त हैं कि सामान्य रूप से इन्हें एक ही मान लिया जाता है[3], लेकिन व्यवहार में कोई भी शिर को मुख नहीं कहता। इस कारण यहां भी जो षोडशी पुरुष को जिस द्युलोक में तीन चरण वाला माना है वह 'स्वः लोक' ही है। त्रेधा विक्रमण वाला द्युलोक तो विष्णु के क्षेत्र का लोक है।

१०-अत्यरिच्यत.रूप.कला—

उपनिषद् के प्रसिद्ध-मन्त्र **"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते"**[4] में **'अदस्'** और **'इदम्'** शब्द एक ही तत्त्व को दो भागों में बांटते हैं। यदि **ब्रह्माण्ड 'अदस्'** है तो **पिण्ड इदम्** है। यदि तुरीय लोक **'अदस्'** है, तो यह त्रिलोकी **'इदम्'** है। यदि **'शीर्ष' अदस्'** है, तो **मुखबाहु-ऊरू-चरण इदम्** हैं। 'व्यक्ति पुरुष' के ज्ञान, बल, क्रिया के केन्द्र पूर्ण हैं, उससे होने वाली प्रेरणा जो कि 'व्यक्ति-शरीररूप' त्रिलोकी में व्याप्त है वह भी पूर्ण है। मस्तिष्क में से पूर्ण लेकर भी उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती, वह तो **'पूर्णमेवावशिष्यते'** रहता है अर्थात् पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।

'अदस्' और **'इदम्'** एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। जो **अदस्** है वही **इदम्** है, जो इदं है वही अदः था। अन्तर इतना ही है कि अदः **अव्यक्त** है **अनिरुक्त** है **अप्रकट** है, जबकि **'इदं' व्यक्त है—निरुक्त है—प्रकट है।** इन दोनों की ही संज्ञा **विराट्** है। **अव्यक्त** रूप में स्थित ज्ञान बल और क्रिया **विगतो राट् यस्मात्** से **विराट्** है। व्यक्ति के ज्ञान लोक **[मुख]**, बल लोक **[बाहु]** और क्रिया लोक **[पाद]** में

---

१. **[अभिविख्येषम्] अभितः सर्वतो विविधं पश्येयम्।** यजु० १.११ द० भा०
२. यजु० ५।१५ ३. देखें इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय गत पृ० ६३ पर **दिव स्वर् की क्षितिजरेखा—**
४. उपनिषद् शन्तिमंत्र

खुला हुआ रूप [**"विशेषेण राजते इति विराट्"**] कहा जा सकता है। अनिरुक्त विराट् निरुक्त विराट् को उत्पन्न करके भी वैसा का वैसा बना रहता है, उसमें कोई कमी नहीं आती। इसलिए वह **अतिपुरुष** और **'अत्यरिच्यत'** पुरुष [अतिरिक्त पुरुष] है।

इसी बात का अथर्ववेदीय **उच्छिष्ट-सूक्त** ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उसमें ब्रह्म को ही **'उच्छिष्ट'** कहा है। **'उच्छिष्ट'** का अर्थ होता है **बचा हुआ**; शेष पदार्थ। उच्छिष्ट से ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति वर्णित है। सूक्त के पूर्वार्ध में **'उच्छिष्ट'** में सृष्टि-सम्बन्धी पदार्थों का आधान बताया है और अन्त में उनका उत्पादक भी उसे ही बताया है, क्योंकि किसी वस्तु का स्वामी ही उसको देने में समर्थ हो सकता है। लेकिन सभी को निर्मित करके और देकर भी वह रिक्त नहीं हो जाता, अपितु वह तो **'पूर्णमेवावशिष्यते'** ही रहता है। इसी रूप को ही तो उपनिषद्[1] ने **'नेति-नेति'** शब्दों से कहा है। बलदेव उपाध्याय ने उच्छिष्ट-सूक्त को वेदान्त के अनुसार प्रतिपादित किया है—"सूक्त के प्रथम मन्त्र में प्रतिपादित **'उच्छिष्ट'** पर नामरूप अवलम्बित है। वह सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है। नामरूप का दृश्यमान जगत् के लिए कितना सारगर्भित है।"[2]

११- अग्र कला—

पुरुष-सूक्त में जहाँ परम पुरुष के पूर्वोक्त कला-रूपों का वर्णन हुआ है, वहाँ, **पुरुषं जातमग्रतः**[3] कहकर उसके **अग्र** होने की ओर भी संकेत है। सृष्टि की आदि में [सृष्टि के निमित्त-कारणभूत] ब्रह्म का होना अत्यन्त आवश्यक है।[4] इसी कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पुरुषं 'जातमग्रतः' का अर्थ किया है: **'यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत् कर्तारम्'**।[5]

सम्भवतः पुरुष के इस रूप का स्मरण करके ही जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण ने भी इस कला का समावेश षोडश कलाओं में किया है। परम पुरुष के 'अग्र' उपस्थित होने का वर्णन वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** एवं **मैत्रायण्युपनिषद्** में स्पष्ट रूप से कहा है—**'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्**[6]। श्वेताश्वतर-उपनिषत्कार ने—**तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्**[7] कहकर उस महान् पुरुष की अग्र काल में अनिवार्य उपस्थिति की ओर इंगित किया है।

वैदिक साहित्य में सृष्टि-उत्पत्ति के कारणभूत ब्रह्म को प्रजापति भी कहा गया है।[8] सर्गारम्भ में प्रजा का उत्पादक एवं पालक होने के कारण उसका सृष्टि के आदि में होना भी आवश्यक है। इसी कारण ऋग्वेद में यह मन्त्र पढ़ा गया है: **'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**[9] शतपथकार के शब्दों में **'प्रजापतिर्वा इदमग्र**

---

१. बृ० उ० ३।२।११

२. भारतीय दर्शन-बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६ [संस्करण ६]

३. पु० सू० ७

४. सृष्टि उत्पत्तिविषय में इसका वर्णन किया जायगा।

५. ऋ० भा० भू० [सृष्टि-विद्या-विषय पृ०-४१२]

६. बृ० उ० १.४.१०। मै० उ० ६.१७

७. श्वे० उ० ३.१९

८. ......स प्रजापतिः। यजु० ३२.१

९. ऋ० १०. १२१.५

एक एव आस।'[1] 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव।'[2] इस प्रकार वैदिक साहित्य में, ब्रह्म के सृष्टि के आदि में वर्तमान होने को स्वीकार किया है।

१२-सर्वहुत् कला—

सम्पूर्ण चराचर जगत् का मूल कारण षोडशी पुरुष की **'सर्वहुत्'** कला है। इस **'सर्वहुत् कला'** को समझने के लिए **'सर्वहुत्'** शब्द को समझना अत्यावश्यक है। इस 'सर्वहुत्' शब्द में सामन्यतया चार अर्थ निहित हैं : [१] **'सर्वस्मिन् हूयेत येन स सर्वहुत्** [२] **सर्वं हूयतेऽस्मिन्निति स सर्वहुत्** [३] **सर्वं हूयेत येन स सर्वहुत्** [४] **सर्वं हूयते अस्मिन्निति स सर्वहुत्'**। सायण के अनुसार : **"सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्"**[3] अर्थात् जिस यज्ञ में सर्वात्मक पुरुष आहुत किया जाता है वह सर्वहुत् है। विना आहुति किए किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। डाली गई आहुति जब लौटकर आती है तब ही उत्पत्ति या प्रादुर्भाव होगा और जब पृषदाज्य से सम्भृत पुरुष हवि बनाया जायगा तो **वायव्य, आरण्य** और **ग्राम्य** पशुओं की उत्पत्ति होगी। जहां एक ओर वह हवि बन रहा है, वहाँ दूसरी ओर स्वयं भी हवि डाल रहा है। उसकी हवि सभी में [सृष्टि के अणु-अणु में] समान रूप से पड़ रही है।

१६-सम्भरण कला—

शक्ति 'सम्भरण ही पुरुष को पुरुषोत्तम बनाता है, **सम्भरण** का अर्थ है **धारण** और **पोषण** करना[4]। **पृषदाज्य** का अर्थ है **बिन्दुमात्रघृत,** बिन्दु-मात्र **जल** अथवा विन्दु-मात्र **वीर्य**।[5] इनका धारण और पोषण अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण कला है। षोडशी पुरुष ने परमाणु का सम्भरण किया हुआ है, दूसरी ओर वह विशाल ब्रह्माण्ड के अनन्त लोकों को थामे हुए हैं।[6] प्रजापति-सूक्त में उसकी यही महिमा वर्णित है : 'जिससे द्युलोक को उग्र बनाया है, पिलपिली धरती को जिसने दृढ़ किया, जिसने स्वः-लोक को थामा और जिसने अन्तरिक्ष और लोक-लोकान्तरों का निर्माण किया।[7]

संसार के विविध पदार्थ, परस्पर आकर्षण-विकर्षण द्वारा वि-धृत हैं, परन्तु यह आकर्षण भी तो बुद्धिपूर्वक कार्यान्वित हो रहा है : सूर्य ने पृथ्वी को और पृथ्वी ने सूर्य को आकर्षित करना किसी की नियामकता से स्वीकार किया हुआ है। इनमें यह धर्म कैसे आया है? वेद का उत्तर है : 'धारणकर्ता' [परमात्मा] में आकाश और पृथिवी [सूक्ष्मतम भूत आकाश और स्थूलतम भूत पृथिवी का नाम निर्देश कर सारे भूतों की ओर निर्देश है] अलग-अलग थमे हुए खड़े हैं। प्राण लेने और आंख झपकने वाले जगत् का अर्थात् चेतन का आधार प्रभु है।[8]

१४-ज्ञानमयी कला—

पुरुष-सूक्त में षोडशी पुरुष के ज्ञानमय होने का संकेत भी प्राप्त होता है। उक्त सूक्त में उससे ऋक्, साम, छन्द और यजुः की उत्पत्ति का वर्णन किया है—'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि

---

१. शत० ब्रा० २।२।४।१।
२. शत० ब्रा० ७।५।२।६।
३. सा० भा० ऋ० १०-९०-८,
४. डुभृञ् धारणपोषणयोः। धा० पा० जु० ग० ५
५. विश्वान्यस्मिन् सम्भृताऽधिवीर्या। ऋ० २. १६.२
६. बृ० उ० ३-८-९,
७. ऋ० १०. १२१. ५
८. स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः। स्कम्भमिदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्॥ अथर्व० १०. ८. २

जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तमादजायत ॥"[1]

वह सर्वज्ञानमय होने पर ही सबमें ज्ञानाहुति डालने से **सर्वहुत्** हो सकता है। इस कारण ऋक्, साम, छन्द एवं यजुः के उत्पादक स्वरूप में सर्वज्ञानमय सिद्ध होता है। 'उपनिषद्' में उसके इसी गुण को ध्यान में रखकर कहा गया है—**'ईशानः सर्वविद्यानाम्'**[2]

सर्गारम्भ में अपनी प्रजा का उत्पादक एवं पालक होने से, अपने इस ज्ञान की आहुति उसने प्रजाओं में दी, जिससे मानव ज्ञानयुक्त उत्पन्न हुआ और उसने ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखा-प्रशाखाओं को उत्पन्न किया। आज भी देखा जाता है कि मानव-शिशु बिना माता-पिता, गुरु एवं समाज से ज्ञानार्जन किए मूढ़वत् ही रहता है। यदि सर्गारम्भ में वह [परमेश्वर] गुरु न बनता तो सम्भवतः आज भी यही स्थिति चलती आती। इसी कारण योगसूत्रकार ने कहा—'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'।[3]

सृष्टि को देखने से ज्ञात होता है कि ज्ञान भी दो प्रकार का है: एक नैसर्गिक और दूसरा नैमित्तिक। पशु-पक्षियों में जो ज्ञान देखा जाता है, उसे नैसर्गिक कहा जा सकता है क्योंकि उनमें ज्ञान स्वभावत होता है उसमें वे विशिष्ट कौशल प्राप्त नहीं कर सकते। [२] मानव शिशु भी आरम्भ में पशुवत् ही होता है, जो ज्ञान उसे निसर्ग से प्राप्त है वही करता है। जब उसे नैमत्तिक ज्ञान प्राप्त होता है तभी वह बुद्धिजीवी, विचारक, प्राचीन ज्ञान का प्राप्त-कर्ता और नवीन ज्ञान का जनक बनता है। नवीन आविष्कारों में उसकी बुद्धि का विकास होता है। यह नैमित्तिक ज्ञान एकमात्र मनुष्य को ही उपलब्ध है। पुरुष-सूक्त के अनुसार उस नैमित्तिक ज्ञान का प्रदाता परम पुरुष (परमेश्वर) है।

इस कला का सविस्तर वर्णन सप्तम अध्याय में किया जाएगा यहाँ निर्देशमात्र किया है।

१५-यज्ञमयी कला–

पुरुष-सूक्त में **'कतिधा व्यकल्पयन्'** कह कर बहुत से पुरुषों की कल्पना किए जाने का संकेत किया है। **तथा लोकां अकल्पयन्'** कह कर लोकात्मा की कल्पना का अर्थ किसी पदार्थ को सामर्थ्य-युक्त बनाना है, **"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"**[4], **"स्वयं वाजिन्स्तन्वं कल्पयस्व"**[5] इत्यादि वैदिक आदेशों में सर्वत्र कल्पना का अर्थ सामर्थ्यवान् बनाना है। यजु० अठारहवें अध्याय के सत्ताईस मन्त्रों में अन्तिम टेक **"यज्ञेन कल्पन्ताम्"** दुहराई गई है। इन मन्त्रों में छह-छह जोड़ों को इस प्रकार रखा गया है कि वे एक दूसरे को सामर्थ्यवान् व शक्तिशाली बनाते चलते हैं, और कल्प का फल होता है **'यज्ञ'**। मन्त्रगत हर जोड़े में 'च' का प्रयोग करके इस बात का संकेत किया गया है कि यज्ञ का अर्थ संगतीकरण है। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में इस संगती-करण का ही सब तत्त्वों में सामर्थ्य आया हुआ है। यथा, **अध्यात्म में "प्राणश्च मे अपानश्च मे व्यानश्च मे, असुश्च मे, वाक् च मे मनश्च मे, चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे, दक्षश्च मे बलं च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम्"**।[6] इन जोड़ों को पृथक्-पृथक् करके हर जोड़े को यज्ञ के द्वारा सामर्थ्यवान् बनाया जा रहा है। यथा रसायन-विज्ञान में: **'अश्मा च मे मृत्तिका च मे, गिरयश्च मे, पर्वताश्च मे, सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे, हिरण्यं च मेऽयश्च मे, श्यामं च मे लोहं च मे, सीसं च मे त्रपु च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम्"**[7]

१. पु० सू० १०-९०-९
२. म० ना० उ० १७.५
३. यो० सू० १. २६
४. यजु० ३४।१
५. यजु० २३।१५
६. यजु० १८।२
७. यजु० १८।१३

यज्ञ के द्वारा उनके सामर्थ्य को उन्नत किया जा रहा है। भवन निर्माण में अश्म और मृत्तिका को अर्थात् सिमेंट और रेत को यज्ञ के द्वारा सामर्थ्यवान् बनाया जा सकता है [केवल सीमेंट और कोरी रेत यज्ञ-भवन निर्माण में अयोग्य हैं] उनका अनुपात संगत हुआ नहीं कि वे शक्तिशाली हुए नहीं।

पुरुष की यज्ञिय कला का यह सुपरिणाम है कि हर जोड़े में संगतीकरण बना हुआ है संगतीकरण के लिए दो तत्त्वों का होना आवश्यक है। संगतीकरण में स्थित सम् उपसर्ग का अर्थ एकीभाव तभी चरितार्थ होता है कि जब [१] दो तत्त्व उपस्थित हों, और उनमें [२] परस्पर दानादान भी आवश्यक है। इस दानादान में सन्तुलन रखना 'यज्ञ-पुरुष' का कर्म है। पुरुष-सूक्त में भी लोक और 'पुरुष, ब्रह्माण्ड और पिण्ड दो तत्त्व हैं, जिनमें सामंजस्य अथवा संतुलन रखना आवश्यक यह उसकी उक्त यज्ञिय कला से सम्भव है।

रसायन-वेत्ता जानते हैं कि दो गैसों के सम्मिश्रण से जल का निर्माण होता है। यदि उनका सन्तुलन बिगड़ जाय तो जल किसी भी स्थिति में नहीं बन सकता। इस संतुलन का नाम संगतीकरण और संगतीकरण का नाम यज्ञ है। जहां कहीं भी संगतीकरण दिखाई देता है वहां पुरुष की 'यज्ञ कला' ही काम कर रही है। सृष्टि निर्माण में उपर्युक्त चौदह कलाओं के साथ इस पन्द्रहवीं कला का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

१६-आनन्दमयी कला—

इन षोडश कलाओं के दो रूप हैं। एक अजायमान और दूसरा विजायमान। जब ये कलाएं ब्रह्म में अखण्डैकरस रूप में रहती हैं, तब वह स्थिति अजायमान है, जब ब्रह्म [षोडशी पुरुष] प्रजापति रूप धारण करता है और 'बहुस्याम्'[१] की कामना करता है तब वही कलाएं विजायमान स्थिति में आकर सृष्टि के प्राकट्य का कारण बनती हैं। 'अजायमान कलाएं' अक्षय हैं और नित्य हैं। विजायमान कलाओं में रसकला का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है जिसके यहां उसके प्रचलित नाम आनन्द से ग्रहण किया गया है। अतः इस कला का नाम 'आनन्दमयी कला' रखा है।

काव्य में नवरस प्रसिद्ध है।[२]—**शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। शान्तोऽपि नवमो रसः।**

इसी प्रकार भोजन में षड् रसों की गणना की जाती है।[३] इन सभी रसों का मूल वही ब्रह्म का रस है जिसका परिणाम आनन्द है। इसी कारण उपनिषद् में लिखा है—'**रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति**'

वह आनन्द रस है अर्थात् आनन्द का आश्रय एवं सार है, उस रस को प्राप्त करके जीवात्मा आनन्द युक्त होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् का तो आरम्भ ही **उद्गीथ** रूप परम रस के प्रतिपादन से हुआ है, तद्यथा—**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति, तस्योपव्याख्यानम्** ॥१॥ **एषां भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग्रसः वाच ऋग् रसः। ऋचः साम रसः। साम्न उद्गीथो रसः ॥२॥ स एष रसानां रसतमः। परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥३॥**[४] '**ओम्**'—यह अक्षर '**उद्गीथ**' है, इस उद्गीथ की उपासना करे। गायक '**ओम्**'

---

१. बहुस्यां प्रजायेयेति। छा० उ० ६.२.३
२. का० प्र० ४.२९.३५.
३. च० सं० सूत्रस्थान १.६५,
४. छा० उ० १.२.३.

ही का उच्च स्वर से गान करता है, उसी का आगे व्याख्यान है ॥१॥ पांचों महाभूतों का रस **'पृथिवी'** है, पृथिवी का रस **'जल'** है, जलों का रस **'ओषधियाँ'** हैं ओषधियों का रस **'पुरुष'** है पुरुष का रस **'वाणी'** है, वाणी का रस **'ऋक्'** अर्थात् भगवान् की **'स्तुति'** है, ऋक् का रस **'साम'** अर्थात् प्रभु के नाम का गायन है, साम का रस उद्गीथ अर्थात् ओंकार का 'उत्'—अर्थात् उच्च स्वर से **'गीथ'**—अर्थात् गान है ॥२॥ यह जो उद्गीथ है-ओङ्कार का उच्च स्वर से गान है वह रसों का रस है, सर्वोच्च स्थानी रस है, रसों की शृंङ्खला में, पृथिवी,-जल-ओषधि-पुरुष-वाणी-ऋक्-साम-उद्गीथ के रसक्रम में वह आठवां रस है ॥३॥

यही भाव गीताकार ने भी दर्शाया है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः, रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।[1]

इन्द्रियों को विषयों से झटका देकर हटाने का सवसे सरल उपाय निराहार रहना है। भूख में मनुष्य का मन सब विषयों से हटकर रसना के रस में इकट्ठा हो जाता है, किन्तु धीरे-धीरे प्रभु-साक्षात्कार होने पर उस ब्रह्मानन्द रूपी रस के प्रभाव से रसना का रस भी फीका होते-होते निवृत्त हो जाता है, इसलिए अनशन द्वारा अन्य विषयों के रस को और भक्तिरस से अन्त में रसना के रस को जीत कर मनुष्य योगी बन जाता है।

आरण्यककार[2] ने तो इस रूप को इतना महत्त्व दिया है कि ब्रह्म के नामों में ही इसकी गणना कर दी—

वह ओम्-पदवाच्य सर्वरक्षक परमानन्द ही आपः [सर्वव्यापक] ज्योति [=प्रकाशस्वरूप], रसः [=आनन्दमय], ब्रह्म [=सबसे बड़ा], भूः [=परम सत्तावान्], भुवः [=परम चेतन] और स्वः [=सर्वसुखप्रद], है।

पुरुष सूक्त में भी ब्रह्म के इस रसमयी कला का स्मरण किया गया है तद्यथा—**'अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्म्मणः समवर्तताग्रे'**[3]

मंगलाचार्य उक्त ऋचा के भाष्य में उसके इस रस रूप को आनन्द रूप मानते हैं। रामानुजाचार्य भी यहां **'रस'** पद को **'ब्रह्म'** के आनन्द का वाचक मानते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद्[4] के ऋषि ने ब्रह्म [परमात्मा] के इस आनन्दात्मक स्वरूप [रस मय स्वरूप] को **सर्वाभयप्रद** कहा है—

मन सहित वाक् आदि समस्त इन्द्रियां जहां से निवृत्त हो जाती हैं अर्थात् जिसे कभी प्राप्त नहीं कर पातीं, उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुआ तत्त्वदर्शी ब्रह्मज्ञानी भय, दुःखादि से परे चला जाता है, संसार-दुःख से पार हो जाता है इस प्रकार यहां इस आनन्द को मोक्ष का कारण भी दर्शाया है। उपनिषद् के ऋषि के भाव की पुष्टि अथर्ववेद[5] से भी होती है। वहां कहा गया है कि वह निष्काम, परम-

---

१. गीता २.५९ २. तै० आ० १०.२७ ३. पु० सू० १७

४. **'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'। तै० उ० २.४.१

५. **अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।**
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ अथर्व० १०.८.४४

धीर, शाश्वत, स्वयम्भू परम पुरुष परम रस से तृप्त रहता है अर्थात् अपने आनन्दमय रस से वह सदा तृप्त है। उसे जानकर उसका साक्षात्कार करके साधक मृत्यु आदि से अभय हो जाता है और अपने अजर-अमर स्वरूप को जान लेता है।

इसी विशेषता के कारण तैत्तिरीय-उपनिषद्[1] में उसे अन्तिम आनन्द माना है। उसने मनुष्यों के सौ आनन्दों को एक मनुष्य गन्धर्वों का एक आनन्द माना है।

मनुष्य गन्धर्वों के सौ आनन्दों की 'एको देवगन्धर्वामानन्दः'······अन्त में सौ प्रजापति के सौ आनन्दों को ब्रह्म का एक आनन्द माना है।

परमात्मा स्वरूप से आनन्दमय है। आनन्द गुण प्राचुर्य के कारण उसे 'आनन्द' ही कह दिया है[2], तै० उ०[3] में तो उस आनन्द-रूप प्रभु से ही सृष्टि-उत्पत्ति दर्शायी है।

परमात्मा का आनन्द-रूप ही उसकी प्रजा में अंश रूप से उपसंक्रमित हुआ है। तै० आ० में स्पष्ट ही लिखा है— **एतमानन्दमयमात्मानं संक्रामति।**"[4]

इस प्रकार जो आनन्द हम सृष्टि में देखते हैं, वह उसी का है, वही सबको आनन्दित करता है : **'एष ह्येवानन्दयति'**[5]।

परमेश्वर के इस रूप को मानव प्राप्त करना चाहता है और मुक्ति की अभिलाषा करता है।

यहाँ इस कला का संकेत मात्र किया गया है। इसका विस्तृत वर्णन नवमाध्याय [मुक्ति-अध्याय] में होगा।

क्रिया-षोडशी—

इस प्रकार हमने न केवल वैदिक साहित्य में वर्णित षोडश कलाओं का ही वर्णन किया अपितु सूक्त के आधार पर ही पुरुष की षोडश कलाओं का दिग्दर्शन कराया। वैदिक साहित्य के तलस्पर्शी विद्वान् डा० लाजपतराय एम० ए० के मत में पुरुष की सोलह कलाओं का प्रतिपादन जहाँ सूक्त-वर्णित विशेषणों के आधार पर हुआ है, वहां सूक्त वर्णित क्रियाएं भी तो आधार हैं। वैसे तो सूक्त में अठाईस क्रियाओं का उल्लेख हुआ है, परन्तु सोलह क्रियाएं तो ऐसी हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध **षोडशी पुरुष** से है। सूक्त की क्रियाएं भी सोलह, विशेषण भी सोलह, कलाएं भी सोलह और उनकी आधार भूत क्रियाएं भी सोलह हैं। निम्न तालिका द्वारा क्रिया षोडशी का भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

१-वृ—	विश्वतोवृत्वा	[ऋ० १०-९०-१]	९-भृ	सम्भृतम्	[ऋ०-१०-९०-८]
२-स्पृ—	सर्वतस्पृत्वा	[यजु०-३१-१]	१०-कृ	चक्रे	[ऋ०-१०-९०-८]
३-स्था—	अत्यतिष्ठत्	[ऋ०-१०-९०-१]	११-जन्	जज्ञिरे	[ऋ०-१०-९०-९]
४-रुह—	अतिरोहति	[ऋ० १०-९०-२]	१२-अस्	आसीत्	[ऋ०-१०-९०-१४]
५-इण्—	उदैत्	[ऋ० १०-९०-४]	१३-वृतु	अवर्तत	[ऋ०-१०-९०-१४]

१. तै० उ० १.२.८.१

२. (क) **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।** —तै० उ० ३।६।१—तै० आ० ९. ६. १
(ख) **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।**—बृ० उ० ३. ९.२८

३. **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।**—तै० उ० ३।६।१

४. तै० ब्रा० ३।८

५. तै० उ० २।७

६-भू—	अभवत् [ऋ०-१०-९०-४]	१४-क्लृपु	अकल्पयन् [ऋ०-१०-९०-१४]
७-क्रम—	व्यक्रामत् [ऋ०-१०-९०-४]	१५-दध	व्यदधुः [ऋ०-१०-९०-११]
८-रिच्—	अत्यरिच्यत [ऋ०-१० ९०-५]	१६-ईश्	ईशानः [ऋ०-१०-९०-२]

पुरुष की चौंसठ कलाएं—

हमने पुरुष की सोलह कलाओं का प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं यदि सूक्त के प्रति मन्त्र को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक मन्त्र में चार चार घटक अथवा कलाएं दृष्टिगोचर होंगी। तद्यथा-सूक्त के प्रथम मन्त्र में पुरुष के चार अवयवों का परिगणन हुआ है। **१-शीर्ष २-बाहु ३-अक्ष ४-पाद**। द्वितीय मन्त्र में पुरुष के चार कालों का वर्णन हुआ है। **१-इदं सर्वम्** (वर्तमान) **२-भूत ३-भव्य ४-अमृत**=८। तृतीय मन्त्र में पुरुष के चार चरणों का उल्लेख है। **पादोऽस्य विश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतंदिवि'**=१२ चतुर्थ मन्त्र में पुनः पुरुष के चार चरणों का उल्लेख है। **'त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः, पादोऽस्येहाऽभवत् पुनः**=१६। पञ्चम मंत्र में राड्चतुष्टय का वर्णन है। **१-सर्वराट्**=सर्वराट् २-विराट् **३-अधिराट् ४-अतिराट्**=२०। षष्ठ मन्त्र में यज्ञ पुरुष के चार घटकों का वर्णन हुआ है। **१-प्रावृट्** रूप **सोम २-ग्रीष्म** रूप **इध्म ३-'वसन्त'** रूप **'आज्य' ४-शरद्** रूप **हवि**=२४। सप्तम मन्त्र में यज्ञपुरुष के चार ऋत्विजों का प्रतिपादन हुआ है। **१-ब्रह्म २-देव ३-साध्य ४-ऋषि**=२८। अष्टम मन्त्र में कारण कार्य भूत प्रकृति पुरुष के चार व्यक्तियों का परिगणन हुआ है। **'पृषदाज्य'** [कारण] **२-'वायव्य' ३-'आरण्य' ४-'ग्राम्य'** पशु=३२। नवम मन्त्र में चारों वेदों का **१-ऋग् २-साम ३-छन्द ४-यजु**=३६। दशम मन्त्र में चार ग्राम्य पशुओं का उल्लेख हुआ है। **१-अश्व २-गौ ३-अजा ४-अवि**=४०। एकादश मन्त्र में जिस पुरुष को धारण किया जाना है उसके चार अङ्गों के व्यकल्पन् सम्बन्धी प्रश्न हुआ है। **१-मुख २-बाहु ३-ऊरु ४-पाद**=४४। द्वादश मन्त्र में वर्णात्मा पुरुष के मुखादि अवयव स्थानीय चार घटकों का उल्लेख हुआ है। **१-ब्राह्मण २-राजन्य ३-वैश्य ४-शूद्र**=४८। त्रयोदश मन्त्र में सर्वातिशायी सत्ता के चार अवयवों **१-मन २-चक्षु ३-मुख ४-प्राण**=५२ और उनसे निर्मित विराट् की चार विभूतियों **१-चन्द्र २-सूर्य ३-अग्नि ४-वायु**=५६ का वर्णन है। इसी प्रकार चतुर्दश मन्त्र में सर्वात्मा पुरुष के चार अवयवों **१-नाभि २-शीर्ष ३-पाद ४-श्रोत्र**=६० तथा उनसे निर्मित विराट् के चार लोक **१-द्यौः २-भूमिः ३-अन्तरिक्ष ४-स्वः**=६४ का वर्णन हुआ है। सूक्तगत मन्त्रवर्णित चौंसठ घटक पुरुष की ही चौंसठ कलाएं हैं।

महान् पुरुष [आदित्य] की बारह कलाएं—

प्रसंगोपात्त यजुर्वेदीय पुरुषमेधाध्याय के पूर्वनारायण और उत्तरनारायण दोनों अनुवाकों के आधार पर पुरुष की कलाओं पर होने वाले प्रभाव का वर्णन करना अभीष्ट है। हमारी सम्मति में पूर्वनारायण और उत्तरनारायण एक ही पुरुष के पूर्व और उत्तर रूप हैं, अवराध्यं और परार्ध्य रूप हैं, वामन और विष्णु रूप हैं। पूर्वानुवाक में सोलह ऋचाएं हैं और उत्तर अनुवाक में कुल छः ऋचाएं हैं। सोलह ऋचाओं के आधार पर षोडशी पुरुष का वर्णन हो ही चुका है। अब उत्तरनारायण की छः ऋचाओं के आधार पर ही द्वादशी पुरुष का वर्णन अभीष्ट है। उत्तरानुवाक के द्वितीय मन्त्र में उस महान् पुरुष को आदित्य वर्ण कहा गया है। इससे यह निष्पन्न हुआ कि अध्याय के उत्तरानुवाक में आदित्य की बारह कलाओं का वर्णन है, वैसे आदित्य बारह ही माने जाते हैं। पूर्वनारायण में यदि

चन्द्र की सोलह कलाओं का वर्णन है तो उत्तरनारायण में सूर्य की बारह कलाओं का वर्णन है। यहाँ उनका नामोल्लेख मात्र पर्याप्त है।

१—विश्वकर्मा	२—त्वष्टा
३—आदित्य	४—प्रजापति
५—विराट्	६—विष्णु
७—धाता	८—पुरोहित
९—ब्रह्म-रुच	१०—श्रीः
११—लक्ष्मी	१२—अश्विनौ

इस अध्याय में पुरुष पद की निरुक्ति-व्याकृति, संस्कृत साहित्य में उपलब्ध **'पुरुष'** की विवेचना का विमर्श तथा **'षोडशी पुरुष'** के रूप में परम पुरुष की षोडश कलाओं का वर्णन—प्रति मंत्र-गत चार चार घटकों के आधार पर पुरुष की चौंसठ कलाओं का वर्णन तथा उत्तर नारायण के आधार पर महान् पुरुष की बारह कलाओं का वर्णन किया है। इस प्रकार सूक्त की सर्वातिशायी सत्ता परम-तत्त्व पुरुष का वर्णन सम्पन्न हुआ।

चतुर्थ अध्याय

दार्शनिक तत्त्व

प्रथम अध्याय में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि पुरुष-सूक्त को संहिताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, जिसके विभिन्न कारण हैं। यह सूक्त चारों संहिताओं में विद्यमान है। इस सूक्त में जहां सर्वातिशायी पुरुष का, ब्रह्माण्ड और पिण्ड की समता का, सृष्टि-रचना का, सामाजिक मूलतत्त्वों का, और याज्ञिक प्रक्रियाओं का वर्णन है, वहां दार्शनिक तत्त्वों का भी वर्णन है।

वेद के प्रत्येक मन्त्र में दार्शनिकता—

समस्त वेद को यदि दर्शन की संज्ञा दी जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। उसका प्रत्येक मन्त्र दर्शन है। मन्त्र पर अंकित ऋषि का नाम इस बात का प्रबल प्रमाण है कि सभी मन्त्रों में कोई ऐसी दार्शनिकता विद्यमान है जिसका कि वह दार्शनिक है। मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय **'देवता'** मन्त्र का **दृष्ट तत्त्व है,** इस प्रकार **दार्शनिक** को **ऋषि** और[1] **दृष्ट तत्त्व** को **देवता** कहेंगे। वेदों में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनकी दार्शनिकता स्वतः सिद्ध है, और जिनका लोहा पाश्चात्य दार्शनिक और वैज्ञानिक भी मानते हैं। यथा **नासदीय–सूक्त**[2], **केन-सूक्त**[3], **स्कम्भ-सूक्त**[4] और **पुरुष-सूक्त** इत्यादि। हमारे शोध का विषय पुरुष–सूक्त है, अतः उसके दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा की जाएगी।

दर्शन शब्द की परिभाषा—

इससे पूर्व कि हम पुरुष–सूक्त के दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा करें, **'दर्शन'** की परिभाषा समझ लेनी आवश्यक है। दर्शन शब्द जितना सुप्रसिद्ध है उसकी परिभाषा उतनी ही दुस्तर है। **'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्'** इस व्युत्पत्ति–लभ्य अर्थ के आधार पर **दर्शन** शब्द **सूर्य, चक्षु,** दीपक, **दर्पण** आदि का वाचक है, यही वे साधन हैं जिनसे देखा जाता है।

चाणक्य ने विद्या के चार विभाग किए हैं—**त्रयी, वार्ता, दण्ड** और **अन्वीक्षिकी।**[5] उन्होंने आन्वीक्षिकी विद्या को सर्वोपरि स्थान दिया है। दर्शन शास्त्र का प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी-विद्या ही है। आन्वीक्षिकी विद्या लोक का कल्याण करती है, व्यसन और अभ्युदय में बुद्धि को स्थिर रखती है तथा प्रज्ञा, वाक्य और क्रिया में नैपुण्य प्रदान करती है। कहां भी है: **प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।**[6]

---

१. ऋषिर्दर्शनात्। निरु० २।११ २. ऋ० १०।१२९
३. अथर्व० १०।२ ४. अथर्व० १०.७.८
५. **आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या।** कौ० अ० शा० १. २. पृ० २६
६. कौ० अ० शा० १।२ [विद्यासमुद्देशे] पृ० २८

वात्स्यायन ने **'ईक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्याय विद्या'**[1] कहकर इस कथन की सम्पुष्टि की है कि—**'देखे हुए के पीछे देखना 'दर्शन' है'**। 'दर्शन' की इस परिभाषा से दो बातें स्पष्ट हुई—एक तो यह कि **'दो से देखना है,'** दूसरी यह कि **दो को देखना है, बाह्य और अन्तःकरण से देखना 'दो से देखना है'**। जड़ [प्रकृति] और चेतन [पुरुष], **दो को देखना 'दो को देखना है'**। बाह्य चक्षु को चर्म–चक्षु और आन्तर–चक्षु को प्रज्ञा–चक्षु कहते हैं।[2] प्रज्ञा से युक्त व्यक्ति प्राज्ञ कहलाता है। बाह्य चक्षु के रहते हुए भी प्रज्ञा के अभाव में व्यक्ति अंधा ही माना जाता है।

बाह्य चक्षु से प्रत्यक्ष किए पदार्थ के पीछे **परोक्ष तत्त्व को प्रज्ञा से देखना** 'दर्शन' है। नीतिकार ने **अनेक संशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्य लोचन' शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥**[3] कहकर तो मानो दर्शन-शास्त्र की परिभाषा ही कर दी। इस परिभाषा के अनुसार **'अनेक संशयों के उच्छेद करने वाले, परोक्षार्थ के दर्शन कराने वाले, समस्त लोक के [आ] लोचन का नाम दर्शन है'**। साथ में यह भी कह दिया—जिस व्यक्ति को यह लोचन प्राप्त नहीं, वास्तव में वही अन्धा है। ऐसा ज्ञात होता है कि नीतिकार ने यह अन्तिम श्लोकार्ध ऋग्वेद के—**'पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः'**[4] की छाया में लिखा है।

दर्शन-शास्त्र की प्रवृत्ति का जनक संशय है संशय उस अवस्था का नाम है जिसमें मन दो वस्तुओं के बीच दोलायमान रहता है, किसी एक निश्चय पर नहीं पहुंच पाता और 'किंस्वित्' के धरातल पर स्थित रहकर 'क्या यह स्थाणु है अथवा पुरुष'? इत्यादि प्रक्रिया द्वारा ही वस्तु-स्वरूप मात्र का ग्रहण कराता है। साथ ही साथ वह जिज्ञासा का प्रेरक भी बनता है। वेद में अनेकत्र इस प्रकार के संशय उठाए गए हैं और उनका समाधान भी वहीं कर दिया है।

कतिपय जिज्ञासात्मक मन्त्रों पर एक दृष्टि—

सृष्टि-रचना विषय में संशय किया गया है **"किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस"**[5] क्या कोई बता सकता है कि 'वह कौन सा महावन है और कौन सा वृक्ष है जिससे इस द्यावा–पृथिवी का तक्षण किया गया?' ऋग्वेद में अन्यत्र जिज्ञासा की गई है—**"किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्......?"**[6] अर्थात् "इस विश्व का **अधिष्ठान** कौन था? इसका **आरम्भण** या **उपादान** कौन था? उसका निमित्त कैसा था जहां से विश्वकर्मा ने पृथिवी और द्युलोक को अपनी महिमा से प्रकट किया।"

नासदीय-सूक्त—

ऋग्वेद के नासदीय-सूक्त[7] में तो जिज्ञासा की पराकाष्ठा हो गई है जबकि द्रष्टा ऋषि—

---

१. न्या० सू० १. १. १, वात्स्यायन —भाष्य [पृ०६]

२. यास्क ने इसी भाव को दृष्टि में रखकर निरु० १.९ में **अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः'** और निरु० १।१८ में **'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं'**......ऋचाओं को उद्धृत किया है। अथर्ववेद में भी इसी भाव को व्यक्त किया है—**पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वेमनसा विदुः**। अथर्व० १०.८.१४ बाह्य-चक्षुओं से सभी देखते हैं, लेकिन मन [आन्तर्–चक्षु] से नहीं जानते।

३. हितो० कथामुख श्लो० १०।

४. ऋ० १।१६४।१६

५. ऋ० १०.८१.४। यजु० १७।२०।

६. ऋ० १०.८१.२। यजु० १७।१८।

७. ऋ० १०.१२९.

'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्, कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः'[1] इ। शब्दों में मुखर हो उठा है और उस समय तो सीमा का अतिक्रमण ही होता दीखता है जब वह यह कहने लगता है कि "परम व्योम में रहने वाला इसका अध्यक्ष भी इसे जानता है या नहीं ?—**योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद**[2]। अपने में अविश्वास का होना **अश्रद्धा** का रूप है। प्रश्नों का उत्पन्न ही न होना तम या **मूर्छा** है। संदेह या प्रश्नों से जूझना **श्रद्धा** है, अतः यह न समझ लेना चाहिए कि जिज्ञासु को अध्यक्ष के बारे में कोई सन्देह है। उसका ऐसा कथन तो ईश्वर की सर्वज्ञता और अपनी अल्पज्ञता का द्योतन-मात्र है। यहां तो यह बताया गया है कि सृष्टि का अध्यक्ष उसे निश्चित रूप से जानता है। इन और इसी प्रकार की अन्य जिज्ञासाओं के धरातल पर **'वेद का 'दर्शन'** अवस्थित है। समस्त संशयों और जिज्ञासाओं का उन्मूलन करने के कारण **'वेद सनातन चक्षु'** है।[3]

हिरण्मय पात्र का अपावरण—

नीतिकार ने दर्शन का लक्षण करते हुए कहा है: **'परोक्षार्थस्य दर्शकम्'** जो परोक्ष का दर्शन कराए वह **'दर्शन'** है। वेद में **दृश्** धातु का प्रयोग बहुत बार हुआ है। यजु० की काण्वशाखीय ऋचा में तो मानो दर्शन की परिभाषा ही कर दी गई है। जिज्ञासु किसी तत्त्व द्रष्टा से कहता है कि 'हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख आवृत्त है, हे पूषन्! सत्य-धर्म का दर्शन कराने के लिए उस आवरण को तू हटा दे'। हिरण्मयपात्र 'प्रत्यक्ष' है और सत्य-धर्म 'परोक्ष' है। तू परोक्षार्थ का दर्शक है और मैं परोक्षार्थ के दर्शन का अभिलाषी हूं। इसलिए **'तत् त्वं पूषन्! अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये**[4]।" इससे निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं—

१. दर्शन का उद्देश्य सत्यधर्म का दर्शन कराना है।

२. सत्य धर्म हिरण्मयपात्र से आवृत्त रहता है, जिसे हटाना दार्शनिक का कर्त्तव्य है, 'ऋषि दार्शनिक है। सत्यधर्म का साक्षात्कार करने वाला' ऋषि है।[5]

३. सत्यधर्म परोक्ष है, और हिरण्मयपात्र प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष के पीछे परोक्षार्थ का देखना ही दर्शन है—अनु+ईक्षण है।

वाजसनेयी संहिता में, इसी मन्त्र के परिवर्तित रूप में इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सामने उदित आदित्य ही प्रत्यक्ष हिरण्मय पात्र है उसके पीछे छुपा जो यह पुरुष है, वह मैं ही हूं ओम् व्यापक और महान्।[6] यहां आदित्य [हिरण्मय पात्र] प्रत्यक्ष है, और पुरुष [सत्यधर्म] परोक्ष है यही है **"ईक्षितस्य अन्वीक्षणम्", "परोक्षार्थस्य च दर्शकम्।"**

सत् और असत् वचस्—

ऋग्वेद में दर्शन की परिभाषा एक नये प्रकार से की गई है। वहां कहा गया है कि सम्यक्-ज्ञान के इच्छुक व्यक्ति [जिज्ञासु] के सामने **सत्** और **असत्** दो **'वचस्'** परस्पर स्पर्धा करते हुए आते हैं। दार्शनिक के सामने समस्या है कि 'वह सत्य की पहिचान कैसे करे ?' मन्त्र के तृतीय और चतुर्थ

---

१. ऋ० १०.१२९.६ २. ऋ. १०-१२९-७ ३. मनु० १२-९४

४. य० का०शा०४०.१५, ५. **साक्षात्कृतधार्माण ऋषयो बभूवुः**। निरु० १।२०।

६. **योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमो३म् खं ब्रह्म**। यजु० ४०।१७

चरण में इसी का समाधान किया है कि "दो बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा की भांति, **'जो एक हो और सरल हो,उसे सत्य'** और उन्हीं दो विन्दुओं को मिलाने वाली इतर रेखाओं की भांति **'जो अनेक और वक्र हो उसे असत्य** कहते हैं' ।[1] [दार्शनिक, सत्य का रक्षण करता है और असत्य का निराकरण ।] प्रजापति ने सत्य और अनृत दो रूपों को व्याकृत करके, सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा को आहित किया ।[2]

देव सत्य को साक्षात् करते हैं जबकि मनुष्य अनृत को **सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः**[3] इस विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्य जन के द्वारा बाह्य चक्षु से प्रत्यक्ष किए पदार्थ को **व्यक्त, निरुक्त, असत्, अनृत** और **हिरण्मय** भी कहते हैं। देवों के द्वारा दिव्य चक्षु से देखे गये तत्त्व को **अव्यक्त, अनिरुक्त, सत्, सत्य** और **धर्म** कहते हैं। वेद में 'तत्त्व' के इन दो 'रूपों' की अनेक स्थानों पर ऊहापोह की गई है।

जिज्ञासु वेद के शब्दों में पूछता है कि 'सर्वप्रथम पैदा हुए' **'अस्थन्‌वान् देह'** को धारण करने वाले **'अनस्था'** जीवात्मा को किसी ने देखा है' ? उसे अस्थियों वाले देह का तो प्रत्यक्ष है, परन्तु उसके अधिष्ठाता का [जिसे वेद ने **'अनस्था'** कहा है] अप्रत्यक्ष है ।[4] उसे प्रत्यक्ष के पीछे परोक्ष तत्त्व का दर्शन अभीष्ट है। उसके सामने अनेक प्रश्न हैं, जो कि 'सर्वनाम के रूपों में एक के बाद एक उभरते हुए चले आते हैं—**किं, कः, का, केन, कस्मै, कस्य, केषु** इत्यादि। वेदों में उसने पढ़ा—**"कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानम्"**[5] इस सृष्टि-रचना में कौनसा पूर्वानुभव था, प्रतिमा क्या थी, अर्थात् नमूना क्या था, और सबसे बढ़कर रचना का निदान क्या था, उपादान—कारण क्या था ? और कौन से तत्त्व थे जिनसे इस का निर्माण हुआ ।

अथर्ववेदीय केन-सूक्त—

अथर्व के २०वें काण्ड के द्वितीय सूक्त की संज्ञा ही **'केन'** है, क्यों ? उस सूक्त का आरम्भ **'केन'** पद से हुआ है। व्यक्ति इस प्रत्यक्ष-पिण्ड को देखकर आश्चर्य चकित है। शरीर के प्रत्येक अवयव की बनावट को देखकर जिज्ञासु उस अवयव के निर्माता एवं [आधार] के सम्बन्ध में विचार करता है। लगता है वह स्वयं को ही एक प्रश्न समझ बैठा है और मुखर होकर पूछना चाहता है—**मैं कौन हूं ? मैं क्यों हूं ?**

व्यक्ति अपने ऊपर से दृष्टि हटा कर जब ब्रह्माण्ड पर दृष्टि डालता है, तो हठात् उसके मुंह से निकलता है:-**"चित्रम्! केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यमभवद्दिवं। केनाग्नि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः"**

---

१. **सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसीपस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥** ऋ० ७।१०४.१२; अथर्व० ८.४.१२

२. **दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥** यजु० १९-७७

३. शत० ब्रा० १।१।१।४।

४. **को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वान् समुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥** अथर्व० ९.९.४।

५. ऋ० १०.१३०.३

"केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम्, केन यज्ञं च श्रद्धां च केनाऽस्मिन् निहितं मनः ।।"[1] यहां 'केन' शब्द के व्याज से प्रश्नों की झड़ी लग गई है। वह मस्त होकर गाए जा रहा है—**"केनेयं भूमिर्विहिता ? केन द्यौरुत्तराहिता ? केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचोहितम् ।"**[2] उसकी इस मनोव्यथा को निहार कर, मानों, कोई उसी का 'अपर आत्मा' शायद समाधान करते हुए कहता है—**ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तराहिता । ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचोहितम् ।**

ऐसे और इसी प्रकार के अनेक प्रश्न हैं, जो दर्शन शास्त्र की पूर्वपीठिका हैं और इन्हीं का समाधान 'दर्शन' है।

'कोऽसि' 'कतमोऽसि'—

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन ऋषियों का अपना एक दार्शनिक दृष्टिकोण था, जो कि उनके जीवन में समाया हुआ था। इसी कारण वैदिक संस्कारों में भी दार्शनिक विचार अनुस्यूत हैं। बच्चे के उत्पन्न होते ही, ज्यों ही पिता ने बालक को गोदी में लिया, दुलार और प्यार के शब्दों में पूछना चाहा—'तू कौन है ? इन अनन्त योनियों में **तेरा कौनसा दर्जा है ? तू किसका है ?** और **किस नाम वाला है ? :—"कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।"**[3]

इसी मन्त्र का प्रयोग नामकरण संस्कार में भी पिता द्वारा किया गया है। इस प्रकार के ज्वलन्त प्रश्न आज भी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिए समस्या है, जिन प्रश्नों को जीव ने आंख खोलते ही–सांस लेते ही सुना था : मानों वैदिक ऋषि उसमें दर्शनशास्त्र के इन प्रश्नों को डाल कर, उसके जीवन का किंचिद् ध्येय निर्धारित कर देना चाहते थे कि तुम और कुछ करो या न करो लेकि इन श्वासों के रहते–रहते इन प्रश्नों का हल अवश्य कर लेना।

दर्शन के विषय में अनेक वाद हैं जिनका उल्लेख श्वेताश्वतर—उपानषद् के ऋषि ने **'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा**[4] आदि कई वादों के रूप में किया है, उनमें एक **'यदृच्छावाद'** भी है । 'यदृच्छा' शब्द का अर्थ है **अचानक, अकस्मात्** । यह वाद उन व्यक्तियों का है जो इन प्रश्नों से घबरा उठते हैं, जिनके पास **'किं'** शब्द के विभिन्न रूपों का कोई समाधान नहीं है, **'कस्मात्'** का प्रश्न आते ही उनकी बुद्धि कुंठित हो जाती है। पुरुष–सूक्त का ऋषि अपने स्थान पर अविचल है। वह **किं, कः, का, केन, कस्मै, कस्मात्, कस्य** और **केषु** आदि प्रश्नों से विचलित नहीं होता, वह तत्काल निश्चयात्मक उत्तर देता है—**तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्, 'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत । तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्, तस्माद्-जाता अजावयः ।।**[5] इसी प्रकार पुरुष-सूक्त में **'तत्'** सर्वनाम के विभिन्न रूपों के व्याज से अनेक प्रश्नों का समाधान कर दिया गया है, **'स, भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्, 'ततः विश्वं व्यक्रामत् 'साशनानशने अभि, "तस्माद् विराडजायत..." "स' जातो अत्यरिच्यत," तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।**[6]

वस्तुतः पुरुष-सूक्त में वे ही दार्शनिक तत्त्व विद्यमान हैं जिनका मनुष्य-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। इस सूक्त में जहां सृष्टि-विषयक अनेक समाधान हैं, और याज्ञिक प्रक्रियाओं के भी समाधान

---

१. अथर्व० १०।२।१८, १९ २. अथर्व० १०।२।२४ ३. यजु ०७।२९
४. श्वे० उ० १. २. ५. ऋ० १०।९०।८, ९, १० ६. ऋ० १०.९.१, ४ ५, ७

हैं, वहां समाज एवं राष्ट्रोपयोगी व्यवस्था का भी वर्णन है। यहां आकर 'किं' शब्द का आश्रय लेकर प्रश्न उठाया गया और अगले मन्त्र में उत्तर भी दे दिया गया—**'यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरु पादा उच्येते'** ॥ **"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥**[1]

इस अवतरणिका के पश्चात् अब पुरुष–सूक्त-गत कुछ विशिष्ट दार्शनिक तथ्यों का निरूपण किया जायेगा।

पुरुष-सूक्तगत विशिष्ट दार्शनिक तत्त्व—

सूक्तगत दार्शनिक तत्त्वों के अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। केवल सोलह मन्त्र ही इस क्षेत्र का कलेवर है। इन मन्त्रों में दार्शनिक तत्त्व संगृहीत हैं यों तो पुरुष तत्त्व ही समस्त वैदिक दर्शन का मूल है। किन्तु 'पुरुष' तत्त्व के सूक्ष्म अध्ययन के साथ-साथ **'पुर्' तत्त्व, दशांगुल'तत्त्व, 'विराट्' तत्त्व, 'इदं सर्वम्' तत्त्व** आदि का अनुसन्धान भी दार्शनिक तथ्यों को उजागर करने वाला सिद्ध होगा।

पुरः

पुरुष-सूक्त की **'तस्माद् विराडजायत' [ततो विराडजायत]** ऋचा का अन्तिम पद **पुरः** है। इस पद से अभिहित दार्शनिक तत्त्व पर विवेचन आरम्भ करने से पूर्व, उसके अर्थों पर तथा उसके निर्वचन पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

इस ऋचा के **'पुरः'** पद के अर्थ के विषय में भाष्यकारों के दो मत हैं। एक मत उन लोगों का है जो **'पुरः'** का अर्थ **शरीर** करते हैं। दूसरे वे लोग हैं जो **'पुरः'** को **पूर्व**=पहिले का वाचक मानते हैं।

पुरः=शरीर—

भट्टभास्कर ने अपने पुरुषसूक्तभाष्य में **'पुरः'** पद का अर्थ **शरीर** किया है।[2] सायण ने भी **ऋग्वे**-दीय पुरुषसूक्त के भाष्य में **'पुरः'** पद से शरीर अर्थ ही लिया है।[3] यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त पर उवट के द्वारा उद्धृत शौनक–भाष्य में भी **'पुरः'** का अर्थ शरीर मिलता है।[4] महीधर[5], रामानुजाचार्य[6], मंगलाचार्य[7] और विद्यारण्य[8] आदि मध्यकालीन भाष्यकारों तथा ज्वालाप्रसाद मिश्र[9], रामगोविन्दशास्त्री[10] तथा श्री०

---

१. ऋ० १०.९.११,१२।

२. अथो अनन्तरं भूतसृष्टेः पुरः पुराणि=शरीराणि [सुरनरतिर्यगादीनांच] अत्यरचयत्। [तै० आ० भा० ३-१२५]

३. अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां [शरीराणि] पुरः ससर्ज। [ऋ. सा. भा. १०-९०-५]

४. अथोऽनन्तरं पुरः शरीराणि पुराणि=[चतुर्विधानि] भूतानि—अजायन्त। य० भा० ३१-५

५. अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज ...पुरः=शरीराणि। य० भा० ३१.५

६. अथो भूतसमुदाये जाते पुरो=देहाद्यसृजते। पु० सू० भा० ५मं०

७. अथो अनन्तरं पुरः=[जरायुजादि चतुर्विधभूतयोनीः]। पू० सू० भा० ५

८. अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां...पुरः=शरीराणि [पु० सू० भाष्य पाण्डुलिपि]

९. पुरः=सात धातुओं से होने वाले शरीरों को। य० भा० ३१.५

१०. 'जीवों के पुरः=शरीर बनाये'। ऋ० भा०, पु० सू० ५

दा० सातवलेकर[1] आदि अर्वाचीन व्याख्याकारों ने भी भट्टभास्कर तथा सायण का अनुगमन करते हुए **'पुरः'** पद को **'शरीर'** का ही वाचक माना है।

'पुरः' शब्द की व्याकृति और व्युत्पत्ति—

उपर्युक्त भाष्यकारों के मतानुसार, इस ऋचा का **'पुरः'** पद का स्त्रीलिंग **'पूः'** शब्द की द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है। इसीलिये उन्होंने इसकी व्याख्या करते हुए नपुंसिक लिंग 'पुर' शब्द के दितीया-बहुवचन **'पुराणि'** से इसे स्पष्ट किया है[2]। **'पूः'** शब्द **'पृ पालनपूरणयोः'** धातु से निष्पन्न होता है। प्रत्यय के कित् होने के कारण गुणनिषेध[3] होने पर ऋ के स्थान पर **उत्व**[4], **रपरत्व**[5] तथा उकार को दीर्घत्व[6] होगा। सुबुत्पत्ति आदि के अनन्तर **'पूः'** सुसिद्ध है। द्वितीया-बहुवचन **'पुरः'** में पदान्त अथवा **हल्परत्व** न होने से दीर्घत्व नहीं होगा। एवं च **'पिपर्त्ति, पृणाति, पारयति वा या सा पूः'**—'जो पालन करती है या पूर्ण करती है वह **पूः** है' इस प्रकार का निर्वचन होगा क्योंकि क्विप् प्रत्यय कर्तृ-अर्थ में हुआ है। कतिपय भाष्यकारों के अनुसार यहां **क्विप्** प्रत्यय **कर्म**-अर्थ में हुआ है, तदनुसार **'पूर्यते पाल्यते सम्पूर्यते वा या सा पूः'**—जो पालन की जाती है अथवा पूर्ण की जाती है वह 'पूः' है' यह निर्वचन संगत होगा। सायणाचार्य ने भी यही निर्वचन माना है—**"पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि"**[7]—जो रस रक्त आदि सात धातुओं से पूर्ण किया जाता है वह **'पूः'** शरीर है। विद्यारण्य[8] ने भी इसी का अनुसरण किया है। कुछ लोग **'पुर'** अग्रगमने [तुदादि] से **क्विप्** करके इसकी निष्पत्ति करते हैं। कुछ हो उभयथापि **'पूः'** का द्विर्वचन **'पुरः'** ही माना गया है।

पुर का महत्त्व—

पुरुष-सूक्त में सर्वप्रथम ध्यातव्य तथ्य **पुर** तत्त्व है। **पुर** तत्त्व के अस्तित्व के साथ ही पुरुष-तत्त्व अनुस्यूत है। पुर में शयन करने वाले को पुरुष कहा गया है। 'पुर' उन सभी का वाचक हो सकता है **जिसमें** किसी पुरुष ने **शयन** किया हुआ हो—यथा **ब्रह्माण्ड, पिण्ड, हृदय, नगर, दुर्ग आदि**।

विवेचनीय पुर—

उक्त शब्द में प्रसक्त विवेचनीय दो प्रकार के ही 'पुर्' हैं: एक **ब्रह्माण्ड** और दूसरा **पिण्ड**। जहां ब्रह्माण्ड का विस्तार अनन्त है, वहां पिण्ड का भी कुछ कम विस्तार नहीं है। वे भी अनन्त हैं। पिपीलिका से लेकर गज-पर्यन्त अनन्त पिण्ड हैं। सृष्टि-रचना में **ब्रह्माण्ड** और **पिण्ड** दोनों की ही पराकाष्ठा है। सूक्त में **'पश्चात् भूमिम् अथो पुरः'** [पु० सू० ५] कहंकर दोनों को स्मरण किया गया है, **'भूमि'** से **ब्रह्माण्ड** गृहीत हैं और **'पुर से पिण्ड'**।

द्वितीय अध्याय में **'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्'** का प्रतिपादन किया गया है। वहां दोनों ही पुरों की रूपरेखा दे दी गई है। इस अध्याय में इनका दार्शनिक विवेचन अभीष्ट है। नैयायिक एवं वैशेषिक

---

१. **'अथो=पश्चात्, पुरः [बाद में]=शरीर उत्पन्न किये**। पु० सू० भा० ॥५

२. **पुरः पुराणि शरीराणि**। भट्टभास्कर॥ तै० आ० भा० ३-१२-५

३. **क्ङिति च**। अष्टा० १.१.५॥ ४. **उदोष्ठ्यपूर्वस्य**। अष्टा० ७.१.१०२॥

५. **उरण्रपरः**। अष्टा० १.१.५१॥ ६. **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः**। अष्टा० ८.२.७६

७. ऋ० १०.९०.५॥

८. **जीवानां पुरः ससर्ज पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि**।......

समन्वयवादी- परम्परा में शरीर [पुर्] तत्त्व की गणना प्रमेयों में की गई है। वहां पुर की परिभाषा इस प्रकार है।

[१] **"तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि शरीरम्,"**[1] [२] **"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्"**[2] **अथवा**
[३] **"चेष्टाश्रयो वा शरीरम्"**[3]।

पुरुष-सूक्त में न केवल उपर्युक्त योग्यताओं को **'पुरः'** पद में आबद्ध किया गया है। अपितु इससे अतिरिक्त भी **'पुर'** शब्द की अपनी विशेषता है: **'पुर'** शब्द जिन धातुओं से निष्पन्न हुआ है, उन्हें देखने से कहा जा सकता है कि **'पुर' वह तत्त्व है, जो [१] पूर्व हो, [२] पूर्ण हो** जो **[३] पालित और पूरित करता हो**। बहुत सम्भव है कि **'पुर्'** की इन योग्यताओं को देखकर ही विविध धातुओं का निर्माण किया गया हो। यह भी सम्भव है कि पाणिनि का **धातु-त्रय पुर्-त्रय** का निर्देशक हो। **'पूरी अप्यायने'** से बना हुआ **पुर्** शब्द [१] **'कारण शरीर'** का, **'पुर अग्रगमने'** से निर्मित **पुर्** शब्द [२]**सूक्ष्म शरीर'** का और **पॄ पालनपूरणयोः** से निष्पन्न **पुर** शब्द [३] **स्थूल शरीर** का वाचक[4] माना जा सकता है।

'पुरुष-तत्त्व' के अध्ययनार्थ पुरुष-सूक्त एवं तद्गत 'पुर:' तत्त्व के स्पष्टीकरणार्थ अथर्ववेदीय केन-सूक्त[5] का अध्ययन अपरिहार्य है" 'केन' में ३३ मन्त्र हैं, जिनमें अन्तिम सात मन्त्र तो अपनी उपमा आप ही हैं। **पुर** के विवेचन में, इस सूक्त की महत्ता इसलिए भी है कि इसका **देवता** भी **पुरुष** ही है। यहां का **'पुरुष'** संदर्भ में न केवल **ब्रह्म** का ही वाचक है, अपितु **पुर** का भी है।

'केन' में **पुर्** की अनेक संज्ञाएं हैं: **पुर** के लिए **लोक** एवं **पुरुष** शब्द प्रयोग हुआ है; सूक्त का **पुर** तत्त्व सामान्य मिट्टी के **पुतले** का वाचक नहीं है, न ही विण्मूत्रादि समुदाय का, अपितु **देवानां पूः** [मं० ३१], **'ब्रह्मणः पूः'** [मं० ३०],**'अयोध्या पूः'** [मं० ३१], **'अपराजिता पूः'** [मं० ३३]**'प्रभ्राजमाना पूः'** [मं० ३३] **'यशसा संवृता पूः'** [मं० ३३] **'हिरण्ययी पूः'** [मं० ३३], **'नवद्वारा पूः'** [मं० ३१], **'अष्टचक्रा पूः'** [मं० ३१] का वाचक है।

'पुर का आपाद मस्तक वर्णन'—

किसी तत्त्व का परिपूर्ण वर्णन तब समझा जाता है जब उसका आपाद मस्तक वर्णन किया जाय—एडी से चोटी तक। उक्त सूक्त के आरम्भिक आठ मन्त्रों में **'पुर् का आपाद् मस्तक'** वर्णन है।

---

१. त० भा० **[प्रमेयनिरूपणम्] [शरीरम्]** [पृ० १६३]
२. न्या० सू० १।१।११
३. त० भा० **[प्रमेय निरूपणम्] [शरीरम्]** [पृ० १६३]
४. कैवल्योपनिषद् में **क्रमशः** तीन पुरों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया है—वह जीवात्मा ही माया से मोहित हुआ स्थूल शरीर में ठहर कर स्त्री, अन्न, पानादि विचित्र भोगों का भोग करता है। और इन्हीं में परितृप्ति अनुभव करता है। वह जीव सुख-दुःख का उपभोग करने वाला है। अपनी माया से कल्पित किए हुए इस जीव लोक में सब कुछ विलीन होने पर भी तम से अभिभूत हुआ हुआ सुख रूप का अनुभव करता है और फिर से जन्मान्तर को प्राप्त कर कर्मयोग से कै० उ० १-१२-१३

पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जा सकलं विचित्रम्। कै० उ० १-१४
५. अथर्व० १०-२

सूक्त का उपक्रम जहां **'केन'** शब्द से है वहां अगला शब्द **'पार्ष्णी'** है; और अष्टम मंत्र में मस्तिष्क, ललाट और कपाल का वर्णन है। इस प्रकार वर्ण्य वस्तु का एड़ी से चोटी तक का वर्णन है। [और सम्भवतः इसी कारण इस सूक्त का नाम 'पार्ष्णी-सूक्त' भी है]। सूक्त में क्रमशः एड़ी, टखने, पांव की अंगुलिएं और उससे ऊपर उठकर पिंडलियों का वर्णन है। जैसे ही देह के निम्न द्वारों का वर्णन आया, तो **'खानि'** कह कर सूचित कर दिया गया। यहां का **'खानि'** शब्द कर्मेन्द्रियों का वाचक प्रतीत होता है। अनन्तर ही टांगों में, पांव के वर्णन के पश्चात् पायु और—उपस्थ का और उनकी गोपनीयता की रक्षा के लिए उन तक पहुंचने वाले दोनों हाथों का वर्णन है।

पॄ पालन पूरणयोः—

पॄ धातु से निष्पन्न पुर् वह तत्त्व है जो पालन और पोषण करता है। निवास के लिए बनाए गए पुर् यदि पालित और पूरित न करते हों तो सामान्य नागरिक भी पुर् को छोड़ देता है, फिर भोक्ता पुरुष **'भोगायतनं शरीरम्'**[1] की तो कथा ही क्या ?

पॄ धातु के दो [पालन, पूरण] अर्थ भोक्ता [जीव] के दो अभीष्टों की सिद्धि के द्योतक हैं — **[१] भोग को पालित और [२] अपवर्ग को पूरित करने के कारण** देह की संज्ञा पुर् है। पंतजलि ने दृश्य जगत् का उपयोग भोग और अपवर्ग के लिए ही माना है: **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'**[2]

पूर्णत्वात् पुर—

योगियों के अनुसार पुरुष के लिए जहां भोग और अपवर्ग की उपलब्धि करना ध्येय है, वहां याज्ञिकों की दृष्टि में जीवन का ध्येय **इष्ट और आपूर्त्त** की सिद्धि है[3]। क्योंकि इष्ट का पालन और आपूर्त्त को पूरित करता है, इसलिए वह 'पुर्' है।

जीव के भोग-अपवर्ग के—इष्ट और आपूर्त के—पालन और पूरण की सम्भावना तभी है जब पुर में सम्पूर्ण योग्यताएं निहित हों। वह [स्वयं भी] अपने आप में पूर्ण हो, जिस विराट् देह की यह अनुकृति है वह भी पूर्ण है और **तत्फलितत्वात्** यह [अनुकृति] भी पूर्ण है: **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**[4] अथर्ववेद के शब्दों में **'पूर्णात् पूर्णमुदचति, पूर्ण-पूर्णेन सिच्यते।'**[5]

सूक्ष्म शरीर [पुर अग्रगमने]—

पुरुष के भोग और अपवर्ग की प्राप्ति के लिए जहां स्थूल [अन्नमय] पुर की आवश्यकता है, वहां एक देह को छोड़कर दूसरे देह तक जाने के लिए वाहन रूप पुर की भी आवश्यकता है [सांख्य वेत्ताओं ने उसकी संज्ञा 'आतिवाहिक शरीर' मानी है] अर्थात पुर् शब्द अपने अन्दर आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर की भी योग्यता संजोए है। कदाचित् पुर् अग्रगमने धातु से निष्पन्न पुर शब्द इस योग्यता की पूर्ति कर देता है। इसका वर्णन दर्शनोदधि का मन्थन करने वाले उदयवीर शास्त्री ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सांख्य सिद्धान्त' में किया है जिसे हम उन्हीं के शब्दों में यहां उद्धृत करते हैं; मृत्यु का अपर नाम उत्क्रान्ति है उसमें आत्मा का उत्क्रमण होता है। वह एक देह से कूद कर-उछल कर या छलांग लगा कर दूसरे देह में चला जाता है। इस उत्क्रांति में क्या आत्मा एकाकी रहता है या उसके साथ और कोई सह-योगी भी चलते हैं ? सांख्य में इनका स्पष्ट विवेचन किया गया है। आदिसर्ग से लगाकर आत्म-ज्ञान-

---

१. त० भा० [प्रमेय निरूपण-शरीरम्] २. यो० सू० २.१८.

३. **उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टा पूर्ते सं०......। यजु० १५.५४; १८.६१**

४. उपनिषद्-शान्तिमन्त्र ५. अथर्व० १०।८।२९।

पर्यन्त अथवा भावी प्रलय काल पर्यन्त, प्रत्येक आत्मा के साथ एक सूक्ष्म शरीर बरावर बना रहता है। स्थूल देहों में आत्मा की गति-आगति का यह आश्रय है। इस शरीर का सम्बन्ध आत्मा के साथ एक सर्ग काल में सदा बना रहता है, चाहे आत्मा स्थूल शरीर में रह रहा हो अथवा उससे बाहर। यह अनुपयुक्त न होगा यदि सूक्ष्म शरीर को आत्मा का एक वाहन समझा जाय। समस्त सर्गकाल में आत्मा इसी में बैठकर अपनी सम्पूर्ण गतिविधियों को पूरा किया करता है। सम्भवतः इसी कारण अनेक आचार्यों ने इसको **आतिवाहिक शरीर** कहा है। यह नाम इसके अपने कार्य को पूरे अर्थ में प्रकट करता है। कतिपय प्राचार्यों ने सूक्ष्म शरीर को **अन्तराभव देह** कहा है। कदाचित् इस नामकरण का कारण यह प्रतीत होता है कि आत्मा और स्थूल शरीर के मध्य में यह सदा बना रहता है। आत्मा का स्थूल देह के साथ संबन्ध इसी के द्वारा हुआ करता है। पहले आत्मा सूक्ष्म शरीर में आवेष्टित है, इसी स्थिति में उसका स्थूल शरीर के अन्दर प्रवेश होता है"।[१]

'पुरः' पद में बहुवचन—

सूक्त-गत पंचम मंत्र के अन्तिम चरण का अन्तिम पद 'पुरः' है। इसमें प्रयुक्त हुआ बहुवचन पिपीलिका से गज-पर्यन्त अनेक पुरों का द्योतक है। फिर उन अनन्त पुरों के विस्तार को सूक्त में 'वायव्यान्', 'आरण्यान्' एवं 'ग्राम्यान्' [पु० सू० ८] कहकर तीन में आवद्ध कर दिया है।

'पुरः' पद और तीन शरीर—

पुरः-पद के बहुवचन से जहां **स्वेदज, अण्डज** और **जरायुज** योनियां गृहीत हैं, वहां **स्थूल, सूक्ष्म** और **कारण** शरीर भी गृहीत होंगे; पुरों की यह भिन्नता एक अन्य दृष्टि से **तामस, राजस** और **सात्त्विक** भी कही जा सकती है। यह सापेक्षता विभिन्न योनियों में ही नहीं, एक योनि में भी सम्भव है। सूक्त में जहां **वायव्य, आरण्य** और **ग्राम्य** इन तीनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है, वहां ग्राम्य पशुओं में **अश्व, गौ, अजा, अवि** का भी उल्लेख किया है। अवि, अजा, गौ, अश्व और मनुष्य की भी गणना ग्राम्य पशुओं में की जाती है।[२] यदि इनमें तुलना की जाय तो पुरों में मनुष्य सर्वोत्तम है। यह पुरों की तारतम्यता यह समाप्त नहीं होती, फिर मनुष्यों में भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से वर्ण-विभाजन किया गया है। **सत्त्व-प्रधान** व्यक्ति को **ब्राह्मण, रजस् प्रधान** व्यक्ति को **क्षत्रिय** और **रजस्-तमस्**-मिश्रित व्यक्ति को **वैश्य** और **तमः प्रधान** व्यक्ति को **शूद्र** कहा गया है।[३]

इस प्रकार शरीर और योनियों का यह विस्तार एक मात्र पुर शब्द में अन्तर्निहित है।

देवों की पुरी—

'पुरुषपुर्' की उत्कृष्टता को बताने के लिए मनुष्य देह की संज्ञा **'देवानां पूः'** है। यह विशेषण इतर पुरों से उत्कृष्ट प्रमाणित करता है। ऐतरेय 'उपनिषद् में वर्णित है कि जब देवों ने पुर की, मांग की तो परमात्मा ने आवास के लिए विभिन्न पुर उपस्थित किये। देवों को न तो गो-पुर् पसन्द आया और न अश्व-पुर्। ज्योंही पुरुष-पुर् उपस्थित किया गया तो झटिति देव उछल पड़े और एक-साथ बोले— **'पुरुषो वाव सुकृतम्'**। यह इतना पुण्यमय था कि—न केवल देवों ने ही इसे अपना आवास बनाया, अपितु

१. द्र० सांख्य सिद्धान्त, पृ० १०८

२. **तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥** अथर्व० ११.२.९

३. **सद्गुणो ब्राह्मणो वर्णः। क्षत्रियस्तु रजो गुणः। तमो गुणस्तथा वैश्यो गुणसाम्यात्तु शूद्रता॥**
भ० पु०। प्रति प० ख० ४ अ० २३ श्लो० ९७-९८

ब्रह्म [पुरुष] ने भी। तब से इस देह का नाम न केवल पुर है, अपितु **'ब्रह्म-पुर'** भी, अन्यत्र पुरुष को ब्रह्म कहा भी तो है। इसलिए उपनिषत्कार ने 'उन देवों के लिए पुर् ले आया' न कहकर 'उन देवों के लिए पुरुष ले आया' **'ताभ्यः पुरुषमानयत्'** कहा है।

ब्रह्म की पुरी—

अथर्ववेद के ११.८ में, कुछेक मन्त्रों में देवों के प्रवेश का वर्णन है।

"सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्।" "गृहं कृत्वा देवाः पुरुषमाविशन्"

"रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्"। "सर्वाह्यस्मिन् देवा गावो-गोष्ठ इवआसते"[1]।

यहीं तक नहीं, **'शरीरं [पुरुष] ब्रह्म प्राविशत्। तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते'।** कहकर तो पुरुष-देह को साक्षात् ब्रह्म ही घोषित कर दिया। शान्तिपर्व में भीष्म की एक उक्ति है: **'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'**[2]।

अयोध्या पूः—

अथर्ववेद में मनुष्य-देह को जहां **'देवानां पूः'** कहा है, वहां इसे **'अयोध्या'** भी कहा है। **'अयोध्या'** शब्द का अर्थ **'योद्धुमशक्या'** शत्रु द्वारा जिसे युद्ध में जीतना अशक्य है। मनुष्य-देह में देवों के साथ असुरों ने भी स्थान प्राप्त कर लिया और उनके अधिपति मृत्यु ने यह घोषणा कर दी कि इस पुरुष की संज्ञा 'मर्त्य' है। [पुरुष की 'मर्त्य' संज्ञा इस बात का संकेत है कि इस पर एक मात्र मृत्यु का आधिपत्य है]। दूसरी ओर देवों ने यह घोषणा कर दी कि हम इस **देव-पुरी** को शत्रु के अधिकार में न जाने देंगे और मृत्यु को मारकर ही दम लेंगे। अन्ततः देवों ने **रेतस्** को **आज्य** बना कर इस पुरुष में प्रवेश किया और उस वीर्य रूप अजेय शक्ति से मृत्यु को मार डाला—**'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्'**। इसीलिए इसे **'अपराजिता पूः'** कहा है।

दशाङ्गुलम्

व्याकरण और निर्वचन—

पुरुषसूक्त की प्रथम ऋचा में एक विशिष्ट दार्शनिक तत्त्व है—'दशांगुलम्'। 'दशांगुलम्' एक समस्त पद है। इसमें पूर्वपद **'दश'** [=दशन्] शब्द है। [**'दंश** दशने धातु[4] से बाहुलकात् औणादिक **कनिन्** प्रत्यय[5] करने पर दश [दशन्] शब्द सिद्ध होगा]। 'दशांगुलम्' में उत्तरपद **अंगुल** अथवा **अंगुलि** शब्द है। अंगुल शब्द गत्यर्थक **'अगि'** धातु से बाहुलकविधि के अन्तर्गत औणादिक **'उलच्'** प्रत्यय करने पर निष्पन्न होगा; **अंगति चेष्टन्ते कार्यार्थं सपदीति अङ्गुलानि करशाखाः**—जो कार्य करने के लिये शीघ्र प्रवृत्त होती हैं, वे अंगुलियां अंगुल कहलाती हैं। [**अंगुलि** शब्द की सिद्धि भी उसी गत्यर्थक **'अगि'** धातु

१. अथर्व० ११.८.१३, १८, २९, ३२
२. म० भा० शा० प० २८८.२० पू० सं०
३. अथर्व० ११.५.१९
४. भ्वादिगणीय। [९९९]
५. **कनिन् युवृषि तक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः।** उणादि० १.१५६॥

से 'उलि' प्रत्यय[1] करने पर होगी। **'अङ्गति चेष्टतेऽनेन सोऽङ्गुलिः करशाखा वा'**[2] जिससे मनुष्य चेष्टा करता है उसे अंगुलि कहते हैं]।

'दशांगुलम् पद **अन्तोदात्त** है। **'दश-अङ्गुलयः प्रमाणमस्य'** इस तद्धितार्थ की विवक्षा में समानाधिकरण तत्पुरुष समास[3]। तब दशांगुलि शब्द से उपर्युक्त तद्धितार्थ में **'ठक्'** प्रत्यय उसका लुक्[4] और समासान्त **'अच्'** प्रत्यय[5] तत्पश्चात् सुबुत्पत्ति और अन्तोदात्तत्व[6] करने पर **'दशाङ्गुलम्'** शब्द निष्पन्न हुआ।[7]

भट्टभास्कर के अनुसार दश अङ्गुलि प्रमाण से अवच्छिन्न=मापी हुई वस्तु को 'दशाङ्गुल कहा गया है और उससे यहां सामर्थ्यवशात् **'हृदयाकाश'** का ग्रहण है। कुछ लोग मानते हैं कि **'दशाङ्गुल'** शब्द **हृदयाकाश** के अर्थ में ही प्रसिद्ध है।[8]

शौनक ने भी अन्यों का मत उद्धृत करते हुए **हृदयस्थान** और **नासिकाग्रभाग** को **दशाङ्गुल** कहा है।[9] पर उसका अपना मत भिन्न ही है। वह **दश इन्द्रियों** को **दशाङ्गुल** कहता है। यहां उसने तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास न मानकर सामान्य समानाधिकरण तत्पुरुष समास ही माना है;[10] साथ ही अंगुल शब्द को इन्द्रियवाचक स्वीकार किया है। इस दृष्टि से यहां समाहार में भी द्विगुसमास सम्भव है—**दश अङ्गुलानि समाहृतानि दशाङ्गुलम्'**। यद्यपि द्विगुसमास में एकवद्भाव होने पर, अकारान्त होने के कारण यहां स्त्रीत्व[11] अपेक्षित है और तब **ङीप** प्रत्यय[12] की प्राप्ति है, किन्तु **पात्रादि**[13] में दशाङ्गुल शब्द को मान लेने पर स्त्रीत्व का परिहार सुशक्य है; और 'पञ्चपात्रम्', 'त्रिभुवनम्' के समान, दशाङ्गुलम् सुसिद्ध है।

दशाङ्गुल के विभिन्न अर्थ—

सायण ने 'दशाङ्गुल' से दशाङ्गुल **परिमित देश** अर्थ माना है और उसे **ब्रह्माण्ड से बहिर्भूत**

---

१. **ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्यङ्गिकुयुकृशिभ्यः कत्निच्यतुजलिजिष्णुजिष्ठजिसन्यस्निथिन्नुल्यसासानुकः** ॥ उणादि० ४.२ ॥

२. **स्वामिदयानन्दकृत उणादिकोषवृत्ति** ४.२ ॥

३. **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च**। अष्टा० २.१.५१ ॥

४. **अध्यर्धपूर्व द्विगोर्लुगसञ्ज्ञायाम्**। अष्टा० ५,१.२८ ॥

५. **तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः** ॥ अष्टा० ५.४,८६ ॥

६. **समासस्य** ॥ अष्टा० ६.१.२२३ ॥

७. **दश अङ्गुल्यः प्रमाणमस्येति-अर्हीयस्य-अध्यर्धपूर्व-इति लुक्, 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' इत्यच् समासान्तः** ॥भ० भा०। [तै० आ० भा० ३.१२.१.]

८. **दशाङ्गुलिप्रकारावच्छिन्नम्......अत्र सामर्थ्यात् हृदयाकाशपरिग्रहः। हृदयाकाशस्यैव दशाङ्गुल मित्याख्येति केचित्**। भ० भा०। तै० आ० भा० ३-१२-१

९. **केचिदन्यथा रोचयन्ति दशाङ्गुलप्रमाणं हृदयस्थानम्, अपरे तु नासिकाग्रं दशाङ्गुलमिति** ॥ उवटोद्धृत शौ० भा०। यजु० ३१-१.

१०. **दश च तानि-अङ्गुलानि दशाङ्गुलानि इन्द्रियाणि**। उवटोद्धृत शौ० भा० यजु० ३१-१

११. **अकारान्तोत्तरपदोद्विगुः स्त्रियां भाष्यते** ॥ वा० अष्टा० २.४.१७ ॥

१२. **द्विगोः**। अष्टा० ४.१.२१

१३. **पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः** ॥ वा०। अष्टा० २.४.१७ ॥

देशमात्र का उपलक्षक माना है ।[1]

महीधर ने, [सायण और भट्टभास्कर दोनों का अनुसरण करते हुए] **'दशाङ्गुल'** के **बहिर्देश-मात्र** का उपलक्षक और **नाभि से दशाङ्गुलातिक्रान्त हृदय** स्थान का वाचक ये दोनों अर्थ माने हैं ।[2]

मङ्लाचार्य **'दशाङ्गुल'** पद से उस **कर्म** [=क्रिया] का ग्रहण करते हैं जिसमें दश अङ्गुल मापे जायं ।[3] किन्तु वे इस कथन को औपचारिक मानते हैं क्योंकि उसका [=पुरुष का] माप में आना सम्भव नहीं ।[4]

शंकराचार्य ने **'दशांगुल'** का अर्थ **'अनन्तपार तथा हृदय'** किया है ।[5]

रामानुजाचार्य **'दशांगुल'** को **द्वादशांगुल** का संक्षेप मानते हैं और उस द्वादशांगुल से 'सारा **कार्य जगत्**- रूप' अर्थ ग्रहण करते हैं ।[6]

दयानन्द सरस्वती ने अपने यजुर्वेदभाष्य में **'दशांगुल'** शब्द के अंगुल शब्द को **अंग**[=अवयव] वाची माना है और **दशाङ्गुल** शब्द से **पांच स्थूल** तथा **पांच सूक्ष्म भूत** रूप दश अवयव वाला **जगत्** अर्थ स्वीकार किया है ।[7] किन्तु ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में उन्होंने, यजुर्वेदभाष्य वाले अर्थ के साथ ही साथ **दशाङ्गुल** को **ब्रह्माण्ड, व्यक्ति पुरुष** और **हृदय** का भी उपलक्षक माना है । व्यक्तिपुरुष में उन्होंने— पांच प्राण, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार रूप अन्तःकरण-चतुष्टय और जीव—ये दश अवयव माने हैं ।[8]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने **'दशाङ्गुल'** को समाहार-द्विगु स्वीकारते हुए **दश अङ्गुल** अर्थात् दोनों पांवों की दश अंगुलियों को दश अंगुल माना है और उससे उन दश अंगुलों के सहारे स्थित 'व्यक्ति पुरुष' को ही दशांगुल माना है ।[9]

---

१. **दशांगुलं दशांगुलपरिमितं देशमत्यतिष्ठत् ।......ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्य...... ।**
ऋ० १०-९०-१. सा० भा०

२. **दशाङ्गुलपरिमितं देशमध्यतिष्ठत् । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्, ब्रह्माण्डाद् बहिरपि...... । यद्वा नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः ।।** यजु० ३१-१ । मही० भा०

३. **दशाङ्गुलानि मीयन्ते यस्मिन् कर्मणि तद् दशाङ्गुलम् ।** पु० सू० भा० ५

४. **औपचारिकमिदं वचः परिमातुमशक्यत्वात् ।।** पु० सू० भा० ५

५. **दशाङ्गुलमनन्तपारमित्यर्थः । अथवा नाभेरुपरि दशाङ्गुलं हृदयम् ।**
शंकराचार्यकृत श्वेता० भाष्य [३,१६]

६. **द्वादशाङ्गुलमतिक्रम्यातिष्ठत् सर्वं कार्यं जगत् ।।** पु० सू० भा० १

७. **[दशाङ्गुलं] पञ्च स्थूलसूक्ष्मभूतानि दशाङ्गुलानि अङ्गानि यस्य तज्जगत् ।**
यजुर्वेद भाष्य ३१.१ ।

८. **दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणम् । पञ्च स्थूलभूतानि पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगत् । पञ्च प्राणाः सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं दशमो जीवश्च । एवमन्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुल-परिमितं च तृतीयम् ।।** ऋ० भा० भू० सृष्टिविद्या- विषय पृ० ४०५

९. The Dashangula purusha is the individuated Deva, the manifested person standing on the fingers of the feet :- vedic Lectures[p.167]

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि ,**दशांगुल**' शब्द न्यूनातिन्यून निम्न अर्थों का द्योतक है—**[१] दशांगुल-परिमित देश, [२] ब्रह्माण्ड से बहिर्भूत समस्त अवकाश, [३] हृदयाकाश, [४] नासिकाग्रभाग, [५] व्यक्तिपुरुष, [६] सम्पूर्ण कार्य जगत्, [७] दश इन्द्रियां और [८] दश अंगुलियां।**

दशांगुल' तत्त्व और पुरुष सूक्त—

पुरुष-सूक्त में मूलतः दो दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन है—एक **पुरुष** का, दूसरा **प्रकृति** का। शेष सम्पूर्ण तत्त्व इन दोनों का ही विस्तार हैं। फिर **पुरुष** भी एक नहीं **दो** हैं—**एक सहस्रशीर्षाक्षपाद्** [सर्वातिशायी] **पुरुष , द्वितीय दशांगुल** [एकशायी] **पुरुष।**

सहस्रशीर्षाक्षपाद् और **दशांगुल** दोनों ही ऐसे पद हैं कि इनके साथ जब तक '**पुरुष**' पद का प्रयोग न किया जाय, तब तक ये '**पुर**' के वाचक रहते हैं—सहस्रशीर्षाक्षपाद्-पुर **ब्रह्माण्ड** का वाचक और दशांगुल-पुर **पिण्ड** का। इस प्रकार जहां **दो पुरुष** हैं, वहां **दो पुर हैं**। दोनों **पुर** प्रकृति का विकार हैं, जिसे पुरुष-सूक्त के '**इदं सर्वम्**'[१] में समेटा गया है। इस प्रकार **सहस्रशीर्षाक्षपाद् ब्रह्म** का,**दशांगुल जीव** का, और 'इदं सर्वम्' **प्रकृति** का वाचक है। ये तीनों तत्त्व वैदिक दर्शन के मूल हैं।

पुरुष-सूक्त में इन तीनों तत्त्वों को दूसरी पद्धति से भी वर्णित किया गया है। **ब्रह्म** को **चतुष्पाद्**,[२] **जीव** को **द्विपाद्** और **प्रकृति** को **एक पाद्**[३]। '**ऊर्ध्व**' के **त्रिपाद्** और '**इह**' के **एक पाद्** को मिला कर सर्वातिशायी पुरुष **चतुष्पाद्** कहलाता है। 'इह' का एक-पाद, प्रकृति-पाद है '**पादोऽस्य विश्वाभूतानि** समस्त भूत [प्रकृति और उसके विकार] सर्वातिशायी का एक चरण है। अतः **प्रकृति एकपाद्** हुई।

द्विपाद् जीव—पुरुष-सूक्त में जीव के लिए सीधे **द्विपाद्** का प्रयोग न करके **दशाङ्गुलम्** पद का प्रयोग किया गया है।

सूक्त के **दशांगुलम्** पद से **द्विपाद्** जीवात्म-पुरुष का ग्रहण होता है। जीवात्म-पुरुष के लिए द्विपाद् विशेषण का प्रयोग न करके 'दशाङ्गुलम्' का प्रयोग करना सप्रयोजन है। मनुष्य को, चतुष्पाद-पशुओं से पृथक् करने के लिए 'द्विपाद्' लक्षण पर्याप्त था, परन्तु 'द्विपाद्' कहते ही पक्षी भी गृहीत हो जाते। अतः 'द्विपाद्' लक्षण पक्षियों में अति व्याप्त न हो जाए, अतः कहा—'**दशांगुलम्**'। एवञ्च दशांगुलम् लक्षण अति व्याप्ति-दोष से मुक्त हो गया। '**द्विपाद्**' न कहकर **दशांगुलम्**' कहने से उद्देश्य-सिद्धि हो जाती है।

दशांगुल का अभिधेयार्थ—

दशांगुल पद् का अभिधार्थ **दश अंगुलियां** है। दश अंगुलियों से दोनों **चरण** भी गृहीत होते हैं और दोनों कर[ण] भी। ताण्ड्य ब्राह्मण में पुरुष को बीसा[४] कहा है। उसे बीसा कहे जाने का कारण उसके हाथ की दश अंगुलियां और पांव की दश अंगुलियां ही हैं। यही कारण है कि मनुष्य इतर योनियों से सर्वथा पृथक् है और उत्कृष्ट है वह '**द्विपाद्**' भी है '**द्विकर**' भी। यदि उसे दश अंगुलियों वाले हाथ न

---

१. **'पुरुष' एव इदं सर्वम्' ऋ० १०.९०.२'**

२. **त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः। ऋ० १०-९०-४**

३. **पादोऽस्य विश्वा भूतानि। ऋ० १०.९०.३।**

४. **विंशो वै पुरुषो दश हस्त्या अङ्गुल्यो, दश पाद्याः।** [ता० ब्रा० २३।१४।५।]

मिलते तो वह भी चतुष्पाद् पशु होता—उसके कर न होते, चरण ही होते। **पुरुष** की प्रतिष्ठा **दशांगुल** से है : **ब्रह्माण्ड** की प्रतिष्ठा **पुरुष** से है; पुरुष की प्रतिष्ठा **'पुर'** तत्त्व से ; और 'पुर' तत्त्व की प्रतिष्ठा **'दशांगुल'** तत्त्व से—अथर्ववेद के प्रसिद्ध **,पाष्णीं-सूक्त'** में शारीर पुरुष का सांगोपांग वर्णन है—एड़ी से चोटी तक का वर्णन है। परन्तु यह जानकर आश्चर्य होता है कि पुरुष के लिए अत्यन्त आवश्यक अंग हाथ और पांव का वहां कोई वर्णन ही नहीं। गम्भीर चिन्तन से ज्ञात हुआ कि **हाथ** और **पांव** का प्रतिनिधित्व कराने के लिए **अंगुल** शब्द का प्रयोग किया गया है। 'पाष्णीं-सूक्त' में **अंगुलि** शब्द का प्रयोग कर के यह दिखाना अभीष्ट समझा गया कि सूक्त के सांगोपांग वर्णन से मनुष्य ही गृहीत होना चाहिए कोई अन्य प्राणी नहीं। यही बात पुरुष -सूक्त के **दशांगुल** शब्द से भी समझी जानी चाहिए। पुरुष-सूक्त का एक **पुरुष** जहां **दशांगुल** का **अतिक्रमण** कर के **स्थित** है वहां दूसरा **पुरुष** दशांगुल के आधार से **स्थित** है; एक **'दशांगुलमत्यतिष्ठत्'** है तो दूसरा **दशांगुलमतिष्ठत्'** है।

डा० अग्रवाल का मत—

दशांगुल पद का "पांवों की दश अंगुलियों पर अवस्थित पुरुष" अर्थ मान लेने से पुरुष सूक्तार्थ में क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ समझना चाहिए। आगे के भाष्यकारों और व्याख्याकारों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ समझना चाहिए। वेदों के पारदर्शी विद्वान् स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की सम्मति में दशांगुल पुरुष व्यक्ति रूप में परिणत देव-पांवों की दश अंगुलियों पर अवस्थित=अभिव्यक्त पुरुष है। सर्वोत्कृष्ट अतिशायी विभूतियां **[अतिष्ठा वा देवताः]** है=**अग्नि, वायु** और **आदित्य** इनकी दिव्य विभूतियां भौतिक अभिव्यक्ति के रूप में पृथिवी पर अवस्थित दशांगुल पुरुष में अवस्थित होती हैं[१]।

अव्यक्त प्रकृति की पूर्णतः अभिव्यक्ति हमें या तो **ब्रह्माण्ड** में दृष्टिगोचर होती है या **पिण्ड** में पिण्डों में भी मनुष्य पिण्ड सर्वोत्कृष्ट है। उसका कारण, इसमें अव्यक्त प्रकृति की पूर्ण और उत्कृष्ट अभिव्यक्ति होना है। इस को सूक्त में 'दशाङ्गुलम् कहा गया है। दश अंगुलिएं अव्यक्त प्रकृति की अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा हैं। अव्यक्त प्रकृति ब्रह्माण्ड में पंचभूत और पंचतन्मात्र के रूप में विकसित हुई। फिर वही आपिपीलिका गजपर्यन्त देहों में पंच ज्ञानेन्द्रियों और रूप रस गन्धादि विषयों के रूप में विकसित हुई। उसी अव्यक्त प्रकृति की पराकाष्ठा पुरुष में दशांगुल के रूप में अभिव्यक्त हुई है। जिस प्रकार उपनिषद् के ऋषि ने पुरुष के सम्बन्ध में **'सा काष्ठा सा परागतिः'** लिखकर विराम लगा दिया है, तद्वत् मनुष्य-देह के सम्बन्ध में भी दशांगुल संज्ञा से मानो **'सा काष्ठा सा परा गतिः'** कहकर विराम लगा दिया गया है। [यह वह पूर्ण विराम है कि जिसके आगे लिखने में स्वयं विधाता भी असमर्थ है। इससे आगे अब कुछ नहीं।]

'दशांगुल' पद का अभिधेयार्थ हाथ और पांव की दश अंगुलिएं मान लेने से पुरुष-सूक्तार्थ में निम्नलिखित अभिनव चमत्कार होंगे; दशांगुल का दोनों चरण और दोनों हाथ अर्थ मान लेने से जो सर्वप्रथम उपलब्धि होगी वह यह कि इस सृष्टि रचना निष्प्रयोजन और अहेतुक नहीं है। यतः भोक्ता जीवों

---

१. The Dashangula purusha is the individuated Deva, the manifested person standing on the fingers of the feet. The transcendent divinities [Atishthava devatah] are Agni, Vayu and Aditya whose divine majesties enter the Dashangula Purusha standing on the earth in material manifestation. Vedic Lectures, p 167.

को याथातथ्येन कर्म फल भुगतवाना सर्वोपरि प्रयोजन है और इसकी सम्भावना तभी है जब, सृष्टि रचना से पूर्व, कर्मात्मा पुरुष के कर्म अवशेष हों, और कर्मों की सम्भावना उसी अवस्था में है जब कर्म करने के साधन 'कर' मिले हों और उन 'करों' को यहां सूक्तगत 'दशांगुलम्' पद से गृहीत किया गया है।

सृष्टि-रचना से पूर्व जगत् के निमित्त कारण सर्वातिशायी पुरुष की सत्ता भी हो, उसके उपादान कारण प्रकृति पुरुष की भी सत्ता हो और उसके साधारण कारण देशादि की सत्ता भी हो, परन्तु जीवों के कर्म अवशेष न हों तो, उस अवस्था में, जगद्रचना असम्भव है निष्प्रयोजन है अहेतुक है। इसी तथ्य की सम्पुष्टि सूक्त के दशांगुल पद से होती है। अथर्ववेद में कहा भी है—सृष्टि-उत्पत्ति के आरम्भ में **तप** और प्राणियों के [अनुष्ठान-प्रसूत] **पुण्यापुण्य कर्म** विद्यमान थे।[1]

दशाङ्गुल और हस्त—

पुण्यापुण्य कर्मों के साधन दोनों हाथ हैं। और दोनों हाथों की प्रतिनिधि-संज्ञा 'दशांगुल' है। तभी यास्क ने अंगुलि का निर्वचन करते हुए एक व्युत्पत्ति **'अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा'**[2] भी दे दी अर्थात् वे कर्म में आगे रहती हैं। वेद के शब्दो में व्यक्ति भुजा उठाकर कहता है—'मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और बाएं हाथ में फल है'[3] अर्थात् मैं कर्मात्मा पुरुष हूं, कर्म और उसके फल में आबद्ध हूं। सर्वातिशायी पुरुष कर्म और कर्म फल रूप दोनों हाथों की दश अंगुलियों का अतिक्रमण करके ठहरता है [अत्यतिष्ठत्] और एकशायी पुरुष दश अंगुलियों पर स्थित होकर [अतिष्ठत्] वह मुक्त है, मैं आबद्ध हूं। वह फल प्रदाता है, मैं फल का भोक्ता हूं।' मनुष्य देह ही वह उलटा वृक्ष है जिसका मूल ऊपर है और शाखाएं नीचे। इस बात को शीर्षासनावस्था में उतर रहे सद्यो जायमान शिशु में स्पष्ट देखा जा सकता है। भूमि पर अवतरित हो रहा सिर 'पुरुष वृक्ष' का मूल है और ऊपर को फैली हुई भुजाएं और जंघाएं वे तने हैं जिसमें दशांगुल-रूप शाखाएं लगी हुई हैं। उनमें भी हाथों की दशांगुल-रूप शाखाएं हैं जिन पर धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूप फल लगते हैं। वेद में अंगुलियों की एक संज्ञा शाखा भी है। इन्हीं से कर्मात्मा पुरुष कर्त्ता भी है, भोक्ता भी इस प्रकार कर्मात्मा पुरुष को **'दशांगुलम् अतिष्ठत्'**, और सर्वातिशायी पुरुष को **'दशांगुलम् अत्यतिष्ठत्'** कह सकते हैं।

दशाङ्गुल और अञ्जलि—

'दशांगुल' की व्याख्या करते हुए हाथ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अंजलि बना सकना भी हाथ का ही धर्म है। शतपथकार ने कहा भी है—**'दश वा अञ्जलेरङ्गुलयः'**[4]। यह दशांगुल पुरुष की ही विशेषता है कि वह अंजलि बना सकता है। पुरुष-भिन्न अन्य योनि में यह विशेषता नहीं पाई जाती। अंजलि बनाना विनय का, याचना का और नम्रता आदि का प्रतीक है। सर्वातिशायी पुरुष को किसी के सम्मुख अंजलि बनाने की अपेक्षा नहीं है, इसलिए कहा कि वह 'दशांगुल का अतिक्रमण करके ठहरता है'। अंजलि उक्त बातों का प्रतीक है, तथा पात्र का भी प्रतीक है। इसी के द्वारा व्यक्ति जलपान कर सकता

---

१. **तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। त आसन् जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्।**
 अथर्व० ११.८.२। [सा० भा०]

२. निरु० ३.९.

३. **कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सत्य आहितः।** अथर्व०७.५२.८.

४. शत० ब्रा० ६.१.१.३६।

है और इसी पर अन्य पदार्थ ले सकता है। इस कारण कर्मात्मा पुरुष को दशांगुल की आवश्यकता है सर्वात्मा पुरुष को नहीं।

दशांगुल और अंगुलियां—

अंगुलिएं नाना सामर्थ्य वाली होती हैं। उनकी कार्य-सीमा परिमित होती है। इसकी अनुभूति व्यक्ति पदे-पदे करता है। धागे पिरोने से लेकर विशाल राकेट-निर्माण तक में इन अंगुलियों का चमत्कार है। दोनों हाथों की अंगुलियों को जोड़ कर इन्हीं से नमस्ते का अभिनय करता है। अंगुलियों को बांधकर मुष्टि का अभिनय करता है। इन्हीं को सिकोड़ कर दान का अभिनय करता है। इन्हीं हाथों से वह किसी को जोड़ता है, किसी को तोड़ता है। इन सब कार्यों की कर्मात्मा पुरुष को आवश्यकता है सर्वात्मा को नहीं। इन्हीं कार्यों को ध्यान में रखते हुए सम्भवतः यास्क ने निरुक्त में अंगुलि पद के सात निर्वचन दिये हैं।[1]—

[क] कर्मों में अग्रगामिनी होती हैं।
[ख] आगे चलने वाली होती हैं।
[ग] अग्रकारिणी होती हैं।
[घ] अग्रसारिणी होती हैं।
[ङ] चिह्न डालने वाली होती हैं।
[च] पूजन करने वाली होती हैं।
[छ] काजल लगाने अथवा मालिश करने वाली होती हैं।

ग्रहण करना और त्याग करना दोनों ही कर्म हाथों के आधीन हैं और उनमें भी अंगुलियां अग्रगामिनी होती है। कर्मात्मा पुरुष को जिन वस्तुओं की इच्छा होती है उन्हें पकड़ता है और जिनके प्रति द्वेष होता है, उन्हें छोड़ देता है **इच्छा-द्वेष, पकड़ना** और **छोड़ना**—[रूप क्रियाएं] कर्मात्मा पुरुष के लिंग हैं। कर्मात्मा पुरुष को ग्रहण और त्याग रूप क्रिया की अपेक्षा है, सर्वातिशायी पुरुष को नहीं। इसीलिए कर्मात्मा पुरुष दशांगुल के आश्रित है, जबकि परमात्म पुरुष इनका अतिक्रमण करके ठहरता है। सर्वातिशायी पुरुष न किसी वस्तु को छोड़ता है और न पकड़ता है। पकड़ने की सम्भावना तभी है जबकि कोई वस्तु छूटी हो, छोड़ने की सम्भावना भी तभी है जब कुछ पकड़ी हो। सर्वातिशायी में ये दोनों बातें असंगत हैं। अतः छोड़ने और पकड़ने की आकांक्षा के अभाव में हाथ व्यर्थ हैं, निष्प्रयोजन हैं : सो कहा—**'दशाङ्गुलमत्यतिष्ठत्'**।

दशाङ्गुल–स्पृश्यास्पृश्य—

कर्मात्मा पुरुष जहां द्वेष्य को छोड़ता है और इष्ट को पकड़ता है। वह द्वेष्य को अस्पृश्य और इष्ट को स्पृश्य मानता है। इस स्पृश्यास्पृश्य [ग्राह्य-अग्राह्य, भक्ष्याभक्ष्य] का साधन भी ये हमारी दश अंगुलियां ही हैं। सर्वातिशायी पुरुष के लिए कुछ स्पृश्य तब हो, जबकि उसे किसी के प्रति राग हो और कुछ अस्पृश्य तब हो जब किसी के प्रति उसे घृणा हो अथवा द्वेष हो। उसमें न द्वेष है, न राग है; न ग्रहण है, न त्याग है; उसके लिए न कोई स्पृश्य है न अस्पृश्य। इसलिए न उसके हाथ हैं, न दशांगुल और इसी लिए वह **'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'** है।

---

१. **अङ्गुलयः कस्मात्? अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा, अग्रगालिन्योभवन्तीति वा, अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा, अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा, अङ्कना भवन्तीति वा, अञ्चना भवन्तीति वा, अपिवाऽभ्यञ्जनादेव स्युः॥** निरु० ३.९.

दशाङ्गुल और भावाभिव्यक्ति—

यजुर्वेद में अंगुलियों के लिए कहा है—'**मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीः**'[1] वाह्य-सुखानुभूति से मोद की प्राप्ति होती है और अन्तःसुख की अनुभूति से प्रमोद की। इनकी अभिव्यक्ति मानव प्राणी ही कर सकता है और उसके पास इसके लिए साधन हैं ये उसकी दश अंगुलियां। मोद-प्रमोद की अवस्था में मनुष्य नाच उठता है। उसका अंग-अंग जहां नाचता है, वहां दश अंगुलियां विभिन्न प्रकार की मुद्राएं दिखाकर हर्ष की अभिव्यक्ति करती हैं। मोद-प्रमोद का साधन दशांगुलियां एकमात्र व्यक्ति-पुरुष को ही प्राप्त हैं। सर्वातिशायी पुरुष में न इच्छा है, न द्वेष; न ग्रहण है न त्याग और न स्पर्श, न अस्पर्श; तव मोद और प्रमोद ही कहां होंगे ? उनकी अभिव्यक्ति का साधन दश अंगुलियां भी क्यों होंगी ? इसलिए कहा कि वह दशांगुल का अतिक्रमण करके ठहरता है।

दशांगुल और रक्षा तथा आक्रमण—

जहां दशांगुल का तात्पर्यार्थ ग्रहण करना और त्याग करना, स्पर्श करना और स्पर्श न करना, मोद और प्रमोद आदि हैं; वहां इसका एक तात्पर्यार्थ रक्षा करना [defence] और आक्रमण करना [offence] भी हैं। दो व्यक्यिों में जव युद्ध होता है तो प्रत्येक अपनी रक्षार्थ दो स्थितियां वना लेता है—एक रक्षा की और दूसरी आक्रमण की। ये दोनों ही क्रियाएं हाथों से सम्भव हैं, और हाथों की जिस शब्द से सूचना दी गई है वह शब्द है—'दशांगुल'। सर्वातिशायी पुरुष को न किसी से रक्षा करनी है और न किसी पर आक्रमण ; न कोई उसका शत्रु है, न मित्र ; न कोई उससे वढ़कर है, न उससे वलवान्; अतः न उसे हाथों की आवश्यकता है, न अंगुलियों की। इसलिए कहा कि 'वह दशांगुल का अतिक्रमण करके ठहरता है।

जैसा कि लिखा जा चुका है कि ताण्ड्य ब्राह्मण में पुरुष को वीसा कहा गया है। वीसा कहे जाने का कारण पुरुष के हाथ और पैरों की दस-दस अंगुलियां हैं। ये कर और चरण दशांगुल पुरुष के लिए महत्त्व-पूर्ण हैं। आचार संहिता की उपयोगिता इन्हीं के कारण है। 'आश्रम' एवं 'वर्ण-धर्म' इन पर निर्भर हैं। चारों में से आद्यन्त आश्रम चर से [चलने से] सम्बद्ध हैं : ब्रह्मचारी ब्रह्म की तलाश में चला और परिव्राट् घर-घर ब्रह्म का संदेश सुनाने चला। जहां दश अंगुलियों वाले हाथों से **करने** की वात है, वहां दश अंगुलियों वाले पैरों से **चलने** की वात है। विश्व को जड़ और जंगम, अचर और चर इन दो भागों में विभक्त किया है जिन्हें चरण प्राप्त नहीं वे अचर और जिन्हें चरण प्राप्त हैं वे चर हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण में '**रोहित**' के मिष से यह उपदेश 'दशांगुल पुरुष' को दिया है—'**चरैवेति चरैवेति** ; क्योंकि सोए रहना कलियुग है, जग जाना द्वापर है, खड़े हो जाना त्रेता है, और चल पड़ना सतयुग है। दशाङ्गुल पुरुष को चरण इसलिए मिले हैं कि वह सदैव अभीष्ट प्राप्ति के लिए चलता रहे और सतयुग का विधाता वने और अपने करों द्वारा कृतयुग का विधाता वने। आज मनुष्य वीहड़ वन में, पर्वतों की दुर्गम घाटियों में, और ऊंची-ऊंची चोटियों पर पहुंच पाया है, तो वह अपने पथिकृत पूर्वजों के दशांगुल चरणों द्वारा बनाई गई पगडंड़ियों के कारण ही तो। विश्व के राष्ट्रों में वने हुए महापथ [महानगर] इन दशांगुल चरणों [करों] का परिणाम हैं। सर्वातिशायी को तो—**न तस्य कार्यं करणंच विद्यते।**

पैरों से ही व्यक्ति **क्रम-विक्रम** करता है। जब व्यक्ति युद्ध में जाता है तो जहां दशांगुल हाथ **सुरक्षा और आक्रमण** का कार्य करते हैं, वहां दशांगुल चरण क्रमण प्रदान कर सहयोग करते हैं। इसी प्रकार जब व्यक्ति विशेष-क्रमण करना चाहता है और ऊंची चोटी पर चढ़, अपनी ध्वजा गाड़ना चाहता

---

१. यजु० २०.६

है, तब भी ये दशांगुल चरण ही सहयोगी बनकर उसे वहां पहुंचाते हैं। दशांगुल रहित-व्यक्ति इस कार्य में असमर्थ होगा। इस क्रम और विक्रम की अपेक्षा भी 'व्यक्ति पुरुष' को है 'सर्वातिशायी पुरुष' को नहीं।

गमनामन भी दशांगुल पैरों से ही साध्य है। कुष्ठ का रोगी [जिसके पैरों की अंगुलियां गल जाती हैं] बिना किसी के सहयोग के गमनागमन नहीं कर सकता। इस प्रकार गमनागमन के साधनभूत दशांगुल-रूप इन पादद्वय की आवश्यकता 'व्यक्ति पुरुष' को ही है, सर्वात्मा पुरुष को इनकी आवश्यकता नहीं। इसलिए कहा कि 'वह दशांगुल का अतिक्रमण करके ठहरता है'।

ये दशांगुल पाद जहां गतियों के प्रदाता हैं, वहां स्थिति के भी। बिना स्थिति के गति असम्भव है : व्यक्ति जब एक पैर गति के लिए उठाता है तो दूसरे पैर को स्थिति में रखता है। ऐसा न करने पर वह अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकता। गति-स्थिति की आवश्यकता दशांगुल पुरुष को सदैव रहेगी; सर्वातिशायी इससे भी निरपेक्ष है।

दशाङ्गुल के व्यञ्जित अर्थ

'दशांगुलम्' दश इन्द्रियों का वाचक—

'दशांगुलम्' का अभिव्यंजित अर्थ दश-संख्यात्मक ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां भी है। 'व्यक्ति-पुरुष' इन दसों इन्द्रियों के आश्रित ठहरता है जबकि सर्वातिशायी पुरुष, इन्द्रियातीत होकर, इनका अतिक्रमण करके, ठहरता है।

'दशांगुलम्' पंचभूत और पंचतन्मात्र का वाचक—

प्रकृति के पंचमूल भूत पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश तत्त्व और इनकी **गंध, रस, रूप, स्पर्श** और **शब्द** रूप **पंच तन्मात्राएं** 'दशांगुल' है 'व्यक्ति-पुरुष' पंचभूत और पंच-तन्मात्राओं में आवद्ध है जबकि 'सर्वातिशायी पुरुष' ईनका अतिक्रमण करके ठहरता है।

'दशांगुलम्' दश दिशाओं का वाचक—

दशांगुल शब्द का व्यंजित अर्थ दश दिशाएं भी है। दिशा को दिशा इसलिए कहा जाता होगा कि उस ओर अंगुली उठाकर निर्देश किया जाता है।[3] सम्भवतः इसीलिए तर्जनी अंगुली का नाम निर्देशिका पड़ गया। काल और देश में से स्थान [देश] को यदि निर्दिष्ट करना हो तो अंगुली से ही निर्दिष्ट किया जाता है और वह दसों ओर किया जाता है। दिशा के ये दस प्रकार के भेद भी दशांगुल पुरुष की अपेक्षा से हैं। 'दशांगुल पुरुष' जिस केन्द्र पर अवस्थित है उस केन्द्र से, अभीष्ट दिशा का बोध हाथ अथवा अंगुलियों से किया जाता है। दिशाबोध होने पर ही 'दशांगुल पुरुष' गमनागमन, क्रमविक्रम आदि क्रियाऐ करता है। सर्वातिशायी पुरुष को इस प्रकार दिशाबोध अथवा दिशाभेद की कोई आवश्यकता नहीं। दशांगुल पुरुष देश-**बद्ध** है और सर्वातिशायी देश**मुक्त**।

'दशाङ्गुलम्' काल का वाचक—

जिस प्रकार दिशाओं की संख्या दश है उसी प्रकार काल के भी भेदोपभेद दश ही हैं। जहां दशांगुल से दिशा और देश का ग्रहण किया जाता है वहां काल का भी ग्रहण किया जाता है। काल

---

१. इनके आधार-रूप भाष्यकारों के अर्थ पूर्व दिए जा चुके हैं।

२. **दश दिशः**। जै० ब्रा० ३.३७२ श० ब्रा० ६.३.१.२१; ८.४.२.१३;
शक्वरीरङ्गुलयो दिशश्च। तै० सं० ४.७.६.१

३. यास्क ने भी लिखा है—**'दिक्-हस्त-प्रकृतिः'** निरु० १.७

का अर्थ है संख्यानन लोग जिसकी सदैव गणना करते हैं—संख्यानन करते हैं। कर्मात्मा पुरुष को इसकी गिनती करने के लिए दश अंगुलियां मिली हुई हैं। अतः दशांगुल पुरुष की अपेक्षा से ही देश और काल की गणना है, सर्वातिशायी की अपेक्षा से नहीं—**कालः कलयतामहम्**[१] वह तो देशातीत एवं कालातीत है।

भूमितत्त्व—

पुरुष-सूक्त में निविष्ट दार्शनिक तत्त्वों में भूमितत्त्व का विशिष्ट स्थान है। इस तत्त्व का दार्शनिक विवेचन करने से पूर्व हमें 'भूमि' शब्द के अर्थ तथा उसके निर्वचन के सम्वन्ध में थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिए।

भूमि शब्द के विविध अर्थ, (निर्वचन और व्याकरण)—

वैदिक ऋचाओं में भूमि शब्द वहुत प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद [१२. १] का भूमिसूक्त प्रसिद्ध ही है। भूमि का महत्त्व वताते हुए वहां कहा गया है—**'भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयाऽन्नेन मर्त्याः** [मं० २२]'—भूमि पर ही मानव अन्न आदि के द्वारा जीवन व्यतीत करते हैं। **'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता'** [मं० ५२]—वर्षा से यह विस्तीर्ण भूमि आवृत हो जाती है। **'शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोघ्नी पयस्वती भूमिरधिब्रवीतु मे'** [मं० ५९]—शान्त वातावरण वाली, सुगन्धभरी, सुखदायिनी, अन्नपूर्णा, और रसवती यह भूमि हमें समर्थ बनावे। **'भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे'** [मं० ४२]—पर्जन्य से पाल्यमान और वर्षा से स्निग्ध इस भूमि के प्रति हमारी नति हो—हमारी प्रवृत्ति हो। इन वैदिक उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि, इन स्थलों पर, यह **दृश्यमाना पृथिवी** ही 'भूमि' शब्द से अभिहित है। सायण ने अथर्व भाष्य में पृथ्वी को भूमि माना है।[२] स्वामी दयानन्द भी इस दृश्यमान **भूगोल** को भूमि मानते हैं।[३] इन सब प्रसंगों में प्रयुक्त भूमि शब्द का निर्वचन-**'भवन्ति भूतानि [प्राणिनः पदार्थाश्च] यस्यां [सा भूमिः]'** इस प्रकार संगन्तव्य है। वाचस्पत्याभिधानकार ने भी—**'भवन्त्यस्यां भूतानि'**—ऐसा निर्वचन किया है। ये दोनों निर्वचन अधिकरणार्थक हैं। काठकसंहिता [८.२]में भूमि का निर्वचन **कर्त्रर्थक** किया है—**'यद् भवत तद् भूमिः'**। इसका समर्थन ताण्ड्यब्राह्मण से होता है—**'अभूदिव वा इदमिति तद् भमेर्भूमित्वम्**[४]। इन निर्वचनों के अनुसार सत्तार्थक 'भू' धातु से औणादिक[५] **मि** प्रत्यय करने पर भूमि शब्द निष्पन्न होगा।

सायण ने इस **ब्रह्माण्डगोलक** को भूमि कहा है[६]। यजुर्वेदभाष्कार महीधर भी सायण का ही अनुसरण करता है।[७] तदनुसार, **'भवन्ति लोका लोकान्तराणि वा यस्यां सा भूमिः'** [भू+मि] यह निर्वचन होगा।

अथर्ववेद [१२.१] के भूमिसूक्त में कहा है-**'नाना वीर्या औषधीर्या बिर्भात**[मं०२]—यह भूमि विभिन्न प्रकार के सामर्थ्य वाली औषधियों का भरण=धारण-पोषण करती है। **'ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीम्'**

---

१. गीता ११.

२. **भूमिः सर्वप्राणिभिरधिष्ठिता पृथ्वी**। अथर्व० ६. १८. २। सा० भा०

३. **भूमिं भूगोलकम्**। स्वा० द०। य० भा०३१.१ ४. ता० ब्रा० २०.१४.२॥

५. **भुवः कित्**। उ० को० ४.४५॥

६. **भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपाम्**। सा०। ऋ० भा० १०.९०.१

७. **भूमिं ब्रह्माण्डलोकरूपाम्**। मही०। य० भा० ३१.१

[मं० २९], **या बिर्भात बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिः'** [मं० ४], **'वैश्वानरं बिभ्रती भूमिः'** [मं० ६], **'निधिं बिभ्रती'** [मं० ४४], **'जनं बिभ्रती'** [४५], **'मल्वं बिभ्रती'** [मं० ४८] इस प्रकार के अनेक स्थल हैं जहां भूमि को विविध पदार्थों का भरण=धारण एवं पोषण करने वाली कहा है। भूमि शब्द के साथ भृञ् धातु के आख्यात- पदों तथा विशेषण-पदों के प्रयोग-बाहुल्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भूमि की एक महती विशेषता 'भरणात्मकता' है और अतएव धारण पोषणार्थक 'भृ' धातु के साथ 'भूमि' शब्द का सीधा सम्बन्ध है। एवं च 'भूमि' पद का-**'बिर्भात=धरति [=धारयति] पुष्णाति वा प्राणिनो विविधान् पदार्थांश्च या सा भूमिः'** यह निर्वचन उपयुक्त होगा। **'डुभृञ्** धातु से औणादिक [बाडुलक् पद्धति से] **'विमन्'** प्रत्यय, **'उदोष्ठ्यपूर्वस्य'**[1] से ऋ को उत्व, **पृषोदरादित्वात्**[2] रेफ का लोप तथा उकार को दीर्घ करने पर 'भूमि' शब्द निष्पन्न होगा। भूमि शब्द का यह उपर्युक्त निर्वचन, शब्द-निर्वचन है और तदनुसार ही प्रकृति प्रत्यय योजना की गई है। इस शब्द–निर्वचन का समर्थन वैदिक ऋचाओं में इंगित अर्थ निर्वचनों से भी होता है। उसी भूमि-सूक्त में **'बलं राष्ट्रे दधातु'** [८]-वह भूमि हमारे राष्ट्र में बल का आधान करे। **'सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु'** [मं० २२]–वह भूमि हममें प्राण और आयु को धारित करे। **'सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु'** [मं० ३], **'भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु'** [मं० ४] **'भूमे मातर्निधेहिमा'** [मं० ६३] इस प्रकार के पुष्कल प्रयोग भूमिसम्बद्ध स्थलों में हैं। यहां **'भृ'** धातु के अर्थ को ही तदर्थवान् अन्य धातु **'धा'** ['डुधाञ्'] से प्रकट किया गया है। इस अर्थ-निर्वचन से 'भूमि' पद के 'भृ' धातु वाले शब्द–निर्वचन की पुष्टि स्पष्ट रूप से सिद्ध है"।

"पुरुषसूक्त[3] में **'पद्भ्यां भूमिः'** कहकर भूमि का पाद के साथ सम्बन्ध बताया है। पाद का एक प्रमुख कार्य मान करना=मापना है। वामनरूप विष्णु के त्रेधा पदनिधान के द्वारा इस विश्व का विक्रमण प्रसिद्ध ही है[4]। अथर्ववेद[5] में कहा है—**'यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'**॥ यहां भूमि को ज्येष्ठ ब्रह्म का पाद बताते हुए **'प्रमा'** शब्द का प्रयोग किया है। भूमि को सीधा पाद न कह कर 'प्रमा' कहा है। इसी प्रकार **भूमि** को 'माता'=**मान-कर्त्री** कहा है—**'माता भूमिः पुत्रोऽहम्'**[6], **'भूमे मातर्निधेहिमा'**[7]। तदनुसार भूमि शब्द का निर्वचन होगा-**भूः सत्ता मीयतेऽनया सा भूमिः'** [**भवनं** भूः भू+क्विप्, भूः उप पद के रहने पर **'माङ् माने'** धातु से बाहुलक, करणार्थ में **कि** प्रत्यय]–भूः=सत्ता मापी जाती है जिससे वह भूमि है। इस निर्वचन के अनुसार यह दृश्यमान पृथ्वी तो भूमि है ही, अन्य वे सभी वस्तुएँ भी भूमि कहलायेंगी जिनसे किसी की सत्ता का मान=माप=निर्धारण हो, जैसे किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना=भूमिका=भूमि।

उपरिर्चाचत 'भूमिसूक्त' में भूमि को **'भूतस्य भव्यस्य पत्नी'** कहा है। वह 'भूत—भूतकालस्थ =जातमात्र और भव्य=भविष्यत्कालस्थ=जनिष्यमाणमात्र की रक्षिका—पालनकर्त्री—मानप्रदा है। वेद के इस इंगित के अनुसार—**भुवो=भूतभविष्यत्कालस्थस्य पदार्थमात्रस्य मिः=मानयित्री=पाल-यित्री भूमिः** [भूतं भूः अथवा भविष्यत् भूः भूतकालार्थ में अथवा भविष्यत्कालार्थ में भू धातु से **'क्विप्,'**

१. अष्टा० ७.१.१०२
२. अष्टा० ६.३.१०९
३. ऋ० १०.९०.१४
४. **इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्**।......॥ ऋ० १. २२.१७
५. अथर्व० १०. ७.३२
६. अथर्व० १२.१.१२
७. अथर्व० १२. १. ६३

मानयति सम्मानयति=पालयति रक्षतीति मिः, माङ् माने से भाव में बाहुलकात् **'कि'** प्रत्यय, **भुवः मिः=भूमि**] इस निर्वचन के अनुसार यह दृश्यमान पृथिवी तथा कारणात्मिका प्रकृति दोनों भूमि शब्द से अभिधेय होंगी।

रामानुजाचार्य ने **प्रकृति** को भूमि कहा है[1]। तदनुसार उन्होंने एक सुन्दर निर्वचन भी दिया है—**'भूयते सर्वं यया सा भूमिः** प्रकृति'[**भू+मि**]। स्वामी दयानन्द ने भी वेदभाष्य में एकत्र ऐसा ही अभिप्राय प्रकट किया है।[2] अहिर्बुध्न्यसंहिताकार ने भी **जगदुपादानभूत भूमिशक्ति** को भूमि कहा है।[3]

मंगलाचार्य ने भूर्भुवःस्वरात्मक त्रिलोकी को भूमि कहा है[4]। उस अवस्था में **भूः=भूःप्रधानं भूर्भुवः स्वरात्मकं त्रैलोक्यं भूः तदेव भूमिः** [भूः प्रातिपदिक से स्वार्थ में **मि** प्रत्यय]; अथवा **भूः=भूप्रधानं भूर्भुवः स्वरात्मकं त्रैलोक्यमङ्गाङ्गिभावेनास्यामस्तीति भूमिः** [भूः प्रातिपदिक से मत्वर्थ में बाहुलक मिन् प्रत्यय] यह निर्वचन संगत होगा।

पुरुषसूक्त के एक अज्ञातनामा भाष्यकार ने भूमि पद का अर्थ **'जाग्रत् स्वप्नसुषुप्ति'** किया है[5]: भाष्यकार ने अपने अर्थ की पुष्टि में हेतु देते हुए कहा है—"क्योंकि शास्त्र में भूमा शब्द व्यापक के अर्थ में प्रयुक्त है और जो भूमा है वही भूमि है, अतः भूमि शब्द **'व्यापक'** वाची है। **किं च जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्ति** अवस्थाएं आकीटकुरङ्गमातङ्ग समस्त प्राणियों में व्याप्त हैं, अतः ये अवस्थाएं ही भूमि-शब्द-वाच्य हैं।" उक्त भाष्यकार के अभिप्रायानुसार-भूमि शब्द की निष्पत्ति **'भूमा'** [=भूमन्] शब्द से होनी चाहिए—**भूमा=बहुत्वं=व्याप्तिः सर्वेषु प्राणिषु यस्याः साऽवस्था भूमिः** [**बहोर्भावः भूमा, बहु+इमनिच्,**[6] बहु को भू भाव और प्रत्यय के आरम्भ के इ का लोप[7]—भूमन्, भूमन् से मत्वर्थ में बाहुलक **डिन्** प्रत्यय-भूमिः]।

भूमि शब्द के अर्थनिर्वचन सम्बन्धी इस संक्षिप्त ऊहापोह से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि भूमि शब्द न्यूनातिन्यून छः अर्थों में प्रयुक्त होता है—१. **दृश्यमान पृथिवी,** २. **ब्रह्माण्ड** ३. **त्रिलोकी** [भूः भुवः स्वः], ४. **प्रकृति,** ५. **जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति नामक अवस्था—त्रय** और ६. **भूमिका।**

भूमि प्रतिष्ठा है—

ब्रह्माण्ड की प्रतिष्ठा **पुरुष** से है, पुरुष की प्रतिष्ठा **पुर** से है, पुर की प्रतिष्ठा **दशांगुल** पर अवलम्बित है और दशांगुल की प्रतिष्ठा **भूमि** है। सृष्टि-रचना में जैसे ही दशांगुल पुरुष का आविर्भाव

---

१. **भूमि शब्दः सर्वकारणीभूत प्रकृतिमारभ्य भूमिपर्यन्त—कार्यवाचकः। भूयते सर्वं यया सा भूमिः प्रकृतिः** ॥ पु० सू० भा०।

२. **[भूमिरिति] भूतानामुपलक्षणम्। भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्।** स्वा० द०। ऋ० भा० भू० [सृष्टिविद्याविषय] पृ० ४०४

३. **भूमिः जगदुपादानं भूमिशक्तिरिहोच्यते।** अहिर्बुध्न्यसंहिता—पुरुषसूक्तभाष्य। ह० ले० ६२३ अड्यार लाइब्रेरी।

४. **भूमिं भूशब्दोपलक्षितभूर्भुवः स्वराख्यत्रैलोक्यमित्यर्थः।** पु० सू० भा० १।

५. **भूमिशब्देन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयोग्राह्याः, कुत इति चेद् भूमा व्यापक इति श्रुतेरर्थः स भूमा भूमिः** ह० ले० ६१५ अड्यार लाइब्रेरी। पु० सू० भा० १।

६. **पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा।** अष्टा० ५.१.१२२॥

७. **बहोर्लोपो भू च बहोः।** अष्टा० ६.४.१५८॥

हुआ कि उसने स्वयं को भूमि की गोदी में पाया। जैसे ही चलने के लिए अपने चरण रखे तो भूमि 'प्रतिष्ठा' बनी। भू-प्रतिष्ठा, सृष्टि-रचना की नित्य-घटना है। इसलिए भूमि का, जन के साथ, माता और पुत्र का सम्बन्ध है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में इसी सम्बन्ध को **'माता भूमिः पुत्रोऽहम्'**[1] मन्त्र चरण द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी नाते कहता है—'हे मां मुझे सुप्रतिष्ठा दे।'[2] प्रतिष्ठा पद में संलग्न **'सु'** उपसर्ग प्रतिष्ठा की महत्ता को द्विगुणित कर देता है—'हे मां तेरे पुत्रों के दाहिने और बाएं पांव ऐसी दृढ़ता से जमें कि वे लड़खड़ाएं नहीं'[3] 'तेरा आश्रय लेते हुए हमारे पैरों में कहीं ठोकर न लगे।'[4]

भूमि को प्रतिष्ठा देना दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से कितना उपयुक्त है। महाभारत शान्तिपर्व में वर्णित **स्थैर्य, गुरुत्व और स्थापना**[5] तीनों गुणों को अथर्ववेद के एक शब्द 'प्रतिष्ठा' में संगृहीत किया गया है। भूमि के प्रतिष्ठा गुण को दिखाने के लिए 'भूमि-सूक्त' में **'स्था'** धातु का प्रयोग लगभग आठ बार हुआ है। भूमि की यह प्रतिष्ठा कुछ व्यक्तियों के लिए ही नहीं है, अपितु विश्व-भर के जनों के लिए है। इसीलिए इसे इन विशेषताओं से विभूषित किया गया है—**'विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्य-वक्षा जगतो निवेशनी'**[6]—विश्व-भर का भरण करने वाली, रत्नों की खान, हिरण्य से भरी हुई हे मातृ-भूमि! तुम जगत् की निवेशनी हो। हर प्राणी तेरी गोदी में ही प्रथम सांस लेता है। तेरी उपस्थ अनामय है।[7]

भूमि 'विष्ठा' है—

यह भूमि अत्यन्त महती है। इसकी संज्ञा **'सधस्थ'** [सह+स्थ] है अर्थात् यह सबकी समान पितृभूमि है जहां सब मिल जुलकर एक साथ रहते हैं। इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है।[8] द्विपाद् पुरुष के लिए जहां यह भूमि 'प्रतिष्ठा' है, 'उपस्थ' है, 'सधस्थ' है, वहां—द्विपाद् पक्षियों के लिए 'विष्ठा' है। जहां द्विपाद् पक्षी अपने चरण भूमि पर निःशंक होकर टिकाता है, वहां आकाश में दोनों पखों को फैलाता है उड़ान भरता है। इस विशेष स्थिति का कारण भी भूमि का गुरुत्वाकर्षण ही प्रतीत होता है। पक्षी को विश्राम लेने के लिए भूमि पर पुनः लौटना होता है। उसमें भी पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण सहयोगी है। इस लिए भूमि पक्षी के लिए 'प्रतिष्ठा' भी है और 'विष्ठा' भी।

'भूमि पर रहने वाली पशु-सम्पत्ति भी मनुष्य के लिए उतनी ही आवश्यक है जितने की हवा,

---

१. अथर्व० १२. १. १२
ब्राह्मण में कहा भी है—
'मातेव वा इयं मनुष्यान् बिभर्ति'। शत० ब्रा० ५.३.१.४
२. **भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।** अथर्व० १२.१.६३
३. **पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्।** अथर्व० १२.१.२८
४. **मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः।** अथर्व० १२.१.३१
५. **भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता।**
गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातः स्थापना धृतिः॥ म० भा०। शा० पं० २५४.३
६. अथर्व० १२. १. ६
७. **'उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा......'** अथर्व० १२.१.६२
८. **महत् सधस्थं महती बभूविथ।** अथर्व० १२.१.१८

जल, अन्न इत्यादि। यह पृथिवी गौवों, अश्वों, पक्षियों के निवास का अलग-अलग विशिष्ट स्थान है।[1]

मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा के लिए भूमि पर विशाल गगनचुम्बी भवनों का निर्माण करता है जो उसकी प्रतिष्ठा का कारण हैं। परन्तु द्विपाद् पक्षी अपना नीड वृक्षों और झाड़ियों पर बनाता है। भूमि उन वृक्ष-वनस्पतियों की भी प्रतिष्ठा है। ऐसी प्रतिष्ठा कि वे एक स्थान पर बद्धमूल रहते हैं। वृक्ष और वनस्पति भी मनुष्य की भांति पृथिवी के पुत्र हैं, और यहां स्थिर भाव से खड़े हैं। यह पृथिवी सम्पूर्ण ओषधियों को उपजाने वाली माता है।[2]

भूमि गृभि है—

वर्षा ऋतु में ओषधियों की बाढ़ से पृथिवी का शरीर ढक जाता है। षड्-ऋतुओं के चक्र में ये ओषधियां पक कर मुरझा जाती हैं। तब उसके बीज इसी धरती में समा जाते हैं। **पृथ्वी** उन बीजों को सम्भाल कर रखने वाली **धात्री** है। **भूमि-सूक्त** में कहा भी है—**'गृभिरोषधीनाम्'**[3]। महाभारत ने इस के इसी गुण के कारण इसे **प्रसवात्मिका** कहा है, लेकिन वेद ने **'गृभि'** पद में दोनों ही धर्मों को समेट लिया है। **प्रसवात्मिका** कहने में उसकी **धारणात्मिका** शक्ति का संकेत नहीं मिला, लेकिन **'गृभि'** शब्द इन दोनों को अभिव्यक्त करता है। एतत् गुण के कारण उसकी गोद में अपार कृषि-सम्पत्ति अन्तर्गर्भित है, जिससे मनुष्य और पशु अपना सहज जीवन-निर्वाह चलाते हैं। जौं, चावल, गेहूं, मटर, मूंग, उड़द, मक्का, ज्वार के रूप में भूमि माता अपने पुत्र को पयः पान कराने के लिए अपने स्तनों में दूध भर लाती है। तब इस धरती पर बसा हुआ प्रत्येक पुत्र ऋतु-ऋतुमें पुकार उठता है **'सा नो भूमिः—विसृजतां माता पुत्राय मे पयः'**।[3] अपना भरण पोषण होता देख जन-जन भूमि के साथ मां का नाता समझने लगता है। माता-पुत्र के सम्बन्ध की अनुभूति, राष्ट्रीयता की सबसे दृढ़ नींव है। भूमि का यह रूप अत्यन्त अभिप्रेरक है: यह पृथिवी कोरा मिट्टी पत्थर का ढेर नहीं। इसकी कुक्षि से अनेक प्रकार की शक्ति की धाराएं निकलती हैं। इसकी अनन्त धाराओं में विश्वम्भर सामर्थ्य है कि जिसके कारण उसे विश्वम्भरा कहा है।

सृष्टि के आदि में यह भूमि ही थी जिसने सम्पूर्ण बीजों को संजोए रखा और समय आने पर उन्हें प्रकट किया। भूमि ने न केवल वनस्पतियों को ही अपने गर्भ में रखा, अपितु आदि-मानव को भी अपने इस गर्भ में रखा और उसे समस्त क्रियाओं को करने योग्य बनाया। वेद में इसी कारण इसको **[विश्वधायस्]**[4] कहा है। इसका **'गृभिः'** विशेषण भी न केवल ओषधियों को ही अपनी क्रोड में रखने के कारण है, अपितु इस ओर भी संकेत है कि आदि-सृष्टि में उसने अनेक **'पुरों'** को अपने में धारण किए रखा। इसका और भी स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद ६।१६ में हुआ है। सायण ने इन मन्त्रों का विनियोग नव-वधू के आशीर्वाद में किया है—

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सक्तिवे।[5]

जिस पर सायणभाष्य द्रष्टव्य है—**मही महती-इयं परिदृश्यमाना पृथिवी भूतानां भूतजातानां प्राणिनां गर्भम् आदधे धारयति। पार्थिव शरीरोपादानभूतं गर्भं......बिभर्तीत्यर्थः।'**......

---

१. **गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा।** अथर्व० १२.१.५

२. **विश्वस्वं मातरमोषधीनाम्।** अथर्व० १२.१.१७ अथर्व० ३-१२-१-५७

३. अथर्व० १२.१.१० ४. अथर्व० १२.१.२७ ५. अथर्व० ६.१७.१

अर्थात् यह जड़ दिखाई देने वाली पृथिवी प्राणियों के गर्भ को धारण करती है।...हे कन्या तेरा गर्भ भी पृथिवीवत् दृढ़ हो अर्थात् जैसे पृथिवी गर्भ को भली प्रकार धारण करने वाली हुई, उसी प्रकार तू भी हो।

इस मन्त्र में, जिसे भूतों के पार्थिव शरीरों का उपादान-भूत गर्भ कहा है, उसे ही अथर्ववेद में अन्यत्र **ओदन**[1] कहा है जिसका एक विशेषण **'लोकानां विधृतिः'**[2] है, उसे ही अथर्व ने **'सर्वांगः'** **'सर्व-परुः'** और **'सर्वंतनूः'**[3] कहा है। उस ओदन को पकाने के लिए **पृथिवी कुम्भी** का कार्य करती है और तब सूर्य उसका अपिधान=ढक्कन बनता है।[4]

वेद में यहां सृष्टि-उत्पत्ति विषय का बहुत ही वैज्ञानिक वर्णन है। सर्गारम्भ में इस प्रकार की रासायनिक क्रियाएं हुई होंगी जिससे कि पृथिवी में गर्भ सुखेन परिपक्व होते होंगे। [पुरुष-सूक्त में इसी तत्त्व को **'पृषदाज्य'** कहा है जिसका वर्णन आगे करेंगे]।

पुरुष-सूक्त में भूमि शब्द का द्विः प्रयोग—

भूमि शब्द पुरुष-सूक्त के **दो** मन्त्रों-**प्रथम** और **पंचम** में प्रयुक्त हुआ है। **पंचम** मन्त्र में आया हुआ **भूमि** शब्द स्पष्ट ही इस **पृथिवी** का वाचक है क्योंकि लिखा है—**"पश्चाद्भूमिमथो पुरः"**। भूमि के पश्चात् पुर-पिण्ड बने। प्रथम मन्त्र में आया हुआ **भूमि** शब्द इस पार्थिव भूमि की भी **भूमि** की ओर इंगित कर रहा है। **पंचम** मन्त्र की **भूमि,** जब पंचभूतों की सृष्टि का पूर्णतः निर्माण हो चुका, उस भौतिकी अवस्था वाली भूमि प्रतीत होती है। दर्शन में पृथिवी के कहते ही समझा जाता है कि उससे पूर्व जल, तेज, और वायु का निर्माण हो चुका है। इस प्रकार पंचम मन्त्रगत भूमि यदि यह दृश्यमान पार्थिव भूमि हुई, तो प्रथम-मंत्रगत 'भूमि से उस अवस्था का वर्णन प्रतीत होता है, जबकि पंचभूतों के परमाणु सर्गोन्मुख हो रहे थे। इसी-लिए प्रथम मन्त्र में लिखा **'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'** यह महद् ब्रह्म **वायव्य, आग्नेय, जलीय** और **पार्थिव** परमाणुओं को घेर कर...। इससे स्पष्ट है कि प्रथम मन्त्रगत भूमि पंचममन्त्रगत **भूमि की भी भूमि है।**

भूमि को **प्रमा** भी कहा जाता है जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। अर्थात् जो उस [परमात्मा] की सत्ता को माप दे। इस प्रमा को उसकी महिमा स्थानीय कहा जा सकता है जिसका वर्णन तृतीय मन्त्र **'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः'** में हुआ है। महद्ब्रह्म के कामना करने, ईक्षण करने और तप करने का प्रथम परिणाम यह हुआ, कि समस्त प्रसुप्त प्रकृति-तत्त्व गति में आ गया जिसे अब तक महद् ब्रह्म ने सब ओर से घेर रखा था। सांख्य के शब्दों में इसे **साम्यावस्था** कहा जा सकता है। अब वह महान् की ओर उन्मुख हो रहा था। तृतीय मन्त्र में जिसे महिमा की संज्ञा दी गई है महान् का द्योतक है इस महान् तथा महिमा पर ही आश्चर्य नहीं वह तो **महान्** से भी **'ज्यायान्'** है। यह महान् तथा महिमा उसके एक चरण में हैं, परन्तु ये उन तीन चरणों का परिणाम है, जो द्युलोक में अमृत है और जिसे कामना, ईक्षण और तप रूप कहा जा सकता है। पंचम मंत्र में 'विराट् की उत्पत्ति का वर्णन है, सांख्य की परिभाषा में जिसे अहंकार कहा जा सकता है। 'विराट्' उस अवस्था का नाम है जिसमें पदार्थ

---

१. अथर्व० ४.३५.१ २. अथर्व० ४.३५.१

३. **एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।** अथर्व० ११.३.३२

४. अथर्व० ११.३.११

का व्यक्तित्व विशेषता राजमान हो जाए, उसका खुला रूप सामने आ जाए। अहंकार में भी वस्तु के 'अहं' का व्यक्तिकरण है वह अवस्था जिसमें प्रत्येक वस्तु का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाए। यहां तक कि भूमि अर्थात् पृथिवी का व्यक्तित्व भी स्पष्ट हो जाए। इसी बात को पंचम मन्त्रगत भूमि शब्द में कह दिया गया है। इसके पश्चात् आगे का सृजन-कार्य होता है।

[४] विराट् तत्त्व

पुरुष-सूक्त के दार्शनिक तत्त्वों में अन्यतम 'विराट्' तत्त्व का विवेचन करने से पूर्व उसकी व्याकरण-प्रक्रिया तथा उसके निर्वचन के विषय में विचार करना है। महर्षि यास्क ने निरुक्त[१] में विराट् शब्द के निर्वचन दिये हैं। यद्यपि यास्क कृत निर्वचन में 'विराट्' नामक छन्द को लक्ष्य में रख कर किये गये हैं तथापि वे निर्वचन 'विराट्' के ब्रह्माण्ड आदि अन्य अर्थों में भी पूर्ण सहायक हैं। अतः हम उनका अवलम्बन लेकर आगे चलते हैं।

व्याकृति निरुक्ति और अर्थ-प्रतीति—

यास्क ने 'विराट्' शब्द का तीन प्रकार का निर्वचन माना है। वे लिखते हैं—**विराड् [१] विराजनाद् वा [२] 'विराधनाद् वा [३] विप्रापणाद् वा'** अर्थात् विराजन के कारण, विराधन के कारण अथवा विप्रापण के कारण विराट् 'विराट्' कहलाता है। अब इन तीनों निर्वचन-हेतुओं का विश्लेषण करते हुए तदनुसारी विविध निर्वचनों तथा अर्थों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

[१] विराजनाद् विराट्—

इस प्रथम प्रकार में यास्क ने वि उपसर्गपूर्वक राजृ दीप्तौ[२] धातु और क्विप् प्रत्यय[३] के योग से विराज् शब्द सिद्ध माना है। यहां ज् को ष्[४] ष् को ड्[५] और विकल्प से ड् को ट्[६] हुआ है। वि उपसर्ग, विराट् शब्द के सभी निर्वचनों में प्रयुक्त हुआ है। वि उपसर्ग के पांच अर्थ प्रसिद्ध हैं—**विशेष, वैरूप्य, नञर्थ, गति और दान**।[७] इस उपसर्ग+धातु+प्रत्यय-योग के आधार पर किये गये, विभिन्न विद्वानों के निर्वचन और उनके अर्थ द्रष्टव्य हैं—

'विशेषेण राजते···इति विराट्'[८]—जो विशेष रूप से राजमान=प्रकाशित होता है वह ['आदि पुरुष परमात्मा'] विराट् कहलाता है। यह निर्वचन आलोच्य प्रायः सभी अर्थों में संगत हो सकता है।

परमात्मा—

अथर्ववेद[९] में कहा है—'विराट् प्रजापतिः'—वह प्रजा का [श्रेष्ठतम] स्वामी=परमेश्वर ही 'विराट् है। **'सृष्टिस्थ-समस्त-पदार्थेषु योगीजन-हृदयान्तरालेषु वा यो विशेषण राजते प्रकाशते स प्रजापतिः परमेश्वरो विराट्'** जो जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में अथवा योगियों के हृदयाकाशों में विशेष रूप से प्रकाशित होता है वह प्रजापति=परमात्मा विराट् है।

---

१. निरु० ७.१३
२. धा० पा० भ्वा० ग० ८०७
३. **क्विप् च**। अष्टा० ३.२.७६
४. **व्रश्च भ्रस्जसृज०** अष्टा० ८.२.३६
५. **झलां जशोऽन्ते०** अष्टा० ८.२.३९
६. **वावसाने**। अष्टा० ८.४.५६
७. श० क० को० 'वि' उपसर्ग।
८. वा० को०-विराट्' पद
९. ९.१०,२४

आचार्य सायण[1] लिखते हैं—**'विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्'** जिसमें विविध पदार्थ प्रकाशित होते हैं वह [परमात्मा] **'विराट्'** है।

भट्टभास्कर, अपने तै० आरण्यक के पुरुषसूक्तभाष्य में निर्वचन करते हैं—**'विविधं राजन्ते वस्तूनि यस्मिन् स विराट्'**—जिसमें वस्तुएं अनेक प्रकार से प्रकाशित होती हैं वह परमेश्वर 'विराट्' है।

स्वामी दयानन्द[2] ने ईश्वर के विविध नामों की व्याख्या करते हुए **'विराट्'** शब्द का निर्वचन किया है—**यो विविधं नाम चराचरं जगद् राजयति प्रकाशयति स विराट्'**—जो नाना प्रकार के जड़ चेतन संसार को प्रकाशित करता है वह परमात्मा विराट् है।

विद्यारण्य स्वामी[3] का निर्वचन है—**'विविधेन नानारूपेण राजत इति विराट्'**—जो नाना-रूपों में अध्यस्त हो रहा है वही ब्रह्म 'विराट्' है।

ब्रह्माण्ड—

स्वामी दयानन्द ने अपने यजुर्वेदभाष्य[4] में ब्रह्माण्ड को विराट् माना है—**'विविधैः पदार्थैः राजते प्रकाशते स विराड् ब्रह्माण्डरूपः'**—जो नाना पदार्थों से प्रकाशित-शोभित हो रहा है वह ब्रह्माण्ड विराट् है। इस बात की पुष्टि उनके ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका[5] के लेख से भी होती है—**'सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थैं राजमानः सन् विराट्'**[5]।

आचार्य सायण ने भी विराट् का अर्थ ब्रह्माण्ड किया है—**'विस्पष्टं राजत इति ब्रह्माण्ड देहः पुरुषो विराट्** - ब्रह्माण्ड-शरीर रूप जो पुरुष है वही विस्पष्ट रूप से प्रकाशित होने के कारण **'विराट्'** कहलाता है। सायण ने कहीं कहीं[7] ब्रह्माण्डाभिमानी देव को भी विराट् कहा है। यथा - **विराट् कृत्स्न-ब्रह्माण्डाभिमानी देवः।'**

'वाचस्पत्यम्' में भी विराट् के विभिन्न अर्थों में यह अर्थ भी है —**'ब्रह्माण्डात्मकस्थूलदेहा-भिमानिनि'** [विराट्]।

ब्रह्माण्ड को विराट् [विराट् पुरुष] मानने के आधार पर शंकरविजय[8] में इस ब्रह्माण्ड-रूप विराट् पुरुष के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन किया गया है।

मनः प्रजापतिः —

सायण ने अथर्ववेद-भाष्य [पुरुषसूक्त][9] में मनः संज्ञक प्रजापति को विराट् कहा है —**'विविधं राजन्ते वस्तूनि यस्मिन्निति स विराट् मनः संज्ञकः प्रजापतिः'**—जिसमें वस्तुएं नाना प्रकार से प्रकाशित होती है उस, **'मनः'** संज्ञावाले **प्रजापति** को **विराट्** कहते हैं।

वाक्—

वेद में **'विराड् वाक्'**[10] कहकर विराट् को वाणी का वाचक कहा है। **'विशेषेण राजते राजयति प्रकाशयति अन्धकारादिष्वपि वाच्यार्थान् या सा वाक् विराट्'**—जो अन्धकार आदि में भी वाच्यार्थों को स्पष्ट रूप से प्रकट करती है वह दैवी-वाक् विराट् कहलाती है।

---

१. ऋ० भा०। आ० सा० १०.९०.५
२. स० प्र०, प्रथम समुल्लास पृ० ९०
३. पंचदशी १.१५-१६
४. ३१.५
५. सृष्टिविद्या प्रकरण पृ० ४०६
६. तै० आ० १०.२२ [सा० भा०]
७. अ० भा० ११.५.२१, ११.७.१६
८. षष्ठ प्रकरण (श० क० को० से उद्धृत)
९. अथर्व० १९.६.९
१०. अथर्व० ९. १०. २४

पृथिवी—

अथर्ववेद[1] में 'विराट् पृथिवी' मन्त्रांश में पृथिवी को विराट् कहा है। इसकी पुष्टि कपिष्ठल-कठ-संहिता[2] के 'इयं पृथिवीवाव विराट्' इस वचन से भी होती है। **विविधैर्गिरिवनसमुद्रनद्यादिपदार्थैः प्राणिभिश्च राजते शोभते सा पृथिवी विराट्**—जो नाना प्रकार के पर्वत, अरण्य, समुद्र तथा नदी आदि पदार्थों से और प्राणियों से शोभित होती है वह पृथिवी 'विराट्' है।

अन्तरिक्ष—

'विराडन्तरिक्षम्'[3] इस वेदवाक्य में अन्तरिक्ष को भी विराट् बताया है। **'विविधानि लोकलोकान्तराणि राजन्ते शोभन्ते यस्मिन् तदन्तरिक्षमाकाशो विराट्'**—जिसमें विभिन्न लोकलोकान्तर विराजमान हैं वह अन्तरिक्ष=आकाश विराट् कहलाता है। अथवा **'विविधं राजन्ते मेघा वाय्वादयश्च यस्मिन् तदन्तरिक्षं=मध्यलोको विराट्'**— जिसमें मेघ और वायु आदि पदार्थ विविध रूपों-प्रकारों में विराजमान होते हैं, वह अन्तरिक्ष=मध्यलोक [द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य का अवकाश] विराट् है।

मृत्यु—

अथर्ववेद[4] में 'विराण्मृत्युः' कहकर मृत्यु को भी विराट् माना है। **'यः सर्वप्राणिषु संहारात्मक-स्वरूपेण सदा विस्पष्टं राजते प्रकाशते प्रकटीभवति' स मृत्युर्विराट्'**—जो सब प्राणियों में अपने मारक रूप में स्पष्टतः सदा प्रकट होता रहता है वह मृत्यु विराट् है।

छन्दोविशेष—

वैदिक छन्दों में एक विशिष्ट छन्द का नाम 'विराट्' है। इसी छन्दोविशेष के वाचक विराट् शब्द का निर्वचन यास्क ने **विराड् विराजनाद् वा**······'यह पुर्वोद्धृत वाक्य कहकर किया है। इस छन्द में **'विविधेषु छन्दःसु यद् विशेषेण राजते शोभते तच्छन्दो विशेषो विराट्'**—जो विविध छन्दों में अपनी विशिष्टता के कारण शोभित होता है वह 'विराट्' नाम का छन्द है।

स्वायम्भुव मनु—

मत्स्यपुराणकार ने स्वायम्भुव मनु का दूसरा नाम विराट् भी दिया है—**ततः कालेन महता तस्यं पुत्रोऽभवन्मनुः। स्वायम्भुव इति ख्यातः स विराडिति नः श्रुतम् ॥**[5]—स्वायम्भुव मनु विराट् नाम से प्रसिद्ध हुए। **'यः स्वविशिष्टेन तेजसा व्यराजत प्रकाशितोऽभवत् स मनुः [स्वायम्भुवः] विराट्'**—क्योंकि स्वायम्भुव मनु अपने विशिष्ट तेज के साथ प्रकाशित हुआ था अतः वह विराट् कहलाया।

क्षत्रिय—

वाचस्पत्य-कोषकार ने क्षत्रिय को भी विराट् कहा है—**'विशेषेण राजते 'राजृ दीप्तौ'। क्षत्रिय इत्यमरः। 'यः स्वदेहदीप्त्या शासनतेजसा वा विशेषेण राजते प्रजासु स क्षत्रियो विराट्**—जो अपने शरीर-तेज से अथवा शासनसन्दीप्ति से विशेष रूप से प्रजाओं में विराजमान है वह क्षत्रिय विराट् है। तत्र प्रमाणम्—[मनु० २-१६]

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥

---

१. ६.१०.२४। २. ४०.२। ३. अथर्व० ६.१०.२४
४. ६.१०.२४। ५. म० पु० ३.४४।

स्त्री—

स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद-भाष्य[1] में **स्त्री** को **विराट्** कहा है—'**विराड् या विविधासु [विद्यादिषु] राजते सा स्त्री**'—जो विविध विद्या आदि से राजमान होती है—विद्याओं से सुशिक्षित होती है वह स्त्री विराट् है। इसकी पुष्टि '**विविधैः पदार्थैः राजमाना [स्त्री] विराट्**'[2] इस वचन से भी होती है। जो नाना पदर्थों से प्रकाशित-युक्त है वह **स्त्री विराट्**-पदवाच्य है।

[२] विराधनाद् विराट्—

यास्क का दूसरा निर्वचन है '**विराधनाद् विराट्**'। **विशेषेण राध्नोति साधयति छन्दोविज्ञानस्य प्रयोजनं यत् तत् छन्दो विराट्**'—छन्दोविज्ञान के अभिप्राय को जो छन्द विशेष रूप से सिद्ध करता है वह छन्दोविशेष 'विराट्' कहलाता है। यहाँ **वि** उपसर्ग पूर्वक '**राध साध संसिद्धौ**'[3] धातु से पूर्ववत् **क्विप्** प्रत्यय, अनन्तर ध् के स्थान पर पृषोदरादि-पद्धति से ड् और उसको पक्ष में ट् करने से **विराट्** शब्द निष्पन्न होगा।

विराट् शब्द को राध् धातु के द्वारा निष्पन्न मानने पर भी उसके पूर्वोक्त परमेश्वर आदि अर्थ और उनके तदनुकूल निर्वचन संगत हो सकते हैं। यथा—'**यो विशेषेण राध्नोति साधयति सतामनुष्ठेयानीति विराट् परमेश्वरः**'—जो सज्जनों के सब मनोरथों को विशेष रूप से सिद्ध करता है वह परमेश्वर विराट् है।

[३] विप्रापणाद् विराट्—

यास्क का तीसरा निर्वचन है '**विप्रापणाद् विराट्**'। '**यद् विशेषेण प्राप्नोति प्रापयति वा स्वाभिधेयार्थे तच्छन्दो विराट्**'—जो छन्दो-विशेष अपने अभिधेयार्थ को विशेषरूप से प्राप्त होता है अथवा जो स्वाभिधेयार्थ को पाठकों तक विशेष-रूप से पहुंचाता है उसका अन्वर्थ नाम **विराट्** है। यहां वि उपसर्गपूर्वक राजृ धातु से पूर्ववत् क्विप् प्रत्यय करने पर विराट् शब्द निष्पन्न होगा। किन्तु व्याकरण के '**बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति**'[4] इस नियम के अनुसार '**राजृ**' धातु को **प्राप्ति-अर्थ** वाला भी माना गया है। अथवा वि और प्र उपसर्ग पूर्वक 'आप्लृ व्याप्तौ'[5] से पूर्ववत् क्विप् प्रत्यय तथा पृषोदरादि पद्धति-से प्राप् के स्थान पर राज् अथवा राट् आदेश करने पर विराट् शब्द सिद्ध होगा। यह तृतीय निर्वचन विराट् के परमेश्वर आदि अन्य अर्थों में भी संगतव्य है। '**यः स्वव्याप्त्या सर्वाणि भूतानि प्राप्नोति व्याप्नोति यद्वा यः सर्वप्राणिनः स्वस्वकर्मणां फलानि प्रापयति स परमात्मा विराट्**'—जो अपनी व्याप्ति से सब भूतों में प्राप्त=व्याप्त हो रहा है अथवा जो सब प्राणियों को उनके कर्मों का फल प्राप्त करा रहा है वह [परमात्मा] **विराट्-पद** वाच्य है।

इस तृतीय निर्वचन की पुष्टि, उपनिषद् के द्वारा भी होती है—'**यो ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिर्व्याप्नोति स विराट्**'[6]—जो ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर व्याप्त हो रहा है वह **परमेश्वर विराट्** है।

---

१. १३·२४। ('या विराट् स्त्री' अन्वय)
२. य० भा० १५.११
३. धा० पा० स्वा० ग० १६
४. पा० व्या० म० १.३.१
५. धा० पा० स्वा० ग० १४
६. रा० उ० उ० ३६

[४] विरमणाद् विराट्—

पूर्वोद्धृत यास्कोक्त तीन निर्वचनों के अतिरिक्त दैवत ब्राह्मण[1] में **'विराड् विरमणात्'** कहकर **'रमु क्रीडायाम्'**[2] धातु से भी विराट् शब्द निष्पन्न माना गया है। **वि** उपसर्ग पूर्वक **रमु** धातु से पूर्ववत् **'क्विप् पृषोदरादित्वात्** धातु की उपधा को दीर्घ और म् के स्थान पर ट् करने पर विराट् की सिद्धि होगी। तदनुसार—**यो विशेषेण रमते क्रीडति जगतः सृष्टिस्थितिप्रलयादिषु सहजतया प्रवर्तते स परमेश्वरो विराट्'** जो जगत् के सृजन, पालन और संहार आदि कार्यों में सहजतया रममाण है=प्रवृत्त है वह परमेश्वर 'विराट्-संज्ञावाच्य है।

इस प्रकार हमने विराट् शब्द के विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये निर्वचनों और अर्थों का अवलोकन किया। इस संकलन से यह स्पष्ट हो गया कि **विराट्** शब्द कम से कम निम्नांकित ग्यारह अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—[१] **परमात्मा**, [२] ब्रह्माण्ड, [३] मनःप्रजापति, [४] वाक्, [५] पृथिवी, [६] अन्तरिक्ष, [७] मृत्यु, [८] छन्दोविशेष, [९] स्वायम्भुव मनु, [१०] क्षत्रिय और [११] स्त्री।

विराट् और पुरुष-सूक्त—

सूक्त-गत दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन में अब विराट् का वर्णन अभीष्ट है। विराट् के खुले हुए जबड़े में से एक जबड़ा पृथिवी है और दूसरा जबड़ा द्यौः। भूमि रूप जबड़े का वर्णन हो गया। अब विराट् का विवेचन अभीष्ट है, क्योंकि **भूमि** की प्रतिष्ठा **विराट्** है। पुरुष-सूक्त में 'विराट्' वह तत्त्व है, जिसके माध्यम से सृष्टि की प्रक्रिया को प्रवर्तित किया गया है। सायण ने अथर्ववेदीय पुरुष-सूक्त के भाष्य में प्रधानतः तीन पुरुषों का वर्णन किया है। एक सर्वातिशायी पुरुष जिससे **विराट्** की उत्पत्ति हुई। दूसरा **'विराट् पुरुष'** और तीसरा **'विराट् पुरुष'** से उत्पन्न **'यज्ञ पुरुष'**। इस प्रकार **विराट्, पुरुष** शृंखला की मध्य कड़ी है।

पुरुष-सूक्त में न केवल उपर्युक्त तीन पुरुषों का ही वर्णन है अपितु अन्य पुरुषों का भी है। स्वयं सूक्त का प्रश्नकर्ता पूछता है कि **'यत् पुरुषं व्यदधुः' कतिधा व्यकल्पयन्।'**

विराट् पुरुष की कल्पना में कितने प्रकार के पुरुष कल्पित किए गए? उसके उत्तर में दो प्रकार के पुरुषों की स्थापना दी गई है—एक **समाज-पुरुष** दूसरा **सूर्यचन्द्रादि-निर्मित 'ब्रह्माण्ड-पुरुष।'** इनका वर्णन तो द्वितीय अध्याय **'सूक्त का संगति सूत्र'** में **'पिण्ड-ब्रह्माण्डोरैक्यम्'** का प्रतिपादन करते हुए हो चुका है। इन कल्पित पुरुषों की अनन्त इकाइयों को एक जगह संगृहीत किया जाए तो जो 'पुरुष' का स्वरूप [बीज] उभर कर आएगा—उसकी संज्ञा **'विराट्'** होगी। और ऐसे ही अनन्त **'विराट् पुरुष'**-रूप इकाइयों को एक जगह संगृहीत कर लिया जाए तो जो 'पुरुष'-रूप कल्पना में चित्रित होगा उसकी संज्ञा **'महद्-ब्रह्म'** होगी।

उदाहरणतः, किसी भी **राष्ट्र** की **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र रूप मुख-बाहु-ऊरु-पाद** अनन्त इकाइयां एक जगह संगृहीत हो जाएं तो वह राष्ट्र का **विराट्'** रूप होगा और इस प्रकार धरती पर बसे सभी **'राष्ट्र-विराट्'** एक जगह संगृहीत कर लिये जाएं तो वह **पुरुष महद् ब्रह्म** होगा। इसी प्रकार **ब्रह्माण्ड के द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी रूप शीर्ष, उदर और चरण** को एक इकाई मान लिया जाय और ऐसी ही अनन्त इकाइयों को एक जगह संगृहीत कर लिया जाए तो वह **'विराट्'** रूप होगा और फिर

---

१. ३.१२. २. धा० पा० भ्वा० ग० ८३८

ऐसे ही-'**अनन्त विराट्**' इकाइयों को एक जगह संगृहीत कर लिया जाय तो **सर्वातिशायी पुरुष** का रूप स्पष्ट हो जाएगा। फिर इन '**राष्ट्र पुरुषों**' और '**विराट् पुरुषों**' को एक जगह संगृहीत कर लिया जाए तो **सहस्रशीर्षाक्षपाद पुरुष** का रूप स्पष्ट हो सकेगा।

विराट् शब्द का अर्थ और उसका स्वरूप—

विराट् के स्वरूप को स्पष्ट समझने के लिए आवश्यक है कि विराट् शब्द का अर्थ समझा जाय। **विराट्** के अर्थ समझने के लिए '**वि**' उपसर्ग के अर्थ को समझा जाय। '**वि**' उपसर्ग का एक अर्थ **विगत**, दूसरा अर्थ **विशेष** है। इस आधार पर **विराट्** के '**विगतो राट् यस्मात् स** '**विराट्**' और '**विशेषेण राजते इति विराट्**' दो निर्वचन किए जा सकते हैं। उपसर्ग के वल पर किए गए अर्थों से विराट् के स्वरूप पर उत्तम प्रकाश पड़ता है। विराट् की दो अवस्थाओं में से एक अवस्था वह है जो **अव्यक्त** है और दूसरी वह जो **व्यक्त** है। जब **विराट्** अपनी शक्तियों को समेटे हुए होता है—मनु के शब्दों में **प्रसुप्तमिव सर्वतः**'–[मनु० १.१५] सब ओर से सोया हुआ सा होता है तब '**विगतो राड् यस्मात् स विराट्**' कहलाता है। इस सुप्तावस्था से जब विश्व जागृत अवस्था में आता है तब विराट् में सिमटी हुई शक्तियां विशेष रूप से राजमान होती हैं और तव वह '**विशेषेण राजन्ते वस्तून्यस्मिन्निति**' **विराट्** कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि विराट् की दो अवस्थाएं हैं। एक वह जिसमें सब शक्तियां सिमटी हुई हों, दूसरी वह कि जिसमें सब शक्तियां प्रकट हों।[1]

विराट् शब्द दो लिंगों में—

विराट् शब्द उभय लिंगी है। उसके कारण विराट् शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्ति है। किसी वस्तु का सिमटा हुआ रूप 'नारी' रूप है और उसका खुला हुआ प्रकट रूप पुरुष-रूप है। पृथक्-पृथक् दोनों अपूर्ण हैं, सहयुक्त होकर पूर्ण हैं। प्रत्येक वस्तु **नारी** एवं **पुं**-तत्त्व में **द्विधा विभक्त** है। इसलिए आदि सृष्टि में भी महद् ब्रह्म ने—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥[2]

सूक्त का 'व्यकल्पयन्' शब्द और 'विराट्'—

सूक्त का **व्यकल्पयन्** शब्द '**विशेषेण राजते इति विराट्**' निर्वचन का उद्गम है। वि पूर्वक '**क्लृपु**' धातु का अर्थ वस्तु का **विशकलन** है। उसके अवयवों को पृथक्-पृथक् करके देखना है। इसलिए सूक्त का प्रश्नकर्त्ता पूछता है—'**मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते**।' व्यक्ति को अवयवों में बांट कर देखना या कल्पना करना जहां '**व्यकल्पयन्**' है वहां '**विशेषेण राजन्ते वस्तून्यस्मिन्निति विराट्**' है।[3] इस प्रकार विराट् अनेक अर्थों का वाचक है। यथा—

[१] **नारी** [प्रकृति रूपा] [२] **ब्रह्माण्ड** [३] **पिण्ड** [४] **परमात्मा** [५] **प्रजापति** [६] **प्राण** [७] **अन्न**।

---

१. **वेनस्तत् पश्यन् निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥** यजु० ३१.८

२. मनु० १.३२

३. पंचम मन्त्र पर भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने भी विराज् का निर्वचन ऐसा ही किया है।

विराट् का अर्थ ब्रह्माण्ड—

ब्रह्माण्ड शब्द **विराट्** शब्द को समझाने में सहायता देता है। यह जो कुछ चराचर जगत् दृष्टि-गोचर हो रहा है, उसे **ब्रह्माण्ड** कहते हैं। ब्रह्माण्ड शब्द का अर्थ है—ब्रह्म का अण्ड। वैज्ञानिक जगत् इस विश्व को अण्डाकार मानता है। इसलिए विश्व की संज्ञा 'ब्रह्माण्ड' है।

अण्डे के दो रूप—

अण्डे के दो रूप हैं—एक परिपक्व होने से पहिले का है और दूसरा परिपक्व होने के पश्चात् का। ये अण्डे के दोनों ही रूप विराट् के रूप हैं। परिपक्वावस्था के पहिले अण्डा **'प्रसुप्तमिव सर्वतः** है**—विगत् राट्** है, वही पुनः परिपक्व होते ही द्विधा विभक्त होने पर **'विशेषेण राजते इति विराट्'** है।

अण्डे का **द्विधा विभक्त** हो जाना **मुख खुलना** है। अण्डे से निकलते हुए पक्षी का **मुख खोलना** भी **विराट्** दर्शन है भागवतों की यह कल्पना कितनी आकर्षक है कि यशोदा मैया के कहने पर जब बाल-गोपाल कृष्ण ने अपना मुख खोला तो यशोदा मां जबड़े में मक्खन के स्थान पर **विराट्** का दर्शन कर स्तम्भित रह गई और बाल-गोपाल को तत्काल मुंह बंद करने को कहा।

कृष्णद्वैपायन व्यास ने भगवद्-गीता में अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण का मुख खुलवाकर **'विराट् दर्शन'** का सफल प्रयास किया है। कोई विरला ही अर्जुन होगा कि जो प्रकृति के नित्य खुले हुए जबड़े में, विराट् का **'अथ से इति'** तक दर्शन कर पाए—अ से ज्ञ तक दर्शन कर पाए—अ से ज्ञ तक दर्शन कर लेने पर ही व्यक्ति प्राज्ञ कहलाने का अधिकारी है। ये तो विराट् के दर्शन कराने के कलात्मक वर्णन हैं। इनके गर्भ में वास्तविकता तो कुछ और ही है। प्रत्येक वस्तु की दो अवस्थाएं होती हैं—**अव्यक्त एवं व्यक्त**। जिनको क्रमशः **'विगत-राट्** और **'विशेषेण राट्'** कहा जा सकता है।

पिण्ड और विराट्—

पिण्ड शब्द देह का वाचक है जो सर्वथा ब्रह्माण्ड की अनुकृति है **पिण्ड** शब्द **अपि+अण्ड** का संक्षेप प्रतीत होता है। **अपि** अव्यय का अर्थ है—**'भी'** और **अण्ड** का अर्थ है **'अण्डा'**। इस प्रकार अर्थ हुआ कि जहां विश्व 'ब्रह्म का अण्ड' है वहां देह भी ब्रह्म का अण्डा है, **अपि+अण्ड=पिण्ड** है। जब दोनों ही ब्रह्म के अण्ड हुए तो दोनों की एकता भी अवश्यम्भावी है। समुच्चयार्थक अपि-अव्यय इस ओर निर्देश करता प्रतीत होता है कि पिण्ड केवल प्रत्यक्ष दीखने वाले पक्षी के अण्डे की भांति नहीं है वह तो अपि+अण्ड है—पिण्ड है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के अतिरिक्त कुछ और भी है, अपने अन्दर ब्रह्म को उतना ही लिए हुए है जितना [व्युत्पत्ति दृष्टि से] यह बाहर फैला हुआ ब्रह्माण्ड।

पिण्ड की दो अवस्थाएं—

[१] परिपाक से पहले और [२] परिपाक के पश्चात्। परिपाक के पहले मातृ-कुक्षि में पिण्ड **'प्रसुप्तमिव सर्वतः'** विगत राट् अवस्था होती है और मातृकुक्षि से बाहर आने पर **'विशेषेण राजन्ते इन्द्रियाणि इति विराट्'** अवस्था होती है।

प्रजापति और विराट्—

वैदिकों में **प्रजापति** के दो रूप कहे गए हैं—एक **अनिरुक्त**, दूसरा **निरुक्त**। एक **अव्यक्त**, दूसरा **व्यक्त**। एक **अजायमान** दूसरा [बहुधा] **विजायमान**। विराट् के भी यही **दो रूप हैं**। **'बहुधा विजायते'** ही **'विशेषेण राजन्ते'** इति **'विराट्'** है। **'बहुधा विजायते'** में **'विराट्'** शब्द का निर्वचन गर्भित है। वस्तु

का व्यक्तित्व जब **विशेषतया राजमान** होता है, तब कहते हैं **विजायते** अथवा उसकी विशेष उत्पत्ति को देख कर कहते हैं। **विशेषेण राजते**। यह बात निम्नलिखित उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट हो सकती है।

पक्षी-जगत् में बहुत से पक्षी ऐसे हैं जिनके अण्डों की आकृति और नाप-तौल एक से हैं। उन अण्डों को यदि एक जगह एकत्रित कर दिया जाय तो यह पहिचान करना अति कठिन होगा कि कौन अण्डा किस पक्षी का है। कारण उनकी [प्रजापति] **अजायमान** अवस्था है। जैसे ही अण्डे द्विधा विभक्त हुए कि प्रजापति का '**बहुधा विजायते**' रूप प्रकट हो गया—हर अण्डे का पक्षी स्व स्वरूप में राजमान हो गया। यह पृथक् पृथक् प्रजापति का **बहुधा विजायते** रूप है अथवा विराट् **विशेषेण राजते** रूप है।

यही बात वृक्ष, वनस्पति पर लागू करके देखी जा सकती है। **अश्वत्थ, वट, गूलर, सर्षप, राई,** आदि बीजों की आकृति एक जैसी है, यह तभी तक है, जब तक **अजायमान** अवस्था है। जहां **प्रजापति बहुधा विजायते** रूप में आया कि इसका **बहुधा** रूप प्रकट हो गया। **अश्वत्थ पृथक्, वट पृथक्, सर्षप पृथक्** और **राई पृथक् पृथक्** प्रकट होने लगे। ये सब पृथक् इकाइएं समष्टि का रूप धारण कर लेती हैं तो वनस्पति-जगत् का '**विराट् रूप**' दृष्टिगोचर होता है।

वेद के इसी संदेश का वार्ष्णेय श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति '**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां**' कहकर प्रकट किया है।

विराट् का **प्रत्यक्ष रूप, व्यक्त रूप, निरुक्त रूप, विजायमान रूप** उसी समय प्रकट होता है जब वस्तु का द्विधा विभाजन होता है। इस द्विधा विभाग को ही मुख खुलना कहते हैं। कोई भी बीज उदर से बाहर आते ही द्विधा विभक्त हो जाता है। **नीचे के जबड़े** को **भूलोक** और **ऊपर के जबड़े** को **द्युलोक** और मध्य के अवकाश को **अन्तरिक्ष** लोक कहते हैं। इन तीनों के सम्मिलित रूप का नाम **विराट्** है। तैत्तिरीय-उपनिषद् के ऋषि ने—'**संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः**' कह कर जहाँ विभिन्न अधिकारों का वर्णन किया है वहां 'अध्यात्म-कक्षा' का वर्णन करते हुए कहा है—'**अधरा हनुः-पूर्वरूपम्, उत्तरा हनुः-उत्तररूपम्, वाक् सन्धिः प्रवचनं सन्धानमित्यध्यात्मम्।**' मुख के नीचे ऊपर के जबड़े को द्विधा बांटा। इसी प्रकार अधिलोक का वर्णन करते हुए '**पृथिवी पूर्वरूपं द्यौः उत्तररूपं आकाशः सन्धिः, विद्युतः सन्धानमित्यधिलोकम्।**'

इस प्रकार '**अधिलोक**' में वर्णित **पूर्व रूप** को **अधरा हनु** मान लें, **उत्तर रूप** को **उत्तरा हनु** मान लें, और **आकाश** को **संधि** तो इस खुले हुए मुख का **निचला जबड़ा** पृथिवी लोक, ऊपर का जबड़ा द्युलोक और मध्य का अवकाश अन्तरिक्ष लोक होगा। इसी में विराट् का दर्शन सम्भव है:[1] इसीलिए '**पृथिवी, द्यु** और **अन्तरिक्ष** को **विराट्** कहा गया है।[2]

पृथिवी, अन्तरिक्ष और **द्यौः** न केवल अधिलोक के होते हैं, 'अपितु हर कक्ष के हो सकते हैं। बीज अंकुरित होने के पश्चात् जब मुख खोलने लगता है, तब एक पत्ता उसका भूलोक, दूसरा द्युलोक और दोनों पत्तियों के बीच का अन्तराल उसका अन्तरिक्ष होगा। पत्ती-पत्ती में विराट् के दर्शन संभव हैं। उत्पन्न होते ही शिशु ने मुख खोला, तो निचले जबड़े से पांव तक जितने भी अवयव हैं वे भूलोक

---

१. **केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता। केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥**
अथर्व० १०.२.२४

२. **द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः।** अथर्व० ११.३.२०

कहलाएंगे, ऊपर के जबड़े से उपरिभाग में जितने भी अवयव हैं वे सब द्युलोक में समाविष्ट होंगे और मध्य के अन्तराल में स्थित वाक् अन्तरिक्ष लोक कहलाएगी, इसलिए कहा 'वाक् सन्धिः।' यही वह सूत्र है जिसे सर्वत्र लागू करने से शिशु-शिशु का मुख खुल जाता है, और कोई भी मां वहां विराट् के कभी भी दर्शन कर सकती है।

आज का वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड-रूप विराट् का जबड़ा खोलकर एक-एक अवयव गिन रहा है, उनकी परस्पर दूरियों को नाप रहा है उसने अणु-अणु के **केन्द्र, व्यास** और **परिधियों** को नाप डाला है। विज्ञान की बलिष्ठ भुजाओं से मानों वह उन्हें तोल लेना चाहता है। द्युलोक के अनन्त नक्षत्रों को उसने गिन डाला है। आकाश-गंगा को नाप लिया है। साहस पूर्वक उसने जब उससे भी ऊपर देखने के लिए आंखें विस्फारित कीं तो वे फटी की फटी रह गईं : उसको इस प्रकार की अनन्त आकाश गंगाएं और अनन्त सौर-परिवार दृष्टिगत होने लगे। वह सूक्त के शब्दों में बोल उठा—**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः**' मानो विज्ञान की यशोदा बाल-गोपाल से कह रही हो : [मुंह] बन्द करो, मुझको भय लग रहा है।

उपरिवर्णित सूत्र जहां भी लागू हो उसे विराट् माना जा सकता है। इस लिए ब्रह्माण्ड विराट् है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु विराट् है, पिण्ड विराट् है, वाक् विराट् है, प्राण विराट् है, और तो और मृत्यु भी विराट् है, शून्य भी विराट् है इत्यादि।

दशाक्षरा में विराट्—

विराट् को जहां उपर्युक्त लक्षणों से पहिचाना जा सकता है, वहां उसका एक चिह्न दशाक्षरा होना भी है। दशाक्षरा का संकेत है कि विराट् 'दश-अवयव वाला' होना चाहिए। ब्रह्माण्ड को विराट् इस कारण कहा जाएगा कि वह पंचभूत एवं पंचतन्मात्राओं का सम्मिलित रूप है। पृथ्वी को विराट् इस लिए कहेंगे कि भूमि पंचभूत एवं पंचतन्मात्राओं की पराकाष्ठा है। द्यौः को इसलिए विराट् कहेंगे कि सूर्य को मिला कर वह दश ग्रहों से युक्त है। अन्तरिक्ष में बहनेवाली वायु के दश भेद भी विराट् के दश अक्षर हैं। पिण्ड को विराट् कहने का कारण उसका पांचभौतिक एवं पंचतन्मात्राओं से युक्त होना है। अथवा पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं पंचकर्मेन्द्रिय रूप दश अवयवों से युक्त होना है। वाक् को विराट् कहने का कारण पंचज्ञानेन्द्रियों एवं पंचकर्मेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करना है। व्यक्ति के विवृत मुख में 'वाग्' विराट् का उस समय दर्शन होता है कि जब वह कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त्यमूल और ओष्ठ इन पांच स्थानों से निकलने वाले पांच मूल स्वर और व्यंजनों के प्रतिनिधि पांच वर्णों का दर्शन करता है।

इस प्रकार सूत्र हस्तगत हो गये जिनसे विराट् को पहिचाना जा सकता है। इस **'दशाक्षरा हि विराट्'** की कसौटी पर भी सूक्त-गत **'दशांगुलम्' इदं सर्वम्** **'भूमि'** और **पुर** तत्त्व मात्र सभी कुछ विराट् उतरता है।

[५] इदं सर्वम् तत्त्व

'इदं सर्वम्' पदद्वय पुरुष-सूक्त के द्वितीय मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में इस पदद्वय का प्रयोग किसी विशेष अर्थ का द्योतक होना चाहिए और पुरुष-सूक्त में प्रयुक्त **'इदं सर्वम्'** का अर्थ भाष्यकार प्राय: एक-सा ही करते भी हैं।

'इदं सर्वम्' से अभिप्राय दृश्य जगत्—

परं च वैदिक साहित्य में **'अदस्'** और **'इदम्'** दो पदों का प्रयोग बहुत्र हुआ है। **'अदस्'** का प्रयोग **'उस'** सत्ता के लिए, जो कि अदृश्यमान, ऊर्ध्व शीर्ष, दिव, उसपार अनिरुक्त है, और उसके स्वरूप का कथन प्रायः इन्हीं शब्दों द्वारा किया जा सकता है। इसके साथ ही 'इदम्' पद का प्रयोग दृश्यमान, **'अधः'** चरण, भूमि, इह और निरुक्त सत्ता के लिए हुआ है। अपने स्वरूप में **'अदस्'** भी पूर्ण है और **'इदम्'** भी। इस कारण 'इदम्' के साथ 'सर्वम्'=पूर्ण=पुरुष तत्त्व का प्रयोग होता है, [अर्थात् यह वर्ण्य जगत् अनिर्वर्ण्य की पूर्णता अपने में लिए है]।

पुरुष-सूक्त में **'इदं सर्वम्'** का प्रयोग इसी दृष्टि को रख कर किया गया है। भटटभास्कर **'इदं सर्वम्'** का अर्थ करते हैं—**'इदं प्रत्यक्षेण दृश्यमानं व्यक्त स्थावरजंगमात्मकं यद् वर्तमानं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भव्यं भविष्यत् तदेतत् सर्वम्'**[1] इसी प्रकार सायण लिखते हैं—**'यदिदं वर्तमानं जगत् सर्वं तत्'**[2]। मंगल इसी भाव को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—**'इदं [इदन्तयानिर्दिश्यमानं] सर्वं शब्दवाच्यं चराचरं जगत्**।[3] स्वामी दयानन्द **'इदम्'** से **प्रत्यक्षाप्रत्यक्षात्मकं जगत्** और **'सर्वम्'** से **सम्पूर्ण** अर्थ लेते हैं।[4]

'इदं सर्वम्' कालत्रय का वाचक—

कुछ विद्वान् उपर्युक्त भाव को ही अन्य प्रकार से प्रकट करते हैं। वे 'इदम्' से अभिप्राय लेते हैं–जो काल में आबद्ध है और 'सर्वम्' से सब कुछ यथा-रामानुजाचार्य लिखते हैं–**'इदं यद् वर्तमान-कालीनं यद्भूतमतीतकालीनं यच्च भविष्यत्कालीनं तत्सर्वम्'**[5] इसी प्रकार उवट, **'इदं'** से **वर्तमान** काल का अध्याहार करते हैं और **सर्वं** में **भूत** और **भविष्यत्** का समाहार करते हैं। इस प्रकार **'इदं सर्वम्'** से अभिप्राय **'कालत्रय'** लेते हैं।[6]

इस सम्पूर्ण विवेचन का सार यह प्रतीत होता है कि **'इदं सर्वम्'** काल में आबद्ध प्रकृति तत्त्व है। वह चाहे वर्तमान काल में स्थित विकार जगत् के रूप में हो अथवा भूत या भविष्यत् काल में अपने मूल कारण में हो वह सम्पूर्ण **'इदं सर्वम्'** से ही अभिहित होगा।

'इदं सर्वम्' जहां **एकपाद्, इह, प्रत्यक्ष, निरुक्त** और **विजायमान** अवस्था का वाचक है वहां इन अवस्थाओं की भी कारणभूत अवस्था **आपस्तत्त्व** का भी वाचक है।[7] सूक्त में आये प्रथम मन्त्रगत **'भूमि'** द्वितीय मन्त्रस्थ **'पुरुष एव इदं सर्वम्'** से लेकर **'ततो विराडजायत'** में वर्णित **विराट्** तक एक तत्त्व के विभिन्न रूपों का प्रतिपादन है। इन मन्त्रों में अनुक्रम से विराड् की उत्पत्ति कही गई है—**ततो विराडजायत'** और **'तस्माद्विराडजायत'** में **'तस्मात् वा ततः'** शब्द पश्चात् के भी वाचक हैं। पूर्व-अवस्था निर्माण हो लेने के पश्चात् [विगतो राडस्मात् नामरूपविहीन] विराड्[8] उत्पन्न हुआ। इस

---

१. तै० आ० पर पु० सू० भा०
२. ऋ० १०.९०.२ पर सा० भा०
३. मंगलाचार्य कृत० पु० सू० भा० २
४. स्वा० द० कृत य० भा० ३१.२
५. रामानुजाचार्य-कृत पु० सू० भा० २
६. उवट-कृत य० भा० ३१.२
७. **आपो वा इदं सर्वम्······विराडापः** तै० आ० १०.२२
८. यहां विराट् से तात्पर्य **'विगतो राट् यस्मात् स विराट्'** है अर्थात् जिसमें नाम-रूप अभी प्रकट नहीं हुए हैं।

प्राथमिक अवस्था को ही **'इदं सर्वम्'** कहा गया है अर्थात् **'इदं सर्वम्'** का ही विकसित रूप **विराट्** है। **प्रथमत: इदं सर्वम्'** को गर्भावस्था में आना होगा और **'इदं सर्वम्' रूप आपः** के परिपक्व होकर जन्मते ही कहा जा सकेगा **'विशेषेण राजन्ते सर्वाणि वस्तून्यत्रेति विराट्।'** जैसे कोई व्यक्ति[1] वट-वीज को देख कर कहने लगे कि यह बीज वट ही तो है और इसी का प्रत्यक्ष-रूप वट-वृक्ष है, यह वट का 'विराट्' रूप है :

वेद में और वैदिक दर्शन में 'आपः' सृष्टि-उत्पत्ति की प्राथमिक अवस्था का नाम है।[2] सृष्टि-निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री का जिससे नामरूपात्मक जगत् का निर्माण हो सके, कुम्भकार-द्वारा तैयार किये गये उस मिट्टी के लौंदे की भांति जिसे उसने चाक पर चढ़ा दिया हो उसे अपनी इच्छानुसार विभिन्न रूप देता जा रहा हो और तदनुरूप उसके दीपक, शरावा, सुराही, शकोरा, तश्तरी, घट आदि नाम देता जा रहा हो। इस नामरूपात्मक जगत् को हम एक शब्द में विराट् अथवा विश्व कह देते हैं। इस विराट् अथवा विश्व की उत्पत्ति तभी सम्भव है जब कि **कालचक्र** पर ,**इदं सर्वम्'** रूप लौंदे को रखा जा सके। कालचक्र पर चढ़ते ही **'इदं सर्वम् बहुधा विजायते'** होता है। **'अजायमानो बहुधा विजायते'** इसलिए कहा **'एतावद्वा इदं सर्वं यावद् रूपं चैव नाम च'**[3] 'इदं सर्वम्' को किसी भी संख्या में समेटा जा सकता है एक से लेकर अनन्त तक, देखना तो यह होगा कि नामरूपात्मक जगत् है कितने अवयव वाला ? यदि नामरूपात्मक जगत् एकपाद् है तो 'इदं सर्वं' भी एक-पाद् है। यदि वह दशांगुल है तो इदं सर्वं भी दशांगुल है, यदि वह 'सहस्रशीर्षाक्षपाद' तो 'इदं सर्वं' भी, यदि अनन्त है तो 'इदं सर्वं' भी है, यदि नामरूपात्मक जगत् की संज्ञा पुरुष है तो 'इदं सर्वं' भी 'पुरुष' ही है। यदि नामरूपात्मक जगत् की संज्ञा 'इह' है तो 'इदं सर्वम्' की भी संज्ञा 'इह' है। यही कारण है कि 'इदं सर्वं' से सर्वाणि भूतानि, विश्वाभूतानि विराट्, विश्व, एकपाद् आदि सभी कुछ गृहीत होते हैं।

त्रिपाद् और दशाङ्गुल—

सूक्त के द्वितीय मन्त्र में कहा—**'पुरुष एव इदं सर्वम्'** और चतुर्थ में कहा—**'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः'**। अर्थात् वही पुरुष जिसे कि **'इदं सर्वं'** अथवा **'एकपाद्'** कहा गया है उसे ही **त्रिपादूर्ध्व** भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार 'सर्वातिशायी पुरुष' त्रिपादूर्ध्व है तथैव 'प्रकृति पुरुष' भी त्रिपादूर्ध्व है। उसके त्रिपाद सत्त्व, रजस् और तमस्- रूप तीन गुण अति प्रसिद्ध हैं। इनसे ही वह ऊर्ध्वलोक में अमृत है—जो कुछ अप्रत्यक्ष है, अनिरुक्त है, अव्यक्त है और अजायमान है। परन्तु यह सारा अमृत विश्व उसका मात्र एक-पाद् है। एकपाद् का अभिप्राय होगा पंचांगुलि और पंचागुलि से पंचभूत। उसी का आगे पंचतन्मात्र और पंचीकरण हुआ। त्रिपादूर्ध्व और इह को मिलाने से प्रकृति **चतुष्पाद्** है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में **'सर्वातिशायी-पुरुष'** और **दशाङ्गुलपुरुष'** [जीव] का वर्णन हो लेने के बाद, आवश्यक था कि **'प्रकृति-पुरुष'** का वर्णन हो। अतः उसी की ओर संकेत करके कहा—**'पुरुष एव इदं सर्वं'**–जहां दो-दो पुरुष हैं वहां यह सब कुछ भी चतुष्पाद ही है, पुरुष ही है।

'इदम्' और अदस्' शब्द एक दूसरे के विपरीत होते हुए भी परस्पर पूरक हैं। यदि सूक्त के एक-पाद् और त्रिपाद् को—'इह' और ऊर्ध्व को तथा मर्त्य और अमृत को सम्मिलित रूप दे दिया जाय तो

१· **यथा अश्वत्थ-कणीकायामन्तर्भूतो महाद्रुमः। निष्पन्नो दृश्यते व्यक्त अव्यक्तात् संभवस्तथा॥**
म० भा० शा० प० २०४.२ पू० सं०

२. **आपो अग्रे विश्वमायन्। अथर्व०** ४.२.६ ३. शत० ब्रा० ११.२.३.६

'पुरुष' तत्त्व स्वतः पूर्ण हो जायेगा। वैसे भी पुरुष के ये दोनों विभाग अपने आप में **पूर्ण** हैं। उपनिषद् के शान्ति मन्त्र में इन दोनों की ओर इंगित करते हुए कहा गया है—**'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** वह भी पूर्ण है और यह भी पूर्ण है 'ऊर्ध्व' भी पूर्ण है, 'इह' भी पूर्ण है त्रिपाद भी पूर्ण है, एकपाद् भी पूर्ण है, ब्रह्माण्ड भी पूर्ण है, पिण्ड भी पूर्ण है।

'सर्वं' पद का प्रयोग—

सूक्त में पूर्ण के स्थान पर 'सर्वं' का प्रयोग हुआ है। आश्चर्य है कि सूक्त में पुरुष को द्विधा विभक्त करके उसके एकपाद् को भी **'इदं सर्वं'** कहा जा रहा है। भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है—**'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् [सर्वं] एकांशेन एकपदा स्थितो जगत्'**[1]

जब वह एक अंश है तब उसके साथ 'सर्वं' पद का प्रयोग कैसे? सर्वं शब्द पूर्णता का वाचक है, सर्वग्राही है, किमपि अपरित्याज्य। जो कुछ 'इदं' से गृहीत होता है वह अपने आप में सर्व है, पूर्ण है, पुरुष है, विराट् है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता-अपूर्णता अवशिष्ट नहीं।

यह 'इदं सर्वं' अपने आप में एक पुरुष है जिसकी संज्ञा सूक्त में 'विराट्' कही गई है। उससे भिन्न चतुष्पाद् पुरुष विराट् से भी ज्यायान् है। इस बात का संकेत सूक्तगत मंत्र में—**'ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः'** अर्थात् इस जगती की हर वस्तु अपनी एतावत्ता में **'महिमामयी'** है, स्वतो **विराट्** है, किन्तु है तो वह **एकपाद् ही, और चतुष्पाद् विराट्** की जनक है, उससे कहीं महान् है अपेक्षया **अधिपूरुष** है।

एकपाद् पुरुष की संज्ञा विराट् है और चतुष्पाद् पुरुष की अधि-पुरुष=अधि-राट् है। इससे इस बात को बल मिलता है कि **'पुरुष एव इदं सर्वम्'** में वर्णित पुरुष विराट् पुरुष है न कि 'सर्वातिशायी पुरुष'। विराट् के वर्णन में यह दरशाया गया है कि वस्तु मात्र का अनावृत्त रूप विराट् है, इस प्रकार ब्रह्माण्ड का भी 'पिण्ड' का भी।

[६] 'पृषदाज्य' तत्त्व

पुर् की प्रतिष्ठा के दो कारण हैं—एक बाह्य दूसरा आन्तर। सूक्त में बाह्य प्रतिष्ठा को **दशाङ्गुल** और आन्तर प्रतिष्ठा को **'पृषदाज्य'** कहा गया है। दशांगुल का वर्णन हो चुका, अब देह की [आन्तर प्रतिष्ठा] **पृषदाज्य** का वर्णन किया जायेगा। सायणाचार्य पुर का निर्वचन करते हुए **'पूर्यंते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि'**[2] सात धातुओं से पूरित होने वाले देह को पुर कहते हैं। अर्थात् ये सात धातु ही वे आन्तरिक आधार हैं जिनसे पुर की स्थिति बनी रहती है। इस सबको संगृहीत करके पुरुष-सूक्त में **'पृषदाज्य'** शब्द द्वारा व्यक्त कर दिया गया है।

'पृषदाज्य' का प्रचलित अर्थ—

'पृषदाज्य' का वर्णन मन्त्र ८ में हुआ है। अधिकतर भाष्यकार इसका अर्थ **दधिमिश्रित आज्य** करते हैं। प्रायः सभी ने 'पृषदाज्य' को भोग्य पदार्थ का उपलक्षण माना है जिसके भोक्ता पशु हैं। भोज्य के अनन्तर क्रम प्राप्त होने से पशुओं की उत्पत्ति ही प्रसक्त थी। प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व, उनके लिए भोग्य पदार्थों का होना अत्यन्त आवश्यक है; इस कारण भाष्यकारों ने यहाँ **पृषदाज्य** को भोज्य पदार्थों का उपलक्षण स्वीकार किया है। इन्होंने 'पृषदाज्य' में दो शब्दों का समाहार किया है पहला **'पृषत्'** जिसका अर्थ **दधि** किया है और द्वितीय **'आज्य'** जिसे **घृत** कहा है। स्वामी दयानन्द ने तो इसे और

१. भ० गी० १०.४२

२. ऋ० १०.९०.५। सा० भा०

स्पष्ट किया है—**पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम् आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम्** ।[1]

वेदसंहिताओं में 'पृषदाज्य' का प्रयोग—

वेदों में 'पृषदाज्य' का प्रयोग कुल चार बार हुआ है। अथर्व में पुरुष-सूक्त के अतिरिक्त केवल एक स्थान पर और इसका प्रयोग हुआ है। ब्राह्मणों में भी इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है। किन्तु सभी कहीं उसे अन्न, प्राण का वाचक ही समझा गया है।[2]

संसिच् रेतस् और पृषदाज्य—

अथर्ववेद में सृष्टि-रचना-विषयक कई महत्त्वपूर्ण सूक्त हैं; उनमें केन-सूक्त, उच्छिष्ट-सूक्त और मन्यु-सूक्त का स्थान सर्वोपरि है। मन्यु-सूक्त में सृष्टि-रचना-विषयक बड़ा ही रोचक वर्णन और आलंकारिक भी कम नहीं है। पुरुष-शरीर में किस देव ने विचित्र शक्तियों को भर दिया? कहाँ से तो यह केश भर दिए, कहाँ से स्नायुओं और अस्थियों का आहरण हुआ? तथा अंग-अंग का किसने आभरण किया? इत्यादि प्रश्नों का समाधान अगले ही मन्त्र में यह कहकर किया गया है कि 'संसिच्' नाम के देवों ने समस्त संभारों का सम्भरण किया और इस मर्त्य-शरीर में सब संभारों का सिंचन करके पुरुष में [शरीर में] प्रवेश किया।[3] **'शरीरमनु प्राविशन्'** और **'देवाः पुरुषमाविशन्'** तो कुछ मन्त्रों की टेक ही है। उनतीसवें मन्त्र में कहा कि देवों ने **अस्थियों** को **समिधा** बनाया, **रेतस्** (वीर्य) को **आज्य** बनाया और **पुरुष** में **प्रवेश** किया। यहाँ का **'पुरुष'** शब्द **शरीर** का वाचक है, किसी चेतन सत्ता का नहीं। वे देव कौन हैं? इसके उत्तर में मन्त्र तेरह में कहा गया है कि **'संसिच्'** नाम के देवों ने समस्त **संभारों** का सम्भरण किया और पुरुष में प्रवेश किया। यहाँ का **'संसिच्'** और उन्नीसवें मन्त्र का **'रेतस्'** शब्द एक ही तत्त्व के द्योतक हैं। **'संसिच्'** को वैज्ञानिक भाषा में **सैल** या **जीन** कह सकते हैं और **'रेतस्'** का अर्थ **वीर्य** स्पष्ट ही है।

इस सब प्रसंग को देखते हुए यदि पुरुष-सूक्त की संगति लगाई जाती है तो उसमें एक कड़ी लुप्त दृष्टिगोचर प्रतीत होती है। **'पश्चाद्भूमिमथो पुरः'** मन्त्र ५वें में फिर **'भूमि'** बनी और उस **'भूमि'** में **पुर्**=नाना योनियों के शरीर बने। युज्यते परन्तु वह तत्त्व कौन सा था कि जिससे कान बने, अस्थियां अंग अंग पर्व बने तथा मांस बना इत्यादि। इस बात का समाधान किए बिना ही यदि कहा जाए कि **'वायव्य, आरण्य और ग्राम्य'** पशु बने तो प्रतीत होता है कि समाधान-कर्त्ता कुछ छोड़ गया है। उस लुप्त कड़ी की पूर्ति **'पृषदाज्य'** तत्त्व करता है। यही वह तत्त्व है जिसे **मन्यु-सूक्त** में **'संसिच्'** और **'रेतस्'** कहा है। **आज्य** का एक सुप्रसिद्ध अर्थ **'रेतस्'** भी है और वह मन्यु-सूक्त के उनतीसवें मन्त्र में है। पुरुष-सूक्त के **पृषद्-आज्य** पद में प्रयुक्त **आज्य** शब्द भी **रेतस्** अर्थ को गृहीत करता है। **स्त्री-शक्ति** को **पृषद्** और **पुं-शक्ति** को **आज्य**, प्रथम को **दधि** और द्वितीय को **घृत**। इन दोनों के मिथुन का परिणाम था कि सृष्टि-रचना में क्रांति आ गई।

---

१. ऋ० भा० भू०। सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण (पृ० ४१०)

२. **अन्नं हि पृषदाज्यम् प्राणो हि पृषदाज्यम्** श० ब्रा० ३.८.४.८

३. **कुतः केशान् कुतः स्नावः कुतो अस्थीन्याभरत् ।**
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुतः आभरत् ॥
संसिचो नाम ते देवा ये सम्भारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ अथर्व० ११.८. १२. १३

पञ्चम अध्याय

संगती-करण

सर्गोदय के समय स्वयं सर्वहुत यज्ञ-पुरुष ने **यजमान** का[1], देवों ने **ऋत्विजों** का, वसन्त ने **आज्य** का, ग्रीष्म ने हवि का, वर्षा ने **र्बाहि** का अभिनय किया। देवों ने पुरुष-पशु [जीवात्मा] को बांधा, सृष्टियज्ञ का सूत्रपात हुआ। उसी की अनुकृति में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों की कल्पना की गई। पञ्चम अध्याय में उन्हीं का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्रस्तुत है।

उस परम शक्ति की यज्ञमयी कला के मानव-जीवन में सम्भरणार्थ ऋषियों ने पश्चात्काल में नाना यज्ञों का विधान किया। उस यज्ञयागविधान का मूल भी पुरुषसूक्त ही है। सूक्तान्तर्गत 'हविषा देवा यज्ञमतन्वत' [मं. ६] 'अस्यासीदाज्यम्' [६], तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् [७], 'तेन देवा अयजन्त' [७], 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः' [८], अग्नि···अजायत' [१३], 'सप्तास्यासन् परिधय·' [१५], 'त्रिःसप्त समिधः कृताः [१५], 'देवा यद् यज्ञं तन्वानाः' [१५], 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः [१६], आदि वाक्य प्रत्यक्षतः यज्ञसंस्था के मूल प्रतिष्ठापक प्रतीत हो रहे हैं; इन वाक्यों में निविष्ट **'यज्ञ' 'हवि': 'आज्य' 'र्बाहिः' 'देव' 'अग्निः' 'परिधि'** और **'समिधः'** आदि शब्द स्पष्टतः 'यज्ञयागों की सम्भारसामग्री के मौलिक परन्तु संक्षिप्त समुच्चय की सूचना' दे रहे हैं। अतः अत्यन्त आवश्यक है कि इस अध्याय में 'यज्ञ' के वैदिक स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला जाय।

पुरुष-सूक्त में यज्ञ का स्वरूप –

'यज्ञ' शब्द का प्रयोग होते ही, जो सहज अर्थ सम्मुख उपस्थित होता है, वह है, सोद्देश्य **देवता** विशेष के निमित्त **मन्त्रोच्चारणपूर्वक** अग्नि में **समिदाज्यहवि**-प्रदान करना। यह अर्थ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों के लिए समझा जाता है। वास्तव में देखा जाय तो यह अत्यन्त स्थूल अर्थ है; वेद में **'यज्ञ'** शब्द का प्रयोग अत्यन्त गहन अर्थों में हुआ है : ऋग्, यजु और अथर्व में यज्ञ को सम्पूर्ण भुवन की नाभि माना है।[2]

यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के प्रथम सत्ताईस मन्त्रों की अन्तिम टेक **'यज्ञेन कल्पन्ताम्'**[3] है। 'कल्प' धातु का अर्थ है सामर्थ्य। सामर्थ्य यज्ञ में निहित है। यज्ञ का यौगिक अर्थ है—**'संगतीकरण**।'

---

१. **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।**
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।। पु० सू० ८

२. [क] **अयं यज्ञो [विश्वस्य] भुवनस्य नाभिः।** अथर्व० ९.१०.१४.
[ख] **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।** ऋ० १.१६४.३५, यजु० २३.६२

३. यजु० १८.१ से २७ तक।

'संगतीकरण में प्रयुक्त 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है 'एकीभाव'[1]—अनेकों का एक भाव ही एकीभाव है।[2] एकीभाव के लिए कम से कम दो का होना आवश्यक है, अतः दो में ही सामर्थ्य और शक्ति रहती है[3]। यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के आरम्भिक मन्त्रों में छह-छह जोड़ों के साथ 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' का प्रयोग, और 'च' अव्यय का प्रयोग यज्ञ के इस संगतीकरण अर्थ की सम्पुष्टि करता है। इस मर्म को समझकर ही पाणिनि ने 'यज्'[4] धातु के देवपूजा, संगतीकरण और दान तीन अर्थ निश्चित किये हैं।

पुरुष-सूक्त में तो यज्ञ का स्वरूप एवं अर्थ और भी उज्ज्वल रूप लेकर सम्मुख आया है। यहां पर तो सम्पूर्ण सृष्टि एवं ज्ञान का उद्भव ही 'यज्ञ पुरुष' के माध्यम से हुआ है। इस सूक्त में 'यज्ञ' का अर्थ 'परम पुरुष' है। अनेक भाष्यकार इस अर्थ में सहमत हैं।[5] सूक्त में यज्ञ-पुरुष के लिए पर्याप्त स्थान दिया गया है : पुरुष-सूक्त में ६ से १० वें मंत्र तक, तथा पुनः १५ वें तथा १६ वें मन्त्रों में।

यजुर्वेद के पुरुषमेधाध्याय [३१ वां अध्याय] में यह क्रम ६ से ९ और १४ से १६ तक दो भागों में बंट गया है। अथर्व० सूक्त में १० वें मन्त्र से लेकर सूक्त-समाप्ति पर्यन्त यज्ञपुरुष का ही वर्णन किया गया है।

यज्ञ के प्रथम धर्म—

'यज्ञ-पुरुष' की व्याख्या के लिए पुरुष-सूक्त में ही कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट समझ में आ सकता है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त के सोलहवें मन्त्र में वर्णन आता है कि देवों ने जब यज्ञ से यज्ञ का यजन किया तो ये [संकेत] ही यज्ञ के प्रथम धर्म थे—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'

यहां 'धर्माणि' पद में बहुवचन का प्रयोग इस ओर संकेत कर रहा है कि ये प्रथम धर्म दो से अधिक थे, वे सम्पूर्ण नियम धारणात्मक थे और आवश्यक थे।[6] मन्त्रस्थ 'प्रथमानि' पद का प्रयोग जहां धर्मों की **प्राथमिकता** दिखाने के लिए हुआ है, वहां यज्ञ के **प्रथन-सामर्थ्य** को दिखाने लिए भी हुआ है। 'प्रथमानि' पद में प्रयुक्त 'प्रथ' विस्तारे धातु का यही अर्थ है।

'सर्वहुत्' पद में प्राथमिक धर्मों की व्याख्या—

'प्रथमानि धर्माणि' की व्याख्या यज्ञ के विशेषण **'सर्वहुत्'** पद में निहित प्रतीत होती है : जिसका वर्णन ८,९,१० मन्त्रों में हुआ है। वहां पर **'सर्वहुत्-यज्ञ'** से **प्रजनन यज्ञ, सृष्टियज्ञ** और **ज्ञानयज्ञ**

---

१. समत्येकीभावे। निरु० १.२।

२. अनेकस्यैकीभवनमेकीभावः। [मुकुन्द झा कृत नि० वृ० टी०] १.४

३. द्वन्द्वं वै वीर्यम्। शत० ब्रा० १४. १. ३. १.

४. 'यज' देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु। धा० पा०। भ्वा० ग० ९८२.

५. [क] 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि श्रुतेः पुरुषस्ये० यज्ञस्वरूपत्वात्। रामानुजाचार्य कृत पु० सू० भा०। मं० ८.

[ख] तस्माद् यज्ञाद् यज्ञपुरुषात् परमेश्वरात्। मंगलाचार्य कृत पु० सू० भा। मं० ८.

[ग] तस्माद् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात्। स्वा० द०। ऋ० भा० भू०वेदोत्पत्ति-विषय पृ० २६८

६. धारणात् धर्म इत्याहुः। म० भा० शा० प० ११०.११.

के यजन का वर्णन है। उस बृहत् यज्ञ को ही सर्वहुत् यज्ञ कहा है। 'प्रथमानि धर्माणि' में बहुवचन है और सर्वहुत् में वहुवचन का प्रयोग नहीं है किन्तु **'सर्वहुत्'** में **'सर्व'** पद भी **बहुवचन** का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

'सर्वहुत्' पद का अर्थ है···जो सव में आहुति देता है, अथवा जिसमें सव आहुति देते हैं··· **"सर्वस्मिन् हूयते येन स सर्वहुत्"** एवं **"सर्वैर्हूयतेऽस्मिन्निति स सर्वहुत्"**। सर्वहुत् पदकी सार्थकता **'हु'** धातु पर आश्रित है।

'हु' धातु के अर्थों में प्राथमिक धर्मों का सन्निवेश—

'हु' धातु के पाणिनि कृत तीन अर्थ हैं—**'हु दानादनयोः, आदाने च इत्येके'**

[१] **दान=देना**

[२] **अदन=खाना**

[३] **आदान=लेना**

इन्हीं तीनों कृत्यों को हम, **सार्वभौम** धर्म अथवा **नित्य** धर्म कह सकते हैं। इन्हीं पर यज्ञ ठहरा हुआ है। यही वे धर्म हैं जिनका प्रथन हो सकता है, शायद इस कारण भी इन धर्मों का विशेषण सूक्त में **प्रथमानि** है। इन तीनों अर्थों में से प्रत्येक अर्थ में दो-दो अवशिष्ट अर्थ युक्त हुए हैं। **दान** के साथ **आदान** एवं **अदन** का भाव, **आदान** के साथ **दान** एवं **अदन** का भाव और **अदन** के साथ **दान** एवं **आदान** का भाव : [यथा कोई व्यक्ति दान करता हो तो आदान स्वतः सिद्ध होता है। दान क्रिया की पूर्णता तभी है जब सामने वाला उसे स्वीकार करता हो। लेना ही आदान क्रिया है। यदि यह चक्र यहीं समाप्त हो जाय तो यज्ञ नहीं चल सकता। परन्तु व्यक्ति उस आदान [ली] हुई वस्तु का, पुनः प्रति-दान कर देता है—तभी यज्ञ निष्पन्न होता है]

आदान का यदि उसी रूप में **दान** कर दिया जाय तो कोई विशेषता नहीं रहती। आदान को सहस्र-गुणित करके दान करना यज्ञ कहलाएगा। यह तब तक सम्भव न होगा जब तक आदान की गई वस्तु का ग्रहीता द्वारा पहले अदन [आत्मसात्] न कर ली जाय। यदि आदान [गृहीत] वस्तु को, अदन करके, यहीं पर समाप्त कर दिया जाय तो उससे यज्ञ का विघात होगा। निम्नलिखित उदाहरण इस बात को स्पष्ट करने में अधिक सहायक हैं—

किसान द्वारा भूमि में डाला गया बीज दान है, भूमि द्वारा गृहीत बीज आदान है और उसे भूमि-द्वारा आत्मसात् कर अंकुरित करना **अदन** है। कदाचित् भूमि, गृहीत बीज को न लौटाए तो यज्ञ-चक्र यहीं अवरुद्ध हो जाए। पुनः उसमें बीज का दान नहीं किया जाए। यदि भूमि, गृहीत बीज को शतगुणित, सहस्रगुणित करके किसान को लौटाती रहे, तो यह चक्र अबाध रूप से चलता रहेगा। यह सब अदन [प्रक्रिया] अर्थ पर आश्रित है। बीज का विना अदन किए, भूमि उसे सहस्रगुणित नहीं कर सकती। जो भूमि, गृहीत बीज को आत्मसात् [अदन] नहीं कर सकती वह उसे सहस्रगुणित भी नहीं कर सकती। ऐसी ही भूमि को ऊसर भूमि कहते हैं। प्रजनन-क्रिया भी इन्हीं प्राथमिक धर्मों पर आधारित है।

यज्ञ के तीन अर्थ और 'हु' धातु—

जो व्यक्ति आदान की हुई वस्तु को सहस्रगुणित करके दान करता है, वह 'देव' है एवं 'पूजा' का पात्र है। 'देव' के लिए किया गया दान 'पूजा' है, [जो कि यज्ञ का प्रथम धर्म है]।

दान और आदान में 'संगतीकरण,' अदन-तत्त्व के आश्रित है। यह संगती-करण[1] ही यज्ञ का द्वितीय धर्म है।

त्रिवृत् यज्ञ—

वैदिक वाङ्मय में यज्ञ को त्रिवृत् कहा गया है।[2] यही कारण है कि यज्ञ से सम्बद्ध सभी तत्त्व तीन-तीन हैं। यज्ञ में प्रयुक्त त्रयी-विद्या प्रख्यात ही है।[3] देव, याजक और यजन। सामग्री भी तीन ही हैं। जिनके लिए यज्ञ विहित है, वे **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ** और **वानप्रस्थ** आश्रम भी तीन हैं।[4] जिनके लिए यज्ञ का विधान है वे **ब्राह्मण, क्षत्रिय** और **वैश्य** द्विज भी तीन ही हैं।[5] यज्ञ के **प्रातः, माध्यन्दिन** एवं **सायं-सवन** भी **तीन** ही हैं।[6] **समिधा, घृत** और **हवि** ये साधन भी **तीन** ही हैं।[7] मुख्य **समिधाएं** भी **तीन** हैं।[8] **आहवनीय, दक्षिण** एवं **गार्हपत्य अग्नियां** भी **तीन** ही हैं।[9] यज्ञारम्भ में **आचमन** भी **तीन** ही किए जाते हैं।[10] यज्ञ के अन्त में **पूर्णाहुति** का विधान भी **तीन** से है।[11]

इस प्रकार यज्ञ के अर्थात् सृष्टिविद्या के तीन **'प्रथम धर्म'**='**देवपूजा, संगतीकरण** एवं **दान** भी उक्त कर्म **त्रितयी** के पूरक ही हैं। अतएव शतपथकार ने कहा—**'त्रिवृद्धि यज्ञः।'**[12]

सर्गारम्भ के प्रथम तीन धर्म—

सर्गारम्भ के वे 'प्रथम' तीन 'धर्म' जिनका कि पश्चात् काल में सुविस्तार हुआ, उनका संक्षिप्त विवरण अब यहां प्रसंगेन प्रस्तुत है—

---

१. देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। गीता० ३।११.

२. [क] इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्॥ ऋ० १०.१२४.१
   [ख] शत० ब्रा० १.१.४.२३.

३. सैषा त्रयी विद्या सौम्येऽध्वरे प्रयुज्यते। शत० ब्रा० ४.६.७.१.
   [क] अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्।
   आसमावर्त्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः॥ मनु० २.१०८.

४. [ख] पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
   स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥ मनु० ३.७१.
   [ग] अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
   ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ मनु० ६.४.
   [घ] आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥ मनु० ६.३८.

५. मनु० १.८८,८९,९०।

६. अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातःसवनं, रुद्रा माध्यन्दिनंसवनमादित्यास्तृतीयसवनम्॥ शत० ब्रा० १४.१.१.१५

७. वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः। पु० सू० ६.

८. समिधस्तिस्र आहुः। ऋ० १.१६४.२५   ९. मनु० २.२३१

१०. त्रिराचामेदपः पूर्वम्। मनु० २.६०

११. स्वा० द० कृत—पञ्चमहायज्ञविधि' देव-यज्ञ प्रकरण

१२. शत० ब्रा० १।१।४।२३॥

[१] देव-पूजा—

'हु' धातु के अर्थों में जहाँ प्राथमिकता दान की है वहीं प्राथमिकता 'यज्' धातु के अर्थों में **देवपूजा** को प्राप्त है। ये दोनों अर्थ एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं; क्योंकि आहुत किए बिना यजन-कार्य सम्पन्न हो नहीं सकता। यह दान, याजक द्वारा आदान की अभिलाषा से होता है। आदान की अभिलाषा दिव्य गुणों से युक्त देव से ही की जा सकती है अन्य से नहीं। इसमें दो तत्त्वों का होना अत्यावश्यक है—एक **पूजक** एवं दूसरा **पूज्य**। यह आवश्यक है कि **देव** [के दिव्य अंश] का **अन्वेषण** किया जाय। उसके **देवत्व** का **प्रत्यक्ष** किया जाय। इसी दृष्टि को **दिव्यदृष्टि** कहते हैं; तत्पश्चात् इस अंश की पूजा की जाय, उसका यथायोग्य सत्कार किया जाय।

किसी भी वस्तु [देव] के दिव्य अंश को जानने की कसौटी उसकी दान-शीलता है। यास्क के अनुसार वही व्यक्ति देव है जो देता है **'देवो दानात्'**[1]। उस दिव्य-अंश-युक्त वस्तु का उचित उपयोग उसकी पूजा है। इस बात को अतितुच्छ तिनके के उदाहरण से समझा जा सकता है। वह भी अपने अन्दर दिव्य अंश को संजोए हुए है। उसका दिव्य अंश उस समय प्रकट होता है जब दांत अथवा कान कुरेदने की आवश्यकता होती है। जब वह मैल निकाल कर सुखानुभूति प्रदान कराता है, तब उसका दिव्य अंश प्रकट होता है। दिव्य अंश का उचित प्रयोग ही उसका सत्कार है, पूजा है, उसकी उपयोगिता का स्वीकार है।

इसी सूत्र के आधार पर परमाणु से लेकर ब्रह्म-पर्यन्त वस्तु-वस्तु के दिव्यांश को ढूंढ निकालना ही देव-तत्त्व को पा लेना है। और उसका सदुपयोग उसके उस देव-तत्त्व की पूजा है।

[२] संगतीकरण—

यज्ञ का द्वितीय अर्थ 'संगतीकरण' है। इसको यज्ञ की आत्मा कहा जा सकता है। संगतीकरण पर ही समस्त विश्व ठहरा हुआ है।[2] इसके अभाव में विनाश है, एवं इसकी उपलब्धि में समाज है, समाधि है, समाधान है। यह वह तत्त्व है जिसने दो तत्त्वों को परस्पर संगत कर रखा है। जब तक दाता और ग्रहीता अथवा पूजक एवं पूज्य एकी भाव से युक्त नहीं होंगे तब तक यज्ञ सम्भव नहीं होगा, यह एकीभाव करना ही यज्ञ के संगतीकरण अंश का कार्य है। जहाँ दान एवं आदान के मध्य की कड़ी अदन है वहाँ देवपूजा और दान की मध्य कड़ी संगतीकरण है।

विश्वव्यापी यह विशाल यज्ञ भी संगतीकरण के बिना असम्भव है। यदि हाइड्रोजन एवं आक्सीजन का निश्चित मात्रा में संगतीकरण न हो तो पेय जल की उपलब्धि कभी संभव न हो।

[३] दान—

यज्ञ का तृतीय धर्म **दान** है। [हु धातु की चर्चा में] इसका पर्याप्त उल्लेख हो चुका है।[3]

यज् धातु के तीन अर्थों में परस्पर संगति—

यज् धातु के अति प्रसिद्ध तीन अर्थ हैं...देवपूजा, संगतीकरण और दान। ये तीनों अर्थ भी परस्पर आबद्ध हैं। पहला तृतीय से, और तृतीय द्वितीय से आबद्ध है। इस प्रकार तीनों अर्थ परस्पर आबद्ध होकर यज्ञ-तत्त्व को निष्पन्न करते हैं।[4]

---

१. निरु० ७.१५.
२. **अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। अथर्व० ६।१०।१४॥**
३. पृ० १६१
४. **अग्निहोत्र सर्वस्व** ग्रन्थ से साभार।

यज् धातु का प्रथम अर्थ **देवपूजा** है। देवपूजा का अर्थ है देव की पूजा। फिर इसके देव और पूजा दोनों **दान** पर आश्रित हैं। निःसन्देह पूजा भी यज्ञ है। परन्तु किसकी ? देव की, किसी अन्य की नहीं। अतः पूजा से पहले यह देखना होगा कि पूज्य व्यक्ति, देव है अथवा नहीं। इसके लिए भी यह देखना है कि पूज्य व्यक्ति में दान भाव है भी कि नहीं ? यतः दान से ही व्यक्ति देव बनता है—'**देवो दानात्**'[1]।

इसी का दूसरा तत्त्व **पूजा** है। याजक द्वारा पूजा-**विधा** उस समय तक सम्पन्न नहीं हो सकती, जब तक वह दान न करे। यह पूजाविधि भी यज् धातु के तृतीय अर्थ 'दान' पर अवलम्बित है। अतः स्पष्ट हुआ कि यज् धातु का प्रथम अर्थ तृतीय अर्थ से आबद्ध है।

एक समस्या और उसका समाधान—

'यदि '**देव-पूजा**' अर्थ के दो तत्त्व '**देव**' और '**पूजा**' **दान** पर आश्रित हैं तो फिर **याजक** और **देव** में इतना अन्तर क्यों ? एक **पूजक** है और दूसरा **पूज्य** जबकि दोनों ही दानशील हैं। इस **मर्म** को समझ लेना **यज्ञ-मर्म** को समझ लेना है। **याजक और देव** का अन्तर, उनके द्वारा किए गए **दान** के प्रकार में अन्तर के कारण है। **याजक** का **दान आदान** के लिए है, जबकि **देव** का **आदान दान** के लिए है। याजक देता है लेने के लिए, देव लेता है देने के लिए। याजक को पूर्ण विश्वास है कि देव के प्रति दिया हुआ पदार्थ उसे पुनः सहस्रगुणित होकर मिलेगा। बस याजक में विद्यमान, यह दिए हुए को लेने की भावना ही, उसे देव [पूज्य] बनने से रोक देती है। देव में वर्तमान, लेकर देने की भावना ही उसे पूज्य पद पर आसीन कर देती है। व्यक्ति देव है, पूज्य है इसलिए कि वह ली हुई वस्तु को शतगुणित-सहस्र गुणित करके लौटा देता है। **लिए हुए को सहस्रगुणित करके लौटा देना देवत्व है, लिए हुए को उतना ही लौटाना मनुष्यत्व है, लिए हुए को न लौटाना [निगल जाना] असुरत्व है।** इसी दानादान को याज्ञिक परिभाषा में हवि कहते हैं। यही यज् धातु के तृतीय अर्थ 'दान' का अभिप्राय है।

तृतीय अर्थ द्वितीय अर्थ पर आश्रित—

यज् धातु का तृतीय अर्थ '**दान**' है और वह उसके द्वितीय अर्थ '**संगतीकरण**' पर अवलम्बित है। '**संगतीकरण**' वह **केन्द्र-बिन्दु** है जिसकी **परिधि** '**देवपूजा**' है और **व्यास** '**दानादान**' है। जहाँ **संगतीकरण** हुआ नहीं कि स्वतः ही **दानादान** की प्रक्रिया चालू हो गई; और दानादान की प्रक्रिया चालू हुई नहीं कि **देवपूजा** सम्पन्न हुई और जहाँ **देवपूजा, संगतीकरण** और **दान**-प्रक्रिया सम्पन्न हुई नहीं कि उसी क्षण **यज्ञ** सम्पन्न हो गया।

इस प्रकार यज् धातु के तीनों अर्थ परस्पर आबद्ध हैं और उन्हें ही प्रकारान्तर से **दान, अदन** और **आदान** कहते हैं, वही वे प्राथमिक धर्म हैं जिनके आश्रित होकर देवों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन, यज्ञ-चक्र का प्रवर्तन किया था।

प्राथमिक धर्मों के प्रतीक—

देवपूजा, संगतीकरण को समझाने के लिए याज्ञिकों ने द्रव्य-यज्ञ का विधान किया है। द्रव्य-यज्ञ वास्तविक यज्ञ का अभिनय मात्र है। अभिनय का उद्देश्य होता है—असल तक पहुचा देना। असल तक पहुंचाने के लिए नकल आवश्यक है।

---

१. निरु० ७.१५

असल तक पहुंचाने के लिए नकल आवश्यक होती हैं। इसी नकल अभिनय का प्रबन्ध ब्राह्मणग्रन्थों में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों के माध्यम से किया गया है : याज्ञिकों ने अग्नि-होत्र के मिष से **देवपूजा, संगतीकरण** एवं **दान** के अभिनयार्थ यज्ञ-वेदी पर तीन पात्रों को उपस्थित किया है। वे तीन पात्र **अग्नि, समिधा** एवं **आज्य** हैं। यहां का **अग्नि-** तत्त्व **देव** के अभिनयार्थ है, **आज्य-तत्त्व दान** के अभिनयार्थ एवं **समिधा-तत्त्व संगतीकरण** के अभिनयार्थ है।

ये प्राथमिक धर्म इस कारण मुख्य हैं कि ये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ओतप्रोत हैं।

यज्ञ का वितत सूत्र—

यज्ञ के प्राथमिक धर्म पुरुष-शरीर [पिण्ड] में भी ग्रथित हैं। वैद्यक शास्त्र की दृष्टि से शरीर का विभाजन तीन अंगों में किया गया है—**उत्तमांग, मध्यमांग** एवं **हीनांग**। [१] **मन, मस्तिष्क** और **मुख** को **उत्तमांग**, [२] **हृदय, उदर** एवं **नाभि** को **मध्यमांग** और [३] **पायु, उपस्थ, जंघा, पिंडली** एवं **पाद** को **हीनांग** माना गया है।

मस्तिष्क, मन और **मुख**; अन्तःकरण एवं बाह्य करणों का केन्द्र होने से **उत्तमांग** हैं। **हृदय, उदर** और **नाभि**; प्राण, अन्न और पाचन का केन्द्र होने से **मध्यमांग** हैं। **पायु, उपस्थ** और **पाद**; विसर्जन, प्रजनन एवं गमन का केन्द्र होने से **हीनांग** हैं। **उत्तमांग**; चक्षु आदि इन्द्रियरूप देवों का केन्द्र होने से **पूजा का पात्र** है। इसकी पूजा–विषयरूप अर्थ की उपलब्धि करा देने में है अतः इनके आदेश का पालन कर इन्हें चरणादि अंग गति प्रदान कर दूरस्थ विषयों तक पहुंचा देते हैं। यही इनके द्वारा **देवों की पूजा** है। **मध्यमांग** को मध्यम संज्ञा इसलिए प्राप्त है कि वह **उत्तम** और **अधमांग** को जोड़ने-वाली कड़ी है। **संगतीकरण** भी **देव** और **दान** को जोड़ने वाली कड़ी होती है; अतः मध्यमांग भी संगतीकरण धर्म का निर्वाह कर शरीर-यज्ञ के संचालन में अपना भाग प्रदान कर रहा है।

पाद सभी कर्मेन्द्रियों का प्रतिनिधि है। वाक्, हस्त, पायु और उपस्थ ये सभी दान धर्म का पालन कर शरीर-यज्ञ का संचालन कर रहे हैं। इस प्रकार यज्ञ के प्राथमिक धर्म पिण्ड-यज्ञ का आधार हैं।

यज्ञ के प्राथमिक धर्म और आश्रम—

व्यक्ति का जीवन **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ** एवं **संन्यास** चार आश्रमों में विभक्त है। संन्यासी यज्ञ से मुक्त[1] है; शेष तीन आश्रमियों के लिए यज्ञ का विधान है। जीवन के **प्राथमिक आश्रम** भी **तीन** हैं; यज्ञ के **प्राथमिक धर्म** भी **तीन** हैं; उनका क्रमशः तीनों आश्रमों से सम्बन्ध है **ब्रह्मचर्य** का [**देव**] **पूजा** से, **गृहस्थ** का **संगतीकरण** से, **वानप्रस्थ** का [लिये हुए को सहस्रगुणित करके लौटा देने] **दान** से। इन तीनों से युक्त हुआ व्यक्ति ही संन्यास का अधिकारी बनता है प्राथमिक धर्मों से युक्त व्यक्ति यज्ञ से मुक्त है। वह स्वयं यज्ञरूप है।

ब्रह्मचारी को **पूजा** करनी है परन्तु **देव की**; इसी कारण उसको प्रथम पाठ यही पढ़ाया जाता है-**'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'**[2] इत्यादि। **गृहस्थ** में व्यक्ति एक से **दो** हो जाते हैं। **दो** में **एकीभाव** ही **संगतीकरण** है। पति-पत्नी में एकीभाव, सास बहू में एकीभाव, भाई भाई में एकीभाव

---

१. अनग्निरनिकेतः स्यात्। मनु० ६।४३ २. तै० उ० १.११।२

बहिन-बहिन में एकी भाव—इसी से गृहस्थाश्रम का सौन्दर्य है। वानप्रस्थ में, यज्ञ के तृतीय धर्म दान का [=लिये हुए को सहस्रगुणित करके लौटा देने का, संग्रह किए को बांट देने का,सर्वहुत् यज्ञ का] अभ्यास आरम्भ होता है। अनन्तर जीवन **विश्वतोधार-यज्ञ** में दीक्षित हुआ नहीं कि व्यक्ति संन्यासी कहलाने का अधिकारी बन गया। इस प्रकार यज्ञ के प्राथमिक धर्म, आश्रम-जीवन के प्राथमिक धर्म हुए।

यज्ञ के प्राथमिक धर्म और द्विज—

यज्ञ के प्राथमिक धर्मों को सामाजिक जीवन में भी देखा जा सकता है। समाज को चार वर्णों में बांटा गया है। यज्ञ का विधान तीन वर्णियों के लिये है। वे हैं—**ब्राह्मण, क्षत्रिय** और **वैश्य**। इन्हें शास्त्र में **'द्विज'** कहा गया है। **यज्ञ के तीन धर्म** हैं तथा **समाज के तीन द्विज**। इन **तीन द्विजों** का **तीनों धर्मों** के साथ सम्बन्ध है। द्विजों में [१]ब्राह्मण-देव है—पूज्य है। वह लेता है देने के लिए—प्रत्यर्पण के लिए—सहस्रगुणित कर लौटा देने के लिए **'प्रत्यर्पणाय गृह्णाति'**। प्रतिग्रह उसका धर्म है। [३] वैश्य **देव-पूजा** करता है। **पूजा** का माध्यम **दान** है। **दान** ही **वैश्य** का **धन** है। वैश्य दान करता है लेने के लिए। ब्राह्मण और वैश्य के इस **दानादान** की **प्रक्रिया** को **संतुलित** बनाए रखना [२] **क्षत्रिय** का धर्म है। इसी **संतुलन** का नाम न्याय है—**संगतीकरण** है। **ब्राह्मण देव** बनकर, **वैश्य दान** देकर और **क्षत्रिय संगतीकरण** रखकर राष्ट्र-यज्ञ को चला रहे हैं। मानों यज्ञ के धर्मत्रय, द्विजों के व्रतत्रय में परिवर्तित हो गए हों।

यज्ञ के प्राथमिक धर्म और ब्रह्माण्ड—

यज्ञ के ये तीन [प्राथमिक] धर्म, ब्रह्माण्ड में भी व्यप्त हैं। ब्रह्माण्ड तीन लोकों में विभक्त है—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः। इस प्रकार यज्ञ के **तीन धर्म** एवं ब्रह्माण्ड के **तीन लोक** हैं। यों तो तीनों ही याज्ञिक धर्म प्रत्येक लोक में दिखाई देते हैं। परन्तु लोक विशेष में किसी एक का इनमें से प्राधान्य होने से उस लोक का वही धर्म मान लिया गया है। द्युलोक ही देवलोक है। यास्क लिखते हैं—**'द्युस्थानो भवतीति वा देवः'**[१]। **देव** का धर्म है **दान**, लिए हुए को सहस्रगुणित करके लौटा देना। द्युलोक क्योंकि पृथिवी से हविरूप में लिए हुए जल को सहस्रगुणित करके लौटा देता है इसलिए देव है। द्यावा—पृथिवी का परस्पर दानादान निरन्तर चलता रहता है और दानादान की यह प्रक्रिया अन्तरिक्ष लोक के आश्रित है। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्तरिक्ष को पृथिवी और द्यौ की **सन्धि** कहा है।[२] **अन्तरिक्ष-लोक, संधि** का लोक है **संगतीकरण** का लोक, यतः सूर्य और पृथिवी की आकर्षण शक्ति का संगतीकरण भी तो अन्तरिक्ष-लोक में ही होता है। सूर्य के द्वारा गृहीत जल, अन्तरिक्ष-स्थित वायु और मेघों के माध्यम से पृथिवी को लौटाया जाता है। इस प्रकार तीनों लोकों द्वारा यज्ञ के प्राथमिक धर्मों का पालन हो रहा है।

पुरुष-सूक्त में यज्ञ-विषयक उल्लेख दो स्थानों पर मिलता है। कहां ? और क्यों ?का समाधान प्रथम अध्याय में द्रष्टव्य है।[३] हमने यहां सर्वप्रथम यज्ञ के प्राथमिक धर्मों का विवेचन किया था। वे मौलिक धर्म जिन पर यज्ञ ठहरा है। अब यज्ञ के विभिन्न घटक-तत्त्वों[**आज्य, समिद्, हवि, बर्हि, प्रोक्षण, परिधि, समिधा** की इक्कीस-संख्यात्मकता और **परिधि** की सप्त-संख्यात्मकता] पर विचार करना अभीष्ट समझा है जिससे यज्ञ का अंगांगि-स्वरूप स्पष्ट हो सके।

सृष्टि-यज्ञ और ऋतुत्रय—

सूक्त में यज्ञ के सम्पादक=**आज्य, समिध्,** और **हवि** का स्थानापन्न **वसन्त, ग्रीष्म** और **शरद्**

१. निरु० ७.१५ २. तै० उ० १.३.१ ३. द्र०–पृ०६

इस ऋतुत्रय को बनाया गया है उसका कारण सृष्टि-यज्ञ है। सृष्टियज्ञ में जिन तत्त्वों को ग्रहण करना आवश्यक था वे लिये गये हैं। सृष्टिकर्ता ने ऋतुओं को **आज्य-समिध्-हवि** वना कर अपने ऋत्विक् नाम को सार्थक किया है। सृष्टि के निर्माण तथा प्रतिष्ठान में इन ऋतुओं का कितना बड़ा भाग है–यह किसी से छिपा हुआ नहीं है: संसार का कोई कार्य हो उस पर काल का नियंत्रण अवश्यम्भावी है। निश्चय ही जो कुछ हुआ, जो हो रहा है, और जो होगा, उस पर काल का संस्पर्श अवश्य रहेगा। यह काल चुपचाप सब पर राज्य जमाये बैठा है, इसीलिए इसे संवत्सर कहते हैं इससे पहले कि हम **वसन्त-ग्रीष्म-शरद्** पर कुछ लिखें इन ऋतुओं के अवयवी **संवत्सर** पर कुछ लिखना चाहेंगे।

सं व त्स र

व्युत्पत्ति और व्याकृति—

शतपथ में संवत्सर की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है **'स सर्वत्सरोऽभवत्सर्वत्सरो ह वै नामैतद् यत् संवत्सर इति'**[1]। **त्सर** धातु का अर्थ है **छद्मगति**। इस प्रकार **सर्व+त्सर** का अर्थ हुआ जो सब तक चुप-चाप पहुंचा हुआ है।

इस संवत्सर की व्युत्पत्ति, शाकटायन तथा पाणिनि के मतानुसार इस प्रकार है **सं** पूर्वक **वस्** धातु से **सरच्** प्रत्यय होने पर **संवत्सर** शब्द बनता है[2]। इस प्रकार अर्थ यह हुआ कि **'जिसमें ऋतु इकट्ठे होकर बसते हैं वह संवत्सर है**। यह हुआ व्याकरण-प्रक्रिया-लभ्य अर्थ।

निर्माणापेक्षित संवत्सरता—

अब कुछ प्रयोगशास्त्र का भी सहयोग ले लें जिससे इसके अर्थगांभीर्य को समझने में सुगमता हो सके। वस्तुतः—एक पदार्थ के निर्माण में [आरम्भ से उसकी समाप्ति तक] जो समय लगता है उसका नाम संवत्सर है। उदाहरण के लिये यदि एक कारखाने में एक मोटर के निर्माण में 'आरम्भ से लेकर समाप्ति तक सात दिन का समय लगता है तो उस प्रसंग में **'संवत्सर'** सात दिन का ही होगा; यदि एक वृक्ष-फल को वीज से फल तक पहुंचने में दस वर्ष लगते हैं तो उस वृक्ष का संवत्सर दस–वर्ष होगा; यदि एक वीज को ओषधि बनकर परिपक्व होने तक चार मास लगते हैं तो उस वीज का संवत्सर चार मास होगा; यदि बालक को आचार्य कुल में प्रवेश करके स्नातक बनने में बारह वर्ष लगें तो यह स्नातक का संवत्सर है; यदि शिशु के परिपाक के लिए मातृकुक्षि में दस मास अपेक्षित हैं तो वह शिशु का संवत्सर है।

संवत्सर की ऋतुमयता—

अब प्रश्न यह है कि संवत्सर की व्युत्पत्ति इस प्रक्रिया में किस प्रकार घटित हो? इसका उत्तर इस प्रकार है—किसी निर्माण के आरम्भ से लेकर पूर्णता तक पहुंचाने में जो समय लगता है, उसमें जितने क्रमिक पद आते हैं जो एक दूसरे के पीछे आने आवश्यक हैं उन्हें **'ऋतु'** कहते हैं। ऋतुओं में पुनः यदि ग्रीष्म अधिक पड़े तो उससे वाष्प का अधिक मात्रा में उठना आवश्यक है; उसके शान्त करने के लिए ग्रीष्म के पीछे वर्षा का आगम आवश्यक हो जाता है। अतः ग्रीष्म और वर्षा ऋतु हैं। ये सब **ऋतुएं** अन्न की **उत्पत्ति, विकास** और **परिपाक** में इकट्ठे मिलकर वसते हैं और परस्पर सहायता करते हैं अतः

---

१. शत० ब्रा० ११.१.६.१२. २. उणादि० ३.७२

इन सबके समुचित रूप को मिलाकर भी हम **'संवत्सर'** कहते हैं।

यह विभिन्न ऋतुओं अर्थात् प्रक्रियाओं में से गुजर कर परिपूर्णता तक पहुंचने का अटल नियम यावदुत्पद्यमान पदार्थों में सर्वत्र व्यवस्थित रूप से पाया जाता है, कोई भी पदार्थ जो पूर्णता तक पहुंचा है उसकी उत्पत्ति और उसके विकास में यह ऋतुओं का क्रमिक सहयोग सर्वत्र चुपचाप छुपा बैठा है [त्सर छद्मगतौ] अतः इसे संवत्सर कहते हैं। इस प्रकार ये दोनों व्युत्पत्तियां, एक ही नियम के दोनों पक्षों को सहोद्योग और सर्वव्यापकता को दिखाती हैं। **सं+वस्+सर** इससे क्रमिक **सहोद्योग** दीखता है। **सव+त्सर** इससे इस नियम की **सर्वव्यापकता** दीखती है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो **एक दिन** भी **संवत्सर** है। **मास** भी **संवत्सर** है। **वर्ष** तो **संवत्सर** है ही। और सम्पूर्ण सृष्टि के विकास और प्रलय की दृष्टि से—**ब्राह्म संवत्सर** भी।

दिन भी संवत्सर—

[क] **आदित्यस्त्वेव सर्व ऋतवः। यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो यदा-मध्यन्दिनोऽथवर्षा यदाऽपराह्णोऽथ शरद् यदेवास्तमेत्यथ हेमन्तः।**[1] **[संवत्सरस्य] वसन्त एव द्वारं हेमन्तो द्वारम्।**[2]

'सूर्य ही सब ऋतुओं का जन्मदाता है [एक ही दिन में देखिये] जब उदय होता है वह वसन्त है, गो-दोहन का समय ग्रीष्म है, मध्यन्दिन वर्षा है, पिछला पहर शरद् है और अस्त वेला हेमन्त है।' संवत्सर के दो द्वार हैं एक वसन्त [प्रवेशद्वार] दूसरा हेमन्त [निर्गमन द्वार]।

[ख] जिस प्रकार संवत्सर [चाहे वह एक दिन का हो, चाहे एक वर्ष का अथवा ब्राह्मवर्ष का] ऋतुओं में बंटा हुआ है। इसी प्रकार मनुष्य को अपने सम्पूर्ण समय को ऋतुओं में वांट लेना चाहिये। किसी कार्य के लिये जो समय निश्चित किया गया है वह उस कार्य का ऋतु है। सो **ऋतु-विभाग-पूर्वक कार्य को एक होकर पूर्णता तक पहुँचाना संवत्सर रूप यज्ञ है।** विभक्त समय की संज्ञा **'ऋतु'** है। ये ऋतुएं संवत्सर-यज्ञ की **आज्य, समिध्** और **हवि** हैं। पुरुष-सूक्त में संवत्सर यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा **'वसन्तोस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः।'**

वर्षा और हेमन्त का प्रतिनिधित्व—

संवत्सर-यज्ञ के अपेक्षित **आज्य, समिद्, हवि** के प्रतिनिधि **वसन्त, ग्रीष्म,** शरद्[3] का परिगणन किया गया और अवशिष्ट वर्षा और हेमन्त दोनों ऋतुओं की उपेक्षा की गई हो—ऐसी बात भी नहीं है। उन्हें भी सूक्त में अन्य प्रकार से स्मरण किया गया है। **'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्'**[4] मंत्र चरण में प्रयुक्त **'बर्हि'** शब्द **हेमन्त** का और **'प्रौक्षन्'** क्रिया **वर्षा** का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है। **'बर्हि' परिपक्व फल** का प्रतीक है—शरद् में यदि फल परिपाक से बच भी रहा तो हेमन्त में वह परिपाक की पराकाष्ठा को पहुंचता है:—ऐसा परिपाक कि फल स्वयं वृक्ष के झड़ जाए, इसीलिए तो लोक में **हेमन्त को पतझड़** कहते हैं। परन्तु यह फल-परिपाक, उत्तम सिंचाई पर निर्भर करता है। **यज्ञ में प्रोक्षण** क्रिया, **वर्षा का** अभिनय मात्र ही तो है। इस प्रकार **संवत्सर-यज्ञ** के **वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्** और

---

१. शत० ब्रा० २.२.३.९ २. शत० ब्रा० १.६.१.१९

३. **वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।** ऋ० १०.९०.६

४. **तं० यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्।** —ऋ० १०.९०.७

हेमन्त पांचों ऋतु [घटक] पूर्ण हुए।[1] उनमें वसन्त ऋतु पूर्वार्ध है और हेमन्त उत्तरार्ध है।[2] यहां हेमन्त को अन्तिम ऋतु कहने का यह अभिप्राय नहीं कि ऋतुओं का आगे कोई क्रम नहीं; यहां तो एक संवत्सर-चक्र के अन्त की बात है, अन्यथा यह ऋतु-चक्र तो सतत चलता रहता है, अतः पुनः शीघ्र वसन्त का आगमन होता है। जिस प्रकार ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा, वैसे ही हेमन्त के पश्चात् वसन्त। परन्तु वसन्त संवत्सर यज्ञ का आरम्भ है। अतएव सूक्त में सर्वप्रथम वसन्त को ही स्मरण किया गया है।

वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्—

देवों ने जो पुरुष-रूप हवि से यज्ञ का विस्तार किया तो वसन्त ऋतु आज्य था, ग्रीष्म ऋतु समिधा थी और शरद् ऋतु हवि था। वसन्त और आज्य का, ग्रीष्म और समिधा का, तथा शरद् और हवि का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां आज्य स्नेह का प्रतीक है वहां वसन्त भी स्नेह का प्रतीक है। इसी प्रकार जहां समिधा, शुष्कता का प्रतीक है वहां ग्रीष्म भी शुष्कता का प्रवर्तक है। यही संगति हवि और शरद् की भी समझनी चाहिये।

यह जगत् अग्नि और सोम के उचित मेल का परिणाम है: ग्रीष्म और समिधा आग्नेय हैं; वसन्त और आज्य सौम्य हैं: शरद् और हवि दोनों फल हैं जो कि ग्रीष्म-वसन्त रूप अग्निषोमीय परिणय की प्रसूति हैं।

आज्यम्—

ऋतुओं में वसन्त की प्राथमिकता[3] है और यज्ञाहुतियों में उसी प्रकार आज्य की प्राथमिकता है।[4] **घृत-स्नेह का, स्निग्धता का, सरसता का** प्रतीक है। घृत के बिना न यज्ञशाला का कार्य सम्पन्न होता है, न पाकशाला का, और न किसी कार्यशाला का। किसी भी यज्ञ में सभी घटक हों परन्तु घृत न हो तो वह यज्ञ सफलता को प्राप्त न होगा। **ल्युब्रिकेशन** के अभाव में जैसे समस्त यंत्र खड़खड़ाने लगता है तद्वत् घृत के बिना समस्त यज्ञ-तंत्र खड़खड़ाने-लड़खड़ाने लगेगा। वर्ष में सभी कुछ हो सब ऋतुएं हों परन्तु वसन्त न हो तो वर्ष भी खड़खड़ाने लगेगा, सर्वथा शुष्क और नीरस हो जाएगा। इसलिए दो शुष्क ऋतुओं के मध्य एक स्निग्ध और सरस ऋतु का आगमन आवश्यक है—ग्रीष्म और शरद् के मध्य वर्षा तथा शरद् और ग्रीष्म के मध्य वसन्त सन्धि है। यज्ञ में भी समिधा और हवि के मध्य घृत का—आज्य का स्थान है। यजुर्वेद में आज्य को समिधा और हवि को मध्य कड़ी माना है—**'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयत...हव्या जुहोतन।'**[5]

किसी भी यज्ञ के सम्पादक यजमान, यजमान-पत्नी, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और ऋत्विक् आदि कार्यकर्त्ता कितने ही कुशल हों परन्तु उनमें परस्पर स्नेह न हो तो यज्ञ कभी सफलता को

---

१. **पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन**—ऐ० ब्रा० १.१

२. **अन्तः ऋतूनां हेमन्तः।**—शत० ब्रा० १.५.३.१३

३. **'ऋतूनां कुसुमाकरः**—भ० गी० १०.३५

४. जिस शाकल्य में आज्य=घृत न हो उसे हवि नहीं माना जाता—**नहि हविरनभिघृतमस्ति।** मै० सं० १.१०.२०

५. यजु० ३.१

प्राप्त नहीं हो सकता। इसी आज्य [परस्पर स्नेह] के बल पर ही तो देवों ने विजय लाभ किया। यही आज्यों का आज्यत्व है।[१] ऋत्विजों का—[कार्यकर्त्ताओं का] पारस्परिक स्नेह बड़े-बड़े कठिनाई रूप पहाड़ को काट देता है। इसलिये आज्य को वज्र भी कहा है।[२] लोहे आदि कठोर वस्तुओं को काटने के साधन छैनी आदि में जल अथवा तैल [आज्य] का संस्पर्श आवश्यक है। इसलिए घृत भी वज्र है। आज्य रुप वज्र से देवों ने ऋतुओं और संवत्सर को जीत लिया। इसी प्रकार यज्ञ करने वाला, इस आज्य-रूप वज्र के द्वारा ऋतुओं और संवत्सर को जीत लेता है।[३]

संवत्सर-गाय का दूध—

यह संवत्सर रूप गाय का विशेष दूध है जो यह आज्य है।[४] अर्थात् जिस वर्ष, संवत्सर [प्रजापति] अन्न भरपूर उत्पन्न करता है उस वर्ष पशुओं को भरपूर भोजन मिलता है अतः वे भरपूर दूध देते हैं। भरपूर दूध होने से भरपूर आज्य होता है। भरपूर आज्य होने से यज्ञों में भरपूर आज्य डाल जाता है। भरपूर आज्य डालने से भरपूर वृष्टि होती है। भरपूर वृष्टि से भरपूर अन्न होता है। इस प्रकार आज्य के द्वारा भरपूर वृष्टि और भरपूर अन्न को जीत लिया जाता है परिणामतः अन्न से प्रजाएं होती हैं इस प्रकार वर्षा, अन्न और प्रजाएं आज्य द्वारा जीत ली जाती हैं, यही आज्यों का आज्यत्व है।

मनु और आज्य [हवि][५]

मनु ने भी शतपथ-ब्राह्मण की इस बात को अतिस्पष्ट कर दिया कि 'अग्नि में डाली गयी हवि [आज्य] आदित्य को प्राप्त होती है, आदित्य से वृष्टि होती है वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजाएं उत्पन्न होती हैं।[६]

द्यावा पृथिवी का रस—

पृथिवी-लोक का रस, सूर्य-ताप द्वारा द्युलोक में संगृहीत होता रहता है। समय आने पर वह वर्षा-रूप में पुनः पृथिवी पर लौट आता है उससे पृथिवी और उस पर उगी ओषधि-वनस्पति सिंचित होती है जिससे पृथिवी 'रसा' और ओषधियें 'रसायन' नाम को सार्थक करती हैं। उस 'रसायन' को खाकर पशु, गोरस देते हैं और उस गोरस से आज्य उत्पन्न होता है। इसीलिये शतपथकार ने कहा **'आज्यं ह वा अनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षं रसः'**[७]।

देवों की तनू—

अभी लिखा गया है कि आज्य द्यावा पृथिवी का रस है। यह कहा जाय कि आज्य, रसों का

---

१. **आज्येन वै देवाः सर्वान् कामान् अजयन्सर्वममृतत्वम्।** —कौ० ब्रा० १४.१
२. **वज्रो वा आज्यम्।** —शत० ब्रा० १.५.३.४
३. **वज्रो वा आज्यम्+एतेन वै देवाः वज्रेण आज्येन ऋतून्, संवत्सरं प्राजयन्।**
—शत० ब्रा० १-५-३.४.
४. **एतद्धै संवत्सरस्य स्वं पयो यदाज्यं, तत्स्वेनैवैनमेतत् पयसा देवास्स्व्यंकुर्वेत तथो एवैनमेष एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते।** —श० ब्रा० १.५.३.५
५. **अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।** —मनु० ३.७६
६. **'अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते'** —मै० उ० ६.११
७. शत० ब्रा० २.४.३.१०

भी रस है तो भी अत्युक्ति न होगी। उस रस का उपभोग करके व्यक्ति वीर्यवान् बनता है। शरीर में रस से रक्त, रक्त से मास, मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य=वज्र=[आज्य][1] बनता है। यह 'आज्य' त्रिलोकी में विद्यमान देवों और शरीर में विद्यमान देवों की तनू है **'एषा हि विश्वेषां देवानां तनूः–यदाज्यम्।'**[2]

अनिरुक्त आज्य—

अन्त में यही कहना होगा कि आज्य भी प्रजापति की भांति अनिरुक्त है : जैसे प्रजापति का अनन्त विस्तार है वैसे ही आज्य का भी अनन्त विस्तार है । विश्व भुवन की **नाभि यज्ञ** है। यज्ञ की **नाभि अग्नि** है। **अग्नि की नाभि आज्य** है । कक्षा-भेद से यज्ञ **आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, अधिज्योतिष, अधिप्रज, अधिराष्ट्र** आदि बहुविध हैं। यज्ञ बहुविध हैं अतः अग्नियां बहुविध हैं और तथैव आज्य भी बहुविध हैं। **अध्यात्म यज्ञ** में **'सत्य आज्य है। चित्त आज्य है। तेज आज्य है। वाक् आज्य है। अधिप्रज में—काम आज्य है । रेतस् आज्य है । अधिविद्य में**—सभी **स्वर आज्य** हैं। इसलिए कहा **'अनिरुक्त' उ वै प्रजापतिः, अनिरुक्तानि—आज्यानि'**[3]।

अग्नि का बोधक—

अग्निहोत्र में, अग्नि-उद्बोधन के समय तीन तत्त्व उपयोग में आते हैं—**समिधा, आज्य, हविः**। आज्य से अग्नि का बोधन किया जाता है। जब कभी अग्नि मन्द पड़ने लगती है तो पुरोहित कहता है **घृतैर् बोधयत**—अरे भई ! घी से चेताओ। हमने घी को स्नेह का प्रतीक माना है। प्रतीक क्या ? वह स्वयं स्नेह है। यदि किसी व्यक्ति में संकल्प अथवा व्रताग्नि मन्द पड़ जाए तो उसे स्नेह से चेताओ उसका उद्बोधन करो।

वसन्त रूप आज्य—

संवत्सर यज्ञ में वसन्त, आज्य का प्रतिनिधि है। हेमन्त में जो वृक्ष, पत्रपुष्प-फलविहीन हो गये थे वसन्त के आते ही वे ही पुनः पल्लवित और पुष्पित हो उठे। मानों **वसन्त आज्य** ने सबको चेता दिया हेमन्त में जो ठिठुर गए थे–सो गए थे–सिर डाले पड़े थे–मन्द थे–उनमें **'वसन्त आज्य'** ने प्राण डाल दिये। माली ने भी सोचा यही अवसर है नये पौधों के रोपने का, पेड़ पौधों की कलम लगाने का। अब हेमन्त की रूक्षता जाती रही थी। **'वसन्त आज्य'** की आहुति डाली जा रही थी। वसन्त, सब में बसकर सबको बसा रहा था। वसन्त का यही काम है-सबमें उत्साह भर देना-जगा देना—नई चेतना और नई उमंग उत्पन्न कर देना। जो अग्निहोत्र में घृत का काम है वही संवत्सर में वसन्त का काम है। इसीलिये कहा—**वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्**। आदि सर्ग में प्रलयावस्था [हेमन्त] में पड़े अणु अणु चेष्टाशील हो उठे–रचना का उपाकर्म हो गया।

ग्रीष्म इध्मः—

ग्रीष्म और **इध्म** का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा **वसन्त** और **आज्य** का। **ग्रीष्म** और **इध्म** दोनों

---

१. **रसाद्रक्तं ततो मांस मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रम्।** —
अष्टांगहृदय। शारीरस्थान। ३.६

२. तै० ब्रा० ३.३.४.६

३. तां० ब्रा० ७.८.३

आग्नेय हैं। सर्वथा शुष्क। और जो शुष्क है वह आग्नेय है। जो आर्द्र है, वह सोम्य है। घृत सोम्य है इध्म आग्नेय। घृत का काम अग्नि को चेताना है और इध्म का काम अग्नि को दीप्त करना है—चमकाना है। इध्म को इध्म इसीलिये कहा जाता है, यतः वह अग्नि को दीपित करती है।[1]

समिधा की प्राथमिकता—

वैसे तो प्रत्येक उस पदार्थ को 'इध्म' कहा जाता है जो अग्नि को प्रदीप्त करता है, परन्तु समिधा सर्वप्रथम इध्म है क्योंकि इसके डालते ही अग्नि दीप्त हो उठती है। **'तासामिध्मः प्रथमाऽगामी'**[2] कहकर शतपथकार ने समिधा के महत्त्व को बढ़ा दिया है। यज्ञशाला में समिधा सर्वप्रथम लाई जाती है। उसका सर्वप्रथम आगमन होता है। वैदिक परम्परा में शिष्य आचार्य के पास समित्पाणि होकर ही जाता है। अग्निहोत्र में अग्न्याधान के पश्चात् समिदाधान होता है, परन्तु अग्न्याधान भी समिधा के माध्यम से होता है। समिधा के विना अग्नि की प्राप्ति ही असंभव है इसलिये कहा **'समिधाग्निं दुवस्यत'**[3]। हम लिख आये हैं कि **समिधा अग्नि और आज्य को मिलाने वाली कड़ी है**। समिधा, के विना जहां अग्नि-प्राप्ति असंभव है वहां समिधा के बिना घृत का अग्नि तक पहुंचना भी असंभव है। अग्नि-ग्रहण में, समिधा की प्राथमिकता है। इसको आबाल–वृद्ध प्रत्येक व्यक्ति जानता है। माचिस की सलाई में भी समिधा लगी है जैसे ही रगड़ से अग्नि उत्पन्न हुई कि उसे समिधा ने प्राप्त कर लिया।

ग्रीष्म तनूनपात्—

आदि-सर्ग में जहां वसन्त आज्य था वहां ग्रीष्म ऋतु समिधा थी। शतपथकार ने ग्रीष्म को 'तनूनपात् कहा है। संवत्सर-यज्ञ में ग्रीष्म, तनूनपात् है तो हविर्यज्ञ में समिधा 'तनूनपात्' है। तनूनपात् शब्द तनू और नपात् इन दोनों से बना है: 'तनू' का अर्थ शरीर प्रसिद्ध ही है; नपात् शब्द निघण्टु में अपत्य शब्द के पर्यायवाचियों में पढ़ा गया है। अपत्य शब्द की व्युत्पत्ति आचार्य यास्क ने इस प्रकार दी है **'अपत्यं कस्मात् अपततं भवति, नानेन पततीति वा'**[4] इसमें से **'नानेन पततीति'** इस भाग को ले लीजिये। इसका अर्थ है कि जिसके होने से कुल पतित न हो। बस यही **नपात्** शब्द का अर्थ है **'नानेन पतति'**। भेद केवल इतना है कि **'अपत्य में नञ्** के **न** भाग का लोप हो गया है और 'नपात्' में नहीं हुआ। दयानन्द सरस्वती ने **तनूनपात्** की व्युत्पत्ति **'यस्य तनूनि शरीराणि न पातयति सः'**[5] ऐसी दी है। अतः **तनूनपात्** का अर्थ हुआ जो शरीर को न गिरने दे; जिसके सहारे शरीर खड़ा हो। बस ग्रीष्म इसलिए **'तनूनपात्'** है कि वह मेघ के जलमय तनू को गिरने नहीं देता इसी के प्रताप से नव मास तक जल अन्तरिक्ष में स्थित रहता है।

समिधा तनूनपात्—

समिधा इसलिये **'तनूनपात्'** है कि वह अग्नि के तनु को **प्रकाश और ताप** को नहीं गिरने देती। जब तक समिधा का अस्तित्व है तब तक अग्नि का शरीर=ताप और प्रकाश नहीं गिरता इसीलिये समिधा को प्राथमिकता दी है।

---

१. **इन्धे ह वा एतदध्वर्युः—इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम।** —श० ब्रा० १.३.२.१
२. निरु० ८.५.
३. यजु० .३.२
४. निरु० ३.१.१.
५. ऋ०.१.१८८.२

समिधा की संख्या—

अथर्ववेद में वर्णन है कि ब्रह्मचारी आचार्य के पास जब पहली बार पहुंचता है, तो तीन समिधाएं लेकर जाता है : उसने **पृथिवी लोक** को प्रथम **समिधा** बनाया, **द्यौलोक** को दूसरी **समिधा** बनाया और **अन्तरिक्ष लोक** को तीसरी **समिधा** बनाया[1]। इसका मर्म यह है कि ब्रह्मचारी ने अपने **अन्नमय** को, **प्राणमय** को, और **मनोमय** को **समिधा** बनाया। इस समिधा की संख्या तीन तक निश्चित हुई। यजुर्वेद में प्रश्नमुख से पूछा गया—**'कति होमासः कतिधा समिद्धः'**। अगले ही मंत्र में उत्तर दिया गया कि **अशीति होमाः समिधो ह तिस्रः**[2] कि समिधाएं तीन ही हैं।

वास्तव में समिधा का समित्व एक से अधिक होने में ही है इस तथ्य का साक्षी समिधा शब्द में प्रयुक्त सम् उपसर्ग है। सम् का अर्थ है एकीभाव और वह एक से अधिक में ही सम्भव है। चूल्हे में भी एक लकड़ी कभी नहीं जलती वहां भी दो के सिर जोड़ने होते हैं यही सम् का अर्थ है। अतः कहा—**सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत अरा इव रथनाभौ।**

इक्कीस समिधाएं—

एक ओर तो यजुर्वेद में **'समिधो ह तिस्रः'** कहकर उनकी संख्या तीन निश्चित कर दी और दूसरी और पुरुष-सूक्त में कहा कि देवों ने जब यज्ञ का वितान किया तो [उस प्रथम यज्ञ में] इक्कीस समिधाएं पड़ीं **'त्रिःसप्तसमिधः कृताः'**[3]। अब देखना यह है कि इन दोनों स्थापनाओं में किस प्रकार संगति बिठाई जाय ? इसके लिये **'त्रिःसप्त'** पद के **त्रि** शब्द में समस्या का समाधान निहित है यहां प्रयुक्त ,**त्रि'** शब्द इस बात का सूचक है कि मूल समिधांए तीन हैं ; फिर उनके सात-सात अवान्तर भेद होने से समिधा की इक्कीस संख्या पूरी हो जाएगी। आइये हम मूल समिधाओं का अवलोकन करें। ब्रह्मचारी ने **अन्नमय, प्राणमय, मनोमय** को तीन समिधाएं बनाया। फिर **अन्नमय** की **रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा** और **रेतस्** अवान्तर भेद से **सात समिधाएं; प्राणमय** की **प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, देवदत्त,** और **धनंजय** अवान्तर भेद से सात **समिधायें** और इसी प्रकार **मनोमय** की **मन, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, जिह्वा** तथा **त्वचा** भेद से सात **समिधाएं** बनायी। कुल त्रिगुणित × सप्त = इक्कीस समिधायें बनाई। इस प्रकार अध्यात्म में ये इक्कीस समिधायें हुई ; अन्य कक्षाओं में भी एतद् विषयक चिन्तन अपेक्षित है।

शरद् हविः—

यज्ञ के सम्पादक-तत्त्वों में आज्य, समिधा का वर्णन हो चुका; अब **'हवि'** का क्रम है। **'हविः'** शब्द की निष्पत्ति **'हु'** धातु से हुई है। **'हु'** धातु के अर्थों की व्याख्या यज्ञ के प्राथमिक धर्मों के संदर्भ में हो चुकी है : **'हूयते यत्तत् हविः'**[4] **जो लेने के लिये दी जाती है और देने के लिये ली जाती है, उसका नाम 'हवि' है।** यहां अधिक न कहकर केवल मात्र, हवि का शरद् के साथ सम्बन्ध दिखाना अभीष्ट है; जो कार्य देवयज्ञ में 'हवि' का है वही कार्य संवत्सर-यज्ञ में शरद् का है। संवत्सर की सफलता शरद् ऋतु में देखी जाती है:– वसन्त में जो बोया था उसे काटने का समय आगया है। फसल पक कर तैयार हो

---

१. **इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीया-उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।—अथर्व० ११.५.४**

२. यजु० २३.५८।—**गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुः॥** ऋ० १.१६४.२५

३. ऋ० १०.९०.१५. ४. उणादि० २.१०८। स्वा० द० कृत व्याख्या।

गई। **शरद् ऋतु** का **फल ही द्रविण** [=धन] है[1]। **फल** प्राप्त होने पर ही धन की उपलब्धि होती है।

हवि और फल—

हवि भी फल ही तो है: —हवि शब्द का अर्थ करते हुए दिखा आये हैं कि जो दिया जाता है लेने के लिए और लिया जाता है देने के लिये—वह हवि है। परन्तु इस लेन देन में [अदन] खाने का भाव संलग्न है। खाना उसी पदार्थ का उपयुक्त है जो पूर्णतया परिपक्व हो। इसीलिये कहा **'फलं द्रविणम्'**। पकी हुई वस्तु यदि दी जाय तो वह लौट कर आयेगी। धरती में पका हुआ बीज डालने पर ही शतगुणित होकर लौटेगा, कच्चा बीज क्या लौटेगा ? कच्चा तो समाप्त हो जाएगा, बीज पका हुआ था इसकी प्रतीति बीज के फसल रूप में लौटने पर है, इसीलिये **'शरद् हवि'**: कहने का अभिप्राय भी यही है कि हवि उसी पदार्थ का बनायें जो पुन: लौट सके और वह पका हुआ ही पदार्थ हो सकता है। पका हुआ डाला था, पका हुआ ही लौट आया तो जानो यज्ञ सफल हुआ। जिस प्रकार वर्ष भर की फसल, शरद् में पककर आती है, उसी प्रकार मनुष्य का खाया-पीया, शरद में पूर्ण परिपाक को प्राप्त होता है। इसीलिये वैदिक प्रार्थनाओं में शरद् की ही कामना की गयी है—**'जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्[2]', ,शतमिन्नु शरदो अन्तिदेवाः[3]'** इत्यादि। इसीलिए **'शरद् हविः', 'शरद् ऋतुः फलं द्रविणम्** कहना कितना उपयुक्त है। वास्तव में **'हविः फलम्'** हवि ही फल है, फल ही हवि है।

बर्हि और प्रोक्षण—

जब देवों ने'पुरुष हवि' से यज्ञ का विस्तार किया तो उस समय **वसन्त आज्य** था, **ग्रीष्म इध्म** था, **शरद् हवि** था। और फिर उस अग्रजात पुरुष-रूप यज्ञ का बर्हि पर प्रोक्षण किया[4]। यहां बर्हि और प्रोक्षण-विधि पर कुछ प्रकाश डालना है। सामान्य यज्ञों में बर्हि छितराई जाती है और उस पर जल-प्रोक्षण किया जाता है। **'बर्हि** विशेष **घास** को कहते हैं—उस घास को जो पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होकर फल दे चुकी है —पृथिवी पर छितराई अवस्था में पड़ी शरद् में फल दे चुकी है और हेमन्त में पत्र तक झड़ गये अब वसन्त की प्रतीक्षा है। उसके आगमन पर पुनर्नवा हो उठेगी। वेदी पर बर्हि बिछाने का सम्भवत: यही संकेत है कि प्रोक्षण-विधि वहीं करो जो भूमि उपजाऊ हो, [ऊसर भूमि पर न बर्हि बिछ सकती है और न सिंचन-क्रिया ही हो सकती है] वहां सब व्यर्थ है। **यज्ञवेदि पृथिवी** का, और उस पर **बिछाई कुशा ओषधि-वनस्पति** का अर्थात् **कुशा से आच्छादित वेदि उपजाऊ भूमि का** और प्रोक्षण-विधि सिंचन का प्रतीक है। उपजाऊ भूमि ही वपन और सिंचन की पात्र है।

उपजाऊ भूमि बर्हि है—

यह पृथिवी लोक बर्हि है, क्योंकि इसी पर खेती पकती है इसीलिये पूर्ण परिपक्व ओषधि को ही **'बर्हि'** कहते हैं। फलपाकान्त ओषधि बर्हि है, सो यजमान इस पृथिवी-लोक में ओष।ध की अर्थात् पकी खेती की स्थापना करता है। यह देखो तो प्रत्यक्ष संसार में भी पृथिवी-लोक में ओषधि[अन्न] प्रतिष्ठित है, क्योंकि इसी अन्नपूर्णा धरती पर सब जगत् खड़ा है, इसीलिये पृथिवी को जगती कहते हैं। इस **बर्हि**

---

१. **'शरद् ऋतुः फलं द्रविणम्'** यजु० १०.१३. २. यजु० ३६.२४. ३. यजु० २५.२२

४. **यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।**
—ऋ० १०.९०.५

५. **तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः तेन देवा अयजन्त।**—ऋ० १०.९०.६

को **जगती** छन्द माना गया है जो काव्य का प्रथम छोर प्रथम साधन है।[१]

इस प्रकार र्बाहि उन समस्त तत्त्वों का प्रतिनिधि है जो वृद्धिगत हैं और पुर्नवृद्धि के [पुनर्जन्म के] समर्थ कारण हैं। **प्रजा** को भी **र्बाहि** कहा गया है। **पशुओं** को भी **र्बाहि** कहा गया है। इन सभी को **र्बाहि** कहा जाने का भी उक्त कारण है। प्रजाएं र्बाहि हैं उन्हीं से समाज और राष्ट्र वृद्धि को प्राप्त होते हैं। पशु र्बाहि हैं उन्हीं से दुग्ध, घृत, अन्न वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

र्बाहि-प्रोक्षण—

र्बाहि-प्रोक्षण का अभिप्राय यही है कि जो ओषधि पुनर्नवा होकर पुष्पित होने का सामर्थ्य रखती है उसे सींचा जाए, इसीलिए वेदि पर छितराई गई र्बाहि पर प्रोक्षण किया जाता है। प्रोक्षण सर्वत्र जल से ही किया जाता है, अतः जल उस मूलतत्त्व का प्रतिनिधि है जो रचना का कारण बनता है। **वेदियां अनन्त हैं, र्बाहि अनन्त हैं, प्रोक्षण-विधि भी कक्षाभेद से अनन्त हैं और जल भी अनन्त हैं।**

परिधि का अभिप्राय—

परिधि शब्द का अर्थ है— सब ओर से घेर कर धारण करने वाली शक्ति[२]। संसार का प्रत्येक घटक परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक, परिधि से आवृत है यथा—गर्भ उल्व से आवृत रहता है, शरीर त्वचा से आवृत रहता है और भूमि सप्त वायुओं से आवृत रहती है। परिधि वह मर्यादा है जिससे प्रत्येक तत्त्व सुरक्षित रहता है। परिधियां परिवेष्टन के सिद्धान्त की प्रतिनिधि हैं। परिवेष्टन, शक्तिशाली जीवन-तत्त्व को तब तक रखने के लिये है जब तक वह द्रव्य में रहता है। आधेय के लिये पात्र आवश्यक है। कक्षाभेद से परिधियां भी भिन्न-भिन्न हैं। दिशाएं परिधि हैं।[३] ये लोक परिधि हैं।[४] इस प्रकार परिधियों का विस्तार अनन्त है।

सात परिधियां—

पुरुषसूक्त में इन परिधियों की संख्या सात कही गयी है।[५] सात का अंक यहां महत्त्वपूर्ण है और वैदिकसाहित्य में यह सुपरिचत विविध सप्तकों का स्मरण दिलाता है। ऋग्वेद में अन्तराल की सात दिशाओं का उल्लेख है[६] और सप्तधाम-सात ठिकानों का भी। इनमें से अधस्तम पृथिवी अथवा भूः है और ऊर्ध्वतम 'सत्यम्'[७]। सप्त मर्यादाओं को व्यक्ति-जीवन के लिये सात परिधियां माना जा सकता है[८] सभी भाष्यकार

१. अयं वै लोको र्बाहिः+ओषधयो र्बाहिर्+अस्मिन्नेवैतल्लोक ओषधीर्दधाति ता इमा अस्मिँल्लोक ओषधयः प्रतिष्ठितास्तदिदं सर्वं जगदस्यां तेनेयं जगती तज्जगतीं प्रथमामकुर्वन्। —शत० ब्रा० १.८.२.११

२. गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्ति। —श० ब्रा० १.३.४.८

३. दिशः परिधयः।—ऐ० ब्रा० ५.२८

४. इमे वै लोकाः परिधयः। —तै० ब्रा० ३.८.१८.४

५. सप्तास्यासन् परिधयः। —ऋ० १०.९०.१५

६. तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः। —ऋ० ४.१३.३

७. अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः। —ऋ० १. २२. १६
सप्त धामानि परियन्नमर्त्यो दाशद्दाशुषे सुकृते मामहस्व। —ऋ० १०.१२२.३

८. सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुः।—ऋ० १०.५.६.

गायत्र्यादि सात छन्दों को सात परिधियां मानते हैं।[1] इसका संभाव्य कारण पद्यात्मक रचना को सब ओर से रक्षित करना है। **स, रे, ग, म** आदि **सप्त स्वरों को** संगीतशास्त्र की परिधि माना जा सकता है।

दयानन्द सरस्वती ब्रह्माण्ड पर परिवेष्टन रूप सात परिधियां मानते हैं। उनमें सर्वप्रथम 'समुद्र पहली परिधि है; त्रसरेणु युक्त वायु का आवरण द्वितीय परिधि; वायु-सहित जल का वायुमण्डल तृतीय परिधि; वृष्टि-जल की चतुर्थ परिधि; उससे ऊपर वायु पंचम परिधि; अत्यन्त सूक्ष्म-रूप में विद्यमान धनंजय नामक प्राण षष्ठ परिधि और सर्वत्र व्याप्त सूत्रात्मा सप्तम परिधि'।[2]

पहले पर दूसरा, दूसरे पर तीसरा इस क्रम से सात आवरण हैं, वे ही सात परिधियां हैं। सूर्य की सात रश्मियां, उसके सात रंग, और सप्ताह=सात दिन भी सात परिधियां कही जा सकती हैं। कक्षा-भेद से परिधियां भी अनन्त हैं।

पुरुषपशु-मीमांसा—

इस प्रकार सूक्तवर्णित यज्ञांगों का सामान्यतः वर्णन किया गया है। **यज्ञ के प्राथमिक धर्म क्या थे? वसन्त आज्य, ग्रीष्म इध्म, और शरद् हवि का क्या आशय है? बर्हि के प्रोक्षण का क्या अभिप्राय है? समिधाओं की इक्कीस संख्या किस आशय का संकेत है? परिधि क्या है? और वे सात क्यों हैं?** आदि प्रश्नों की मीमांसा होने के पश्चात् यह प्रश्न होता है कि **'पुरुष-पशु' कौन था** कि जिसे देवों ने यज्ञ के विस्तारार्थ बांधा था? इस प्रश्न की मीमांसार्थ सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि **पशु शब्द का आशय क्या है?** तत्पश्चात् **पशुयाग से सम्बद्ध आलम्भन, संज्ञपन, अवदान, उपाकरण, मेघ,** आदि शब्दों की मीमांसा भी आवश्यक है। उनमें सर्वप्रथम **'पशु'** शब्द पर विचार करते हैं।

यास्क ने 'पशु' शब्द का निर्वचन **'पशु पश्यते'**[3] **अर्थात् जो देखता है वह पशु है'** किया है। इस लक्षण के अनुसार तो सभी प्राणधारी पशु कहलाएंगे। चाहे वे चतुष्पाद् गौ, अश्व, अजा आदि हों, चाहे वे मनुष्य हों, फिर क्या कारण है कि पशु शब्द मनुष्येतर प्राणियों के लिए ही रूढ़ हो गया? इसका कारण पशु और मनुष्य के देखने के प्रकार का अन्तर है। जिसे मनुष्य चक्षु इन्द्रिय से देखता है, उसे पशु सूंघ कर अथवा स्पर्श करके देख लेता है। जिसे मनुष्य मनन से जानता है, उसे पशु निसर्गतः जान लेता है। पशु केवल चक्षु से ही नहीं देखता वह निसर्गतः अन्य इन्द्रियों से भी देखता है। इस विषय में शतपथ-ब्राह्मण ने कहा है—**'चक्षुरेव [स] पशूनामादत्त। तस्मादेते चाकश्यमाना इवैव न जानन्त्यथ**

---

१. [क] **अस्य यज्ञस्य सप्तपदार्थाः छन्दांसि परिधय आसन्।**
भट्टभास्करकृत तै० आ० भा० ३.१२.७

[ख] **तदानीमस्य् यज्ञस्य सप्तसप्तसंख्यकानि गायत्र्यादीनि च्छन्दांसि।**
अथर्व० १९.६.१५। सा० भा०

२. **अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति। समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः। मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः। वृष्टिजलं चतुर्थम्, तदुपरि वायुः पञ्चमः, अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः। सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च।**
—ऋ० भा० भू०। पृ० ४१७

३. [क] निरु० ३.१६
[ख] **यदपश्यत्तस्मात् पशुः। —शत० ब्रा० ६.२.१.१**

यदेवोपजिघ्रन्त्यथ जानन्ति ।'[1] इस कण्डिका का सायणाचार्य—भाष्य द्रष्टव्य है—**'यस्मात् पशवो भृशं पश्यन्त इव वर्त्तमाना अपि न जानन्ति किन्तु आघ्राणेन सर्वं जानन्ति ।'—प्रजापति ने पशुओं की आंखें ले लीं इसलिए ये देखते हुए भी नहीं जान पाते, जब ये सूघंते हैं तब ये जानते हैं ।**

'पशु' और 'ऋषि' का दर्शन—

'पश्यतीति पशुः' के निर्वचन में 'दृश्' धातु को पश् आदेश हुआ है,[2] इसलिए 'पश्यतीति पशुः' में जो देखने की भावना है वह सामान्य नहीं, अपितु प्रेक्षण है किसी वस्तु का साक्षात्कार है । **'ऋषि-दर्शनात्'**[3] और **'पश्यतीति पशुः'** एक ही अर्थ के द्योतक हैं ।

पशु और ऋषि के दर्शन में साधन का अन्तर है । एक का आधार **निसर्ग** है दूसरे का आधार **तर्क** । **'पशु** वह है जिसे दीखता है' और **'ऋषि** वह है जो **देखता है ।' पशु को निसर्गतः दीखता है, जबकि ऋषि तर्क से देखता है ।**

मनुष्य की विशेषता—

पुरुष को जहां **निसर्गतः** दीखता है वहां वह **मननतः देखता भी है । निसर्गतः दीखना पशुत्व** है और **मननतः देखना मनुष्यत्व है,** साथ ही **तर्कतः देखना ऋषित्व है । मनुष्य में दीखना भी है और देखना भी है । निसर्ग भी, तर्क भी; पशुत्व भी, ऋषित्व भी । इसलिए मनुष्य पशु भी है, ऋषि भी है ।** यजुर्वेद में पशूनां रूपमशीय कहकर पशुओं के रूप के [अशन] उपयोग की बात कही गई है । वेदों में पशुओं के मांस के उपयोग की तो कथा ही क्या उसकी गन्ध तक भी नहीं है यदि वेद को पशु-मांस-भक्षण का प्रतिपादन अभीष्ट होता तो **'अशीय'** क्रिया का प्रयोग होने पर सरलता से **पशूनां 'मांसम्'** प्रतिपादित किया जा सकता था, परन्तु ऐसा नहीं है । यज्ञों में पशु-बलि और श्राद्धों में मांस भक्षण के पक्षपाती महीधर ने भी **'पशूनां रूपम्'** का अर्थ **'पशुसम्बन्धिनी शोभा'** किया है । प्रसिद्ध भाष्यकार उवट ने भी इसका अर्थ पशुओं का उपकार किया है । पशुओं के इस रूप और तेज को आलम्भन और संज्ञपन द्वारा मनुष्योपयोगी और राष्ट्रोपयोगी बनाया जा सकता है । **पशुओं में विद्यमान नैसर्गिक तेज और रूप को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त कर लेना 'आलम्भन' है,** और **आलब्ध पशु एवं पशु के तेज, रूप और यश को प्रशिक्षण द्वारा उपयोगी बनाना 'संज्ञपन' है ।**

इससे पूर्व कि व्यक्ति पशुओं के रूप, यश, और तेज का अशन करे आवश्यक है कि उनका आलम्भन और संज्ञपन करे अतः सर्व प्रथम आलम्भन, संज्ञपन, मेधादि शब्दों पर विचार करना अभीष्ट है ।

आलम्भन, संज्ञपन अवदान मेधादि शब्दों पर विचार—

वेद के नाम पर यज्ञों में पशु-हिंसा का प्रचार करने वालों ने **आलम्भन, संज्ञपन,** और **अवदान** आदि शब्दों का आधार लेकर वह मनमानी धांधली मचाई है, कि जिसका परिहार करना आज कठिन हो रहा है । इन्हीं को आधार बनाकर योरूप के तथाकथित वैदिक विद्वान् वेद एवं वैदिक साहित्य में **गोमेध, अश्वमेध, अजमेध** और **नरमेध** नामक यज्ञों के द्वारा **गौ, अश्व, अज,** और **नर** की हवि देना प्रतिपादित करते हैं इन सब का परिहार तभी सम्भव है कि जब **आलम्भन, संज्ञपन, अवदान, मेधादि** शब्दों के वास्तविक अर्थ जान लिये जाएं । अतः सर्व प्रथम **'आलम्भन'** शब्द पर विचार किया जाता है ।

---

१. शत० ब्रा० ११.८.३.१० २. उणादि० १.२७. ३ निरु० २.११.

आलम्भन

हमारी स्थापना तो यह है कि—**किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ की नैसर्गिक शक्ति का प्रत्यक्ष करने के निमित्त सब ओर, सब प्रकार से प्रयत्न करने के उपरान्त उस व्यक्ति एवं नैसर्गिक गुण का अनायास प्राप्त हो जाना आलम्भन है।** हमारी तुच्छ सम्मति में आङ् पूर्वक लभ् धातु का यही **गंभीरार्थ** है, जिसे मांसल-प्रज्ञ मीमांसकों ने न समझकर आलम्भन का अर्थ मारण=प्राण-वियुक्त करना समझ लिया, जिसके परिणाम स्वरूप **पश्वालम्भन** के नाम पर **अश्व, गौ, अज, अवि, पुरुष** को यज्ञ में हविरूपेण डालना स्वीकार कर लिया।

वैदिक साहित्य में **आङ् पूर्वक लभ्** धातु **प्राप्ति, स्पर्श** और क्वचित् **मारन** अर्थ में उपलब्ध होती है। आश्चर्य का विषय है, कि आलभ शब्द के साथ **मारन** अर्थ किस प्रकार युक्त हो गया, जबकि न तो धातुपाठ में ही कोई मारनार्थक लभ धातु उपलब्ध होती है और न वैदिक निघण्टु ही में हिंसार्थक शब्दों में **लभ** शब्द पठित है। निस्सन्देह **'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते'** के सिद्धान्तानुसार उपसर्ग के प्रयोग से धात्वर्थ-हठात् कुछ का कुछ अर्थ देने लगता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय तो नहीं; कि—**प्राप्त्यर्थक लभ**-धातु आङ्-उपसर्ग के वल से प्राप्ति अर्थ के सर्वथा विपरीत मारन अर्थ देने लग जाए। आश्चर्यं महदाश्चर्यम्। फिर भी यह विचारणीय अवश्य है कि आलभ का अर्थ–मारना किस प्रकार हो गया। इस पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक होगा कि प्राप्ति और स्पर्श अर्थों को समझ लिया जाए।

पाणिनीय धातुपाठ में भ्वादिगणीय **डुलभष्** धातु **प्रप्तौ** अर्थ में उपलब्ध होती है और आङ् उपसर्ग के प्रयोग में प्राप्ति अर्थ को स्पर्श अर्थ में बदल दिया अब निश्चय होगया कि लभ धातु का अर्थ प्राप्ति तो है परन्तु **'स्पर्शपूर्विका प्राप्ति'** है। धातुरूप–कल्पद्रुम में ६३६ संख्या वाली **डुलभष्** प्राप्तौ धातु के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए **आलम्भ का अर्थ स्पर्श** दिया हुआ है। स्पर्श का और प्राप्ति का पारस्परिक ऐसा सम्बन्ध है कि विना स्पर्श के वस्तु की प्राप्ति असंभव है जब तक कोई वस्तु हस्तगत न हो तो प्राप्ति कैसी? स्पर्श का अभिप्राय ही है वस्तु का हस्तगत हो जाना, यतः स्पर्श हाथ से ही किया जाता है। क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय त्वक् सारे शरीर पर व्याप्त है, अतः आङ् उपसर्ग ने इस आशय को गृहीत कर लिया और **'आसमन्तात् लम्भनम् प्राप्तिरालम्भनम्।** इसीलिए हमने आलम्भ शब्द के अर्थ में स्थापना की है कि **सब ओर से और सब प्रकार से प्राप्ति** इसमें **'सब ओर से, सब प्रकार से'** यह अर्थ आङ् उपसर्ग का ही है। सब ओर से सब प्रकार से लाभ कराने का साधन स्पर्श ही है अतः आलभ का अर्थ स्पर्श निश्चित हो गया अर्थात् ऐसी **प्राप्ति कि जिसे स्पर्श द्वारा सब ओर से सब प्रकार से टटोल कर जान लिया हो।**

वैदिक साहित्य में इन्हीं अर्थों में आलभ का प्रयोग देखा जाता है। तद्यथा चतुर्वेदभाष्यकार आचार्य सायण ने भी **आलभ** शब्द का **स्पर्श** अर्थ ही किया है। **अक्षान् यद् बभ्रू नालभे[1]=बभ्रून् बभ्रु-वर्णान्...अक्षान् देवनसाधनभूतान् आलभे देवितुं स्पृशानीति यत्[2]। आङ्पूर्वो लभिः स्पर्शार्थः** यहां आलभे क्रिया का अर्थ अति स्पष्ट है, कि खेलने के लिए बभ्रु रंग को पासों को स्पर्श करता हूं; यहां स्पर्श करने का अर्थ छूना मात्र नहीं है अपितु स्पर्शपूर्विका प्राप्ति है अन्यथा स्पर्श मात्र से किस प्रकार खेल पाएगा; यहां **स्पृशामि** का अर्थ है; पासों को **हस्तगत** करता हूं, **मुट्ठी में** करता हूं, **कब्जे** में करता हूं; आलभ का अर्थहै; **प्राप्ति;** और **प्राप्ति** [आप्लृ व्याप्तौ] का अर्थ है **कब्जा** करना, **अधिकार** करना।

उत्तर कालीन साहित्य में भी ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं कि जिनमें आङ् पूर्वक लभ् [आलभ] धातु, स्पर्श द्वारा ढूंढ तलाश करके प्राप्त करने अर्थ में प्रयुक्त हुई है; तद्यथा विवाह प्रकरण में हम निम्न वाक्य पाते हैं **'दक्षिणमंसमधि हृदयमालभते'** अर्थात वर वधू के दाहिने कन्धे के नीचे हृदय का **आलम्भन [स्पर्श]** करता है। इसी प्रकार उपनयन संस्कार में विहित है कि आचार्य **'अस्य दक्षिणां समधि हृदयमालभते''** इस ब्रह्मचारी के दाहिने कन्धे के नीचे हृदय का **आलम्भन** करता है, **स्पर्श** करता है।

उक्त दोनों स्थलों को देखने से अतिस्पष्ट हो गया कि **आलभ** का अर्थ हृदय को स्पर्श द्वारा सब ओर से **सब प्रकार से ढूंढ तलाश करके प्राप्त** कर लेना है। विचारणीय है कि हृदय की प्राप्ति स्पर्श के बिना संभव ही नहीं, उसे आखों से नहीं देखा जा सकता डुपलप् ध्वनि को, धड़कन को या तो स्पर्श द्वारा या फिर श्रवण द्वारा जाना जा सकता है श्रवण द्वारा जानने के लिए भी कानों का हृदय से स्पर्श करना आवश्यक है। डाक्टर भी स्टेचसकोप से स्पर्श करके ही उसकी ध्वनि को जानते हैं अन्यथा हाथ के स्पर्श से ही जाना जा सकता है, हाथ के द्वारा टटोलना पड़ता है, हृदय की धड़कन अनुभव की जाती तब कहीं **हृदयालभन** होता है। वर अथवा आचार्य द्वारा वधू अथवा ब्रह्मचारी के **हृदयालम्भन** का अर्थ **स्पर्शपूर्विका प्राप्ति** ही है।

आलभ् धातु और हिंसा अर्थ—

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि आ+लभ् धातु का अर्थ **'स्पर्शपूर्विका प्राप्ति'** है, तो फिर **'स्पर्श-पूर्विका प्रप्ति'** में **हिंसा** अर्थ कहां से आ गया, यही बात विचारणीय है। ध्यान रहे कि जब-जब स्पर्शपूर्विका प्राप्ति [आ+लभन] होगी, तब तब हिंसा अवश्य होगी परन्तु **'मारन नहीं, प्राणविमोचन नहीं'** कारण अति स्पष्ट है कि वधू अथवा शिष्य के लिए वर अथवा आचार्य दोनों ही सर्वथा अपरिचित हैं और वे अपरिचित व्यक्ति जब हृदय स्पर्श करेंगे तो वधू और शिष्य को असह्य होगा, बस यह असह्य भाव ही **हिंसा** है। अतः आलभ के साथ हिंसा अर्थ भी संलग्न हो गया। जब जब स्पर्श द्वारा सब ओर टटोलकर वस्तु की प्राप्ति की जाएगी तब तब **हिंसा** होगी।

पश्वालभन और हिंसा—

पश्वालभन शब्द का अर्थ भी इसी छाया में समझने का प्रयत्न करें। पश्वालभन का अर्थ भी यही है कि पशु को स्पर्श द्वारा सब ओर से, सब प्रकार से टटोलकर प्राप्त कर लेना। इस प्रकार पश्वालम्भन में हिंसा अवश्यम्भावी है। पशु स्वभावतः नवागन्तुक अपरिचित व्यक्ति को देखकर घबराने, घूरने और उच्छ्वास छोड़ने लगता है; यहां तक कि रस्सा तुड़वाने का प्रयत्न करता है, यह सब पशु-हिंसा ही तो है। यदि कोई किसान उत्तम बैल खरीदना चाहे तो बैल की उत्तमता के परीक्षण के लिए बैल को कभी सामने से तो कभी पीछे से देखता है, देखता ही नहीं कभी पूंछ को छूता है तो कभी पीठ पर हाथ मारकर देखता है तो कभी जबड़ा खोल कर दांत गिनता है यह सब ओर से टटोलना ही आङ् उपसर्ग का अर्थ है, और वह भी स्पर्शपूर्वक जो कि पशु के लिए सर्वथा असह्य होता है। बस स्पर्श-पूर्विका प्राप्ति में हिंसा अवश्य जुड़ी हुई है, अतः आलभ का अर्थ जहां प्राप्ति है, जहां स्पर्श है, वहां हिंसा भी है।

'आलभ' के लौकिक प्रयोग और पंजाबी-भाषा—

यह तो हुआ शास्त्रीय प्रयोग की दृष्टि से 'लभ्' धातु के अर्थ का निर्णय। लौकिक भाषा में

किये जाने वाले प्रयोग के माध्यम से भी 'लभ्' के सम्भव अर्थों का किंचित्-विश्लेषण करना समुप-युक्त ही रहेगा। संस्कृत के 'लभ् धातु का प्रयोग इसी स्वरूप में पंजाबी भाषा में पाया जाता है। वहां इसका मुख्यतः तीन अर्थों में प्रयोग होता है– १. **गवेषणारहित [हिंसा पूर्विका] अनायास उपलब्धि में, २. गवेषणासहित असहाय अकस्मात् उपलब्धि में, ३. सानुसन्धान ससहाय [स्पर्शपूर्विका] समुपलब्धि में।**

१. एक व्यक्ति को मार्ग में जाते हुए अप्रत्याशित रूप में अनायास ही किसी की रुपयों की एक थैली प्राप्त हो गई। उसके मुख से निकला—**'मैंनु ए चीज लभ् पई'**। तदनन्तर ही यदि उस द्रव्य-राशि का स्वामी आकर उस द्रव्यराशि पर अपना अधिकार प्रदर्शित करता है, तो उस व्यक्ति का कथन होगा **'ए मैंनु लभी'** है ते ए मेरी ही है थ्वाडी किद्दा हैं'। यहां वस्तु की **प्राप्ति** तो हुई, किन्तु उस प्राप्ति से तद्वस्तुस्वामी को **पीड़ा** [हिंसा] भी हुई, अतः यहां **'लभ्' का प्रयोग अनायास हुई हिंसा-पूर्विका प्राप्ति में है।**

२. किसी की कोई वस्तु विलुप्त हो गई। उसे पाने के लिये वह प्रयत्नशील है, किन्तु प्रकाशाभाव में चक्षुः-सम्प्रयोग न होने के कारण हस्तादि से टटोल रहा है। तब अकस्मात् उस वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर वह प्रसन्न होकर कहता है 'आ लभ् पई'। यहां गवेषणापूर्वक प्राप्ति का प्रयत्न किया जा रहा था परन्तु नेत्रप्रयोग के अभाव में **त्वचा-संस्पर्श** से ही उसकी **प्राप्ति** हो सकी। अतः **'लभ्' का प्रयोग यहां स्पर्शपूर्विका प्राप्ति के अर्थ में है।**

३. किसी गुणवद् योग्य वस्तु का योग्यता अथवा गुणों के आधार पर अनुसन्धान किया जा रहा है। प्रकाशादि भी उसमें सहायक हैं। किन्तु चक्षुः सम्प्रयोग-मात्र से उपलब्धि सम्भव नहीं होती। एक कृषक उत्तम बलीवर्द=बैल के क्रयार्थ हाट में पहुंचा। अनेकत्र ढूंढ मचाई। एक स्थल पर बलीवर्द के पृष्ठ भाग पर विशेष प्रकार से हस्तस्थापन किया। हस्तसंस्पर्श होते ही बलीवर्द चौंक कर एक ओर हो गया। बस, कृषक बोल उठा—**'लभ् पया'**! **'लभ् पया'**!! यहां **गवेषणाधीना स्पर्शमात्र-साध्या प्राप्ति** अर्थ में लभ् का प्रयोग है।

लभ् का लौकिक प्रयोग—

इस प्रकार एक लोक-भाषा [पंजाबी] के लौकिक प्रयोगों में भी **लभ्** धातु **स्पर्शपूर्विका** एवं तज्जनित **हिंसा-पूर्विका** [=पीड़ा पूर्विका] प्राप्ति अर्थों में प्रयुक्त होती है, यह स्पष्ट हो गया। संस्कृत में प्रयुक्त हिंसा पूर्विका प्राप्ति वाले **आ+लभ्** का पञ्जाबी भाषा में **आ** भाग लुप्त हो गया और केवल **लभ्** रह गया। फलतः लभ् या आलभ् का प्रयोग लौकिक भाषाओं में भी मुख्यतः प्राप्ति अर्थ में होते हुए भी, उसके साथ **स्पर्श तथा पीड़ा** की भावना का भी क्वचित् प्रंसगात् समावेश हुआ है, परन्तु वह प्राप्तिजन्य अन्यत्र पीड़ा है, वध या प्राणान्तकारिणी पीड़ा नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि व्यक्ति अथवा पदार्थ की नैसर्गिक शक्ति अथवा सामर्थ्य को प्रत्यक्ष कर प्राप्त कर लेना आलभन है वह प्रत्यक्षचक्षु द्वारा हो, स्पर्श द्वारा हो अथवा किसी भी इन्द्रिय द्वारा हो। इसलिए आलभन का अर्थ न केवल दर्शन-पूर्विका प्राप्ति है, न केवल स्पर्श-पूर्विका प्राप्ति है अपितु शब्द, रस, गन्ध पूर्विका प्राप्ति भी है। उद्देश्य है व्यक्ति के नैसर्गिक गुण का, अर्थ का, साक्षात्कार। मनुष्य और पशु के आलभन में, दर्शन में, यही अन्तर है कि मनुष्य मनन द्वारा प्रत्यक्ष करता है जब कि पशु घ्राण द्वारा प्रत्यक्ष करता है, हम पीछे पृष्ठ २९७ पर शतपथ के

प्रमाण से लिख आये हैं, कि प्रजापति ने पशुओं की आंखे ले लीं, इसलिए यह देखते हुए भी नहीं जान पाते, जब ये सूंघते हैं तब ये जानते हैं। नीति का अति प्रसिद्ध वचन है कि—**"चारैः पश्यन्ति राजानो, गावो गन्धेन पश्यन्ति"** राजा लोग व्यक्तियों के रहस्यों को गुप्तचरों के माध्यम से देखते हैं परन्तु गौएं गन्ध मात्र से रहस्य को जान जाती हैं। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है नवजात बछड़े को गौ तत्काल सूंघती है तद्यथा—**'वत्सं जातं गौ-रभिजिघ्रति'**[1] प्रायः देखा गया है, गाय के प्रसव होते ही जहां वह स्वयं बछड़े को सूंघना चाहती है, वहां जानकार व्यक्ति भी वत्स को उसके सम्मुख [आ] कर देते हैं जिससे गाय अपने वत्स को सूंघ ले, लभन करले, इसी घ्राण और स्पर्श पूर्विका प्राप्ति के परिणाम स्वरूप गाय अपने वत्स को सहस्रों बछड़ों में भी पहचान लेती है, आलभन कर लेती है जहां वत्सालभन में गाय की घ्राण-शक्ति काम देती है, वहां वत्स को भी अपनी मां को ढूंढने में यही घ्राण-शक्ति सहायक होती है। सहस्रों गायों में भी वह अपनी मां का आलभन कर लेता है। महाभारत में कहा भी है **'यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्'**[2] सुनते हैं कि पुरुष-शिशु भी अपनी माता को गन्ध और स्पर्श से ही जान पाता है यही आलभन का निर्मलार्थ है। शिशु की संज्ञा पशु है, वह भी अपनी नैसर्गिक शक्ति से मां का आलभन करता है। गाय ही क्या प्रत्येक पशु में सूंघने की शक्ति अत्यद्भुत होती है जिसके बल पर वे गहन से गहन रहस्यों का पता लगा लेते हैं।

आ+लभन और आ+वेदन का एक ही अर्थ—

व्यक्ति की **नैसर्गिक शक्ति** को जान लेना **आलभन** है और व्यक्ति में अपने आत्मा के दर्शन कर लेना **आ+वेदन** है। इसका प्रमाण जातकर्म संस्कार की कुछेक क्रियाओं से मिलता है। बौधायन और आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में विधान है, कि पिता जन्म के तत्काल पश्चात् शिशु का आलम्भन कर—**पशूनां त्वा हिङ्कारेण+अभिजिघ्रामि'** यह मैं अमुक नाम वाला [पिता] जिस प्रकार पशु हिङ्कारपूर्वक अपने वत्स को सूंघते हैं, तद्वत् तुझे सूंघता हूं, तू मेरे अङ्ग-अङ्ग का सार है, मेरे हृदय से उत्पन्न हुआ है निश्चय ही पुत्रनामा तू [वेदः असि] मेरा आत्मलाभ ही है। यहां **वेदः** का अर्थ लाभ ही है **[विद्लृ लाभे]** इसी **वेदः** पद का पाठान्तर **आत्मा** पद भी उपलब्ध है। अतः अर्थ हुआ कि पुत्र रूप में तू **आत्मलाभ** ही है। ऐ वत्स! मैं तुझमें तेरे अङ्ग-अङ्ग में अपने [आत्मा]आपको [वेद] लाभ कर रहा हूं। इस विधि से भी पूर्व पिता द्वारा वत्स का आलभन करते ही वत्स के कान में **'वेदोऽसि'** कहने का विधान है इसका भी यही अर्थ है, कि आज वह समय आया कि जब पुत्र रूप में मैंने अपने आपको **पा लिया** है, इसीलिए तू वेद है, [आत्म-लाभ] है। इसीलिए आलभन और आ+वेदन का एक ही अर्थ है। पाठक उपरिर्वणित विधि में स्पष्ट देखेंगे कि पिता जन्म के तत्काल पश्चात् [१] बालक का **आलम्भन** करता है [२] **स्पर्श** करता है [३] पशु-हिङ्कार से **सूंघता** है[४] कान में **'वेदोऽसि'** [तू लाभ है] **कहता** है [५] जिह्वा पर मधु, घृत और स्वर्ण के मिश्रण से **ओ३म् लिखता** है अर्थात् इस **आलम्भन** प्रक्रिया में बालक का **स्पर्श है, आघ्राण है, श्रवण श्रावण है, रसन है** और सबसे बढ़कर वत्स के अङ्ग-अङ्ग में अपने अनुरूप अंग-अंग का एवं हृदय में आत्मा का **दर्शन** है। इस प्रकार **वत्सालम्भन, वत्सावेदन** है, आत्मा का आलम्भन है। अतः सिद्ध हुआ कि व्यक्ति अथवा पदार्थ के नैसर्गिक गुणों का स्पर्शन, जिघ्रन श्रवण, रसन, एवं दर्शन द्वारा **[इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं+अव्यपदेश्यं+**अव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष कर प्राप्त कर लेना **आ+लम्भन है।**

---

१. तै सं० ६.४.११४ २. महाभारत—१२.१७४.१६, १३.७.२२

जातकर्म संस्कार की सारी प्रक्रियायें **शिशु-रूप पशु** का आलम्भन करते हुए शिशु-रूप पशु की नैसर्गिक शक्तियों का सब ओर से सम्मुख [आ] लाभ [लम्भन] किया जाता है। मानों स्पर्श द्वारा उसकी त्वक् इन्द्रिय का, सूंघकर उसकी घ्राणेन्द्रिय का, कान में वेदोऽसि कहकर श्रवणेन्द्रिय का, मधु, घृत, हिरण्य मिश्रण को चटाकर रसनेन्द्रिय का और अपनी ओर आकर्षित कर दर्शनेन्द्रिय का आलम्भन किया जाता है, प्राप्त किया जाता है अर्थात् यह जाना जाता है कि शिशु-पशु की सब नैसर्गिक शक्तियां, [इन्द्रियें] ठीक कार्य कर रही हैं वा नहीं यदि सब इन्द्रियें, सब अङ्ग ठीक हैं तो जानो पश्वालम्भन होगया यदि नहीं तो शिशु-पशु के तत्तत् इन्द्रिय को ठीक करने का प्रयत्न किया जाता है। यहां तक कि यदि शिशु की श्रवणेन्द्रिय काम नहीं दे रही तो चरक के आदेशानुसार कानके पास पत्थरों को बजाया जाता है। **'अश्मनो संघट्टनं कर्णमूले'** इतना ही नहीं यदि शिशु के नाक तथा फेफड़ों में कफ भरा हो तो सुश्रुत के अनुसार **अथ जातस्य उल्वं मुखे च सैंधवसर्पिषाविशोध्य घृताक्तं पिचुं मूर्ध्नि दद्यात्'** बालक के मुख में, घी में सैंधा-नमक मिलाकर देने, घृतभरा फाहा तालू पर रखने से कफ विकार दूर हो जायेगा। यह सब **शिशु-पशु का आलभन है**। इस आलभन प्रक्रिया में **हिंसा** सहयुक्त है; क्या नवजात शिशु की आलम्भन प्रक्रिया में शिशु-पशु की हिंसा नहीं होती, कष्ट नहीं होता, पीड़ा नहीं होती ? अवश्य होती है ! परन्तु इस हिंसा के बिना वत्सालम्भन असंभव है, अतः आलम्भन की उपर्युक्त व्याख्या के प्रकाश में अश्वालम्भ, गवालम्भ, अजालम्भ आदि का अर्थ समझ लेना चाहिये।

ग्राम्य पशुओं का परस्पर आलभन—

प्रायः पश्वालभन का यह अर्थ समझा जाता है कि पुरुष ही शेष ग्राम्य अश्वगवादि पशुओं का आलभन करता है अश्वगवादि पशु पुरुष-पशु का आलभन नहीं करते; हमारा विचार इसके विपरीत है कि न केवल पुरुष ही अश्वगवादि पशुओं का आलभन करता है अपितु अश्वगवादि पशु भी पुरुष-पशु का आलभन करते हैं। इनको **ग्राम्य-पशु** कहा जाना ही प्रबल प्रमाण है। वे ही पशु ग्राम्य कहलाने के अधिकारी हैं जो परस्पर एक दूसरे को ग्रहण करते हों, स्वीकार करते हों, इस ग्रहण करने की अपर-संज्ञा आलभन है। दोनों में क्रम का अन्तर है, ग्रहण करने से पूर्व आलभन आवश्यक है व्यक्ति की सब ओर से ढूंढ तलाश के पश्चात् ही ग्रहण और स्वीकार संभव है।

जिस प्रकार पिता अपने वत्स में, अपने रूप का, अपने स्पर्श का, अपने गन्ध का, अपने स्वर का अपने अङ्ग-अङ्ग का आलभन करता है, तद्वत् पुरुष-पशु भी, अश्वगवादि ग्राम्य पशुओं में, और अश्वगवादि ग्राम्य-पशु पुरुष-पशु में, अपने हितों का आ+लभन करते हैं, इस पारस्परिक हितों के विनिमय-रूप पण के आधार पर ग्राम्य-पशुओं का परस्पर आलभन होता है।

पशुओं के रूप का आलभन—

इस विनिमय का माध्यम पशुओं के वे गुण हैं, जिनसे वे ग्राम्य कहलाते तथा ग्राम-संस्था का निर्माण करते हैं। परस्पर वे एक दूसरे के रूप, तेज, प्रेम, करुणा मैत्री दया रक्षादि गुणों का आलभन करते हैं, उन गुणों का—कि जिन पर समाज स्थित है। अश्वगवादि पशु तो पुरुष-पशु में **स्वामी-भाव, रक्षा-सामर्थ्य, करुणा, प्रेम, दया** आदि गुणों का **आलभन** करते हैं, पुरुष-पशु भी अश्वगवादि पशुओं में **तेज, यश और रूप** का, उनके **गुण, कर्म, स्वभाव** का आलभन करता है। तद्यथा, अश्व के सम्बन्ध में

ब्राह्मणों में वर्णित है कि '**अश्वः पशूनां यशस्वितमः,**[1] **अश्वः पशूनामाशुः [आशुः सप्तिः] सारसारितमः,**[2] **अश्वः पशूनामोजिष्ठो बलिष्ठः,**[3] **अश्वो मनुष्यानवहत्**[4], **अश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः जविष्ठः,**[5] **अश्वः...भावुकः**[6] अथात् अश्व सभी पशुओं में अपने गुणों के कारण यशस्वी होता है। सब से वेगवान्, सारवान्, ओजिष्ठ, बलिष्ठ, वीर्यवान्, वहनसामर्थ्ययुक्त तथा भावुक होता है।

गौ के रूप का आलभन—

इसी प्रकार गौ से सम्बद्ध वर्णन है कि—**साहस्रो वाऽएष शतधार उत्सः यद्गौः**[7] यह जो सहस्र-धाराओं और शतधाराओं वाला स्रोत है यही गौ ही तो है यही कारण है कि '**गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति**'[8] गौ ही है जो कि समस्त विश्व को धारण करती है; यही गौ है जिसके बल पर यज्ञ धारित किया जाता है, **गोभिर्यज्ञं दाधार**[9] गौ-महिमा का क्या वर्णन करें, अध्वर्यु बोला–कि **महांस्त्वेव गौर्महिमा,। गौर्वै प्रतिधुक्, तस्यै शृतं, तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु, तस्याऽआतञ्चनं, तस्यै नवनीतं, तस्यै घृतं, तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्**[10]। अर्थात् उसी गौ का १–[**प्रतिधुक्**]धारोष्ण दूध २–[**शृत**]गरम कढ़ा हुआ दूध, ३– [**शर**] मलाई ४– [**दधि**] दही ५– [**मस्तु**] [मट्ठा ६– [**आतञ्चन**]जाग देने के लिए जामन ७– [**नवनीत**] ताजा मक्खन ८– [**घृत**] घी ९– [**आमिक्षा**] छैना अर्थात पनीर १०– [**वाजिन**] फटे दूध को छानने से बचा हुआ पानी। यह गाय की दश कलाएं हैं जिनका पुरुष आलभन करता है इसी लिए श्रुति ने उसकी महिमा का गान उसे माता, वहिन, पुत्री और अमृत की नाभि कहकर किया है—तद्यथा **माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानां अमृतस्य नाभिः**। इसलिए ज्ञानवान् मनुष्य के लिए निश्चय पूर्वक कहता हूं कि इस निष्पाप अखण्डनीया गाय को मत मार। प्रनु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामना-गामदितिं वधिष्ट[11] इसीलिए कहा कि गाय सब की मित्र है। **गौर्वाव सर्वस्य मित्रम्**[12] अधिक क्या कहें, निश्चय ही गाय पुरुष का ही रूप है **तस्मादाहुर्गावः पुरुषस्य रूपम्**[13] गाय की इन सभी नैसर्गिक शक्तियों का लाभ ही तो गवालभन है।

अजा के रूप का आलभन—

इसी प्रकार बकरी के विषय में भी उल्लेख है कि बकरी सब पशुओं में सर्वाधिक प्रयोग में आने वाला पशु है 'एष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः[14] कपिष्ठल कठसंहिता में वर्णित है कि–बकरी ऐसा पशु है कि सहस्रों व्यक्तियों का पोषण करती है उसका कारण यह है कि वह वर्ष में तीन बार बच्चे जनती है और हर बार दो दो, अथवा तीन तीन बच्चे जनती है तद्यथा–**एषा अजाहि पशूनां सहस्रपोषं पुष्यति। अतो ह्येषा त्रीञ्जनयत्यथो द्वौ**[15]। इसी लिए कहा कि '**अजे हि सर्वेषां पशूनां रूपम्।**[16]

अवि के रूप आलभन

चतुर्थ ग्राम्य-पशु भेड़ की **अवि** संज्ञा इसीलिए पड़ी है कि वह सब के आच्छादन का प्रबन्ध करती है। **अवि** की एक वैदिक संज्ञा **ऊर्णायु** भी है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि जिसकी ऊन अन्य पशुओं

---

१. श० १३.१.२.८. २. तै० ३.८.७.२. ३. तै०.३.८.७.१. ४. श० १०.६.४.१.
५. श० १३.१.२.५. ६. श० ७.३.२.१४. ७. श० ७.५.२.३४. ८. श० ३.१.२.१४
९. तै सं० ४.४.८.१. १०. श० ३.३.३.२. ११. ऋ० ८.१०.१.१५. १२. तै०सं० २.५.२.६
१३. श० १२.९.१.४ १४. ऐ० २.८ १५. क० ३७.७ १६. श० ६.५.१,४

की आयु का कारण है। स्वयं भगवती श्रुति ने भेड़ को दुपाए और चौपाए पशुओं की त्वचा कहा है। जिस प्रकार शरीर की रक्षा के लिए त्वचा एक आवरण है उसी प्रकार भेड़ की ऊन पशुओं की त्वचा की भी त्वचा है; यही उसका रूप है, उपकार है। पुरुष को इसी रूप का आलभन करना चाहिए, न कि मांस का इसलिए आदेश दिया कि **इममूर्णायुं** [अविम्] **वरुणस्य मायां त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् मा हिंसीः परमे व्योमन्।**[५]

पुरुष की तीन इन्द्रियें—

इसी प्रकार और भी पशुओं के गुण, कर्म, स्वभाव का आलभन कर अपनाना चाहिए। जैमिनीय ब्राह्मणकार ने तो यहां तक कह दिया कि तीन ही पुरुष की इन्द्रियें हैं। [१] **आत्मा** [२] **प्रजा** [३] **पशु तद्यथा–त्रीणि पुरुषस्य इन्द्रियाण्यात्मा प्रजाः पशवः**[६] जिस प्रकार व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का उपयोग लेता है, उन्हें मारता नहीं, जिस प्रकार व्यक्ति अपनी आत्मा का हनन नहीं करता, जिस प्रकार व्यक्ति अपनी सन्तान का उपयोग करता है हनन नहीं करता, तद्वत् पुरुष अश्वगवादि पशुओं का उपयोग तो ले मारे नहीं; उन्हें इन्द्रियों की भान्ति सुरक्षित रखे, उनसे आत्मा की भांति वर्त्ते, उनको पुत्रवत् प्यार और लालन-पालन और रक्षा करे। पुरुष को प्रजापति इसीलिए कहा है कि इन सभी पशुओं को अपनी प्रजा समझ कर रक्षा करे।

पशु-पक्षियों से उपकार—

यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय में अनेक पशु-पक्षियों के आलभन का जो उल्लेख है, उसका भी यही अभिप्राय है कि उनके रूप, यश का उपयोग और उपकार लेना चाहिए, न कि उनका वध करना चाहिए। उवट और महीधर के यजुभाष्य को पढ़ने से तो यह ज्ञात होता है कि पाठक किसी वधशाला में पहुंच गया है, जहां पशु-पक्षियों की बलि दी जा रही है; वर्तमान युग के वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद-भाष्य के चौबीसवें अध्याय का उपक्रम इन शब्दों के साथ किया है—**'अथ मनुष्यैः पशुभ्यः कीदृश उपकारो ग्राह्य इत्याह'** अथात् 'मनुष्यों को पशुओं से किस प्रकार उपकार लेना चाहिए' इस विषय का उपदेश किया जाता है। तद्यथा उदाहरणतः अध्याय का २० तथा २१वां मंत्र उपस्थित है, जिसमें कहा गया है कि वसन्तादि ऋतुओं का अध्ययन करने के लिए कपिंजलादि पक्षियों का आलभन करें, कपिञ्जलादि पक्षियों के अध्ययन से ऋतु-परिवर्तन का, ऋतुओं में होने वाले उत्पात, झंझावात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओलावृष्टि, शीतलहर, भूकम्प आदि का पूर्वज्ञान हो सकता है, जिससे व्यक्ति पूर्व ही सुरक्षा के साधन जुटा सकता है। इसी प्रकार इक्कीसवें मंत्र में समुद्र से सम्बद्ध ज्ञान के लिए शिशुमार नामक जलचर, मेघों तथा वर्षा से सम्बद्ध ज्ञान के लिए मण्डूक का, जल से सम्बद्ध ज्ञान के लिए विभिन्न प्रकार के मत्स्यों का आलभन करना कहा है। यह तो सर्व विदित ही है कि मण्डूक मेघों एवं वर्षा के होने की पूर्व सूचना अपनी टरटराहट से दे देते हैं, जल में किस प्रकार देखा जा सकता है, गहरे समुद्रों में मोती आदि को कैसे निकाला जा सकता है इसके लिए भी शिशुमार और मत्स्यों का अध्ययन अत्यावश्यक है। अध्याय के छब्बीसवें मंत्र में वर्णन है कि भूमि के लिए चूहों का आलभन करे। भू-गर्भविद्या के अध्ययन में चूहे और उसकी जाति के जन्तुओं से अनेक प्रकार का सहयोग लिया जा सकता है।

रुद्र का पशु आखु—

यजुर्वेद के तृतीय अध्यायगत सतावनवें मंत्र में उल्लेख है कि—हे शत्रुओं को रुलाने वाले रुद्र

५. य० १३.५०

६. जै० १,१८६; ३.२७७

सेनापति ! यह आखु तेरा पशु है—मार्गदर्शक है। जिस प्रकार आखु भू-गर्भ में बिल बनाकर शत्रु से अपनी रक्षा करता है; [यदि शत्रु पूर्व द्वार से प्रवेश करता है तो आखु पश्चिम द्वार से निकलकर आत्म रक्षा कर लेता है,] तद्वत् ऐ सेनापति! तुझे महीदुर्ग बनाना चाहिए, जिससे शत्रु से रक्षा हो सके; इसके लिए चूहा ही आदर्श पशु है। इसीलिए कहा **'भूम्या आखूनालभते'** यहां चूहे के वाचक अन्य मूषकादि संज्ञाओं का प्रयोग न करके **आखु** संज्ञा का प्रयोग करना परमकवि का चमत्कार नहीं तो क्या है ? किस प्रकार आत्मरक्षा करे आखु का अर्थ है-[**आ समन्तात् खनति बिलानीति आखुः'**] जो सब ओर से बिल खोद कर निवास करता है उस [चूहे] को **आखु** कहते हैं, यह है **पशूनां रूपम्** की व्याख्या, और यह है **पश्वा-लम्भन** का अभिप्राय।

गति का आलभन—

परुषेतर अश्वगवादि ग्राम्य पशुओं को पुरुष-पशु का इसलिए सहवासी बनाया गया है कि वह उनकी गति का सब प्रकार, सब ओर से लम्भन करे और स्वयं भी गतिशील हो जहां पुरुष गतिशील हुआ कि आर्य बना, गतिशीलता ही पुरुष की विशेषता है। यही कारण है कि अनुचरण [नक्ल] के लिए पुरुष के आस पास ऐसी व्यक्तियां जुटा दी गईं कि जो गति के लिए आदर्श हैं। वे व्यक्तियां **अश्व, गौ, अवि** और **अजा** हैं। इन्हीं को ग्राम्य-पशु कहते हैं। पुरुष-पशु की गति निमित्ततः है जबकि गवादि पशुओं की गति निसर्गसिद्ध है, अतः पुरुष-पशु को ग्राम्य-पशुओं की गति का आलभन करना है।

इसी निसर्गसिद्ध गति के कारण चारों ग्राम्य पशुओं की वैदिक संज्ञा **अश्व, गौ, अवि,** और **अजा** है। पीछे के द्रष्टा ऋषियों ने शब्दार्थ सम्बन्ध का साक्षात् करके गत्यर्थक धातुओं का निर्माण किया, **अश्व** के लिए **अशूङ् व्याप्तौ** का, **गौ** के लिए **गम्लृ गतौ** का, **अवि** के लिए **अव रक्षण-गति** का और **अजा** के लिए **अज गतिक्षेपणयोः** का। धरती के चारों ग्राम्य-पशु, त्रिलोकी के चार **अग्नि, वायु, इन्द्र** और **आदित्य** पशुओं का प्रतीक बनकर आए हैं। इनकी गति भी नैसर्गिक[अस्ल]और उनकी गति भी नैसर्गिक [अस्ल] है, जो पुरुष के लिए आदर्श है।

चारों ही पशुओं की संज्ञा का आधार जहां उनकी गति है वहां इन पशुओं की गति में एक क्रम भी है, तत्तत् पशु की गति का वर्णन तत्सम्बद्ध मेध-प्रकरण में करेंगे, यहां तो इतना ही दिखाना अभीष्ट है कि पुरुष-पशु को सर्व प्रथम अज-पशु की गति का अध्ययन कर अपनी गति में आने वाली बाधाओं का क्षेपण करते हुए ऊँचे से ऊंचे निर्धारित लक्ष्य तक पहुंचना तदनु अवि-पशु की गति का अध्ययन कर नीची दृष्टि किए भूमि के चप्पे-चप्पे का निरीक्षण करना; तत्पश्चात् गो-पशु की गति का अध्ययन कर अपनी गति के केन्द्र बिन्दु और परिधि-बिन्दु को दृष्टि से ओझल न होने देना तथा उन दोनों बिन्दुओं को अपने गति-सूत्र से आबद्ध कर देना तत्पश्चात् अश्व की गति का अध्ययन कर जहां केन्द्र पर अधिकारार्थ पग जमाए रखना वहां लक्ष्य प्राप्ति के लिए कदम उठाए रखना और उसको पादाक्रान्त करके ही दम लेना। उसमें तो कल की भी प्रतीक्षा न करना न+श्वः अ+श्वः का पाठ पढ़ते रहना। यह होगा पुरुष में गति का क्रमिक विकास और जब ये सभी गतियां मनन से मर्यादित हो जाएंगी तब पुरुष की संज्ञा होगी आर्य। [ऋ मितगतौ]

जहां पुरुष-पशु अश्वगवादि ग्राम्य-पशुओं की गति का सूक्ष्म अध्ययन कर तदनुकूल अपनी गति

मर्यादित करता है, वहां इन पशुओं की गति का उपयोग अपने वाहन रथ, गाड़ी, हल आदि में करता है और गति का उपयोग करने के लिए **लगाम, नाथ, नकेल, अङ्कुश** आदि द्वारा नियंत्रित कर पशुओं की गति का आलभन करता है। इस आलभन में गति के नियंत्रणार्थ लगाम, नाथ, नकेलादि का उपयोग पशु-हिंसा ही तो है जो पश्वालभन में सहायक है, अन्यथा पशु से मनुष्य-समाज का उपकार संभव ही नहीं। यह पश्वालभन है, पशु-मारन नहीं।

पशुओं के रूप यश और तेज के आलभन का ही परिणाम है कि पुरुष-पशु के रूप, यश, तेज, गति आदि की उपमा के लिए पशु-पक्षी ही आलब्ध किए जाते हैं। संस्कृत साहित्य में ऐसी उपमाओं की भरमार है। नीतिकार ने ब्रह्मचारी के आचरण का आदर्श भी पशु-पक्षियों को माना है, उसके लिए कहा है—'**काकचेष्टा बकोध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च**। यहां कौवे, बगुले, कुत्ते तक से उपयोग लेने की बात कही गई है, यही तो पश्वालभन है।

भगवान् मनु ने राजा के लिए कुछ आदर्श-पशु निश्चित करते हुए, किस से किन गुणों का आलभन करना चाहिए, यह दरशाया है।

नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात्परस्य तु। गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः। बक-वच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्। वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्[1]। इसमें कूर्म, बगुले, सिंह, भेड़िये और खरगोश आदि पशुओं से भिन्न भिन्न आचरण सीखने की बात कही गई है, यही पशुओं के रूपादि का **आलभन** है।

हम दरशा चुके हैं, कि पुरुष के आलभन में बहुधा स्पर्श का उपयोग पाया जाता है और पशु के आलभन में दर्शन की अपेक्षा घ्राण-शक्ति का उपयोग पाया जाता है और पशु-घ्राण शक्ति के बल से पुरुष के हार्दिक भावों तक को जान लेते हैं, मृदुता और कठोरता को, दया और हिंसा को, करुणा और क्रूरता को पहचान लेते हैं, और पुरुष-पशु के प्रति भी अपने व्यवहार में तदनुसार परिवर्तन ले आते हैं। अपनी घ्राण-शक्ति के बल पर ही दूरस्थ हिंस्र जन्तु की सूचना अपने आचरण से देने लगते हैं और पुरुष को अपनी तथा पुरुष के द्वारा अपनी रक्षा के पूर्व उपायों का अवसर प्रदान करते हैं, यह है ग्राम्य पशुओं का परस्पर आलभन।

हमने आलभन शब्द की व्याख्या में यह दरशाने का प्रयत्न किया है, कि ग्राम्य पशुओं की पारस्परिक आलभन प्रक्रिया में हिंसा आवश्यक है, परन्तु मारण नहीं। इस पर भी यह बात विचारणीय अवश्य है कि आङ्पूर्वक लभ धातु का प्रयोग मारण अर्थ में किस प्रकार होने लगा, हमारी तुच्छ सम्मति में इसका कारण एक मात्र आलभन शब्द का स्पर्श अर्थ है, **स्पर्श** अर्थ ही वह सूत्र है जिसने प्राप्ति और मारण अर्थों को ग्रथित कर दिया, क्योंकि पशु-प्राप्ति का साधन भी स्पर्श क्रिया है, **पशु-मारण का** साधन भी स्पर्श-क्रिया ही है। अर्थात् जब जब कृषक ने उत्तम बैल की प्राप्ति करनी चाही तब तब उसकी स्पर्श द्वारा परीक्षा की और जब जब मांसाहारी व्यक्ति ने पशु की प्राप्ति करनी चाही तब तब स्पर्श द्वारा पशु के मांस चर्बी आदि की परीक्षा की, तो इस प्रक्रिया के पुनः पुनः व्यवहार में आते देख जहां आलभ का प्राप्ति अर्थ था वहां मारण अर्थ भी युक्त होगया। प्रायः देखा गया है, कि कसाई आदि व्यापारी भेड़ और बकरी के मांस का परीक्षण स्पर्श द्वारा ही करते हैं, ऊन का व्यापारी भेड़ के ऊन की परीक्षा स्पर्श द्वारा करता है, मांसाहारी भेड़ के मांस की परीक्षा स्पर्श द्वारा करता है, क्योंकि मांस भेड़ की बालों के नीचे

१. मनु० ७.१०७-११०

छुपा रहता है अतः आंखों से नहीं, स्पर्श से ही जाना जाता है। एक का स्पर्श ऊन की प्राप्ति के लिए है, दूसरे का स्पर्श मांस प्राप्ति के लिए है, एक का स्पर्श पुनः पुनः ऊन की प्राप्त्यर्थ भेड़ के जीवन-रक्षा के निमित्त है, तो एक का स्पर्श मांस प्राप्ति के लिए मारणार्थ है, एक उनके लिए आलभन करता है दूसरा मांस के लिए आलम्भन करता है इस प्रकार आलभन का अर्थ प्राप्ति और मारण दोनों हो गये।

आलभ और आलम्भन शब्द—

महामुनि पाणिनि के कुछ पूर्व ही लम्भ धातु के **'तिङन्त'** के प्रयोग संस्कृत भाषा में अस्वीकार हो जाने के कारण वैयाकरणों ने **लम्भ** धातु का धातुपाठ में संग्रह नहीं किया और लम्भ धातु से निष्पन्न होने वाले शब्दों का सम्बन्ध **लभ** धातु से जोड़ दिया गया जिससे आलभ और आलम्भ दोनों शब्दों के अर्थ समान माने जाने लगे, वस्तुतः **लभ** और लम्भ दोनों धातुओं और उससे बनने वाली क्रियाओं का अर्थ भिन्न है; लभ धातु के दो अर्थ हैं—[१] **प्राप्ति** और [२] **स्पर्श** तथा **लम्भ** धातु के भी दो अर्थ हैं—[१] **हिंसा** और [२] **स्पर्श**, तात्पर्य यह है कि **लभ** धातु का **आलभ** और **लम्भ** धातु का **आलम्भ** दोनों **स्पर्श** अर्थ में सामानार्थक हैं। अर्थात् प्राप्ति के लिए भी स्पर्श आवश्यक है और हिंसा के लिए भी स्पर्श आवश्यक है अतः स्पर्श ने दोनों अर्थों को सहयुक्त करके **लभ** का अर्थ [१] **प्राप्ति** [२] **स्पर्श** और [३] **हिंसा** [मारण] कर दिया। यह बात चरक के प्रमाण से भी स्पष्ट है कि आलभ का अर्थ स्पर्श पूर्विका प्राप्ति है और आलम्भ का अर्थ स्पर्श-पूर्विका हिंसा है, तद्यथा—**'आदिकाले यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म'** कि सृष्टि के आरम्भ में यज्ञों में पशुओं को उनके उपयोग के लिए प्राप्त किया जाता था मारने के लिए नहीं। आज भी मेडिकल कालिज में शरीरविज्ञान का अध्ययन कराने के निमित्त **मेंडक, खरगोश, वानर** आदि का आलभन किया जाता है उसका उद्देश्य इन जन्तुओं द्वारा शरीर-विज्ञान का अध्ययन है न कि मारना परन्तु उसमें हिंसा और मारन की संभावना युक्त है और मांसाहारी व्यक्ति उसके मारने पर उसके मांस का उपयोग करने लग जाएं और फिर धीरे धीरे ऐसे व्यक्ति परीक्षण के मिष से पशुओं का वध करने लग जाएं तो यही पश्वालम्भन पशु मारण अर्थ देने लगेगा।

आलम्भन की परिभाषा—

अन्त में समस्त विवेचन के परिणामस्वरूप **आलम्भन** शब्द की परिभाषा कर आलम्भन प्रकरण को समाप्त करते हैं— **ग्राम्यपशु द्वारा इतर ग्राम्य पशु तथा अरण्यादि पशुओं के नैसर्गिक गुण [पशु-भाव] का स्पर्श-गन्धादि उपायों द्वारा सब ओर सब प्रकार से [आ] अन्वेषणोपरान्त प्राप्त्यभाव जनित खिन्नता में सहसा वस्तु की सामने [आ] [लभ] ही प्राप्ति हो जाना आलम्भन है।**

'संज्ञपन'

यह शब्द **'सं'** पूर्वक णिजन्त **'ज्ञा'** धातु[२] से ल्युट् प्रत्यय करने पर बनता है। **'देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते**[३] आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि **सम्पूर्वक ज्ञा** धातु का अर्थ **परिचय, प्रेम, सम्भूयज्ञान** आदि है, हिंसा कहीं भी नहीं। फिर पता नहीं चलता कि **णिच्** तथा **ल्युट्** प्रत्ययों ने इसमें क्या वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया जो इसका अर्थ एकदम **हिंसा** हो गया? अस्तु, देखना चाहिए कि वेद तथा

---

१. **'संज्ञपन'** और **'अवदान'** का आधार श्री पं बुद्धदेव विद्या-लंकार के एतद्विषयक लेख हैं।

२. धा० पा०। क्र्या० ग० ३६. ३. ऋ० १०.१९१.२.

वैदिक साहित्य में णिच् तथा ल्युट्-प्रत्ययान्त प्रयोग भी किस अर्थ में आया है ?—

वेद और संज्ञपन शब्द का प्रयोग—

विचित्र बात है कि प्रयोग भी हिंसा के पोषक मीमांसकों के पक्ष का समर्थन नहीं करता। लीजिये, चारों वेदों में संज्ञपन शब्द णिजन्त तथा ल्युट् प्रत्ययान्त रूप में केवल एक स्थान पर अथर्ववेद में आया है। मन्त्र यों है ...

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता। सं वोऽयम्ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥
संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः। अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥
यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः।
एवाऽत्रिणामन् अहृणीयमान इमान् जनान् संमनसस्कृधीह॥[१]

इस प्रकरण में **'संपृच्यन्तां' 'समजीगमत्' 'संबभूवुः' 'संमनसस्कृधि'** यह संगठन की मुहारनी प्रबल साहचर्य्य के बल से, **संज्ञपन** के तात्त्विक अर्थ पर क्या प्रकाश डाल रही है इसे सहृदय लोग अनुभव कर सकते हैं। इन अथर्ववेद के मन्त्रों का भावार्थ द्रष्टव्य है...

'तुम्हारे **शरीर,सम्पृक्त** [आपस में खूब मिले हुए] हों, **मन सम्पृक्त** हों, **व्रत सम्पृक्त** हों। उस ब्रह्मणस्पति कल्याण स्वरूप प्रभु ने तुम्हें इकट्ठा किया है। तुम्हारे मनों में [**संज्ञपनम्**] मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो। हृदयों में परस्पर प्रेम हो। उस प्रभु के नाम पर किए श्रम से मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूं।

तृतीय मंत्र में प्रभु से प्रार्थना की गई है—

'जिस प्रकार आदित्य ब्रह्मचारी-जन वसुओं से, और जिस प्रकार क्षत्रिय वैश्यों से निस्संकोच मिलते हैं उसी प्रकार हे **भूःभुवः स्वः** अथवा **अ उ म्** तीन नाम वाले प्रभो! आप इन सब मनुष्यों को [**संमनसस्**] एक-मन कर दीजिए।'

संज्ञपन और शतपथ ब्राह्मण—

अब शतपथ-ब्राह्मण का भी उदाहरण लीजिए—'**अथातो मनसश्चैव वाचश्च। अहम्भद्र उदितं मनश्च ह वै वाक् चाहम्भद्र ऊदाते। तद्ध मन उवाच अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किंचनानभिगतं वदसि। सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति।९। अथ ह वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्यहं संज्ञपयामीति॥**"[२]—'अब मन वाणी के झगड़े का हाल सुनो। एक बार **मन** और **वाणी** में **'मैं बड़ा' 'मैं बड़ी'** हो पड़ी। सो मन बोला **'मैं बड़ा'** भला तू कौनसी बात बोलती है जो मैं नहीं जानता? बस तू मेरा कहा करने वाली अनुचरी है मैं तुझ से बड़ा हूं।' वाणी बोली—'बड़ी तो मैं ही हूं। तुझे तो केवल ज्ञान ही ज्ञान है परन्तु वह ज्ञान किस काम का? जो कुछ भी तुझे ज्ञान होता है वह लोगों तक तो मेरे द्वारा ही पहुंचता है। तेरे उस ज्ञान को मैं ही तो प्रकाशित करती हूं, हृदयंगम मैं ही तो करती हूं।'

क्या अब भी **'संज्ञपयामि'** के अर्थ के विषय में किसी को संदेह हो सकता है?

याज्ञिक प्रकरणों में संज्ञपन का अर्थ—

अब जरा उन प्रकरणों पर विचार किया जाय जहां **संज्ञपन** का अर्थ **काटना** लिया जाता है। उदाहरणार्थ, **अग्नीषोमीय प्रकरण**[३] में प्रयुक्त **संज्ञपन** का अर्थ **काटना** लिया जाता है। प्रथम तो **संज्ञपन** का अर्थ **हिंसा** है ही नहीं, और यदि कथंचित् दुर्जनतोषन्याय से यह अर्थ स्वीकार भी कर लें; तो भी कम

---

१. अथर्व० ६.७४.१-३
२. शत० ब्रा० १.४.७.८,९,१०
३. **'अग्निषोमीयपशुप्रधाने षष्ठेऽध्याये'** यजु० ६.१। मही० भा०

से कम इतना तो हम ऊपर व्याकरण तथा प्रकरण के बल से निर्विवाद-रूपेण सिद्ध कर ही चुके हैं कि **संज्ञपन** का अर्थ **सम्यग् ज्ञान** कराना भी है। ऐसी अवस्था में यदि यह भी मान लें कि इस शब्द के **हिंसा** तथा **सम्यग्ज्ञान** कराना दोनों अर्थ हैं तो भी—**'सैन्धवमानय'** की तरह जो अर्थ प्रकरण-संगत होगा वही मानना पड़ेगा। अब अग्नीषोम में पशु-संज्ञपन के पश्चात् **'वाचं ते शुन्धामि......चरित्रांस्ते शुन्धामि'**[1]; **'वाक्त आप्यायताम्'**[2] आदि जितने शब्द पड़े हैं, सब **सम्यग्ज्ञान** के अधिक अनुकूल हैं और हिंसार्थ के सर्वथा प्रतिकूल हैं। **'चरित्रांस्ते शुन्धामि'** [तेरे चरित्र को सुधारता हूं] की संगति **पशु-प्रकृति-मूढ,** बालकादि को सम्यग्ज्ञान कराने में ही हो सकती है न कि छाग-वध में।

इसी प्रकार अश्वमेध-प्रकरण में वाक्य आता है—**'एष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति।'**[3] इसका अनेक विद्वान् अर्थ करते हैं 'कि **अश्वमेध** में जिस स्थान पर **अश्व** का **वध** करते हैं उस स्थान का नाम **स्वर्गलोक** है।' यह बात बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होती। वेद का उपहास करने का इससे अच्छा और कौनसा उपाय होगा?

इस उपर्युक्त ब्राह्मण-वाक्य का अर्थ कितना सुसंगत है कि 'वही स्थान स्वर्ग लोक है जहां मूढ-पशु–भाव के लोगों को सुशिक्षित किया जाता है। अश्वमेध के लिए स्पष्ट ही कहा है—**राष्ट्रं वा अश्वमेधः'**[4]।

मन्त्रलिङ्ग और विधि वाक्य—

कहा जा सकता है कि विधि-वाक्य के बलवान् होने के कारण मन्त्र-लिंग **'शुन्धामि'** कुछ काम नहीं दे सकता—**सो कितनी उपहसनीय बात है।** क्योंकि यहां विवाद विधिवाक्य तथा मन्त्र-लिंग के विरोध का नहीं, किन्तु विधिवाक्य के अर्थ-निर्णय का है; सो मंत्रलिंग के प्राबल्य को यहां दुर्बल नहीं कहा जा सकता। हां यदि विधिवाक्य का अर्थ यहां अन्यथा-निर्णीत रहता तो उस अवस्था में मन्त्र-लिंग अवश्य कुछ दुर्बल हो जाता। किन्तु यहां तो उलटे वह सुस्पष्ट अपने वास्तविक अर्थ की प्रतीति करा रहा है।

अ व दा न

अवदान-[शुन्धन]—

यह शब्द **'डुदाञ् दाने'**[5] **'दो अवखण्डने',**[6] **'देङ् रक्षणे'**[7] आदि अनेक धातुओं से सिद्ध होता है तथा यज्ञ में भिन्न-भिन्न देवता-निमित्तक हवि के प्रसंग में ही प्रयुक्त होता है। अर्वाचीन मीमांसक लोग यद्यपि **'दो अवखण्डने'** से ही इसे सिद्ध करते हैं, कि पशु के हृदय, पाद, नासिका, जिह्वादि भाग जो कि भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए खण्डित करके [काटकर] रखे जाते हैं—वह अवदान है क्योंकि हवि के लिए बार-बार 'अवद्यति' शब्द ही रहा है और कि यह निस्सन्देह **'दो अवखण्डने'** का रूप है, क्योंकि इसमें **श्यन् विकरण** पड़ा है जो दैवादिक **'दो अवखण्डने'** का निर्धारक है। किन्तु मीमांसकगण इसको भूल जाते हैं, कि शतपथ-ब्राह्मण ने इसे समानरूपता-मूलक भ्रम-निवारणार्थ ही लिखा है। तद्यथा **'तदेनांस्तदवद्यते यद्यजतेऽथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किचाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम।'**

---

१. यजु० ६.१४ २. यजु० ६.१५
३. शत० ब्रा० १३.५.२.२ ४. शत० ब्रा० १३.१.६.३
५. धा० पा० जु० ग० ६ ६. धा० पा० दि० ग० ४० ७. धा० पा० भ्वा० ग० ९४३

—सो जो यज्ञ करता है वह यज्ञ [संगठन] और आहुति ही उसकी रक्षा करते हैं। इस-लिए इस रक्षा करने के कारण जो कुछ आहुतियां अग्नि में की जाती हैं उन सबका नाम **'अवदान'** है।

उपाकर्म अथवा उपाकरण—

मीमांसकों में उपाकरण अथवा उपाकर्म एक पारिभाषिक संज्ञा है। उपाकरण का अर्थ मारना किया जाता है। अमरकोष में **'उपाकृत पशु'** का अर्थ किया गया है—**'यज्ञ में मारा हुआ पशु'**।[1] कात्यायन श्रौतसूत्र में उपाकरण का प्रयोग बकरे को तिनके से स्पर्श करने में किया है। **'उपावीरस्युपदेवान् दैवीर्विशः प्राग्'**[2] मन्त्र पढ़कर बकरे को तिनके से स्पर्श करता है।[3] **वाचस्पत्यम्** और **शब्दकल्पद्रुम** जैसे बृहद् कोषों में **उपाकर्म** या **उपाकरण** शब्दों का अर्थ आरम्भ करने में हुआ है। **'आरम्भे च'** लिखकर **अथातोऽध्यायोपाकरणम्'** आश्व० गृ०, ३.३.२ **उपाकरणमारम्भः** किया है।[4]

'वेद-स्वाध्याय का आरम्भ' व उपाकर्म—

'उपाकर्म' शब्द वैदिकों में अत्यधिक प्रचलित है। प्रतिवर्ष श्रावण मास में मनाया जाने वाला पर्व **श्रावणी-उपाकर्म** के नाम से प्रसिद्ध है। यह वह पर्व है, जिस दिन से **'अध्याय'** का उपक्रम किया जाता है—आरम्भ किया जाता है, इसलिए इस पर्व को **'अध्यायोपाकर्म'** कहते हैं। आश्वलायन का सूत्र है—**'अथातोऽध्यायोपाकरणम्'**[5] इसी सूत्र की मिताक्षरा टीका में लिखा है **'अध्ययन** किये जाते हैं इसलिए **'अध्याय'** का अर्थ वेद है, उन वेदों का **'उपक्रम'** करना **'उपाकरण' या उपाकर्म है'**[6]।

अब इस शब्द का प्रयोग भी देखिये। द्रोणाचार्य ने अस्त्र-विद्या सिखाने के लिए जब धृष्टद्युम्न को शिष्य बनाया तो विधिवत्—

'धृष्टद्युम्नन्तु पाञ्चाल्यं, आनीय स्वनिवेशनम्। उपाकरोदस्त्रहेतोर्भारद्वाजः प्रतापवान्॥

प्रतापवान् भरद्वाज-गोत्रोत्पन्न द्रोणाचार्य ने पांचाल राज्य के पुत्र धृष्टद्युम्न को अपने घर में लाकर अस्त्र-विद्या सिखाने के लिये उसका विधिवत् 'उपाकरण' किया [अर्थात् उसे शिष्यवत् स्वीकार किया। आचार्य ही उपाकरण=उपनयन करता है=शिष्य बनाया करता है। इस प्रकार उपाकरण या उपाकर्म का अर्थ आरम्भ करना और शिष्य बनाना हुआ।

अब विचारणीय है कि उपाकरण या उपाकर्म का अर्थ मारना कैसे हो गया? इसमें यही संभावना है कि उपाकर्म के लिए शिष्य को आचार्य के पास ले जाया जाता है। आचार्य उसे द्वितीय जन्म प्रदान करता है। हर दो जन्मों के मध्य एक मृत्यु अपरिहेय है, अतः आचार्य बालक को प्रशिक्षणार्थ **'मारता है'**। जिससे उसका पशुत्व मर जाय और मनुष्यत्व जन्म ले और **द्विज [द्वाभ्यां जायते इति द्विजः] बन जाये**। आचार्य की इस योग्यता के कारण उसकी सर्वप्रथम संज्ञा **'मृत्यु'** है।[8]

---

१. **उपकृतेः पशुरसौ योऽभिमन्त्र्य क्रतौ हतः**। अ० को० २.७.२५
२. यजु० ६.७
३. **'उपावीरसीति तृणमादायेति, 'तेन पशुमुपस्पृशत्युपदेवानिति'**। का श्रौ० सू० ६.३.१६,२०
४. वाचस्पत्यम्—द्र० उपाकरण, उपाकर्म—पृ० १३४३
५. आ० गृ० सू० ३.३.२.
६. **अधीयन्ते इत्यध्याया वेदास्तेषामुपाकर्म-उपक्रमः**।—मिता० [याज्ञ० ऋ १.१४२]
७. म० भा०।आ०प० १५५.५१ [पू० सं०]
८. **आचार्यो मृत्युः**॥ अथर्व० ११.५.१४

मे ध-प्र क र ण

पंच-पशु-मेधों का आधार—

मेधों का आधार पुरुष-सूक्त में वर्णित पञ्च ग्राम्य-पशु हैं। वे पांच पशु हैं—**'पुरुष'**, **'अश्व'**, **'गौ'**, **'अजा'** और **'अवि'**। इनके साथ मेध की संगति करके पांच मेधों का प्रतिपादन किया गया—**पुरुष-मेध, अश्व-मेध, गो-मेध, अज-मेध** और **अवि-मेध**। विवेचनीय सूक्त का सीमाक्षेत्र निस्सन्देह पुरुष-मेध तक सीमित है। परन्तु पुरुष-पशु के साथ **अश्व, गौ, अजा** और **अवि** का उल्लेख होने से तत्तद् पशुओं से सम्बद्ध मेधों का विवेचन किया जाएगा। **पुरुषमेध** एवं अन्य **मेधों** पर विचार करने से पूर्व **'मेध'** शब्द पर विचार कर लेना आवश्यक है। यही वह शब्द है जिसे यज्ञों में **पशुबलि रूप अनर्थ का मूल** कहा जा सकता है। यहां इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है।

'मेध'-गत धातु और उसके अर्थ—

धातुपाठ में आठ धातुएं ही ऐसी हैं, जिनका सम्बन्ध **'मेध'** शब्द से सम्भव है। वे निम्नलिखित हैं—

[क]	१. मिदृ २. मेदृ ३. मिथृ ४. मेथृ	मेधाहिंसनयोः
[ख]	५. मेधृ ६. मेधृ	संगमे च सेचने
[ग]	७. ञिमिदा	स्नेहने
[घ]	८. मेधा	आशुग्रहणे

इस प्रकार उपर्युक्त आठ धातुओं के छह अर्थ निश्चित हुए—**[१] मेधा, [२] हिंसन, [३] संगम, [४] सेचन, [५] स्नेहन, [६] आशुग्रहण।**

'मेधृ' धातु का अर्थ—

इनमें पुनः **'मेधृ संगमे च'** ही एकमात्र ऐसी धातु है, जिसे सामान्यतः **'मेध'** शब्द का मूल समझा जाता है, यहां धात्वर्थ में प्रयुक्त **'च'** पद जहां संगम अर्थ की मुख्यता का परिचायक है, वहां वह मेधा और हिंसा अर्थ का भी संग्राहक है। इस प्रकार **मेधृ धातु** के अर्थों की स्थिति हुई– **मेधृ=मेधा, हिंसन, संगमनेषु, मेधा** और **संगमन** ने **हिंसा** [अर्थ] को दोनों ओर से घेर कर **मर्यादित** कर दिया और **हिंसन** [अर्थ] ने **मेधा** और **संगमन** को **सन्तुलित** कर दिया। यज्ञ में **हिंसा** उतनी ही अपेक्षित है, जितनी से **मेधा** और **संगमन** सुरक्षित रहे। अर्थात् न तो व्यक्ति की मेधा पर ही आंच आए, न समाज के संगठन पर। **हिंसा** मेधा और संगमन की जनक हो, विघातक न हो। **मेधा** व्यक्तिगत तत्त्व है और **संगमन** सामाजिक। इन दोनों [व्यक्तिगत और सामाजिक तत्त्वों] में सन्तुलन बनाये रखना **हिंसन** [दण्ड-व्यवस्था] के आश्रित हुआ। सामाजिक-संगठन व्यक्ति की मेधा का विघातक न हो, और व्यक्ति की मेधा सामाजिक संगठन की विघातक न हो। जब कभी व्यक्ति-हित सामाजिक हितों का अतिक्रमण करने लगे तो उस अवस्था में व्यक्तिहितों का हिंसन [परिसीमन] होना चाहिए और जब भी कभी समाज व्यक्तिहितों की अवहेलना करने लगे तो समाज के अनृत-अनुशासन का हिंसन [प्रतिबन्धन]

होना चाहिए।[१] इसी से समाज में संगतीकरण की भावना उत्पन्न होगी। इस विवेचन से स्पष्ट हुआ कि मेधृ धातु का **संगमन** अर्थ **मुख्य** है और **'हिंसन'** अर्थ **'संगमन'** अर्थ का **पोषक**।

मेध-धातु के अवशिष्ट अर्थ--

मेध धातु के **मेधा, हिंसन** और **संगमन** अर्थों की छाया में ही धातु के अवशिष्ट सेचन, स्नेहन, आशुग्रहण तीनों अर्थों पर विचार करना उपयुक्त होगा। इससे पूर्व कि **मेध** धातु के अवशिष्ट अर्थों पर विचार हो, दो बातें स्पष्टतया हृदयङ्गम कर लेनी चाहिएं; एक यह कि मेध धातु का कोई भी अर्थ हो वह व्यक्ति की **मेधा** और समाज के **संगमन** का **जनक** हो, **विघातक** न हो। दूसरे यह कि **मेध** धातु का कोई भी अर्थ हो उसकी सिद्धि के लिये अपेक्षित हिंसा आवश्यक है, इस परिप्रेक्ष्य में मेध धातु के **सेचन, स्नेहन** और **आशुग्रहण** अर्थों पर विचार किया जायेगा।

आशुग्रहणार्थक कण्ड्वादि गणीय **'मेधा'** धातु, **'मेधा'**, **'संगमन'** और **'हिंसन'** अर्थों का ही स्पष्टीकरण-मात्र है। अन्तर इतना ही है कि यहां मेधा **धातु है** और वहाँ मेधा **धात्वर्थ** है, अतः मेधा [आशुग्रहणे] धातु ने मेधा [मिदृ] धात्वर्थ का स्पष्टीकरण कर दिया कि व्यक्ति की **आशुग्रहणता-शक्ति** का नाम ही **मेधा** है। ध्यान रहे कि आशुग्रहणता व्यक्तिगत तत्त्व ही नहीं, अपितु समाजगत तत्त्व भी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि **आशु-ग्राहकता** यह गुण है कि जिस पर व्यक्ति की **मेधा** और समाज का **संगठन** आधारित है। अब रहे **सेचन** और **स्नेहन** शेष दो अर्थ। ये दोनों ही अर्थ **आशु ग्रहणता** का आधार हैं। बिना **सेचन** और **स्नेहन** के **आशुग्रहणता** असम्भव है। यदि व्यक्ति किसी विषय को आशुग्रहण नहीं करता, तो यही समझा जाता है कि व्यक्ति के मस्तिष्क में सेचन अथवा स्नेहन का अभाव है। व्यक्ति के मस्तिष्क का **सेचन** और **स्नेहन** हुआ कि उसकी बुद्धि में **आशुग्रहणता** आई और वहीं वह **मेधावी** बना। यही अवस्था सामाजिक जीवन में भी दृष्टिगोचर होती है। यदि एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति को संगठन में [तत्काल] ग्रहण में आनाकानी की तो यही समझा गया कि व्यक्तियों में परस्पर सेचन, और स्नेहन का अभाव है, उनमें सेचन और स्नेहन का संचार होते ही व्यक्तियां परस्पर एक दूसरे को तत्काल ग्रहण कर लेंगी। **'मेध'** धातु के ये **तीन अर्थ** परस्पर इस प्रकार **अनुस्यूत** हैं कि जिस प्रकार व्यक्ति के **मस्तिष्क हृदय** तथा **शरीर** परस्पर **अनुस्यूत** हैं। हों भी क्यों न! आशु-ग्रहणता बुद्धि का गुण है, स्नेहन हृदय का और सेचन शरीर का। स्नेहन वह कड़ी है, जिसने सेचन और आशुग्रहण को जोड़ा हुआ है : जैसे ही व्यक्ति के हृदय में स्नेह उमड़ा कि बुद्धि ने तत्काल ग्रहण करना और आंखों ने सेचन आरम्भ कर दिया। जब **मेधा** और **संगमन साध्य** रहते हैं, तो **आशुग्रहणता साधन** बनती है और जब **आशुग्रहणता साध्य** हो तो **सेचन** और **स्नेहन साधन** बनते हैं।

'मेध' धातु के सभी अर्थों के साथ **हिंसा** अर्थ **अनुस्यूत** है, हिंसा अर्थ ने मेधा और संगमन अर्थ को जिस प्रकार संतुलित किया है, उसी प्रकार सेचन, स्नेहन और आशुग्रहण अर्थों को भी अनुस्यूत किया है। व्यक्ति जब किसी विषय को तत्काल ग्रहण नहीं कर पाता, तो जहां वह अपने गुरु-जनों से प्रताड़ित [हिंसित] होता है, वहां स्वयं भी अपने को धिक्कारता है, यह प्रताड़ित होना और धिक्कृत

---

१. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।
—स्वा० द० रचित आ० स० के नियम, १०

होना हिंसा नहीं तो क्या है ? वह अपनी चञ्चल चित्त-वृत्तियों पर क्षुब्ध भी होता है और उन्हें दग्ध भी करता है, तव कहीं बुद्धि में विषय की आशुग्रहणता आ पाती है। सेचन और स्नेहन विना प्रपीडन के सम्भव ही नहीं, चाहे हृदय का स्नेहन हो, चाहे आंखों का सेचन हो अथवा तिल, सर्षप आदि पदार्थों का। अपने वन्धु की पीड़ा को देख-सुन कर ही व्यक्ति का हृदय स्नेहार्द्र होता है और आंखों में नमी आ जाती है, यही 'मेध' धातु के हिंसन अर्थ का **स्वारस्य है**, यह **हिंसा** अर्थ ही **'मेधृ'** धातु के सभी अर्थों का **जनक है, 'मेध'** धातुगत सभी योग्यताओं से युक्त व्यक्ति ही **'मेध्य'** होता है. **ग्राम्य** होता है=सामाजिक= होता है। सोशल् [social] होता है=**यज्ञिय** होता है।

जिस किसी भी व्यक्ति को **सामाजिक** वनना हो, **सोशल्** [social] वनना हो, **ग्राम्य** बनना हो, **यज्ञिय** वनना हो, मेध्य वनना हो, तो उसे **'मेध'** धातु से उद्‌भूत सभी योग्यताओं को धारण करना होगा। वे योग्यताएं निम्न हैं —

[१] मेध्य [ग्राम्य] बनने के लिये परस्पर एक दूसरे व्यक्ति की मेधा की रक्षा करना [मेदृ मेधाधाम्]
[२] मेध्य [ग्राम्य] वनने के लिये परस्पर एक दूसरे व्यक्ति के साथ एक होकर चलना [मेधृ संगमे]
[३] मेध्य [ग्राम्य] बनने के लिये परस्पर एक दूसरे व्यक्ति को धारण करना [मे+धा]
[४] मेध्य [ग्राम्य] बनने के लिये एक दूसरे व्यक्ति को तत्काल ग्रहण करना [मेधा आशुग्रहणे]
[५] मेध्य [ग्राम्य] बनने के लिये परस्पर एक दूसरे व्यक्ति का स्नेह [न] करना [ञिमिदा स्नेहने]
[६] मेध्य [ग्राम्य] बनने के लिये परस्पर एक दूसरे व्यक्ति के प्रति सेचन करना [मेधृ सेचने]
[७] मेध्य [ग्राम्य] बनने के लिये अपनी पाशविक वृत्तियों का हिंसन करना [मेदृ हिंसने]

अर्थात् उक्त योग्यताओं को सम्पादित करने के लिये यदि अपेक्षित हिंसा आवश्यक हो तो वह विहित है, उससे व्यक्ति **मेध्य, ग्राम्य, सामाजिक** व **यज्ञिय** बनता है, यज्ञिय व्यक्ति की जनक होने से वह हिंसा, हिंसा नहीं कहलाती, कहा भी है—**'यज्ञियाहिंसा हिंसा न भवति।'**

'सम्' उपसर्ग और हिंसा—

'मेध' धातु में **'सम्+गमन'** अर्थ की और **'सम् गमन'** अर्थ में **'सम्'** उपसर्ग की महत्ता है। **'सम्'** का अर्थ है **समता** या **हार्मनी**। एक ही उद्देश्य को अभिलक्ष्य करके गति करने वाले व्यक्तियों में यदि **समता** नहीं, **हार्मनी** नहीं, तो **समाज** या संगठन का निर्माण भी सम्भव नहीं, अतः व्यक्तियों को परस्पर **समता** या **हार्मनी** उत्पन्न करने के लिये अपनी किन्हीं वृत्तियों को दग्ध भी करना हो, तो करना चाहिए। यही तो **मेध** धातु के संगमन अर्थ के साथ युक्त **हिंसा** अर्थ का स्वारस्य है। समता के लिये की गई **'हिंसा' 'यज्ञिय-हिंसा'** है और **यज्ञियाहिंसा हिंसा न भवति'** इस वचन के अनुसार विहित है। **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** इस शास्त्र वचन के सदाशय को एक दो उदाहरणों से समझा जा सकता है। यदि दो बैलों को एक ही जुए में जोता जाय और उनमें एक बैल सुस्त और दूसरा चुस्त हो, तो दोनों में संगति स्थापित करने के लिए दोनों को **हिंसा** सहनी होगी, यदि सुस्त बैल को डण्डों की मार सहनी होगी, तो चुस्त बैल को सारथी से पुनः पुनः अपनी नाथ खिचवानी होगी, अन्यथा न गाड़ी ही चल सकेगी और न हल ही, दोनों बैलों में **संगति** स्थापित करना ही **'गोमेध'** है।

ध्वनिमेध अथवा गोमेध—

'मेध' धातु के संगमन अर्थगत सम् उपसर्ग के उपर्युक्त अर्थ को **'संगीत-शास्त्र'** के माध्यम से भली प्रकार समझा जा सकता है, **'संगीत'** शब्द में विद्यमान **'सम्'** उपसर्ग ही उसकी महत्ता का

द्योतक है। **समता** या **हार्मनी** ही **संगीत** की आत्मा है, यदि संगीत में **'सम्'** नहीं, **समता** नहीं, **हार्मनी** नहीं, तो वह उल्लास के स्थान पर खिन्नता का जनक हो जाता है, गायक के गीत में तब आनन्द आता है, कि जब गायक के **कंठ, वीणा, वेणु** [बांसुरी] **बीन, सारंगी, सितार, शहनाई, मृदंग, ढोल, ढोलक, तबला,** आदि **वाद्य** यन्त्रों में **समता** हो और जब तक इन सब में समता नहीं आती, तब तक **हिंसा-प्रक्रिया** चालू रहती है, कभी तबले की ठुकाई होती है, तो कभी सितार के कान मरोड़े जाते हैं। इतना ही क्यों! गायक को भी अपने कंठ और वाद्य-यन्त्रों में संगति बिठानी होती है इस संगति के लिए संगीत की **स,र,ग,म,** पर रियाज करनी होती है, तब कहीं **'ध्वनिमेध'** अथवा **'संगीत सम्मेलन'** सम्पन्न होता है, यदि याज्ञिक भाषा में कहना हो तो **'गोमेध'** सम्पन्न हो पाता है, **ध्वनि** की वैदिक संज्ञा **गौ** है। गार्ग्यायण द्वारा लिखित प्रणववाद नामक ग्रन्थ के तृतीय प्रकरण की छठी तरंग में **गोमेध** की व्याख्या से हमारी उक्त स्थापना को बल मिलता है। गार्ग्यायण का कहना है कि **गोमेध** वास्तव में **शब्दमेध** ही है ऐसा जानना चाहिये, **गौ अर्थात् वाणी** का मेध के साथ **संयोजन** ही वास्तव में **गोमेध** है। शब्दशास्त्र का ज्ञानमात्र सब तक पहुंचाना **गोमेध** यज्ञ है। गार्ग्यायण के शब्द इस प्रकार हैं—

'गोमेधस्तावत् शब्दमेध इत्यवगम्यते। गां वाणीं मेधया संयोजनमिति तदर्थात् शब्दशास्त्र-ज्ञानमात्रस्य सर्वेभ्यो प्रदानमेव गोमेधयज्ञः'[1]। गार्ग्यायण ने भी **सम्** उपसर्ग की महत्ता को समझ कर ही उसका बोधक **संयोजनम्** शब्द डाला है, वाणी का मेधा के साथ संगमन [मेधृ संगमे] ही गो-मेध है। यह हुआ मेध धातु के संगमन अर्थ में प्रयुक्त सम् उपसर्ग का महत्त्व।

'मेध शब्द' यज्ञ का वाचक—

वैदिक निघण्टु में **'मेध'** शब्द **यज्ञ** नामों में पठित है और वह भी **'अध्वर'** नाम के साथ। इससे यह संकेत मिलता है कि यज्ञवाचक **'मेध'** शब्द का अर्थ परस्पर सम्मिलन है, ऐसा सम्मिलन कि जिसमें **'ध्वर न'** हो, हिंसा न हो। यज्ञ और मेध शब्द जहां पर्यायवाची हैं वहां दोनों की मूल धातुओं के अर्थ भी समान ही हैं। **'यज्'** धातु का मुख्यार्थ **'संगतीकरण'** है, तो **मेध** धातु का भी मुख्यार्थ **संगमन** है, तदनन्तर **'सं-गति'** और **'सं-गम'** में विद्यमान **गति** के तीन अर्थ प्रसिद्ध हैं—**'ज्ञान' 'गमन'** और **'प्राप्ति'**। इसमें प्रयुक्त **'सम्'** उपसर्ग **एकीभाव** का परिचायक है, इस प्रकार **मेध** शब्द का अर्थ हुआ—**'एक होकर जानना' 'एक होकर गति करना'** और **'एक होकर प्राप्ति करना'** अपि च यज्ञ-नामों में पढ़ा जाने से यज् धातु के अवशिष्ट अर्थ भी इसमें संगृहीत हो जाएंगे अर्थात् **'एक होकर देवों की पूजा करना'** तथा **'एक होकर देना'** ये अर्थ भी मेध शब्द से भासित होंगे।

सायणाचार्य और 'मेध' शब्द—

सायणाचार्य 'मेध' शब्द का अर्थ यज्ञ और हवि करते हैं। ऋग्वेदीय[2] **'मेधिरः'** पद का अर्थ करते हुए **'मेधो यज्ञो हविर्वा'** कहते हैं।

'मेध्य' शब्द का अर्थ —

अथर्ववेद के **'यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकम्'**[3] मन्त्रचरणगत **'मेधातिथिम्'** पद का अर्थ करते

---

१. ब्रह्मवादिन प्रैस मद्रास से सन् १९१५ में प्रकाशित।

२. **इन्द्रस्य नु सुकृतं दैव्यं सहोऽग्निर्गृहे जरिता मेधिरः कविः।**
यज्ञश्च भूद्विदथे चारुरन्तम आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥ ऋ० १०.१००.६ [सा० भा०]

३. अथर्व० ४.२९.६ [सा० भा०]

हुए वे लिखते हैं—'**मेध्या यज्ञार्हा अतिथयो यस्मिन् तं मेधातिथिसंज्ञम् ऋषिम्**' यहां मेध्या पद से यजनीय एवं पूजनीय [यज् देवपूजा] अर्थ ग्रहण किया है।

शतपथ ब्राह्मण और मेध शब्द—

शतपथ-ब्राह्मण[1] के एक प्रसंग से भी मेध्य शब्द पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। शतपथ के आरम्भ में पौर्णमास यज्ञ की व्रतोपायन-विधि में 'व्रतधारण करने की इच्छा वाला यजमान' आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि के बीच पूर्व की ओर मुख करके खड़ा हुआ जल का उपस्पर्शन करता है।' कारण यह है—कि '**अमेध्यो वै पुरुषः**' '**यद् अनृतं वदति**' पुरुष अपवित्र होता है जो अनृत बोलता है। इस जलस्पर्श से वह अन्दर से भी पवित्र हो जाता है क्योंकि [**मेध्या वा आपः**] जल पवित्र हैं। मैं भी [**मेध्यो भूत्वा**'] पवित्र होकर व्रत धारण करूं। **पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो व्रतमुपयानि**' जल पवित्र होते हैं, मैं भी पवित्र पदार्थ से पवित्र होकर व्रतधारण करूं। इस कण्डिका के अर्थ से निम्न-तथ्य सम्मुख आए।

[१] **'आपः' मेध्य हैं [मेध्या वा आपः]**
[२] **'आपः' पवित्र हैं [पवित्रं वा आपः]**
[३] **मेध्य और पवित्र पर्यायवाची हैं।**
[४] **अनृतभाषण से पुरुष अमेध्य होता है।**
[५] **सत्यभाषण से पुरुष मेध्य होता है।**

बुद्धि कहती है मेध्य अर्थात् यज्ञार्ह अर्थात् पूजनीय-यजनीय-यज्ञ के लिए उपयोगी। अनृत भाषण से व्यक्ति यज्ञ के लिए उपयोगी नहीं रहता; दूसरे शब्दों में **अनृतभाषण अमेध्य है, सत्य भाषण ही मेध्य है।**

तद्धितार्थ प्रत्यय की युक्ति से—

मेध्य शब्द का एक अर्थ मेधा के लिए हितकारी भी है। उपर्युक्त निर्णय के अनुसार सत्य मेध्य है अर्थात् मेधा के लिए हितकारी है। अनृत अमेध्य है, अर्थात् मेधा के लिए अहितकारी है और यज्ञ के लिए भी अहितकारी है। अतः निष्कर्ष निकला कि अनृत को यज्ञ से बाहर कर देना चाहिए। पुरुष में जो '**अनृत**' है वही पशु-भाव है इसी की हिंसा [यज्ञ में] पशु-हिंसा है। अनृत सम्पूर्ण दुरितों का प्रतिनिधि है और सत्य सभी सद्गुणों का। इसीलिए यजमान व्रतग्रहण के समय कहता है—'**अनृतात् सत्यमुपैमि**'[2] मैं अनृत को छोड़कर सत्य की ओर आता हूं।

उपर्युक्त 'मेध' शब्द पर हुए सम्पूर्ण विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि वेद तथा ब्राह्मण आदि में जहां-जहां मेध शब्द का प्रयोग हुआ है वहां-वहां उसके निम्नलिखित अर्थ ग्राह्य हैं—

'व्यक्ति की मेधा और समाज के संगमन की हिंसा न करते हुए, व्यक्ति और समाज के अनृतरूप अमेध्य पशुभावों की हिंसा करते हुए एक होकर जानना, एक होकर गति करना और एक होकर प्राप्त करना ही 'मेध' है।'

---

१. **व्रतमुपैष्यन्। अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नप उपस्पृशति तद्यदप उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वा आपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति।—शत० ब्रा० १.१.१.१**

२. यजु० १.५

मेध (यज्ञ)—

मौद्गल्य[1] ने यज्ञ का लक्षण "**सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म [यज्ञः]**" किया है, जिसका अर्थ है सामुदायिक योगक्षेम को अभिलक्ष्य करके समुदाय का अंग होकर किया गया कर्म यज्ञ है। अर्थात् व्यक्ति को अपने स्वार्थों का हनन कर सहयोग द्वारा सामुदायिक योग-क्षेम को सम्पन्न करना चाहिए। व्यक्ति और समाज का संघर्ष सदा से चला आया है। इस परस्पर संघर्ष का कारण उनका **पशु-भाव** है। **पशु-भाव** यज्ञ का विघातक है। उस पशु-भाव का हिंसन होना पशुहिंसा है। संन्यासी के आत्मयाग का वर्णन करते हुए उपनिषद् ने कहा कि उसकी आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, काम आज्य है, मन्यु पशु है, हृदय यूप है और उनका हिंसन पशु-हिंसन है।[2] दशांगुलपुरुष को दश अंगुलियों वाले दोनों हाथ वरदान रूप में मिलें हैं, और इनका सहज ही कोहनी पर से घूम कर मुख की ओर जाना पशुभाव है। शिशु-रूप में इसका दर्शन सहज ही किया जा सकता है। हाथ में किसी भी वस्तु के आने पर हाथ का मुंह की ओर जाना स्वाभाविक है यही उसका पशुभाव है, यही असुरत्व है। इन्हीं हाथों को अपने मुख की ओर न ले जाकर दूसरे के मुख की ओर ले जाना देवत्व है, यज्ञिय-भाव है—'**स्वेष्वास्येषु [असुराः] जुह्वतश्चेरुः, अथ देवाः अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतः**।'[3] असुर अपने-अपने मुख में डालकर प्रसन्न थे और देव एक दूसरे के मुख में डालकर प्रसन्न थे। यही असुरत्व यज्ञ का विघातक पशुभाव है, इसका हिंसन पशु-हिंसा है।

इसी प्रकार अन्य जीवों के पशुभाव को मारकर मेधा का रक्षण और संगमन करा देना यज्ञ है। कुत्ते आदि पशुओं के प्रशिक्षण के समय उन की मेधा का हनन नहीं होता, उनके पशुभाव का हुआ करता है—**हनन = यजन = बन्धन = [नि] यमन = आशुग्रहण = मेधन**।

निष्कर्ष—

१. व्यक्ति में विद्यमान नैसर्गिक प्रवृत्ति पशुभाव है। उससे युक्त व्यक्ति 'पशु' है।
२. पशु के नैसर्गिक गुण की अन्वेषणपूर्वक प्राप्ति 'आलम्भन' है।
३. आलब्ध पशु को प्रशिक्षण द्वारा मानवोपयोगी बनाना 'संज्ञपन' है।
४. ब्रह्मचर्याश्रम की छत्रछाया उसका दीर्घ अवदान है।
५. शिष्य बनाना 'उपाकरण' है।
६. मेधा और संगमन की हिंसा न करते हुए, अनृत-रूप पशु-भाव की हिंसा करना एवं एक होकर जानना, गति करना और प्राप्ति करना 'मेध' है।

ग्राम्य भी, मेध्य भी—

ग्राम्य पशुओं की संख्या पांच है : पुरुष, अश्व, गौ, अजा, और अवि। ये पांचों जहां ग्राम्य हैं, वहां मेध्य भी हैं, शास्त्रों में इन्हीं पांच ग्राम्य पशुओं के मेध का वर्णन है, अन्य वायव्य, आरण्यादि पशुओं का नहीं। ग्राम्यपशु ही क्यों मेध्य हैं, इसका भी एक कारण है : पारस्परिक सहयोग से समाज-निर्माण,

---

१. विद्यामार्त्तण्ड बुद्धदेव विद्यालंकार [कृत 'शतपथ में एक पथ' पृष्ठ २४ से]
२. तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्मः मन्युः पशुः···। म० ना० उ० २५.१.
३. शत० ब्रा० ११.१.८.१.

परस्पर एक दूसरे को ग्रहण करना, स्वीकार करना है। 'ग्रहण करना' ही एकमात्र कड़ी है, जिससे ग्राम्य-पशुओं को परस्पर मिलाकर मेध्य शृङ्खला का निर्माण किया है, अर्थात् जो ग्राम्य है, वह मेध्य है और जो मेध्य है वह ग्राम्य है, जो सोशल् है वह यज्ञिय है, जो यज्ञिय है, वह सोशल् है। ग्राम्य और मेध्य व्यक्तियों के परस्पर [सं] ग्राहकता गुण का प्रत्यक्ष करने के उपरान्त ही, महामुनि पाणिनि ने दोनों संज्ञाओं की मूल धातुओं में ग्रहण अर्थ को स्थापित कर दिया। **'मेध्य'** संज्ञा के मूल **'मेधा'** धातु का अर्थ भी **'आशुग्रहण'** है, तो **'ग्राम्य' संज्ञा** के मूल **'ग्रस'** धातु का अर्थ भी **'ग्रहण'** है, अतः समस्त विवेचन का यही निष्कर्ष है कि **'जो व्यक्ति ग्राम्य है वही मेध्य भी है'**।

ग्राम शब्द की मूल भावना—

ग्राम शब्द का सर्वमान्य अर्थ **समूह** है। धातुपाठ में **ग्रस** और **ग्रसु** दो धातुओं का उल्लेख हुआ है, जिनसे ग्राम शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है: एक का अर्थ **'ग्रहण'** है तो दूसरी का अर्थ **'ग्रसन'** है। ये दोनों ही धातु ग्राम-संज्ञा की मूल भावना की द्योतक हैं, वे ही व्यक्तियां ग्राम बना सकेंगी, जिनमें परस्पर एक दूसरे को ग्रहण करने की इच्छा हो, इच्छा के साथ साथ परस्पर ग्रहण करने की शक्ति और सामर्थ्य भी हो। इस भावना को **'ग्रस' ग्रसने** ने स्पष्ट किया है, कि जिसे भी **ग्रहण** करो, तो ग्रहण करने से पूर्व यह अवश्य देख लो कि उसके **ग्रास** का भी कोई प्रबन्ध हुआ है कि नहीं, यदि हुआ है तो ग्रहण कर लो, अन्यथा नहीं। यही वह सूत्र है कि जिसने छोटी बस्ती से लेकर बड़े राज्यों, राष्ट्रों तक को एक सूत्र में ग्रथित किया हुआ है। कोई भी राष्ट्र परराष्ट्र के व्यक्ति को तब तक ग्रहण नहीं करता, जब तक कि उसके ग्रास का प्रबन्ध नहीं हो लेता, यदि ग्रास का प्रबन्ध नहीं है, तो परराष्ट्र के व्यक्ति के प्रवेश की तो कथा ही क्या अन्य लोक से आने वाले प्राणी पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। निष्कर्ष यह हुआ कि वे ही व्यक्तियां **ग्राम्य** अथवा **सोशल्** हैं कि जो परस्पर एक दूसरे लिए **ग्रास का** प्रबन्ध करती हों।

पुरुषेतर ग्राम्य-पशु और ग्रास का प्रबन्ध—

पुरुषेतर चारों ही ग्राम्य-पशु पुरुष-पशु के लिए ग्रास [भोजन] आच्छादन और परिवहन का सहज प्रबन्ध करते हैं। ये शक्तियाँ उन्हें निसर्गसिद्ध हैं। मानो वे पुरुष से आकर कहते हैं—कि हमें ग्रहण करो, हम तुम्हारे ग्रास का प्रबन्ध कर लाए हैं, पहले हम से लो, पीछे हमें दो, देखो! हमारे स्तनों में दुग्ध भण्डार, उसे ले लो और बदले में हमें **ग्रास** [Grass] दे दो हम तुम्हें दें तुम हमें दो, हम तुम्हें धारणा करें, तुम हमें धारण करो। यह परस्पर का **पण** ही हमें **ग्राम्य** और वसती को ग्राम बनाएगा। आओ! वेद को साक्षी कर परस्पर वचन बद्ध हो जाएं **"देहि मे ददामि ते, नि मे+धेहि नि ते दधे, निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते।"**[1] हम पुरुष-मेध करें तुम, अश्व-मेध, गो-मेध, अज-मेध और अवि-मेध करो, हम पुरुष-ग्रास [दुग्ध] निकालें, तुम बदले में गो-ग्रास निकालो[2] आओ हम इसे न भुलाएं—**सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। देवा भावयताऽनेन ते देवाः भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**[3]।

पुरुष-पशु की कृतघ्नता

ग्राम्य-पशुओं के पारस्परिक किए गये इस **पण** को पुरुष-पशु ने स्वार्थ वश भुला दिया और

---

१. यजु० ३.५० २. **गोर्वा इदं सर्वं बिभर्ति।** श० ३.१.२.१४. ३. गीता० ३.१०,११.

साथी ग्राम्य पशुओं की निर्मम हत्या कर, उनके रक्त, मांस और अस्थि तक को उदर का ग्रास बनाने लगा, वह पशुओं द्वारा किए उपकारों को भूल गया और कृतज्ञ होने के स्थान पर कृतघ्न बन गया। वह भूल गया कि ग्राम्य पशु कितने उपकारक हैं: जीते जी दुग्ध की एक-एक बून्द देकर पुरुष-पशु की भूख का, शरीर का, एक-एक रोम देकर उसके आच्छादन का, अपनी पृष्ठ को खुला छोड़कर वाहन का और निरन्तर गतिशील रहकर कृषि और यातायात का प्रबन्ध करते हैं, इतना ही नहीं फिर मरणोपरान्त अपने अस्थि, चर्म, मज्जा आदि पदार्थ प्रदान कर अनेकविध लाभ पहुंचाते हैं, यही है—**'पशूनां रूपम् अशीय'**[1] का आशय, अर्थात् पशुओं द्वारा किए गए उपकारों का उपभोग। जो पुरुष-पशु इन उपकारों को भुला उसके मांस से अपनी जिह्वा और उदर की तृप्ति और पूर्ति करता है, उस यातुधान=चाल-बाज धूर्त व्यक्ति के शीर्ष का पैनीधार वाले शस्त्र से छेदन करने[2] अथवा सीसे की गोली से बींधे जाने का विधान वेद में है।[3]

ग्राम्य-पशु सर्वथा अहिंस्य—

भगवती श्रुति का स्पष्ट आदेश है कि जिन्हें ग्राम्य-पशु बनाया गया है वे सर्वथा अहिंस्य हैं उन्हें कभी न मारा जाय। **इमं मा हिंसीर्द्विपाद'-पशुम्** [पुरुष पशु को] **इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं वाजिनम्** [अश्व-पशु को] **'इमं साहस्रं शतधारमुत्सं घृतं दुहानामदितिं मा हिंसीः** [गो-पशु को] **इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदां मा हिंसीः** [अवि-पशु को] तथा **अजोह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् अपश्यज्जनितारमग्रे**[4] [बकरी-पशु को] **मा हिंसीः, मा हिंसीः, मा हिंसीः**, मत मार, मत मार, मत मार।

अन्त में मेध शब्द पर हुए इस विस्तृत विवेचन के आधार पर उस का लक्षण कर **मेध-प्रकरण** पर पूर्णविराम लगाते हैं—

मेध का लक्षण—

"**ग्राम्य पशुओं** का **बौद्धिक** रूपेण परस्पर एक दूसरे का **मेधन**[5] **मानसिक** रूपेण एक दूसरे का **आशु-ग्रहण**[6], हार्दिक रूपेण एक दूसरे का **स्नेहन**[7], **शरीरतः अश्रुधाराओं** तथा **दुग्ध-धाराओं** से एक दूसरे का **सेचन**[8], **[आ] चरणतः** एक दूसरे के साथ **एक होकर चलना**[9] और इस पारस्परिक व्यवहार में, पण में बाधा-रूपेण उपस्थित चित्तवृत्तियों का **हिंसन** करते हुए एक दूसरे के दिव्य भावों की पूजा, संगती-करण, दानादान करते हुए एक आदर्श ग्राम=परिवार=समाज=राष्ट्र=विश्व का निर्माण करना **पशु-मेध है।**

स्मरण रहे कि **मेधन** और **आशु-ग्रहण** ग्राम्य-पशु **ब्राह्मण** एवं तदनु **अज**-पशु का, **स्नेहन** और **हिंसन क्षत्रिय** एवं तदनु **अवि**-पशु का, **सेचन वैश्य** एवं तदनु **गो-पशु** का और **सं+गमन शूद्र** एवं तदनु **अश्व**-पशु का धर्म है।

---

१. यजु० ३९.४

२. यः पौरुषेयेण क्रविषा समंक्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानो।
यो अघ्न्याया हरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ अथर्व० ८.३.१५

३. यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषं, तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसोअवीरहा। अथर्व० १.१६.४,

४. यजु० १३.३७-५१.

५. मिदृ मेधा+हिंसनयोः भ्वा०, ८४४,

६. मेधा आशुग्रहणे, कण्ड्वा० ८

७. ञिमिदा स्नेहने दि० १३४

८. मेधृ सेचने भ्वा० ८५५

९. मेधृ संगमे भ्वा० ८५५

यज्ञों में पशुमेध से सम्बद्ध विवादास्पद **आलम्भनादि मेध** पर्यन्त शब्दों की ऊहापोह के उपरान्त यह उचित जान पड़ता है कि आलम्भनादि मेधपर्यन्त शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाकर **पुरुष-मेध, अश्व-मेध, गो-मेध, अज-मेध, अवि-मेध** यज्ञों का स्पष्टीकरण किया जाए।

आलम्भनादि शब्दों को यदि एक क्रम में रख लिया जाए तो इनकी अर्थ-शृङ्खला का निर्माण हो सकेगा। क्रमशः [१] **आलम्भन** [२] **संज्ञपन** [३] **अवदान** [४] **उपाकरण** और [५] **मेध** को रखने से अर्थ में तारतम्य निम्न होगा।

आलम्भनादि के अर्थों में संगती-करण—

किसी भी [**जड़ अथवा चेतन**] व्यक्ति की **नैसर्गिक शक्ति** उसका **पशु**-भाव है। उस व्यक्ति-पशु अथवा उसके पशुभाव का **आलम्भन, संज्ञपन, अवदान, उपाकरण** एवं **मेध** संभव है। उदाहरणतया जब आचार्य, कुमार-पशु की नैसर्गिक शक्तियों का सूक्ष्मतया निरीक्षण कर प्राप्त कर लेता है, तब यह कुमार-पशु का **आलभन** हुआ, और जब आलब्ध कुमार-पशु के नैसर्गिक गुणों को मनन द्वारा **संज्ञप्त, उद्बुद्ध** एवं **अङ्कुरित** करता है, तो यह कुमार का **संज्ञपन** हुआ, तदनु संज्ञप्त [कुमार] पशु को छात्र रूप में अपनी छत्रच्छाया में ले लेता है, तो यह कुमार-पशु का **अवदान** हुआ, और जब आचार्य अन्तेवासी का उपनयन कर अपने उदर में [**आचार्यः उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**] ले लेता है, तो यह कुमार-पशु का **उपाकरण** अथवा **उपाकर्म** हुआ, और सर्वान्त में आचार्य जब उपकृत कुमार-पशु को **सेचन और स्नेहन** द्वारा कुमार की आशु ग्रहणात्मिका शक्ति को जगाकर कुमार की **मेधाशक्ति** और **संगमन शक्ति** का **रक्षण** तथा प्रतिकूल तत्त्वों का **हिंसन** करते हुए **परिवार, समाज, राष्ट्र** और **विश्व** के लिए उपयोगी बनाता है तो यह कुमार-पशु का **मेधन** हुआ। यही वह सूत्र है जिसे सभी मेध्य-पशुओं से युक्त कर पशुओं की रक्षा तथा यज्ञों में पशु-हिंसारूप अपराध से बचा जा सकता है।

आचार्य के पांच रूप और आलम्भनादि तत्त्व—

अथर्ववेद के प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य-सूक्त में आचार्य के पांच रूपों का उल्लेख हुआ है—आचार्यो [१] **मृत्युः** [२] **वरुणः** [३] **सोम** [४] **ओषधयः** [५] **पयः**। मानो आचार्य कुमार-पशु के आलम्भनादि पांच प्रक्रियाओं का विधि-विधान करके अपने पांचों नामों को सार्थक करता है। आलम्भनादि पांच प्रक्रियाओं के द्वारा कुमार के पशु-भाव की **हिंसा** करके अपने **मृत्यु** रूप को, **आलम्भन** और **संज्ञपन** द्वारा अपने **वरुण** रूप को, कुमार का **अवदान** करके अपने **सोम** रूप को, **उपाकरण** करके अपने **ओषधि** रूप को और सर्वान्त में उसकी **मेधा** और **संगमन** शक्ति को **सेचन** और **स्नेहन** द्वारा मानवोपयोगी बनाकर अपने **पयः** रूप को सार्थक करता है।

पुरुष-सूक्त और पशु-बन्धन—

पुरुष-सूक्त में वर्णन है कि जब देवों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया तो 'पुरुष पशु' को बांधा। 'पुरि शेते इति' पुरुष-परिभाषा के अनुसार सर्वातिशायी सत्ता [ब्रह्म], 'इदं सर्वम्' दशाङ्गुल, [मानव जीव] वायु, प्राण और समाज ये सब पुरुष हैं।[1] प्रश्न तो यह है कि यज्ञ से यज्ञ का यजन करते हुए देवों ने किस 'पुरुष-पशु' को बांधा ?

---

१. **आत्मा वै पशुः**। कौ० ब्रा० १२.७

विविध पशु और उनका बन्धन—

जितने ही पुरुष हैं वे सब प्रकृतितः पशु हैं। उन पुरुष-पशुओं को बांधने वाले देवता भी, पाश भी, और यूप तक भी, सब पृथक्-पृथक् हैं, पुरुष-मेध को समझने के लिए यज्ञ के इन सभी उपांगों की [प्रसक्त अवान्तर प्रश्नों की] मीमांसा आवश्यक है।

१. ब्रह्म-पशु—

सर्वातिशायी ब्रह्म पुरुष-पशु है। ज्ञान, बल, क्रिया, सत्, चित् एवं आनन्द आदि गुण उसमें निसर्गतः हैं।[१] नैसर्गिक गुण **पशु-भाव** हैं। उसमें से सच्चिदानन्दादि पशु-भाव को सर्वतः अन्वेषण द्वारा प्राप्त कर लेना **'आलम्भन'** है। सम्यक् ज्ञान द्वारा उसे व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी बना देना **संज्ञपन** है। संन्यासी, वेदवित् ब्राह्मण, आचार्य, एवं योगी जन **देव** हैं। ज्ञान, कर्म, उपासना **'पाश'** हैं, बुद्धि, हृदय-संस्थान **यूप** हैं। व्यक्ति-जीवन में ब्रह्म की इस **'स्वाभाविकी'**[२] सच्चिदानन्द स्थिति को किञ्चित् अवतरित कर लेना **पुरुषमेध** है।

२. जीव-पशु—

जीवात्मा के ज्ञान और प्रयत्न नैसर्गिक गुण हैं अतः चींटी से लेकर मनुष्य-पर्यन्त सभी पशु हैं।

३. दशांगुल-पुरुष-पशु—

प्रकृति-तः हम दशांगुल-पुरुष भी पशु ही हैं। हमारी नैसर्गिक-शक्ति ज्ञान, प्रयत्न हमारा पशु भाव है। दशांगुल-पुरुष-पशु में से उसके इस पशु-भाव को अन्वेषण द्वारा प्राप्त कर लेना **'आलम्भन'** है और प्रशिक्षण द्वारा उसकी पुनः विश्वनिर्माण में उपयोगी बना देना **'संज्ञपन'** है हमारे जीवन-ध्येय सर्वातिशायी पुरुष और उसकी गुण-रूप दिव्य-शक्तियां **'देव'** हैं। त्रिविध [सात्त्विक, राजसिक और तामसिक] कर्म **'पाश'** हैं। मनुष्यदेह **'यूप'** है। दशांगुल पुरुष-पशु के पशुत्व को लोकोपयोगी बनाना भी एक प्रकार का **पुरुषमेध** है।

४. बालक भी पशु—

वेद में बालक को भी पशु कहा गया है। नववधू को आशीर्वाद देते हुए वेद कहता है— **'वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः'**[२] इस माता की गोदी से नाना-शक्तिसम्पन्न **'पशु'** जन्म लें। उन्हें प्रतिष्ठा लाभ हो।' उक्त मन्त्र के अनुवाद में ग्रिफिथ को भी **पशु** शब्द का अर्थ 'Babies' जंचा है।

इस प्रकार मानव-शिशु भी पशु है, उसमें निहित नैसर्गिक शक्ति पशु-भाव है। शिशु-रूप पुरुष-पशु में उसके पशुत्व का अन्वेषण कर उसे प्राप्त कर लेना **'आलम्भन'** है। आलब्ध पशु और पशु-भाव को प्रशिक्षण द्वारा मानव, राष्ट्र और समाज के लिए उपयोगी बना देना **'संज्ञपन'** है। आचार्य और शिक्षा-शास्त्री **देव** हैं। त्रिविध विद्यासूत्र ही बन्धन के **'पाश'** हैं। विद्यालय **'यूप'** है। ब्रह्मचारी-पशु के पशुत्व को लोकोपयोगी बना देना भी **पुरुष-मेध** है।

५. 'समाज-पुरुष'-पशु —

समाज-पुरुष भी पशु है। उसमें विद्यमान **अज्ञान, अन्याय, अभाव और आलस्य** रूप दुःखों के

---

१. **स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।** श्वे० उ० ६.८.   २. अथर्व० १४.२.२५ पर ग्रिफिथ-भाष्य

प्रति मानव का संघर्ष **पशुभाव** कहलाएगा। समाज-रूप पुरुष-पशु में से पशुभाव का अन्वेषण **'आलम्भन'** और उन्हें प्रशिक्षण द्वारा **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य** और **शूद्र** बनाकर समाजोपयोगी बना देना **'संज्ञपन'** है। राष्ट्रपति और उसके विभागाध्यक्ष **'देव'**, और राष्ट्रभक्ति **'पाश'**, राज्यव्यवस्था **'यूप'** होगा। **समाज-पुरुष** पशु के पशुभाव को राष्ट्र एवं विश्व के लिए उपयोगी बनाना-**'पुरुषमेध'** कहलाएगा।

६. प्रकृति-पुरुष-पशु —

प्रकृति-पुरुष भी पशु है। प्रकृति के तीनों गुण सत्त्व, रजस्, तमस् निसर्ग-सिद्ध हैं[1] और ये ही उसके पशुभाव हैं। प्रकृति-पशु में से पशुभाव का अन्वेषण कर उसे प्राप्त कर लेना **'आलम्भन'** है और परीक्षण एवं प्रयोग द्वारा उसे विश्वनिर्माण में उपयोगी बना देना **'संज्ञपन'** है। सर्वातिशायी पुरुष और उसकी गुणरूप दिव्य शक्तियां **'देव'** हैं। पंचतन्मात्र **'पाश'** हैं। संवत्सर **'यूप'** है। **'प्रकृति-पुरुष'** पशु के पशुभाव को ब्रह्माण्डोपयोगी बनाना [प्रकृति]-**'पुरुष-मेघ'** है।

७. विकृति-पुरुष-पशु —

प्रकृति के विकारभूत जगत् के अवयव **अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र** आदि भी **'पशु'** हैं।[2] इनकी नैसर्गिक शक्तियां ही **पशुभाव** हैं। इनके **पशुभाव** का अन्वेषण कर उन्हें प्राप्त कर लेना **'आलम्भन'** है और प्रयोग द्वारा मानवोपयोगी बना देना **संज्ञपन** है। विश्व के वैज्ञानिक **देव** हैं, उनके द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले यंत्र **पाश** हैं, प्रयोगशालाएं **यूप** हैं, अग्नि, वायु, विद्युतादि पशुओं की [नैसर्गिक शक्ति] **पशुभाव** को मानवोपयोगी बना देना भी **पुरुष-मेध'** है।

पशुओं का आलम्भन हो, संज्ञपन हो, अथवा मेध हो, वह प्रायः ग्राम्य पशुओं का ही संभव है, वायव्य, आरण्यादि पशुओं का नहीं; क्योंकि ग्राम्य पशुओं में ही वह योग्यता है कि जो परस्पर एक दूसरे का आलम्भन, संज्ञपन और मेध कर सकते हैं, अन्य वर्ग के पशु नहीं; फिर ग्राम्य पशुओं के आलम्भनादि में क्रम है, सर्वप्रथम पुरुष-पशु का आलम्भन किया ज़ाता है, उसके पश्चात् अश्व का, अश्व के पीछे गौ का, तत्पश्चात् अवि [भेड़] का और अन्त में अज का, प्रमाण रूपेण शतपथ का निम्नलिखित वचन उपस्थित है—**'पुरुषं हि प्रथममालभते। पुरुषो हि प्रथमः पशूनाम्, अथाश्वं पुरुषं ह्यन्वश्वोऽथगाम्, अश्वं ह्यनु गौः, अथाविं गाम्ह् यन्वविर्, अथाजाम्, अविम् ह् यन्वजस्, तदेनान्यथा पूर्वं यथाश्रेष्ठमालभते।** शतपथकार की यह स्थापना पुरुष सूक्त के पन्द्रहवें मन्त्र **'देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्'** के आधार पर है, ब्राह्मण में ही नहीं, ऐतरेय उपनिषद् में भी इसी आधार पर उल्लेख हुआ है कि जब देवों को प्रथमालभन

---

१. **(क) पुरुष एवेदं सर्वम्** -ऋ० १०. ९०. २
   (ख) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः-सां० सू० १. ६१.

२. **अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।** (यजु० २३. १७.) अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र इत्यादि पशुओं की जो नैसर्गिक जलाना आदि शक्तियां [गुण] हैं वे समान रूप से अपना कार्य करती हैं, अग्नि को यह बोध नहीं कि किसे जलाना है और किसे बचाना है यही अग्नि आदि के पशुभाव का तात्पर्य है। बस अग्न्यादि के गुण विशेष को पहचानना आलम्भन है, उन्हें उपयोगी बनाना संज्ञपन है, उन्हें अपने आदेश में चलाना और नाना यान, यंत्र, कल-कारखाने चलाना विकार रूप पुरुष-पशु का मेध है।

के लिए गौ और अश्व-पशु उपस्थित किये गये तो उन्होंने **'नोऽयमलमिति'** कहकर निषेध कर दिया और जैसे ही पुरुष को दिखाया गया, तो देवों ने **'पुरुषो वाव सुकृतम्'** अर्थात् **'पुरुषो हि प्रथमः पशूनाम्** कहकर विभागशः यथायतन आलभन किया। विराट् के अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा आदि देव-पशुओं ने ही पुरुष-पशु का आलभन ही नहीं किया अपितु पृथिवी के ग्राम्य पशुओं ने भी सर्वप्रथम पुरुष का ही आलभन किया, पुरुष के आलम्भन होने पर ग्राम्य पशु तो स्वतः आलब्ध हो जाते हैं, वे तो स्वभावतः ग्राम्य हैं, सामाजिक हैं, संघभाव से रहने वाले हैं, अतः पुरुष-पशु के आलभन पर ग्राम्य पशुओं ने मूक भाषा में कहा—हमें जिसकी तलाश थी वह **लभ** गया उसका **आलभन** हो गया, ये कह कर उन्होंने वहीं डेरा डाल दिया, **वसती**, बनाली, **ग्राम** बना लिया और अपनी **ग्राम्य** संज्ञा को सार्थक किया।

अथ पुरुषमेधः

यजुर्वेद का तीसवां और इकतीसवां अध्याय पुरुषमेध से सम्बद्ध है, शतपथ ब्राह्मण का पुरुषमेध प्रकरण इन्हीं दो अध्यायों की व्याख्या है, इन दोनों अध्यायों की मंत्रसंख्या तुल्य है, बाईस, बाईस। तीसवें अध्याय के ५ से २२वें तक के मन्त्रों में १८४ पुरुषों, उनके पेशों तथा नामों का उल्लेख हुआ है, अध्याय के अन्तिम मन्त्र में मात्र एक वार **'आलभते'** क्रिया का प्रयोग हुआ है, इसी की छाया में शतपथकार ने १८४ पुरुषों के आलम्भन एवं मेध का वर्णन किया है। अध्याय वर्णित **आलभते** क्रिया का अर्थ सब प्रकार सब ओर से निरीक्षणोपरान्त पात्र व्यक्तियों को प्राप्त करना है, मारना नहीं।

तीसवें अध्याय के आरम्भिक पांच मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, इनका देवता **सविता** है। सविता देवों में वह देव है, जो **आज्ञा देने, प्रेरणा करने** के साथ-साथ समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी है, प्रथम मन्त्र में **सविता** देव से प्रार्थना की गई कि वह हमारे इस **यज्ञ** को, **यज्ञपति** को, अभिप्रेरित करे, कि जिससे राष्ट्र में ऐश्वर्य की वृद्धि हो, राष्ट्र का जन-मन, जन-बोध, जन-वचन, अन्तस् से पवित्र हो, हृदयहारी हो। द्वितीय मन्त्र में राष्ट्र के जन-जन को यह उपदेश दिया है, कि सविता देव के **वरेण्य भर्ग** का ध्यान करे, जो तेज जन-जन की बुद्धि को प्रेरित करता रहे। तृतीय मन्त्र में वैयक्तिक तथा सामाजिक दुष्कर्मों के त्याग तथा सुकर्मों के ग्रहण की प्रार्थना है। चतुर्थ मन्त्र में सविता देव का आह्वान है, जिन विशेषणों से उसे स्मरण किया गया है वे विचारणीय हैं। सविता देव का एक विशेषण **'विभक्तारम्'** और दूसरा **'नृचक्षसम्'** है।

अध्याय के द्वितीय मन्त्र की अन्तिम क्रिया प्रचोदयात् से स्पष्ट है कि **सविता** प्रेरणा का देवता है, सविता देव की प्रेरणा [आदेश] के बिना कोई भी व्यक्ति किसी **कर्म, पद, पेशे** तथा **फल** का अधिकारी नहीं हो सकता, व्यक्ति के **भग और भाग्य** का ऐश्वर्य का विधाता भी सविता है, इसीलिए उसका विशेषण है **विभक्तारम्**। अध्याय में १८४ कर्तव्यों, पदों तदनुसार पेशों का वर्णन है, किस पुरुष को किस पद पर, किस कार्य पर और उसे किस पेशे पर नियुक्त करना है, इन सब का विभागशः व्यवस्थापक सविता ही है। सविता देव की अन्तःप्रेरणा का ही परिणाम है, कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने **कर्तव्य, पद, पेशे** और उनके **फल** को अर्थात् भग और भाग्य को सेवा के माध्यम से [भज सेवायाम्] प्राप्त करना चाहता है।

सविता देव जहाँ **सर्व-प्रेरक** है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों, उनके फलों का **संविभाग** करने वाला है, वहाँ **नृचक्षस्** भी है, एक ही दृष्टि में पात्र, कुपात्र की जांच कर लेने वाला पूर्णतः **मर्दुमशनास्**। इस विशाल विश्व में से पुरुषों को खोज निकालना फिर उन्हें अपने अपने पद पर नियुक्त करना यथायोग्य

फल देना क्या सरल है ? नहीं नहीं अत्यन्त कठिन अत्यन्त दुष्कर, परन्तु सविता देव के लिए कुछ भी कठिन नहीं वह **नृचक्षस्** है।

जिस प्रकार **परम सविता** अनन्त योनि-गत अनन्त जीवों के स्व-स्व कर्मानुसार यथायोग्य फल की व्यवस्था करते हैं, तद्वत् तदनुगामी कक्षा-भेद से स्व-स्व कक्षा गत सविता [लेजिस्लेचर] भी प्रत्येक पुरुष के भग और भाग्य का विभागशः निर्णय करते हैं, और **नृचक्षस्'** होने से कहीं अन्याय नहीं हो पाता। यजुर्वेद के तीसवें पुरुष-मेधाध्याय में वर्णित १८४ वृत्ति-पेशे क्या हैं, राष्ट्र में किए जाने वाले कार्यों का विभागशः बटवारा, ऐसे व्यक्तियों की सब प्रकार सब ओर प्राप्त करने [आ+लभन] के लिए **नृचक्षस्** होना अत्यावश्यक है। अध्याय के अन्तिम मन्त्र में आए एक मात्र **आलभते** क्रिया ने सविता के **नृचक्षस्** विशेषण को सार्थक कर दिया। सविता देव **नृचक्षस्** होकर व्यक्ति का **आलभन** करते हैं **प्रेरक** होकर व्यक्ति में **धी-संज्ञपन** करते हैं और **विभक्तारम्** होकर **मेधन** करते हैं। उनके विभागशः न्याय को देखकर प्रत्येक व्यक्ति कहता है मे-धा, मे-धा, मे-धा। इस पृष्ठभूमि पर ही पुरुषमेध का स्पष्टीकरण आधारित है।

सविता का **'विभक्तारम्'** विशेषण इकतीसवें अध्याय के **व्यपकल्पयन्** और **व्यदधुः** क्रियाओं का संयोजक है, प्रत्येक विभाजन कर्त्ता को सर्वप्रथम विभागशः कल्पना करनी होती है, फिर कहीं उनको विभागशः धारण करना होता है। इन तीनों शब्दों के संगतीकरण में वि उपसर्ग ने और भी अति महत्त्व-पूर्ण भूमिका निभाई है। **वि** उपसर्ग का अर्थ जहां विशेषेण है, वहां विविध भी है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड को, विराट् को **पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु** और **स्वः** लोकों में विभक्त करके समझने की पद्धति है, जिस प्रकार पिण्ड को **मुख, बाहु, ऊरु** और **चरण** रूप चतुरङ्ग में विभक्त करके समझने और धारण करने की पद्धति है, उसी प्रकार वर्णात्मा पुरुष के चतुरङ्ग-भूत **ब्रह्म, क्षत्र, विड्,** [वैश्य] **शूद्र**, को भी विभक्त करके देखने और धारण करने की पद्धति है। यह पुरुषों की विभागशः कल्पना करना और धारण करना याज्ञिक मीमांसकों की परिभाषा में **विशकलन** है। **व्यदधुः** और **कतिधा व्यकल्पयन्** का यही अभिप्राय है, वर्णात्मा पुरुष के ब्राह्मण भाग को शीर्ष, और मुख की भांति सर्वोन्नत, क्षत्रिय को बाहु के सदृश रक्षार्थ दायें-बायें, वैश्य को उदर और नाभि की भांति मध्य में, और शूद्र को चरण की भांति सबके मूल में प्रतिष्ठित करना चाहिए।

सविता देव का विभागशः कल्पना करना और विभागशः धारण करना कितने प्रकार से होगा, यह कहना कठिन है। **व्यदधुः** और **व्यकल्पयन्** दोनों क्रियाओं के मध्य विद्यमान **कतिधाः** पद ने कितने ही प्रकार से विभजित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। वर्णात्मा पुरुष के मुखबाहूरुचरणस्थानीय ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के गुण-कर्म-स्वभाव की विभागशः कल्पना करनी होगी; उससे पहिले पिण्ड-पुरुष के मुख, बाहु, उदर, चरण की भी विभागशः कल्पना करनी होगी, तद्यथा मुख का ज्ञानेन्द्रिय विभाग ज्ञान का आदान करता है, और दूसरा वाग् विभाग ज्ञान का विसर्जन करता है, तीसरा मनन विभाग आयातित ज्ञान को निर्यात करने से पूर्व परिशुद्ध करता है, यही अंगों की, तदन्तर्गत गुण धर्मों की विभागशः कल्पना है, विशकलन है। मुख के इन्हीं विभक्त गुण, धर्मों को किसी व्यक्ति विशेष में संक्रांत कर देने का नाम ब्राह्मण बनाना है। ब्राह्मण के आयात ज्ञान को **अध्ययन**, निर्यात ज्ञान को **अध्यापन** कहा जाना ठीक होगा। इसी प्रकार अन्य पुरुषों के बहुविध व्यकल्पन् की प्रक्रिया भी जान लेनी चाहिए। अनेक पुरुषों के व्यकल्पन् की बात तैत्तिरीयसंहिता और ताण्ड्यब्राह्मण के निम्नलिखित प्रमाणों से सुस्पष्ट हो जाएगी उससे पुरुषमेध की व्याख्या में अपूर्व सहयोग मिलेगा।

तत्र शब्दप्रमाणम् —

प्रजापतिरकामयत—'प्रजायेय' इति । स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमन्वग्निर्देवता अन्वसृज्यत, गायत्री छन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणां, अजः पशूनाम् । तस्मात्ते मुख्या, मुखतो ह्यसृज्यन्त ।।१।। तै० स० ७.१.१.३-४

उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत, तमिन्द्रो देवता अन्वसृज्यत, त्रिष्टुप्छन्दः, बृहत्साम, राजन्यो मनुष्याणां, अविः पशूनाम् । तस्मात्ते वीर्य्यवन्तः वीर्य्याद् ह्यसृज्यन्त ।।२।। तै० सं० ७. १.१.४-५

मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त, जगतीछन्दः, वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणां, गावः पशूनां, तस्मात्ते आद्याः । अन्नधानाद् ह्यसृज्यन्त, तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यः । भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त ।।३।। तै० सं० ७.१.१. ४-५

पत्त एकविंशं निरमिमीत, तमनुष्टुप्छन्दोऽन्वसृज्यत, वैराजं साम, शूद्रो मनुष्याणां, अश्वः पशूनाम् । तस्माच्छूद्रो यज्ञेनवक्लृप्तः । न हि देवता अन्वसृज्यत । तस्तात् पादावुपजीवतः । पत्तो ह्यसृज्येताम् ।।४।। तै० सं० ७.१.१. ५-६

प्रजापति ने कामना की कि मैं प्रजारूप में परिणत हो जाऊं—[प्रजा उत्पन्न करूं] प्रजापति ने **मुख से**=मुखायव सदृश समस्त गुण धर्मों से [युक्त] [स्तोमों में] **त्रिवृत् स्तोम** को, [देवताओं में] **अग्नि देवता**[1] को [छन्दों में] **गायत्री छन्द** को [सामों में] **रथन्तर साम** को, [मनुष्यों में] **ब्राह्मण मनुष्य** को एवं [ग्राम्य पशुओं में] **अज पशु** को उत्पन्न किया । इसलिए ये [ब्राह्मण और अज] मुख्य कहलाए क्योंकि इन्हें मुख से अर्थात् मुखावयव सदृश **गुण, कर्म, स्वभाव** से युक्त किया ।।१।।

[प्रजापति ने] उर-स्थान तथा **बाहू** से=बाहु अवयव सदृश गुण धर्मों से [युक्त] [स्तोमों में] **पञ्चदश स्तोम** को, [देवताओं में] **इन्द्र देवता**[2] को, [छन्दों में] **त्रिष्टुप् छन्द** को, [सामों में] **बृहत् साम** को, [मनुष्यों में] **राजन्य**=**क्षत्रिय** को, एवं [ग्राम्य पशुओं में] **'अविपशु'** [भेड़] को उत्पन्न किया । इसलिए ये [क्षत्रिय और अवि] वीर्यवान् कहलाए, क्योंकि प्रजापति ने उर-सदृश वीर्यशक्ति एवं बाहुसदृश रक्षासामर्थ्य से युक्त किया ।।२।।

[प्रजापति ने] **मध्य** भाग से= **नाभि, उदर, ऊरु** अवयव सदृश गुण धर्मों से [युक्त] [स्तोमों में] **सप्तदश स्तोम** को, [देवताओं में] **विश्वेदेव देवता**[3] को, [छन्दों में] **जगती छन्द** को, [सामों में] **वैरूप साम** को, [मनुष्यों में] **वैश्य को, [मध्यं तदस्य यद् वैश्यः]** एवं [ग्राम्य पशुओं में] **गौ पशु** को उत्पन्न किया । क्योंकि इन्हें [वैश्य और गौ पशु को] नाभि सदृश सबका केन्द्र, उदर सदृश अन्नादि भोज्य पदार्थों का भण्डार और ऊरु सदृश सर्वत्र गमनागमन सामर्थ्य युक्त किया, इसलिए ये [वैश्य और गौ] सबके आद्य=सबकी भोजन=भोग्य सामग्री के दाता और संख्या में भी अन्यों से अधिक हुए ।।३।।

[प्रजापति ने] **पाद** अवयव से=**चरण** सदृश **गति-स्थिति, क्रम, विक्रम**, आदि गुणधर्मों से [युक्त] [स्तोमों में] **एकविंश स्तोम** को, [देवताओं में] **पूषा देवता**[4] को [छन्दों में] **अनुष्टुप् छन्द** को, [सामों में] **वैराज साम** को, [मनुष्यों में] **शूद्र** को एवं [ग्राम्य पशुओं में] **अश्व पशु** को उत्पन्न

---

१. **"अग्ने ! महां असि ब्राह्मण भारतेति"** [यजु०] २. **"क्षत्रं वा इन्द्रः"** ।। शत० २.५.२. २७
३. **"वैश्वदेवो हि वैश्यः"** तै० ब्रा० २.७.२.२. ४. **"शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्"** शत० १४.६.३. ३.

किया क्योंकि इन्हें [शूद्र और अश्व] चरणसदृश गतिस्थिति, क्रमविक्रम आदि सामर्थ्य युक्त किया, इसलिए पैरों से इनकी और अन्य सब की प्रतिष्ठा है ।।४।।

(प्रजापति ने अपने) पाद भाग से [स्तोमों में] 'एकविंश स्तोम—२१' उत्पन्न किया, एकविंश स्तोम के अनुरूप [छन्दों में] **'अनुष्टुप् छन्द'** उत्पन्न किया, [सामों में] **'वैराज साम'** उत्पन्न किया, मनुष्यों में 'शूद्र' उत्पन्न किया, एवं पशुओं में **'अश्व'** को उत्पन्न किया, इसलिए ये [शूद्र और अश्व] पैरों से ही अपनी जीविका चलाते हैं।

सोऽकामयत—'यज्ञं सृजेय' इति। स मुखत एव त्रिवृतमसृजत। तं गायत्री छन्दोऽन्वसृजत, अग्निर्देवता, ब्राह्मणो मनुष्यः वसन्त ऋतुः। तस्मात् 'त्रिवृत्' स्तोमानां मुखं, 'गायत्री' च्छन्दसां, अग्निर्देवतानां ब्राह्मणो मनुष्याणां, वसन्त ऋतूनाम्। तस्माद्-ब्राह्मणो मुखेन वीर्य्यङ्करोति। मुखतो हि सृष्टः ।।१।।

स उरस्त एव बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत। तन्त्रिष्टुप्छन्दोऽन्वसृजत, इन्द्रो देवता, राजन्यो मनुष्यः ग्रीष्म ऋतुः। तस्माद्राजन्यस्य पञ्चदशस्तोमः, त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता, ग्रीष्म ऋतुः। तस्मादु बाहुवीर्य्यः। बाहुभ्यां हि सृष्टः ।।२।।

स मध्यत एव प्रजननात् सप्तदशमसृजत। तञ्जगतीछन्दोऽन्वसृज्यत, विश्वेदेवा देवता, वैश्यो-मनुष्यः, वर्षा ऋतुः। तस्माद्वैश्योऽद्यमानो न क्षीयते। प्रजननाद्धि सृष्टः। तस्मादु बहुपशुः। वैश्यदेवो हि जागतः, वर्षाह्यस्यर्त्तुः। तस्माद् ब्राह्मणस्य च राजन्यस्य चाद्योऽधरो हि सृष्टः ।।३।।

स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत। तमनुष्टुप्छन्दोऽन्वसृज्यत, न काचन देवता, शूद्रो मनुष्यः। तस्माच्छूद्र उत बहुपशुः-अयज्ञियः। विदेवो हि। न हि तं काचन देवताऽन्वसृज्यत। तस्मात् पादावनेज्यन्नाति वर्द्धते। पत्तो हि सृष्टः। तस्मादेकविंशः स्तोमानां प्रतिष्ठा। प्रतिष्ठाया हि सृष्टः। तस्मादानुष्टुभं छन्दांसि व्यूहन्ति ।।४।। —ताण्ड्यब्राह्मण ६।१। ६.८.११.११ कं०।

प्रजापति ने कामना की कि, मैं सृष्टियज्ञ करूं। [इस कामना की पूर्ति के लिए] उसने मुख से=मुखावयव सदृश समस्त गुणधर्मों से [युक्त] **त्रिवृत् स्तोम** को, **गायत्री छन्द** को, **अग्नि देवता** को, **ब्राह्मण मनुष्य** को, एवं **वसन्त ऋतु** को, उत्पन्न किया। यतः त्रिवृत् स्तोमादि भावों मुखसदृश गुण-धर्मों से युक्त किया, अत एव स्तोमों में **त्रिवृत् स्तोम मुख** कहलाया, छन्दों में **गायत्री छन्द मुख** कहलाया, देवताओं में **अग्नि देवता मुख** कहलाया, ऋतुओं में **वसन्त ऋतु मुख** कहलाया। इसलिए ब्राह्मण मुख से ही अध्ययनाध्यापन, श्रवण-श्रावण रूप स्वाध्याय रूप वीर्य से युक्त होता है **[वाचि वीर्यं द्विजानाम्]** वाणी ही ब्राह्मण का मुख्य बल है ।।१।।

प्रजापति ने उर तथा बाहू से=बाहु अवयव सदृश गुणधर्मों से [युक्त] **पञ्चदश स्तोम** को **त्रिष्टुप् छन्द** को, **इन्द्र देवता** को **राजन्य** [क्षत्रिय] मनुष्य को एवं ग्रीष्म ऋतु को उत्पन्न किया। इसलिए राजन्य का पञ्चदश स्तोम है, इन्द्र देवता है, त्रिष्टुप् छन्द है एवं ग्रीष्म ऋतु है। राजन्य प्रजापति की बाहु है अतः उसके वीर्य और पराक्रम की परीक्षा और प्रतिष्ठा बाहु अवयव के आश्रित है, बाहू से ही क्षत्रिय के स्ववीर्य का विकास होता है **[बाह्वोवीर्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम्** ।।२।।

प्रजापति ने प्रजनन रूप मध्य स्थान से **सप्तदश स्तोम** को, **जगती छन्द** को, **विश्वेदेवा देवता** को, **वैश्य मनुष्य** को, एवं **वर्षा ऋतु** को उत्पन्न किया। इसलिए वैश्य सब वर्णियों से प्रयोग में लाया जाने पर भी वर्षा ऋतु की भांति सर्वत्र अपने धन-धान्य की वर्षा करता और कभी क्षीण नहीं होता।

यही कारण है वह बहुपशु है, इसलिए वैश्य का सप्तदश स्तोम है, विश्वेदेवा देवता है, जगती छन्द है, और वर्षा ऋतु है, इसी पारस्परिक सम्बन्ध से वैश्यदेव-जागत वैश्य वर्ग बहु-पशु सम्पत्ति युक्त रहता है, अपि च वर्षा इसकी अपनी ऋतु है वर्षा ही धान्यसम्पत्ति और पशुसम्पत्ति की अधिष्ठात्री मानी गई है। उसकी धान्य और पशुसम्पत्ति ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्णों की रक्षा के निमित्त है।

प्रजापति ने अपने प्रतिष्ठा रूप चरणों से **एकविंश स्तोम** को, **अनुष्टुप् छन्द** को, **पूषा देवता** को, **शूद्र मनुष्य** को, **शरद् ऋतु** को, उत्पन्न किया। यतः यह प्रजापति के प्रतिष्ठारूप चरण से उत्पन्न हुआ है, अतः इतर वर्णों की गतिस्थिति, क्रम-विक्रम रूप प्रतिष्ठा के हेतु—**एकमेव शुश्रूषा**[=आदेश को ध्यान पूर्वक सुनना [श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा] और सुने हुए को क्रियान्वित करना [सेवा] उसका धर्म है। जैसे मस्तक बाहू, उदर आदि उत्तमाङ्ग केवल पैरों के आधार पर प्रतिष्ठित हैं एवमेव तीनों वर्णों को प्रतिष्ठा शूद्र है। शूद्र वर्ण के उत्पथ हो जाने से शेष वर्णों में भी शिथिलता आ जाती है ।।४।।

उपर्युक्त तैत्तिरीयसंहिता और ताण्ड्य ब्राह्मण के प्रमाणों से एक बात तो अति स्पष्ट हो गई कि शारीर पुरुष के सदृश विराट् आदि अन्यों के भी मुखादि अवयव हैं, फिर यह कि जिनके मुखबाहूरुचरणादि अवयव हैं उनका अवयवी भी कोई न कोई **'पुरुष'** अवश्य होना चाहिए। तद्यथा–ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार यदि [१] त्रिवृत्स्तोम **मुख** है, पञ्चदशस्तोम **बाहु** है, सप्तदशस्तोम **उदर** है, और एकविंशस्तोम **चरण** है, तो इनके अवयवी की संज्ञा **स्तोमात्मा पुरुष** होनी चाहिए। यदि [२] गायत्री छन्द **मुख** है, त्रिष्टुप्छन्द **बाहु** है, जगती छन्द **उदर** है, और अनुष्टुप् छन्द **चरण** है तो इनके अवयवी की संज्ञा **छन्दात्मापुरुष** होनी चाहिए। यदि [३] अग्निदेवता **मुख** है, इन्द्र देवता **बाहु** है, विश्वेदेवाः देवता **उदर** है और पूषा देवता **चरण** है, तो इनके अवयवी की संज्ञा भी तो **देवतात्मा-पुरुष** होनी चाहिए। यदि [४] ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है. वैश्य उदर है, शूद्र चरण है, तो इनके अवयवी की संज्ञा **वर्णात्मा पुरुष** होनी चाहिए। यदि [५] वसन्त ऋतु **मुख** है, ग्रीष्म ऋतु **बाहु** है, वर्षा ऋतु **उदर** है, और शरद् ऋतु **चरण** है, तो इनके अवयवी की संज्ञा ही **संवत्सरात्मा पुरुष** होनी चाहिए। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता के अनुसार यदि [६] अज पशु **मुख** है. अवि पशु **बाहु** है, गौ पशु **उदर** है, और अश्व पशु **चरण** है, तो इनके अवयवी की संज्ञा भी **ग्राम्यात्मा पुरुष** होनी चाहिए। इसी प्रकार बहुविध पुरुषों की कल्पना की जा सकती है। तैत्तिरीय संहिता और ताण्ड्य ब्राह्मण के प्रमाणों पर आधारित बहुविध पुरुष कल्पना का चित्र उपस्थित किया जाता है और उसके साथ ही प्रत्येक पुरुषावयवी के चतुर्विध अवयवों का विशकलीभूत चित्रण भी है, इससे ज्ञात हो सकेगा कि पुरुष सूक्त की पुरुषमेध कल्पना का क्या आशय है? क्या आधार है?

	[१]	[२]	[३]	[४]
'पुरुष' चतुरङ्ग	**कर्मात्मा-पुरुष**	**सर्वात्मा-पुरुष**	**वर्णात्मा-पुरुष**	**आश्रमात्मा-पुरुष**
	एकराट् पुरुष	**विराट् पुरुष**	**सम्राट् पुरुष**	**परिव्राट् पुरुष**
शीर्ष	**मूर्वा**	स्वः	०	संन्यास
मुख	मुख	द्युः	ब्राह्मण	वानप्रस्थ
बाहु, हृदय-	उरस्, बाहु	अन्तरिक्ष	क्षत्रिय	०
उदर,	ऊरु	०	वैश्य	गृहस्थ
पाद	चरण	भूमि	शूद्र	ब्रह्मचर्य

पुरुष	[५]	[६]	[७]	[८]
चतुरङ्ग	**देवतात्मा पुरुष**	**तत्त्वात्मा पुरुष**	**कालात्मा पुरुष**	**संवत्सरात्मा पुरुष**
मुख	देवता पुरुष	आकाश	वर्तमान	वसन्त
बाहु	इन्द्र	वायु तेज	भूत	ग्रीष्म
ऊरु	विश्वेदेवाः	जल	भविष्य	वर्षा
चरण	पूषा	पृथिवी	सर्वकाल	शरद्
	[९]	[१०]	[११]	[१२]
चतुरङ्ग	**वेदात्मापुरुष**	**उपवेदात्मा पुरुष**	**वागात्मापुरुष**	**छन्दात्मा पुरुष**
मुख	साम	गन्धर्ववेद	परा	गायत्री
बाहु	यजुः	धनुर्वेद	पश्यन्ती	त्रिष्टुप्
ऊरु	ऋग्	आयुर्वेद	मध्यमा	जगती
चरण	अथर्व	स्थापत्यवेद	वैखरी	अनुष्टुप्
	[१३]	[१४]	[१५]	[१६]
चतुरङ्ग	**स्तोमात्मा पुरुष**	**सवनात्मा पुरुष**	**यज्ञात्मा पुरुष**	**ग्राम्यात्मा पुरुष**
मुख	त्रिवृत् स्तोम	प्रातः	आज्य	अज
बाहु	पञ्चदशस्तोम	माध्यन्दिन	इध्म	अवि
ऊरु	सप्तदशस्तोम	सायम्	बर्हिः	गौ
चरण	एकविंशस्तोम	रात्रिः	हवि	अश्व
	[१७]	[१८]	[१९]	[२०]
चतुरङ्ग	**पुरुषार्थ पुरुष**	**प्रकृति पुरुष**	**युगात्मा पुरुष**	**वृक्षात्मा पुरुष**
मुख	मोक्ष	सत्त्व	सत	अश्वत्थ
बाहु	धर्म	रजस्	त्रेता	वट
ऊरु	काम	तमस्	द्वापर	गूलर
चरण	अर्थ	साम्य	कलि	बांस

जैसा कि हम प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के संगति-सूत्र नामक द्वितीय अध्याय के ७९ पृष्ठ गत 'केन्द्रीय विचारधारा के चतुर्थ बिन्दु' शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट कर चुके हैं कि-'पुरुष-सूक्त अपने अध्येता को ज्ञान-विज्ञान की अधिकृत विभिन्न शाखाओं का बोध अत्यन्त सरल उपाय से कराता है, और वह उपाय है कि—प्रत्येक शाखागत शास्त्र को **पुरुष** रूप में कल्पित कर लेना चाहिए और साथ ही कल्पित पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु, चरणादि अवयव भी कल्पित कर लेने चाहिएं । इतना ही पर्याप्त नहीं उन मुखादि अवयवों के गुणधर्मों का भी विभागशः अध्ययन करना चाहिए, जिससे कि कर्मातमा पुरुष अधिकृत कक्षागत अभीष्ट पुरुष का निर्माण करते समय उस एक मात्र निर्माणाधीन पुरुष में बहुविध पुरुषों के **विशकलित** [व्यकल्पयन्] मुखादि अवयवों को एवं उन अवयवों के भी विभागशः ज्ञात किए गए गुणधर्मों को संधारित [व्यदधुः] करा सके । बस इन **'बहुविध पुरुषों के विशकलित मुखादि अवयवों के गुण-धर्मों को किसी भी निर्माणाधीन एक पुरुष में संगमन करा देना पुरुषमेध है''** तद्यथा वर्णात्मा पुरुष के निर्माण-

कर्त्ता आचार्य के आधीन अन्तेवासियों में से जिन्होंने स्वेच्छा से वर्णात्मा-पुरुष के **मुख, बाहु, ऊरू, चरण,** बनना **वरण** किया हो उनमें से वर्णात्मा पुरुष का **मुख** बनने वाले अन्तेवासी में, [**शारीर**] **पिण्डात्मा-पुरुष** के चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियवान् **मुख** के, लोकात्मा पुरुष के सूर्यचन्द्रादिग्रहोपग्रहवान् मुख **द्युलोक** के, वर्णात्मा पुरुष के मुख **ब्राह्मण** के, आश्रमात्मा पुरुष के मुख **वानप्रस्थ आश्रम** के, देवतात्मा पुरुष के मुख **अग्निदेव** के, भूतात्मा पुरुष के मुख **आकाश** के, कालात्मा पुरुष के मुख **वर्तमान काल** के, संवत्सरात्मा पुरुष के मुख **वसन्त ऋतु** के, वेदात्मा पुरुष के, **सामवेद** के, उपवेदात्मा पुरुष के मुख **गान्धर्व वेद** के, वागात्मा पुरुष के मुख **परावाक्** के, छन्दात्मा पुरुष के मुख **गायत्री छन्द** के, स्तोमात्मा पुरुष के मुख **त्रिवृत् स्तोम** के सवनात्मा पुरुष के मुख **प्रातः सवन** के, यज्ञात्मा पुरुष के मुख **आज्य** के, ग्राम्यात्मा पुरुष के मुख **अज-पशु** के गुण धर्मों को संक्रान्त करना होगा, संगमन [मेधृ] कराना होगा तब जो मुख निर्मित होगा वह वर्णात्मा पुरुष का **मुख ब्राह्मणवर्ण** होगा। **ब्राह्मणोऽस्य मुखम्**।

उपरिवर्णित पद्धति से आचार्य द्वारा मेध्य अन्तेवासी पुरुष-पशु के मेधन, संगमन का यह सुपरिणाम होगा कि मेध्य पुरुष का एक ही मुख [शीर्ष] न होगा अपितु बहुविध पुरुषों के मुख [शीर्ष] उसके शीर्ष होंगे और वह **सहस्रशीर्ष** हो जाएगा। जहां वह सहस्रशीर्ष [मुख] हो जायगा वहां अवशिष्ट पुरुषों को बोलने के लिए मुख मिल जाएगा, यदि वे बोलना चाहेंगे तो ब्राह्मण इन का मुख बनकर बोलेगा **'ब्राह्मणोऽस्य [एषां] मुखम्'**।

द्युलोक [विराट्] लोकात्का पुरुष का **मुख** है, जो बोलने में असमर्थ है, उसे अपने गुणधर्मों का वर्णन करने वाले **मुख** की आवश्यकता थी कि तत्काल **ब्राह्मण** [वैज्ञानिक] **मुख** बनकर उपस्थित हो गया। **ब्राह्मणोऽस्य मुखम्—सामवेद** वेदात्मा पुरुष का **मुख** है, जो बोलने में असमर्थ है, उसे अपने गुण-धर्मों का वर्णन करने वाले मुख की आवश्यकता थी कि तत्काल **ब्राह्मण**[उद्गाता] **मुख** बनकर उपस्थित हो गया, **वसन्त** ऋतु संवत्सर पुरुष का **मुख** है, जो बोलने में असमर्थ है, उसे अपने गुणधर्मों के वर्णन करने वाले मुख की आवश्यकता थी, कि तत्काल **ब्राह्मण** [कवि] **मुख** बनकर उपस्थित हो गया।

इसी प्रकार उन अन्तेवासी वर्णियों में से जिस किसी ने भी वर्णात्मा पुरुष के **बाहू** बनना वरण किया है, उसमें पिण्डात्मा पुरुष के **बाहु** अवयव **के**, लोकात्मा पुरुष के बाहु **अन्तरिक्ष** लोक के, वर्णात्मा पुरुष के बाहु **क्षत्रियवर्ण** के, आश्रमात्मा पुरुष के बाहु [**गृही**] **गृहस्थाश्रम के**, देवात्मा पुरुष के **बाहु इन्द्र देव** के, भूतात्मा पुरुष के **बाहु वायु** के, कालात्मा पुरुष के बाहु **भविष्यत् काल** के, संवत्सरात्मा पुरुष के **बाहु ग्रीष्म ऋतु** के, वेदात्मा पुरुष के **बाहु यजुर्वेद** के, उपवेदात्मा पुरुष के **बाहु धनुर्वेद** के, वागात्मा पुरुष के **बाहु पश्यन्ती वाक्** के, छन्दात्मा पुरुष के **बाहु, त्रिष्टुप्** छन्द के, स्तोमात्मा पुरुष के **बाहु पञ्चदशस्तोम** के, सवनात्मा पुरुष के **बाहु माध्यन्दिन सवन** के, यज्ञात्मा पुरुष के **बाहु इध्म** के ग्राम्यात्मा पुरुष के **बाहु अवि** पशु के गुणधर्मों का **संक्रान्त** करना होगा, **संगमन** करना होगा, तब जो **बाहु** निर्मित होगा वह **बाहु** वर्णात्मा पुरुष का **क्षत्रियवर्ण** होगा। **बाहू राजन्यः कृतः**।

उपरिवर्णित पद्धति से आचार्य द्वारा **मेध्य** अन्तेवासी पुरुष **पशु** के **मेधन, संगमन** का यह सुपरि-णाम होगा कि मेध्य-पुरुष की दो ही भुजाएं न होंगी, अपितु बहुविध पुरुषों के **बाहू** उसके **बाहू** होंगे और वह अन्तेवासी **सहस्रबाहू** हो जाएगा। जहां अन्तेवासी **सहस्रबाहू** हो जाएगा वहां अवशिष्ट पुरुषों की आत्मरक्षार्थ उन्हें **भुजा** मिल जाएगी यदि उनकी रक्षा का, क्षतत्राण का प्रश्न आएगा तो क्षत्रिय

इनकी बाहु बनकर रक्षा करेगा। **बाहू राजन्यः कृतः।** क्षत्रिय की भुजा उठेगी परन्तु लोकात्मा, आदि पुरुषों की भुजा बनकर।

एवमेव उन अन्तेवासी वर्णियों में से जिस से वर्णात्मा पुरुष के **ऊरू [उदर]** बनना वरण किया है, उसमें पिण्डात्मा पुरुष के मध्य भाग **ऊरु, उदर** अवयव के, लोकात्मा पुरुष के ऊरु उदर **अन्तरिक्ष लोक** के, वर्णात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **वैश्य** वर्ण के, आश्रमात्मा पुरुष के ऊरु उदर [गृहिणी] **गृहस्थाश्रम** के, देवात्मा पुरुष के ऊरु उदर **विश्वेदेवाः** देवता के, भूतात्मा पुरुष के ऊरु उदर **जलतत्त्व** के, कालात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **भूतकाल** के, संवत्सरात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **वर्षा ऋतु** के, वेदात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **ऋग्वेद** के, उपवेदात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **आयुर्वेद** के, वागात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **मध्यमा वाक्** के छन्दात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **जगती छन्द** के, स्तोमात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **सप्तदश स्तोम** के, सवनात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **सायं सवन** के, यज्ञात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **बर्हि** के, ग्राम्यात्मा पुरुष के ऊरु-उदर **गौ पशु** के, **गुणधर्मों** को **संक्रान्त** करना होगा, **संगमन** करना होगा, तब जो **ऊरु-उदर** निर्मित होगा, वह **ऊरु-उदर** वर्णात्मा पुरुष का **वैश्यवर्ण** होगा। **ऊरू तदस्य यद् वैश्यः।**

उपरिवर्णित पद्धति से आचार्य द्वारा **मेध्य** अन्तेवासी पुरुष-**पशु** के **मेधन**, **संगमन** का यह सुपरिणाम होगा कि मेध्य पुरुष का एक ही **ऊरु-उदर** न होगा अपितु बहुविधपुरुषों के **ऊरु-उदर** उसके ऊरु-उदर हो जायेंगे और वह अन्तेवासी **सहस्रोरू** हो जाएगा। जहां अन्तेवासी सहस्रोरु हो जायेगा वहां अवशिष्ट पुरुषों को ऊरु-उदर मिल जाएंगे यदि उन्हें स्थिति की, पोषण की आवश्यकता होगी, तो **वैश्य** इनका **ऊरु-उदर** बन कर रक्षा करेगा '**ऊरू तदस्य यद् वैश्यः।**'

इसी प्रकार अन्तेवासियों में अवशिष्ट [स्वतः] रहे वर्णियों में से जिसने वर्णात्मापुरुष के **चरण** बनना वरण किया है, उसमें पिण्डात्मा पुरुष के प्रतिष्ठाभूत **चरण** के, लोकात्मा-पुरुष के चरण **भूलोक** के, वर्णात्मा पुरुष के चरण **शूद्रवर्ण** के, आश्रमात्मा पुरुष के चरण **ब्रह्मचर्याश्रम** के, देवात्मा पुरुष के चरण **पूषा देवता** के, भूतात्मा पुरुष के चरण **भूमि तत्त्व** के, कालात्मा पुरुष के चरण **सर्वकाल** के, संवत्सरात्मा पुरुष के चरण **शरद् ऋतु** के वेदात्मा पुरुष के चरण **अथर्ववेद** के, उपवेदात्मा के चरण **स्थापत्य-वेद** के, वागात्मा पुरुष के चरण **वैखरी वाक्** के छन्दात्मापुरुष के चरण **अनुष्टुप्** छन्द के, स्तोमात्मा पुरुष के चरण **एकविंश स्तोम** के, सवनात्मा पुरुष के चरण **रात्रिसवन** के, यज्ञात्मा पुरुष के चरण **हवि** के, ग्राम्यात्मा पुरुष के चरण **अश्व पशु** के गुणधर्मों को **संक्रान्त** करना होगा, **संगमन** करना होगा तब जो चरण निर्मित होगा वह वर्णात्मा पुरुष का चरण **शूद्रवर्ण होगा। पद्भ्याम् शूद्रो ऽजायत।**

उपरिवर्णित पद्धति से आचार्य द्वारा **मेध्य** अन्तेवासी पुरुष **पशु** के **मेधन**, **संगमन** का यह सुपरिणाम होगा कि मेध्य पुरुष के दो ही **चरण** न होंगे अपितु बहुविध पुरुषों के चरण उसके चरण होंगे और वह अन्तेवासी द्विपाद् से **सहस्रपाद्** पुरुष हो जाएगा। जहां अन्तेवासी **सहस्रपाद्** हो जाएगा वहां अवशिष्ट पुरुषों की **गति, स्थिति** एवं **प्रतिष्ठा** के लिए चरण मिल जायेंगे यदि उन की प्रतिष्ठा का प्रश्न आएगा तो शूद्र इनके चरण बनकर इन्हें आधार देगा।

अब इस पुरुषमेध यज्ञ का परिणाम यह होगा कि यदि **ब्राह्मण** बोलेगा तो सभी पुरुषों का **मुख** बनकर बोलेगा, यदि **क्षत्रिय** क्षतत्राणार्थ भुजा बनेगा तो सभी पुरुषों की **भुजा** बनकर, यदि वैश्य आयात-निर्यात करेगा तो सभी पुरुषों का **ऊरु-उदर** बनकर, यदि शूद्र गति करेगा तो सभी पुरुषों के **चरण** बनकर।

पुरुषसूक्तवर्णित पुरुषमेध का क्या अभिप्राय है यह दिखाने के पश्चात् शतपथ ब्राह्मण वर्णित पुरुषमेध प्रकरण[1] का अक्षरार्थ देकर पुरुषमेध को समाप्त करते हैं।

पुरुष नारायण ने चाहा कि मैं जीवों में सर्वोपरि हो जाऊं। मैं ही सब कुछ हो जाऊं। उसने इस पुरुषमेध पञ्चरात्र यज्ञ क्रतु को देखा। उसको ले लिया। उस यज्ञ को किया। उस यज्ञ को करके जीवों में सर्वोपरि हो गया और इस संसार में वही सब कुछ हो गया। जो मनुष्य इस रहस्य को समझता है या समझ कर **पुरुषमेध यज्ञ करता है, वह सब जीवों में बड़ा तथा सब कुछ हो जाता है ॥१॥**

उसमें २३ **दीक्षाएं**, बारह **उपसद**, तथा पाँच **सुत्य** [सोम इष्टियां] होते हैं। दीक्षा और उपसद के सहित यह चालिसी यज्ञ होता है। चालीस अक्षर का ही विराट् होता है **इस प्रकार यह विराज हो जाता है। ततो विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः।** [यजु० ३१.५] उससे विराट् उत्पन्न हुआ विराट् से पुरुष। यह विराट् उसी विराज से यज्ञपुरुष उत्पन्न करता है ॥२॥

यह चालीस दिन चार दशत [दहाइयों] में विभक्त होते हैं। चार दहाइयां इसलिए कि इनसे लोकों तथा दिशाओं की प्राप्ति करनी है। पहली दहाई से इस लोक की प्राप्ति करता है। दूसरे से अन्तरिक्ष की, तीसरे से द्यौलोक की, चौथी से दिशाओं की। उस प्रकार यजमान भी पहली दहाई से **इस लोक** की, दूसरी दहाई से **अन्तरिक्ष** की, तीसरी दहाई से **द्यौलोक** की, और चौथी दहाई से **दिशाओं** की प्राप्ति करता है। यह संसार उतना ही है जितने ये तीन लोक तथा दिशाएं हैं। **पुरुषमेध सब कुछ है, सब की उपलब्धि तथा प्राप्ति के लिए ॥३॥**

अग्नि-सोम के ग्यारह पशु उपवास के दिन होते हैं। उनका कर्म समान है। ग्यारह **यूप** त्रिष्टुप् ग्यारह अक्षर का। त्रिष्टुप् वज्र है। त्रिष्टुप् वीर्य है। इस वीर्य तथा वज्र रूपी त्रिष्टुप् द्वारा वह यजमान पहले से ही सब पापों को दूर कर देता है ॥४॥

सुत्यों में ग्यारह पशु होते हैं। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। सुत्यों में ग्यारह पशु होते हैं ४ की भांति ॥५॥

ग्यारह क्यों होते हैं? यह सब संसार ग्यारह वाला है, प्रजापति ग्यारह वाला है। **प्रजापति सब कुछ है। पुरुषमेध सब कुछ है। सबकी उपलब्धि तथा प्राप्ति के लिए ॥६॥**

यह पुरुषमेध पंचरात्र यज्ञ है। यज्ञ पांच वाला है, पशु पांच वाला है। संवत्सर में पांच ऋतुएं होती हैं। जो कुछ पांच प्रकार का अधिदैवत या अध्यात्म है, **वह सब इसके द्वारा प्राप्त होता है ॥७॥**

पहले दिन अग्निष्टोम होता है, फिर उक्थ्य, फिर अतिरात्र, फिर उक्थ्य, फिर अग्निष्टोम, इस प्रकार इस यज्ञ के दोनों ओर **ज्योतियां** हैं और दोनों ओर **उक्थ्य** ॥८॥ [ज्योति उक्थ्य अतिरात्र उक्थ्य ज्योति]

यह **पञ्चरात्र** (पुरुष-मेध) **यज्ञ जौ** की आकृति का है। [जौ के किनारे नुकीले और बीच में उठा हुआ होता है] पुरुष-मेध ये लोक ही हैं। इन लोकों के दोनों सिरों पर **ज्योति** होती है, इधर **अग्नि** उधर **आदित्य** इस लिए दोनों ओर ज्योति हुई। अन्त उक्थ्य है, आत्मा (धड़) अतिरात्र। ये दोनों **अतिरात्र** के दोनों ओर हैं। इस लिए यह आत्मा [शरीर] अन्न से घिरा हुआ है। यह जो अतिरात्र है

१. शा० ब्रा० १३.६.१.१.११

वह इन सबमें मोटा है और इन सब दिनों के बीच में है । इस लिए इसकी उपमा जौ के समान है, क्योंकि जौ बीच में मोटा होता है । जो इस रहस्य को जानता है, वह अपने शत्रुओं पर विजय पाता है । कहते हैं कि उसके शत्रु होते ही नहीं ॥९॥

उसका पहला दिन **यही पृथिवी लोक** है और **वसन्त** ऋतु भी, यह लोक है । जो इस लोक से ऊपर और अन्तरिक्ष लोक से नीचे है वह दूसरा दिन है । यह उसका **ग्रीष्म** ऋतु है । अन्तरिक्ष इसका बीच का (तीसरा) दिन है । यह उसका **वर्षा** ऋतु है । जो अन्तरिक्ष से ऊपर तथा द्यौ के नीचे है, वह चौथा दिन है । यह उसका **शिशिर** ऋतु है । यह हुआ **अधि-दैवत** वर्णन ॥१०॥

अब अध्यात्म सुनिये । प्रथम दिन **पैर** है इसकी प्रतिष्ठा **वसन्त ऋतु** है । जो पैरों से ऊपर और कमर के नीचे है वह दूसरा दिन है । **ग्रीष्म** ऋतु उसकी प्रतिष्ठा है । कमर इसका तीसरा बीच का दिन है । इसके ऋतु हैं **वर्षा** तथा **शरद्** । कमर से ऊपर तथा सिर के नीचे चौथा दिन है । **हेमन्त** इसका ऋतु है । सिर इसका पांचवां दिन है । **शिशिर** इसका ऋतु है । इस प्रकार लोक, **संवत्सर, शरीर** ये सब **पुरुषमेध** के बराबर होते हैं । ये लोक सब कुछ हैं संवत्सर सब कुछ है [शरीर, आत्मा] सब कुछ है । पुरुषमेध सब कुछ है । **सब की प्राप्ति के लिए सबकी उपलब्धि के लिए** ॥११॥

ब्राह्मणादीनामष्टाचत्वारिंशत्संख्यकानामग्निष्ठे यूपे नियोजनादि[1]

अध्याय ६—ब्राह्मण २

इस का पुरुषमेध नाम इसलिए पड़ा कि ये लोक पुर हैं और पुरुष वह है जो बहता है [वायु] वह इस पुर में लेटा है, इसलिए वह पुरुष है । **इन लोकों में जो अन्न है वह इसका मेध या अन्न है । इसलिये इसका नाम पुरुषमेध है** ॥१॥

इन का आलभन मध्य दिन में होता है । अन्तरिक्ष मध्यदिन है अन्तरिक्ष ही सब प्राणियों का निवास स्थान है । ये पशु अन्न हैं । मध्य दिन उदर है । इस प्रकार उदर में अन्न रखता है ॥२॥

दस दस का आलभन होता है विराट् दस अक्षर का है । विराट् पूर्ण अन्न है । पूर्ण अन्न की प्राप्ति के लिए ॥३॥

ग्यारह दहाइयां लेते हैं । त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं । **त्रिष्टुप् वज्र है । त्रिष्टुप् वीर्य है** । इस वज्र और वीर्य रूपी त्रिष्टुप् द्वारा वह यजमान बीच से पाप को दूर करता है ॥४॥

बीच के यूप में ४८ का आलभन होता है । जगती में अड़तालीस अक्षर होते हैं । पशु जगती वाले हैं । जगती के द्वारा वह यजमान के लिये पशुओं की प्राप्ति करता है ॥५॥

दूसरों में ग्यारह ग्यारह अक्षरों का त्रिष्टुप् होता है, त्रिष्टुप् **वज्र** है, **त्रिष्टुप् वीर्य है**। इस वज्र और वीर्य द्वारा यजमान अपनी दोनों ओर से पाप को दूर करता है ॥६॥

अन्त में आठ का आलभन करता है । **गायत्री** में आठ अक्षर होते हैं । **गायत्री ब्रह्म** है । इस प्रकार **ब्रह्म** को इस सब संसार का अन्न बनाता है । इसलिए कहते हैं कि **ब्रह्म** इस जगत् का अन्तिम वस्तु है या अन्त है ॥७॥

ये प्रजापति के होते हैं । प्रजापति ब्रह्म हैं । क्योंकि प्रजापति में ब्रह्म के गुण हैं । इस लिए ये प्रजापति के होते हैं ॥८॥

---

१ श० ब्रा० १३.६.२.१.२०

जब पशुओं को लाने वाले होते हैं, तो सविता देव के लिए तीन आहुतियां दी जाती हैं।

[१] देवसवितः [२] तत् सवितुर्वरेण्यम् [३] विश्वानि देव सवितः।

इससे सविता को प्रसन्न करता है। वह सविता प्रसन्न होकर इन पुरुषों [मध्य पुरुष] को प्रेरणा करता है। और वह सविता द्वारा प्रेरित होकर ही इनका आलभन करता है ॥९॥

ब्रह्म के लिए ब्राह्मण का आलभन करता है। क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म को ब्रह्म से मिलाता है। क्षत्र के लिए राजन्य को राजन्य क्षत्र है। इस प्रकार क्षत्र से क्षत्र को मिलाता है। मरुतों के लिए वैश्य को, क्योंकि मरुत् वैश्य है। इस प्रकार वैश्य को वैश्य से मिलाता है। तप के लिए शूद्र को, क्योंकि शूद्र तप है। इस प्रकार तप को तप से मिलाता है। इनके रूपों के अनुसार वह इन देवताओं को पशुओं से सम्पन्न करता है। इस प्रकार सम्पन्न होकर वे यजमान को सब कामनाओं से सम्पन्न कर देते हैं ॥११॥

नियुक्त पुरुषों की स्तुति दक्षिण की ओर बैठकर ब्रह्मा 'पुरुष नारायण' सूक्त द्वारा करता है:
सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् [ऋ० १०.९०]

ये सोलह मंत्र हैं, सोलह कला वाली दुनियां है। पुरुषमेध सब कुछ है। सब की प्राप्ति के लिये सब की उपलब्धि के लिए। 'तू ऐसा है, तू ऐसा है, यह कहकर उसकी स्तुति करता है, उसका यश गाता है, जैसा वह है वैसा उसको बताता है।

पशु पर्यग्निकृत तो हो चुके [अर्थात् अग्नि उनके चारों ओर फिराई जा चुकी] परन्तु अभी उनका वध नहीं हुआ है ॥१२॥

तब एक वाक् ने उससे कहा, "हे पुरुष ! पुरुष को मत मार। ऐसा करेगा तो **पुरुष पुरुष को खायेगा"** इसलिए अग्नि उनके चारों ओर घुमाने के पीछे उनको छोड़ दिया और उन्हीं देवताओं के लिए आहुतियां दे दीं। इस प्रकार उन देवताओं को प्रसन्न कर दिया। इस प्रकार प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी कामनाओं को तृप्त किया ॥१३॥

घी की आहुति देता है। घी तेज है। इस प्रकार तेज के द्वारा तेज रखता है ॥१४॥

ग्यारह यूपों को समाप्त करता है त्रिष्टुप् ग्यारह अक्षरों का है। त्रिष्टुप् वज्र है। त्रिष्टुप् वीर्य है। इस वज्र और वैर्य रूपी त्रिष्टुप् के द्वारा वह यजमान बीच से पाप को दूर करता है ॥१५॥

उदयनीय आहुतियों की समाप्ति पर ग्यारह बांझ गायों का आलभन होता है—मित्र वरुण की, विश्वदेवों की, और बृहस्पति की। इन देवताओं की प्रसन्नता के लिए ब्रहस्पति को अन्त की क्यों ?' बृहस्पति सचमुच ब्रह्म है। इस प्रकार अन्त को ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है ॥१६॥

ग्यारह क्यों होती हैं ? त्रिष्टुप् के ग्यारह अक्षर हैं......त्रैधातवी अन्तिम आहुति है। इसका रहस्य बताया जा चुका है। अब दक्षिणा का वर्णन है। ब्राह्मण की भूमि और सम्पत्ति को छोड़कर राष्ट्र के बीच में जो कुछ पूर्व दिशा के मनुष्यों सहित है, वह सब होता की दक्षिणा है। दक्षिण की ब्रह्मा की, पश्चिम की अध्वर्यु की, उत्तर की उद्गाता की, अन्य ऋत्विक् इनके ही सांझी होते हैं।

अब यदि ब्राह्मण यज्ञ करे तो उसको अपना सर्वस्व दे देना चाहिए। **ब्राह्मण सब है, सर्वस्व सब है। पुरुषमेध सब है, सब की उपलब्धि या प्राप्ति के लिए** ॥१९॥

अपने में दोनों अग्नियों का समारोप करके उत्तर नारायण मंत्रों [यजु० ३१.१७, २२] से

आदित्य की उपासना करके पीछे को बिना घूमे जंगल को चला जाय । जंगल मनुष्यों से अलग है । यदि गांव में रहना चाहे तो अरणी और उत्तरारणी में दो अग्नियों को लेके । और उत्तरनारायण मंत्रों द्वारा आदित्य की उपासना करके घर रहे । और जिन यज्ञों को कर सके करे । वह यज्ञ सब को नहीं सिखाना चाहिए । पुरुषमेध सब कुछ है । ऐसा नहीं कि सब चीज सबको बता दी जाए । उसी को बताना चाहिए जिससे परिचय हो, जो वेद पढ़ाहो, जो उसका प्रिय हो, हर एक को नहीं ।।२०।।

पुरुषमेध एवं अश्वमेधादि में अन्तर—

इससे पूर्व कि अवशिष्ट चार मेधों की व्याख्या करें यह आवश्यक जान पड़ता है कि पुरुषमेध और पुरुषेतर ग्राम्य-पशुओं के मेधों में क्या अन्तर है यह दिखा दें । दोनों में विशेष अन्तर यही है कि वर्णात्मा पुरुष के चतुर्विध घटक ब्राह्मणादि वर्णों का निर्माण करते समय जहां **पुरुष-पशु** के **अङ्ग-अङ्ग** का **विशकलन** करना होता है, उसके **मुख, बाहु, ऊरु** और **चरण** को विभजित करके, उनका सूक्ष्म अध्ययन कर, उन अङ्गों के **नैसर्गिक गुणों** का तत्तद् प्रतिनिधि भूत **ब्राह्मणादि** घटकों में संक्रान्त करना होता है, वहां **अश्वगवादि** चारों ग्राम्य-पशुओं के पृथक्-पृथक् **समग्र रूप** को तन्निर्दिष्ट **ब्राह्मणादि** वर्णों में संक्रान्त करना होता है । तद्यथा **ब्राह्मण** में जहां पुरुष-पशु के एक मात्र **मुखावयव** के गुण धर्म संक्रान्त करने होंगे, वहां गौ-पशु के **समग्र रूप** को संक्रान्त करना होगा । **क्षत्रिय** में जहां पुरुष-पशु के **बाहु** अथवा बाहु से आवेष्टित **उरस् हृदयादि** अङ्गों के गुण, धर्म संक्रान्त करने होंगें । वहां अश्व पशु के **समग्र रूप** को संक्रान्त करना होगा । वैश्य में जहां पुरुष-पशु के एक मात्र **ऊरु=मध्य** [**उदर, नाभि और जंघा**] अवयव के गुण, धर्म संक्रान्त करने होंगे वहां अविपशु के **समग्र रूप** को **संक्रान्त** करना होगा, तथैव **शूद्र** में जहां पुरुष-पशु के एक मात्र **चरण** अङ्ग के गुण, धर्म संक्रान्त करने होंगे वहां **अज-पशु** के **समग्र रूप को** संक्रान्त करना होगा ।

चार वर्ण—चार ग्राम्य-पशु—

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह हुआ कि वर्णात्मा पुरुष के निर्माणकर्त्ता माता, पिता और आचार्य के सम्मुख जहां पुरुष-पिण्ड के **मुख, बाहु ऊरु** और **चरण** चार अवयव आदर्श हैं, वहां ग्राम्य पशुओं के चार सदस्य **गौ, अश्व, अवि** और **अजा** भी आदर्श हैं, इसी स्थापना को यदि मीमांसकों की परिभाषा में कहना हो तो यूं कहेंगे '**ब्रह्मणे गामालभेत, क्षत्राय अश्वम्, वैश्यायाविम्, शूद्रायाजमालभेत' सर्वेभ्यो वर्णेभ्यः पुरुषपशुमालभेत पुरुषस्य ब्रह्मणे मुखमालभेत, क्षत्राय बाहुमालभेत, वैश्याय ऊरुमालभेत शूद्राय पादमालभेत**' । इस पृष्ठभूमि पर वेदों के पुरुषसूक्तगत मेध-प्रकरण का अध्ययन आवश्यक है, उक्त विचार-सरणी को हृद्गत किए बिना पञ्च मेधों का रहस्य उद्घाटित होना असंभव है । हमारा उद्देश्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध द्वारा पुरुष-सूक्त वर्णित पञ्च ग्राम्य-पशुओं के मेध का रहस्य उद्घाटित करना मात्र है, गृह्य सूत्रों एवं श्रौत सूत्रों पर आधारित मेधों का रहस्य उद्घाटित करना नहीं, वेदों को सूत्रग्रन्थों के पीछे चलाना अभीष्ट नहीं वेदों की मौलिक भावना क्या है ? उसे उद्घाटित कर देना मात्र है, फिर यदि उसकी छाया में ब्राह्मण ग्रन्थ एवं सूत्र-ग्रन्थ वर्णित मेधों का रहस्य उद्घाटित हो सके तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में ग्राम्य पशुओं के गो पशु को ब्राह्मण का, अश्व पशु को क्षत्रिय का, अवि पशु को वैश्य का, तथा अज पशु को शूद्र का प्रतिनिधि मान कर व्याख्या की जाएगी, इससे भिन्न संभावनाएं भी हो सकती हैं, उनका उल्लेख भी आवश्यक है तद्यथा—

चारों वर्णों के प्रतिनिधि पशु—

ग्राम्य पशुओं को यदि सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो वे **एकशफ** और **द्विशफ** दो

श्रेणियों में विभक्त हैं, **अश्व एकशफ** श्रेणी का है और **अज, अवि, गौ, द्विशफ** श्रेणी के हैं। इसी प्रकार चारों वर्णों को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो वे भी **एकज** और **द्विज** दो श्रेणियों में विभक्त हैं। **शूद्र एकज** [शरीरतः] है और **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्विज** हैं [शरीरतः और विद्यातः] **अश्व** भी **एकशफ, शूद्र** भी **एकज, अज, अवि, गौ,** तीनों भी **द्विशफ** और **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य** तीनों ही **द्विज**, अतः एक शफ **अश्व** पशु शूद्र वर्ण का और द्विशफ श्रेणी के **अज, अवि,** और **गौ** पशु द्विज श्रेणी के **ब्राह्मण, क्षत्रिय,** और **वैश्य** वर्णों के प्रतिनिधि हुए।

शूद्र का प्रतिनिधि 'अश्व'[1]—

'अश्नुते अध्वानमिति अश्वः' निर्वचन के आधार पर **अश्व** वह **पशु** है, जो तत्काल मार्ग को व्याप लेता हो इसी प्रकार **'आशु-द्रवतीति शूद्रः'** निर्वचन के आधार पर **शूद्र** वह **व्यक्ति** है, कि जो तत्काल **शुश्रूषार्थ गति**-शील होता हो। **अश्व कल** की प्रतीक्षा नहीं [अ+श्वः] करता, **शूद्र** भी **शुश्रूषाव्रत** में कल की प्रतीक्षा नहीं करता, **अश्व** सदा तत्पर निरलस अपने स्थान पर आरूढ़ रहता है, **शूद्र** भी सदा तत्पर निरलस और अनसूय होकर **शुश्रूषाव्रत** पर आरूढ़ रहता है। अश्व अपने तीनों पद टिकाकर **स्थिति-शील** और एक पद उठाकर **गतिशीलता** का परिचय देता है, **शूद्र भी** शुश्रूषा व्रत में **अनसूय चरण** द्वारा **स्थिति** शील और **तपः चरण** द्वारा **गतिशीलता** का परिचय देता है, दोनों की उत्पत्ति चरणों से हुई है उनमें चरणों की ही महिमा है दोनों में गतिसाम्यता होने से **अश्व** पशु **शूद्र** वर्ण का प्रतिनिधि हुआ।

शूद्र और ब्राह्मण का प्रतिनिधि 'अज'—

अज पशु दो वर्णों का प्रतिनिधित्व करता है, एक **शूद्र** का, दूसरे **ब्राह्मण** का, इसका कारण अज पशु के **अजायमान** और **विजायमान** दो रूप हैं। प्रजापति को अज कहते हैं, इससे भी यह बात अति स्पष्ट है। वर्ण प्रजापति के भी अजायमान और वि [द्वि] जायमान दो रूप हैं, **शूद्र अजायमान** है, तो **ब्राह्मण द्विजायमान**। ये संज्ञाएं **विद्यातः जन्म** की अपेक्षा से हैं, **विद्यातः** जन्म के कारण **ब्राह्मण द्विज** है और **विद्यातः** जन्म न हो सकने के कारण **शूद्र अज** है। अज पशु की भी दो अवस्थाएं हैं, प्रजापति की भी दो अवस्थाएं हैं और वर्णों की भी दो अवस्थाएं हैं। अतः दो अवस्था वाला अज-पशु दोनों वर्णों का प्रतिनिधि हुआ।

अजा का विजायमान रूप—

अजा अतिशय उपयोग में आने वाला पशु है[2] इसका कारण वर्ष में तीन बार बच्चों को जन्म देना है **'सा अजा यत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमः, पशुः'**[3] और हर प्रजनन में **'त्रीञ्जनयति अथो द्वौ'**[4] तीन-तीन बच्चे जनती है अथवा दो-दो यही अजा का विजायमान रूप है, शूद्र अज भी तीन द्विजों को जन्म देता है वह शूद्र का विजायमान रूप है इस साम्यता से **अजपशु शूद्र** का प्रतिनिधित्व करता है।

शूद्र में गुण प्रसुप्त रूप में—

जिस प्रकार अज पशु में सभी पशुओं के रूप संक्रान्त हैं तद्वत् शूद्रवर्ण में भी द्विजों के रूप विद्यमान हैं, जैसे **'अजे हि सर्वेषां पशूनां रूपम्'**[5] कहा गया है उसी प्रकार शूद्र के लिए भी कहा जाएगा

---

१. **शूद्रो मनुष्याणां, अश्वः पशूनाम्**—तै० सं० ७.१.१.६.
२. **एष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः।** ऐ० २.८
३. श० ३.३.३.८
४. क० ३७.७
५. श० ६.५.१.४

'शूद्रे हि सर्वेषां वर्णानां रूपम्' और इसी वाक्य को ब्राह्मण वर्ण के लिए भी कहा जा सकता है कि **'ब्राह्मणे हि सर्वेषां वर्णानां रूपम्'** बस इनमें यही अन्तर है कि शूद्र में द्विजों के गुण धर्म प्रसुप्त अवस्था में रहते हैं [**प्रसुप्तमिव सर्वतः**] जब कि ब्राह्मण में द्विजों के गुण धर्म विकसित हो जाते हैं। इसलिए **अजपशु** शूद्र और **ब्राह्मण** दोनों ही वर्णों का प्रतिनिधित्व करता है।

शूद्र और अज की उत्पत्ति शोक से—

शतपथब्राह्मण में उल्लेख हुआ है, कि प्रजापति के **शोक से अज** की उत्पत्ति हुई, **'प्रजापतेर्वै शोकादजा [:] समभवन्'**[1] और **शूद्र** शब्द को तो **शुच् शोके** और **द्रु गतौ** से निष्पन्न माना गया है उसके लिए कहा जा सकता है कि **'यो स्वस्य वा परस्य शोकनिवृत्यर्थं द्रवति गच्छति स शूद्रः'**[2] जो अपने और अन्य वर्णियों के शोक निवृत्यर्थ गतिशील रहता है, वह **शूद्र** है; **अज** और **शूद्र** में तप की साम्यता होने से भी **अज** पशु को **शूद्र** का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

अज ब्राह्मण पशु है, इसके लिए स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि अज पशु की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से हुई[3] ब्राह्मण की उत्पत्ति भी मुख से हुई है, ब्राह्मण की परीक्षा भी वाक् व्यवहार से होती है और अज पशु की परीक्षा भी वाग् व्यवहार से होती है अज के लिए लिखा है कि **'अजा वै बार्हत्यूर्ध्वेवाक्रान्ता सा राथन्तरीं वाचं वदति माक्कारेण'**[4] ब्राह्मण के लिए भी उल्लेख है कि **'तस्मादाहु ब्राह्मणो मुखेन वीर्यंकरोति-मुखतो हि सृष्टः'**[5] इस वाग् व्यवहार की साम्यता से **अज पशु ब्राह्मण** वर्ण का भी प्रतिनिधित्व करता है।

ग्राम्य पशुओं के प्रतिनिधित्व का एक अन्य विकल्प भी संभव है, **क्षत्रं वा अश्वः**[6] **राष्ट्रं वा अश्वमेधः**[7] के आधार पर **अश्व** को **क्षत्र** का **ब्राह्मणमनु अजः**[8] और पूर्व प्रमाणों के आधार पर अज ब्राह्मण का और अवशिष्ट गौ वैश्य का और अवि शूद्र का प्रतिनिधि हुआ।

पुरुषेतर ग्राम्य पशुओं के पुरुष-पशु के पास आवास देने का प्रयोजन जहां यह है कि पुरुष-पशु अपने साथी पशुओं के रूप, तेज, दुग्धादि का आलभन करे वहां उनकी गति का सूक्ष्म अध्ययन कर स्वयं भी गतिशील बने; यही कारण है कि चारों ही **ग्राम्य** पशुओं की **संज्ञाएं गत्यर्थक** धातुओं से निष्पन्न हुई हैं। **अशूङ् व्याप्तौ से अश्व, गम्लृ गतौ से गौ, अव** रक्षणगतिकान्तिषु से **अवि, अज गतिक्षेपणयोः से अज।** पुरुष-पशु को अश्वादि के गतियों का अध्ययन करके और स्वयं गतिशील बनकर अपने आर्य नाम को सार्थक करना है; क्योंकि आर्य भी वही है जो गतिशील है [ऋ मितगतौ]। इन पशुओं की गति में भी एक क्रम है, तत्तत् गतियों का वर्णन तत्सम्बद्ध मेध प्रकरण में करेंगे, यहां तो केवल इतना ही निर्देश के योग्य है कि पुरुष-पशु को सर्वप्रथम अजा पशु की गति का अध्ययन कर अपनी गति में आने वाली बाधाओं का उत्क्षेपण करते हुए निर्धारित लक्ष्य की ऊंची से ऊंची चोटी तक पहुंचना चाहिये, तदनु अवि पशु की[9] उसके पीछे गौ की, और अन्त में अश्वपशु की गति का।

---

१. श० ६.५.४.१६
२. मा० आ० भा० पृ० १८७
३. जै० १.६८
४. जै० १.२६४-२६५
५. ता० ब्रा० ६.१.६
६. श० १३.२.२.१५
७. श० १३.२.१६, तै० ३.८.६.४
८. श० ६.४.४.१२
९. तस्माद् सहसतोऽजाविकस्योभयस्यैवाजाः पूर्वा यन्त्यनूच्योऽवयः मा० श० ४.५.५.४

वर्णात्मा पुरुष के चारों घटकों में, अश्वादि चारों ही ग्राम्य पशुओं के समग्ररूप को संक्रान्त करना है वहां उनकी गति को तत्तत् प्रतिनिधि भूत वर्ण में संक्रान्त करना होगा, तद्यथा —शूद्र में अज पशु की गति का, वैश्य में अविपशु की गति का, क्षत्रिय में अश्वपशु की गति का, और ब्राह्मण में गौ पशु की गति का।

शूद्र का अर्थ है तत्काल दौड़ने वाला **'आशु द्रवतीति शूद्रः'** उस को तो गतिशील होना ही है, शूद्र की गति में जैसे ही अवरोध आए उसको तत्काल क्षेपणकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना है, लक्ष्य की ऊंची से ऊंची चोटी को भी आक्रान्त करना है।

वैश्य व्यक्ति को अवि पशु की भांति अजपशु के बनाए मार्ग की रक्षा करते हुए बढ़ते जाना [अव रक्षण-गति] है परन्तु आंखें खोलकर चलना है अवि पशु गर्दन नीचे किए गतिशील रहता है, मानो **'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'** का प्रत्यक्ष उदाहरण हो, वैश्य को भी अविपशु की भांति अपने व्यापार में जहां **नम्र** और विनयी होकर भूमि का चप्पा-चप्पा छानना होगा, वहां आंखें खोलकर चलना होगा तब कहीं वैश्य अपने व्यापार में, कृषि में सफलता प्राप्त कर सकेगा। **अज और अवि** द्वारा **आलम्भन** किए भूभागों को ही उपजाऊ कृषियोग्य भूमि समझकर [आलभ] प्राप्त करना होगा।

क्षत्रिय को अश्वपशु की भांति कल की प्रतीक्षा किए बिना सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, कि कब अवसर मिले कि लक्षित ध्येय को आक्रान्त करूं, प्राप्त की रक्षार्थ उस पर अपने-चरण जमाये रखूं और अप्राप्त की प्राप्ति के लिए अवसर की तलाश में रहूं, एक चरण उठाए रहूं।

ब्राह्मण को गौ पशु की गति की भांति अपने केन्द्र से परिधि तक और परिधि से केन्द्र तक निरन्तर गतिशील रहना चाहिए। ब्राह्मण का केन्द्र उसका स्वाध्याय कक्ष है और परिधि श्रोतृ वृन्द है। स्वाध्यायगोष्ठ में बैठकर तय्यार किए ज्ञान-दुग्ध को श्रोताओं के श्रोत्र को तृप्त करने के लिए सदैव गतिशील रहना है। यह है ग्राम्य पशुओं की गति का अशन, आलभन, संज्ञपन, अवदान, और मेधन।

ध्यान रहे कि निम्न वर्ण के गुणधर्म उन्नत वर्ण के व्यक्ति में संक्रान्त किए जाने चाहिए तद्यथा—अजपशु की गति शूद्र में विशेषतः संक्रान्त की जाए वहां वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण में सामान्य, जहां अविपशु की गति, वैश्य में विशेषतः संक्रान्त की जाए वहां क्षत्रिय और ब्राह्मण में सामान्य, जहां अश्व पशु की गति क्षत्रिय में विशेषतः संक्रान्त की जाए वहां ब्राह्मण में सामान्य, अन्ततः गौपशु की गति विशेषतः ब्राह्मण में संक्रान्त की जानी चाहिए।

[अथ अश्वमेधः]

शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख हुआ है कि पश्वालम्भन सर्वप्रथम पुरुषपशु का उसके पीछे अश्व-पशु का तद्यथा—**पुरुषं ह्यन्वश्वो** पुरुष के पीछे-अश्वमेध का क्रम है। उसके अनुसार **अश्वमेध** पर विवेचन प्रस्तुत है। **अश्व** कहते ही सर्वप्रथम जो अर्थ उद्बुद्ध होता है वह है एकशफ पशु घोड़ा; जबकि वेद एवं वैदिक साहित्य में **अश्व** शब्द विविध अर्थों का वाचक है, तद्यथा—**अग्निर्वा अश्वः**[1] कहकर अग्नि का, **एष वा अश्वो मेध्यो य एष [आदित्यः] तपति**[2] कहकर सूर्य का, **एष वा अश्वो मेध्यो यच्चन्द्रमाः**[3] कहकर चन्द्रमा का **क्षत्रं वा अश्वः**[4] कहकर क्षत्रिय तथा **वीर्यं वा अश्वः** कहकर **वीर्यशक्ति** का, और अथर्व में **'कालो अश्वो वहति'** कहकर काल का वाचक माना है। ये और अन्य अर्थ **अश्व** शब्द से किस प्रकार गृहीत

१. मा शत० ३.६.२.५ [श० ६.३.३.२२]
२. शत० ३.१.८.१, ३
३. का० श० ३.१.८.१, ३
४. श० १३.२.२.१५

समझे जाएं, पशु विशेष **घोड़ा** ही क्यों नहीं ? इस पर हमारा निम्न समाधान प्रस्तुत है, कि घोड़ा अर्थ भी गृहीत होगा अन्य सभी अर्थ भी गृहीत होंगे और उसका आधार होगा **अश्वशब्द** का यौगिक अर्थ **'अश्नुते ऽध्वानम्'** ।

अश्व संज्ञा से जो पशु विशेष वाजी [घोड़ा] अर्थ गृहीत होता है; इसका भी कारण **'अश्नुते अध्वानम्'** ही है; कारण स्पष्ट है, कि घोड़े की अश्व संज्ञा वेद में विशेषतः पुरुष सूक्त में वर्णित है। ग्राम्य पशुओं के चारों व्यक्ति **अश्व, गौ, अजा, अवि** से **घोड़ा, गाय, बकरी** और **भेड़** अर्थ ही गृहीत होंगे, अन्य अर्थ नहीं; इन सभी पशुओं की योग्यता के कारण इनकी वैदिक संज्ञा अश्वादि है, सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों को प्राप्त ज्ञान में **अश्वादि** संज्ञाओं का प्रस्फुरण होते समय जो अर्थ प्रत्यक्ष हुआ उनमें से एक अर्थ **घोड़ा, गाय, बकरी, भेड़** भी था, आद्य ऋषियों की समाधि अवस्था में **'अश्नुते ऽध्वानम्'** की योग्यता वाले जिस अर्थ का साक्षात्कार हुआ वह **घोड़ा** पशु ही था, अतः **अश्व** संज्ञा से **घोड़ा** अर्थ तो गृहीत है ही परन्तु अध्व को व्याप लेने से **अग्नि, सूर्य, चन्द्र, क्षत्र, वीर्य, काल** आदि अर्थ भी गृहीत किए जायेंगे। उस अवस्था में **अश्वमेध** से **अग्निमेध, आदित्यमेध, चन्द्रमेध, क्षत्रमेध** आदि सब मेध गृहीत होंगे।

सूक्त के **पुरुष** और **अश्व** के अध्व को व्यापने का अन्तर स्पष्ट है। यदि पुरुष **'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्'** है तो **अश्व 'एकपादूर्ध्वमुदैत्** है यदि पुरुष के तीन चरण द्युलोक में अमृत [**त्रिपादस्यामृतं दिवि**] हैं तो अश्व के [**त्रिपादस्यामृतं पृथिव्याम्**] तीन चरण पृथिवी पर अमृत हैं।

शतपथकार ने **एष वा अश्वो मेध्यो, य एष आदित्यः तपति** कहकर **आदित्य** को **अश्व** माना है इसके दो अध्व हैं एक उत्तर अयन दूसरा दक्षिण अयन, सूर्य रूप अश्व भी जब एक अयन पर अधिकार किए होता है तो उसके **प्रातः मध्याह्न, सायं** रूप तीन चरण जमे रहते हैं परन्तु एक उठा रहता है, कि कब **द्वितीय अयन** को आक्रांत करे सूर्य अश्व भी जहां **एकपादूर्ध्वमुदैत्** है वहाँ **'त्रिपादस्यामृतं पृथिव्यां'** का साक्षात् नमूना है।

आदित्य के **रक्त, नील, पीत** वर्ण रूप तीन चरण पृथिवी पर टिकते हैं और परिणामस्वरूप पृथिवी **प्रकाश** रूप अमृत से अलोकित हो जाती है, तो कहना होगा **'त्रिपादस्यामृतं पृथिव्याम्'** वैज्ञानिक द्वारा आदित्य अश्व की नैसर्गिक शक्ति त्रिपाद्रश्मियों की रक्षा करते हुए परस्पर संगमन करा तत्काल ग्रहण कर सेचन और स्नेहन करा देना **आदित्यमेध-अश्वमेध** ही है।

वीर्य को भी **अश्व** कहे जाने का कारण उसका अध्व को व्यापना ही है। उसके भी दो पथ हैं और चार चरण हैं, दो पथ देवयान, पितृयान हैं ऊर्ध्व और अधः। तेजस्, सहस्, ओजस् और रेतस् [रेतसः पुरुषः] चार चरण हैं। वीर्य रूप अश्व भी एकपादूर्ध्वमुदैत् [ऊर्ध्व रेतस्] है वहां **त्रिपादस्यामृतं देहे पुर्याम्** है।

वीर्य की तेजस्, सहस्, ओजस् तीन चरण मनुष्य पुरी पर स्थित हो जाते हैं तो परिणामस्वरूप पुरुष तेजस्वी, सहस्वी और ओजस्वी बन जाता है। तो कहना होता है **त्रिपादस्यामृतं पुर्याम्**। ब्रह्मचारी द्वारा वीर्य-अश्व के नैसर्गिक तेजस्, सहस्, ओजस् शक्तियों को धारण करते हुए तथा इनकी संगमन सामर्थ्य की रक्षा करते हुए ऊर्ध्व रेतस् होकर मस्तिष्क को सोमरस सेचन और स्नेहन द्वारा आप्यायित करना **वीर्यमेध=अश्वमेध** ही है।

किसी एक अश्व में इतर अश्वों की नैसर्गिक शक्तियों का आलभन कर संक्रान्त कर देना भी **अश्वमेध** है। पुरुषसूक्त से सम्बद्ध हमने **अश्व** पशु को **क्षत्रिय** अथवा **शूद्र** का प्रतिनिधि माना है यदि

अश्व **क्षत्रिय** का वाचक है तो **क्षत्रिय** रूप **अश्व** में, **अग्नि, आदित्य, चन्द्र, वीर्य** काल रूप विविध अश्वों की नैसर्गिक शक्तियों का संगमन अथवा शक्तियों का संक्रान्त करा देना **अश्वमेध** है।

अश्व और अश्वमेध—

चतुष्पाद् पशु-विशेष की संज्ञा अश्व है। यह प्राणिशास्त्रियों के अन्वेषण का विषय है कि वे अश्व के रूप एवं तेज का अन्वेषण करें और उस रूप तथा तेज के उपयोग से अश्वपशु को समाज, राष्ट्र और मनुष्य के लिए उपयोगी बना दें।

अश्व का अश्वत्व—

अश्व में कुछ विशेषताएं ऐसी पाई जाती हैं कि जिसके कारण वह अन्य चतुष्पाद् पशुओं से उत्कृष्ट माना जाता है।[1]

[अ] सबसे प्रथम विशेषता अश्व में यह देखी जाती है कि वह अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वदा समुद्यत रहता है। वह कभी लेता नहीं। अश्व का यह आचरण इस बात का परिचायक है, कि वह कल की प्रतिक्षा नहीं करता। कल नहीं आज ही और अब ही…न श्वः=अश्वः का वह प्रतीक है। इसी योग्यता के कारण उसका नाम 'अश्व' पड़ा है।[2]

[आ] एक ही स्थान पर स्थित 'अश्व' एक अन्य विशेषता का परिचय देता है, कि 'अविलम्ब चलो' और उद्दिष्ट स्थान पर अपना अधिकार कर लो। यही कारण है कि वह निरन्तर एक पांव को उठाए (खड़ा) रहता है,—मानो अश्वारोही को कहता है कि ऐ अश्वारोही! जहाँ मेरे तीन चरण जमे हुए हैं[3] वहाँ तो तेरा अधिकार [कब्जा] है ही, अब अपने अभीष्ट लक्ष्य पर भी अधिकार कर। मुझ अश्व का उठा हुआ पांव लक्ष्य की ओर प्रवृत्तमान होने का संकेत है। यदि यह मार्ग पर नहीं टिकेगा तो तुझ पर ही टिका दूंगा। मेरा काम मार्ग तय करना है, नापना है। इसी योग्यता के कारण यास्क ने अश्व का निर्वचन किया है—**'अश्नुते ऽध्वानम्'**[4] जो **मार्ग को नापता है** और अधिकार कर लेता है वह अश्व है। सूक्त के पुरुष और अश्व के अध्व को व्यापलेने का अन्तर स्पष्ट है, पुरुष जहाँ त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः है वहाँ अश्व एकपादूर्ध्वमुदैत् अश्वः, त्रिपादस्यामृतं पृथिव्याम् है।

केवल इन दो योग्यताओं के आधार पर विशेषज्ञ अन्वेषण कर सकता है और उन व्यक्तियों की संज्ञा अश्व रखी जा सकती है कि जिनमें उक्त योग्यताएं हों।[5]

क्षत्रिय का अश्वत्व—

क्षत्रिय को **अश्व** कहे जाने का कारण, उपर्युक्त विशेषताएं हैं। यदि क्षत्रिय को अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करनी हो तो उसे भी कल की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। आज का कार्य कल के लिए नहीं

---

१. (क) **अश्वः पशूनां त्विषिमान् हरस्वितमः।** तै० ब्रा० ३.८.७.३
(ख) **अन्तो वा अश्वः पशूनाम्।** तां० ब्रा० २१.४.६

२. यद्यपि नैरुक्त और वैयाकरणों की प्रक्रिया भिन्न है, तथापि प्राचीन निर्वचन पद्धति से यह उद्भाव्य है यथा अश्वत्थ।

३. (क) **तस्मादश्वस्त्रिभिः (पद्भिः) तिष्ठंस्तिष्ठत्यथयुक्तः सर्वैः पदैः सममायुते।**शत०ब्रा० १३.२.७.६.
(ख) **अश्वः त्रिभिस्तिष्ठंस्तिष्ठति सर्वांश्चतुरः पदः प्रतिदधत् पलायते।** —तै० स० ५.४.१२.१

४. निरु० २.२७.

५. शत० ब्रा० १३.२.२.१५

छोड़ना चाहिए इसके विपरीत **'कल नहीं आज और अभी'** उसका सिद्धि-मंत्र होना चाहिए। जिस स्थान पर वह स्थित है, उस स्थान पर अधिकार-हेतु तीन पांव स्थापित किए रहने चाहिएं, एवं लक्ष्य पर अधिकार करने हेतु एक पांव उठाए रखना चाहिए। **क्षत्रिय-रूप अश्व** के चार पांव **साम, दाम, दण्ड** और **भेद** हैं। किन तीन को जमाएं रखना है और किस एक को उठाए रखना है यह काल और देश की स्थिति को विचार कर करना चाहिए। क्षत्रिय रूप अश्व के लिए भी कह सकेंगे—**एकपादूर्ध्वमुदैत् क्षत्रः** तथा **त्रिपादस्यामृतं राष्ट्रे।**

इन दोनों योग्यताओं—१. कल का काम आज ही और आज का काम अब ही [अ+श्वः] और २. प्राप्त स्थान पर अधिकार के लिए तीन चरण जमाए रखना और प्राप्तव्य पर अधिकार करने के लिए एक चरण उठाए रखना क्षत्रिय का अश्वभाव है। उपर्युक्त अश्वगुण-विशिष्ट व्यक्तियों को अन्वेषण द्वारा प्राप्त करना **'अश्वालम्भन'** है और ऐसे व्यक्तियों को संगठित कर अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना **अश्वमेध** है।

काल भी अश्व है—

इसी प्रकार **काल** को **अश्व** कहा जाता है। काल कल की प्रतीक्षा नहीं करता। वह तो आज और अब का उपासक है। काल-रूपी अश्व के भी चार चरण हैं—**भूत, वर्तमान, भविष्य** और **मृत्यु**। इन्हीं चार चरणों से उसने जड़-जंगम पर अधिकार किया हुआ है। यदि किसी व्यक्ति का काल पर अधिकार हो जाए तो उसका भी जड़-जंगम जगत् पर अधिकार हो सकता है। कब कौन से चरण जमाए रखना है और कब कौन से उठाए रखना है? यह सब देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर है। **सर्वातिशायी पुरुष** इस **काल रूप अश्व** के माध्यम से निरन्तर **अश्वमेध** यज्ञ कर रहे हैं।

अश्व की उत्पत्ति—

शतपथ-ब्राह्मण में **अश्व** की उत्पत्ति **अश्रु** से दर्शायी गई है।[1] **अश्रु** और **अश्व** दोनों शब्दों में **'अशू व्याप्तौ'**[2] धातु है। ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्रजापति की आखें भर आईं आंसू गिर पड़े। तब उन आंसुओं से अश्व की उत्पत्ति हुई। प्रति कक्षा सम्बद्ध अश्व पृथक्-पृथक् हैं। उनके प्रजापति पृथक्-पृथक् हैं। प्रजापति का अश्रु-संक्षरण पृथक्-पृथक् है जिसके स्वतन्त्र अनुसन्धान की आवश्यकता है।

राष्ट्रकक्षा में इसका अर्थ यह होगा कि राष्ट्र की दुरवस्था को देखकर ब्राह्मण की आखें भर आईं, सूज गईं। आंसू बह निकले।[3] [ब्राह्मण] प्रजापति की इस अवस्था को देखकर भुजारूप **क्षत्र=अश्व** की उत्पत्ति हुई। उन्होंने निश्चय किया कि अब आंसू न गिरने देंगे। इसलिए हाथ उठाकर प्रजापति के आंसुओं को पोंछा और प्रतिज्ञा की कि उस अन्याय का प्रतिकार करेंगे।

इस प्रकार के दृढ़ निश्चयी व्यक्तियों का अन्वेषण कर प्राप्त कर लेना **'अश्वालम्भन'** है और सबको एक स्थान पर एकत्रित्त करके अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेना **अश्वमेध** है।

हमने अश्व को क्षत्रिय पशु माना है, और अश्वमेध का अर्थ भी यही प्रतिपादित किया है कि

---

१. **अथयदश्रु संक्षरितमासीत्सोऽश्रुरभवदश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोऽक्षम्।**
—शत० ब्रा० ६. १. १. ११.

२. धा० पा०। स्वा० ग० १८.

३. **प्रजापतेर् अक्ष्यश्वयत्तत्पराऽपतत्तदश्वोऽभवत् तदश्वस्य-अश्वत्वम्।** —तै० सं० ५.३.१२.१.

उसकी समग्र नैसर्गिक शक्तियों को, उसके समग्र रूप को; क्षत्रिय में सक्रांत कर देना। तद्यथा अश्व की गति स्थिति का वर्णन कर चुके हैं, कि क्षत्रिय को अश्ववत् प्राप्त की रक्षार्थ **साम, दाम, भेद** रूप **तीन चरणों** को जमाए रखना चाहिए और प्राप्तव्य की प्राप्ति के लिए **दण्ड** रूप **चरण** को उठाए हुए तत्पर रहना चाहिए। जिस प्रकार अश्व अपने कानों को चतुर्दिक घुमाकर चौकन्ना रहता है तद्वत् क्षत्रिय को भी चौकन्ना रहना चाहिए। मन्त्री से गुप्त मंत्रणा करने पर तो वह चौकन्ना हो ही जाता है; उसकी मन्त्रणा चार कानों तक ही रहनी चाहिए, अन्यथा छ: कानों तक जाते ही रहस्य फूट जाएगा। **'षट्कर्णो-भिद्यते मंत्रः'**; साथ ही उसे प्रत्येक दिशा से उठने वाली बात को सुनना चाहिए, किस दिशा से यश सुनने को मिल रहा है और किस दिशा से अपयश, किस दिशा से जय गान सुनाई दे रहा है और किस दिशा में पराजय सुनाई दे रही है; उसके लिए कान खुले रखने चाहिए। यदि किसी ओर से शत्रु का आह्वान सुनाई दे रहा है तो अश्व की भांति हिनहिना कर उस चैलेंज को स्वीकार करना चाहिए। यदि शत्रु अपकीर्ति रूप धूल फैंके, तो अश्व की भांति उसको एक ही बार में शरीर को हिलाकर झाड़ देना चाहिए। पीठ पीछे धूल उड़ाने वालों की अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वह तो एक ही झटके में झड़ जाएगी। अश्व के लिए शतपथकार ने लिखा है कि वह ऊपर मुख उठाए हुए दुर्-अक्ष और भावुक होता है।[1] ऊपर मुख उठाकर अपने मार्ग पर दृष्टि रखता है सूंघ, सुनकर हिताहित को, मित्र अमित्र को पहचानता है शत्रु के लिए **दुरक्ष** और मित्र के लिए **भावुक** है; तद्वत् क्षत्रिय को भी आंखें और कान खोलकर चलना चाहिए, उसे हिताहित, मित्र-अमित्र को सूंघ-सुनकर जाँच करनी चाहिए, शत्रु के प्रति दुरक्ष और मित्रों के प्रति भावुक रहना चाहिए। इस प्रकार अश्व के समग्र रूप, यश और तेज को क्षत्रिय में सक्रांत करना **अश्वमेध** यज्ञ है।

[अ थ गो मे धः]

अब क्रम प्राप्त तृतीय **गोमेध** की व्याख्या अपेक्षित है। वैदिक शब्द **गो** के साथ भी वैसा ही अन्याय हुआ है, जैसा कि वैदिक शब्द **'अश्व'** के साथ। **गौ** शब्द का प्रयोग होते ही जो अर्थ सहज उद्-भूत होता है वह है **'ककुत्पुच्छविषाणसास्नावान्' पशुविशेषः**। यह **अर्थ गौ** पद के साथ इस प्रकार संयुक्त हो गया है कि उसे साधारण व्यक्ति के मन-मस्तिष्क से निकाल सकना असम्भव प्रायः है। यह **अर्थ** न केवल **गौ** संज्ञा पर आरूढ़ हो गया है अपितु लौकिक व्यक्ति के मन मस्तिष्क पर भी आरूढ़ हो गया है, अतः आवश्यक है कि **गौ** शब्द का अर्थ समझने से पहले **रूढ़ार्थ** को कुछ क्षण के लिए मन से ओझल कर लिया जाय। तब कहीं गौ शब्द के अन्यार्थ बुद्धिगम्य हो सकेंगे।

वैदिक शब्दकोष का आरम्भ ही **गौ** शब्द से हुआ है। वहां **गौ** शब्द **पृथिवी** नामों में पठित है। अर्थात् वेद में **गौ** शब्द का प्रसिद्धार्थ **गाय** ही न होकर **पृथिवी है**, पृथिवी ही क्यों वेद में **गो** शब्द **द्युलोक, विद्युत्, आदित्य, किरण, प्रकाश, गाय** और **गाय** से सम्बद्ध **दूध**, दही, **नवनीत**, घृत, **चर्म, चर्बी, तांत** और **तांत** निर्मित **ज्या** का एवं **इन्द्रिय, वाक्, स्त्री** आदि अर्थों का भी वाचक है।

आचार्य यास्क और गौ शब्द—

आचार्य यास्क ने **"गौरिति पृथिव्या नामधेयम्"** कह कर पृथिवी का **"अथापि पशुनामेह भवति एतस्मादेव"** कह कर गाय का **"अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवत्"** कह कर गाय से सम्बद्ध **दुग्ध, क्षीर,**

---

१. **तस्मादश्वः शुक्लः उदुष्टमुख इवाथो ह दुरक्षो भावुकः।** श० ७.३.२.१४

श्लेष्मा, चर्म, स्नाव, ज्या का **"आदित्योऽपि गौरुच्यते"** कहकर **सूर्य** का तथा **"सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते"** [नि० २.२.] कह कर **रश्मियों** का फिर ग्यारहवें अध्याय में **"वागेषा माध्यमिका"** कह कर स्तनयित्नु युक्त **मेघमाला** का तथा **"धर्मधुगिति याज्ञिका"** कह कर **गाय** का वाचक माना है।

ब्राह्मणकार और गौ शब्द—

काठक संहिताकार [३६.६] में **'इयं पृथिवी वै गौः'** कहकर **'पृथिवी'** का [३३.३] में **'अन्तरिक्षं गौः'** कहकर **'अन्तरिक्षलोक'** का शतपथकार [६.१.२.३४] ने **'इमे वै लोका गौः'** कहकर समस्त **लोकों** का [७.५.२.१६] में **'अन्नमु गौः'** कह कर **अन्न** का [५.४.३.१०] में **इन्द्रियं वै वीर्यं गावः'** कह कर **इन्द्रियों** का मैत्रायिणी संहिताकार [४.२.३] ने **'गौर्वाक्,' 'गौर्विराट्,' 'गौः खल्वेव गौः,' 'गौरिदं सर्वम्'** कह कर **वाणी, विराट्, गाय** और यह जो कुछ भी है उस **सब कुछ** का वाचक माना है।

वेद और गौ शब्द—

ऋग्वेद [१.१६४.१७] में **'वत्सं बिभ्रती गौरुपस्थात्'** कहकर आहुति तथा **रश्मि** का, ३.७.२. में **ऋतस्य त्वा सदसि क्षेमयतं पर्येका चरति वर्तनिं गौः** कह कर माध्यमिका वाक् अथवा **वाणी** का, ३.३१.११. में **'आमा पक्वं चरती बिभ्रती गौः'** कह कर **गाय** का, ८.९४.१. में **'गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम्'** कह कर पृश्नि (भूमि) **अन्तरिक्ष** का, १०.२७.२२. **'वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद् गौः'** कह कर **सूर्यरश्मियों** का वाचक माना है।

गौ शब्द के विभिन्न अर्थों की एकसूत्रता—

अब विचारणीय है कि **गौ** शब्द के विभिन्न अर्थों की एकसूत्रता का आधार क्या है? आचार्य यास्क ने **गौ** शब्द का निर्वचन **'गच्छतीति गौः'** किया है अर्थात् जो गतिशील है, वह गौ है, बस 'गतिशीलता' ही वह सूत्र है जिसने गौ शब्द के विभिन्न अर्थों को ग्रथित किया हुआ है। गतिशील होने से ही **पृथिवी, गाय, दुग्ध, क्षीर, चर्म, श्लेष्मा, ज्या, आदित्य, रश्मियां, इन्द्रिय, वाणी, विराट्** और जो **ये सब कुछ** है, वह सब कुछ **गौ** शब्द का वाच्य है। शतपथकार [६.१.२.३४] ने **'इमे वै लोका गौर्यद्धि किं च गच्छति'** कह कर इसी बात की सम्पुष्टि की है।

यह ज्ञात हो जाने पर कि गतिशीलता ही वह सूत्र है जिसने **गौ**-पद वाच्य सभी अर्थों को संग्रथित किया हुआ है यह जानना शेष है कि गति क्रिया में यह कौनसी योग्यता है जो सब अर्थों में तुल्य है, अतः आवश्यक है कि **गत्यर्थक 'गम्'** धातु [जिससे गौः शब्द निष्पन्न हुआ है] के अर्थ को समझ लिया जाय।

धातुपाठ में गत्यर्थक धातुएं पौने तीन सौ के लगभग हैं तत्तद् धातुओं की **'गति'** के अर्थ में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य है। अन्यथा पौने तीन सौ धातुओं के निर्माण की क्या आवश्यकता थी? गति-क्रिया के इन सूक्ष्म भेदों का अध्ययन करके ही धातुकार ने इतनी अधिक धातुओं का निर्माण किया। तत्तत् धातुओं के प्रयोग को देखकर ही गति क्रिया के सूक्ष्म भेदों को समझा जा सकता है। विमर्षणीय **गम्** धातु की कौनसी विशेषता है कि जिसने **गौः** पद वाच्य विविध अर्थों को संगृहीत किया हुआ है। इस सूक्ष्मता को जानने के लिये गत्यर्थ को गाय पदार्थ में प्रत्यक्ष करना होगा।

गति के सर्वमान्य त्रिविध अर्थ—

इससे पहले कि हम **गम्** धातु के सूक्ष्म भेद को गाय में प्रत्यक्ष करें यह जानना आवश्यक है

कि वैयाकरणों में गति के तीन अर्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं; **गतेस्त्रयोरर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति ।** **ज्ञान, गमन** और **प्राप्ति** इस अर्थत्रय में मध्यार्थ फिर गमन है=गति है । गति के पुनः अर्थ कीजिये तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि जहां प्रत्येक गति ज्ञानपूर्विका हो वहां प्राप्त्युत्तरिंका होनी चाहिये । अर्थात् **गति** क्रिया वह रेखा है जिसका केन्द्रबिन्दु **ज्ञान** है और परिधि बिन्दु **प्राप्ति** है । अब आइये गाय पशु में गति का प्रत्यक्ष करें । गाय पशु में पाई जाने वाली गति के भी दो बिन्दु हैं, एक **गोष्ठ** दूसरा **वन** । प्रातः **गोष्ठ** [घर[से वन की ओर चल देती है और सायंकाल वन से घर की ओर चल देती है ।[1] गाय की **गति** का केन्द्रबिन्दु **घर** है, परिधि बिन्दु **वन** है=चारागाह है । बस जो पदार्थ केन्द्र से परिधि तक और परिधि से केन्द्र तक गति करता हो, वह **गौ** पद वाच्य होगा । यह गमनागमन क्रिया उस समय भी प्रत्यक्ष की जा सकती है कि जब कृषक हल जोतता है । उसने जहां से जिस बिन्दु से चलना आरम्भ किया और जहां जिस बिन्दु तक जाना है, बराबर उन दो बिन्दुओं के मध्य गमनागमन प्रक्रिया जारी रहती है ।

घर केन्द्रबिन्दु इसलिये है कि वहां **वत्स** है, और वन परिधि-बिन्दु इसलिये है कि वहां **भोजन** सामग्री है, घर से वन की ओर इसलिये (गमन) जाना है कि वहां से भोजन सामग्री जुटाये । वन से घर की ओर इसलिये [आगमन] आना है कि भूखे वत्स को दूध पिलाये । वन से आयात करना है और घर में निर्यात । गाय की इस गति का अन्ततोगत्वा एकमात्र उद्देश्य है भूखे की भूख मिटाना । ऐसे भूखे की जो कि अपने भोजन जुटाने में नितान्त असमर्थ है । जो अभी तृण तक नहीं चबा सकता, एकमात्र उसी के दुग्ध पर निर्भर रहता है । वह भूखा व्यक्ति उसका अपना वत्स हो, किसी मां की गोद का लाल हो, शिशु हो, वृद्ध हो, अपाहज हो अथवा असमर्थ हो । उसे तो भूखे की भूख मिटाना अभीष्ट है ।

उक्त विवेचन का निष्कर्ष—

उक्त विवेचन का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट हो सकेगा ।

[१] वह पदार्थ '**गौः**' पद वाच्य होगा, जो **गतिशील** हो ।

[२] वह पदार्थ "**गौः**" पद वाच्य होगा, जिसकी गति के केन्द्र और परिधि दो बिन्दु हों अर्थात् केन्द्र से परिधि तक जाना और परिधि से केन्द्र तक लौट आना ।

[३] वह पदार्थ "**गौः**" पद वाच्य होगा, जिसके इस गमनागमन का परिणाम यज्ञार्थ **सोम** का **सवन** करना हो ।

[४] वह पदार्थ "**गौः**" पद वाच्य होगा जो आदान किए सवन=दुग्ध=यज्ञ-हविः को निष्काम भाव से भूखे के मुख में विसर्जित करता हो "**आदानं हि विसर्गाय ।**"

उक्त बिन्दुओं को संगृहीत कर कहना हो तो इस प्रकार कहेंगे कि—

"**वह पदार्थ "गौः"** पद वाच्य होगा कि जो निष्काम भाव से यज्ञ-हवि के आदान [आयात] करने तथा [भूखे के मुख में] विसर्जन [निर्यात करने] हेतु केन्द्र से परिधि और परिधि से केन्द्र तक निरन्तर गतिशील रहता हो ।"

दार्शनिक परिभाषा में गौ का लक्षण कुछ भी हो [अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष से रहित हो] परन्तु वैदिक परिभाषा में "**गच्छतीति गौः**" लक्षण ही उपयुक्त ठहरता है [जो सब गतिशील पदार्थों में व्याप्त है] ।

---

१. **ग्राम्याः पशवः सायमरण्याद् ग्राममायान्ति । काठ० १९.११**

विविध गतियों का पुतला गाय—

न केवल "**गौः**" पदार्थ में ही गति पायी जाती है अपितु उसकी चेष्टा प्रक्रिया तत्सम्बद्ध वस्तुओं में भी गति पायी जाती है। उसकी **रोमन्थप्रक्रिया, क्षीर, चर्म** आदि को गति के कारण ही "**गौ**" कहते हैं।

रोमन्थ प्रक्रिया और गति—

गौ चर्वणार्थ गति करती है और चर्वित चर्वणार्थ रोमन्थ प्रक्रिया, रोमन्थ प्रक्रिया के लिए गोष्ठ में आ बैठती है। **गोष्ठ** शब्द में "**स्था गतिनिवृत्तौ**" धातु का प्रयोग हुआ है जो गौ की गतिशीलता का विरोधी है। गोष्ठ में बैठ कर रोमन्थ प्रक्रिया में प्रवर्त्तमान गाय अपने "**गच्छतीति गौः**" लक्षण को सार्थक कर रही होती है। चर्वित ग्रास **आमाशय** से **मुख** की ओर और **मुख** से **आमाशय** की ओर गति कर रहा होता है। रोमन्थ में "**मन्थ**" धातु का यही अर्थ है वस्तु को मथना या विलोना। मन्थन में **मन्थ** साधन और वस्तु, प्रथमतः एक बिन्दु से द्वितीय बिन्दु तक जाता है और वह पुनः द्वितीय बिन्दु से प्रथम बिन्दु तक लौट आता है। **रोमन्थ** [गति] के भी दो बिन्दु हैं एक मुख और दूसरा दुग्धाशय। दुग्धाशय केन्द्र है और मुख परिधि, दोनों को मिलाने वाली गति में जहां बाधा आयी कि वहीं दुग्ध सवन होना बन्द हुआ। गाय तो गतिशील ही अच्छी है। चाहे खड़ी हो अथवा बैठी हो, चर्वण के लिए बाह्य गति और चर्वित चर्वण के लिए आन्तर् गति, एक गति किसी की परिक्रमा में दूसरी अपनी धुरि पर, "**गच्छतीति गौः।**"

क्षीर और गति

दुग्ध का पर्यायवाची **क्षीर** शब्द "**गत्यर्थक क्षर**" धातु से निष्पन्न हुआ है, "**क्षर संचलने**" गाय पशु इसलिए गौ है कि स्वयं उसमें उत्पन्न होने वाले पदार्थों में गति पायी जाती है। क्षीर के भी दो बिन्दु हैं एक दुग्धाशय और दूसरा स्तन। दुग्ध दुग्धाशय से स्तनों की ओर बिन्दु बिन्दु हो कर संक्षरित होता है। न केवल संक्षरित ही होता है अपितु स्तनों में प्रपूरित होकर [दुह् प्रपूरणे] भूखे [वत्स] की भूख निवृत्यर्थं मुख में संक्षरित होने के लिए। इस प्रकार दूध अपने क्षीर नाम को सार्थक कर रहा होता है।

चर्म और गति—

न केवल **गाय** पशु में ही, उसकी **रोमन्थ** प्रक्रिया में ही, दुग्ध निर्माण प्रक्रिया में ही गति पायी जाती है अपितु उसके **चर्म** में भी गति पायी जाती है। **चर्म** शब्द भी गत्यर्थक **चर्** धातु से निष्पन्न हुआ है। गाय के चर्म में निसर्गसिद्ध संवेदनशीलता होती है। मक्खी मच्छर आदि के बैठते ही चर्म में गति उत्पन्न हो जाती है, उस गति पर गाय को इतना नियन्त्रण होता है कि वह चाहे तो चर्मगत उसी भाग को हिलाए जिस पर मक्खी, मच्छर आदि बैठे हों। चर्मगत गति के भी दो बिन्दु हैं एक **सूचनार्थ** दूसरे **निवारणार्थ**। मस्तिष्क को सूचना मिलते ही पुच्छ निवारणार्थ गतिशील हो जाती है। गतिशील होने के कारण **चर्म** भी **गौ** है।

'ज्या' भी गौ—

गाय और गाय से संबद्ध **दुग्ध, दही, नवनीत, चर्म, तांत** आदि की संज्ञा ही '**गौ**' नहीं अपितु उसकी **तांत** से निर्मित **ज्या** भी गौ कहलाती है [**ज्याऽपि गौरुच्यते**]। ज्या की गौ संज्ञा का कारण भी उसकी गति ही है। ज्या रूप गौ की गति के भी दो बिन्दु हैं और उसके दो प्रकार हैं, पहले दो बिन्दु

धनुषदंड के दोनों किनारे हैं, दूसरे दो बिन्दुग्रों में से एक वह कि जहाँ योद्धा **ज्या** पर **शर** टिकाता है ग्रौर दूसरा वह कि जहां तक **ज्या** को खींचा जाता है, ग्रर्थात् **कर्ण**। कर्ण को परिधिबिन्दु कहना चाहिए। "**ज्या**" के कर्ण तक खिचते ही धनुष पूर्ण चन्द्राकार बन जाता है। जब तक शर-वृष्टि करना ग्रभीष्ट है तब तक ज्या बराबर केन्द्र बिन्दु से परिधिबिन्दु कर्ण तक ग्रौर परिधिबिन्दु कर्ण से केन्द्र बिन्दु तक बराबर गति=गमनागमन करती रहती हैं। इसी प्रक्रिया के कारण **ज्या गौ** कहलाती है। वेद ने ज्या की प्रशंसा में क्या ही ग्रच्छा कहा है **वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना। योषेव शिंक्ते वितताधि धन्वन् ज्या इयं समने पारयन्ती** [ऋ० ६.७५] ऐ योद्धा ! तेरे कान तक खिंची धनुष ज्या तेरे कान में ठीक उसी प्रकार कुछ गुनगुना रही है कि जिस प्रकार कोई युवती ग्रपने प्रिय सखा के कान में किसी भावी सफलता का सूचना देती हुई गुनगुनाती है, सुनो ! ज्या तेरे कान में किसी भावी सफलता की सूचना देते हुए गुनगुना रही है "**समने पारयन्ती**" इस साम्मुख्य में पार लगाऊंगी। यहाँ पर भी ज्या रूपी गौ का ग्रर्धचन्द्राकार धनुष ही वह ऊधस् है जिससे शरवृष्टि रूप दुग्धधारा प्रवाहित हो रही है। परिणाम स्वरूप यश दुग्ध लोगों के भूखे कानों तृप्त कर रहा होता है।

पृथिवी भी गौ है—

हम लिख चुके हैं कि वैदिक कोष का ग्रारम्भ **गौ** शब्द से हुग्रा है परन्तु वहां वह पृथिवी नामों में पठित है, ग्रर्थात् गौ शब्द पृथिवी का वाचक है, इसके साथ साथ हमें वह सूत्र भी हस्तगत हो चुका है कि जिसके ग्राधार पर कोई ग्रर्थ गौ संज्ञा वाच्य हो, वही सूत्र पृथिवी पर घटित होने से **पृथिवी** भी **गौ** कहलाएगी। पृथिवी जहां ग्रपने केन्द्र पर घूमती है, वहां सूर्य के परितः भी घुमती है, इस प्रकार पृथिवी निरन्तर गतिशील रहती है, इसी गति के परिणाम स्वरूप पृथिवी रूपी गाय, **गेहूं, जौ, चावल, चना, मक्का बाजरा, ज्वार, उड़द, मूंग, मसूर, मटर** रूप ग्रनन्त दुग्ध धाराएं बहाकर ग्रपने ग्रसंख्य भूखे पुत्रों को ग्राप्यायित किए रहती है। गेहूं जौ, चावल के दाने क्या हैं पृथिवी रूपी गौ के ग्रनन्त स्तन ही तो हैं, ग्रौर उन कच्चे दानों में भरा तरल पदार्थ क्या है ? दूध ही तो है, यह सब पृथिवी की मर्यादित गति का ही तो परिणाम है। यदि पृथिवी इस मर्यादित गति का उल्लंघन कर जाए ग्रर्थात् या तो सूर्य के ग्रत्यन्त समीप हो जाए या फिर ग्रत्यन्त दूर हो जाए, तो दोनों ही ग्रवस्थाग्रों में प्रलय को प्राप्त हो जाए, यदि ग्रत्यन्त समीप हो जाए तो झुलस कर, ग्रौर ग्रत्यन्त दूर हो तो ठिठुर कर समाप्त हो जाए ग्रौर माता भूमि के पुत्रों की मृत्यु हो जाए। पृथिवी की इसी मर्यादित गति का परिणाम है कि उसकी कुक्षी में पड़ा हुग्रा कोयला भी हीरा बन रहा है, रेत लोहा, सीसा, तांबा, चान्दी, सोना हो रहा है।

जैसे कहा जा चुका है कि व्यक्ति की नैसर्गिक शक्ति उसका **पशुभाव** है, उसका सर्वतः, सर्व प्रकारेण निरीक्षण करके खोज निकालना **ग्रालम्भन** है, उन पशुग्रों ग्रौर उनकी नैसर्गिक शक्तियों को प्रशिक्षण द्वारा मानवोपयोगी बना देना **संज्ञपन** है इस संज्ञपन क्रिया में व्यक्ति की मेधाशक्ति ग्रौर संगमन शक्ति की रक्षा करते हुए समाज का ग्रंगभूत बना, संगमन कराना **मेध** है, यज्ञशाला में पशुग्रों को यूप से इसीलिए बांधा जाता था कि जिससे उनके ग्रंग, ग्रंग का विशकलन=विभागशः विचार कर विश्लेषण किया जा सके। कोई पशु की **घ्राण** शक्ति का ग्रध्ययन कर रहा है, तो कोई **दर्शन** शक्ति का, तो कोई **श्रवण** शक्ति का, तो कोई **रोमन्थ** प्रक्रिया का, **पाचन** क्रिया द्वारा दुग्धनिर्माण का ग्रध्ययन करता था। उसमें से यज्ञ के लिए ग्रनुपयोगी **ग्रमेध्य** भाव को निकाल बाहर किया जाता था ग्रौर यज्ञोपयोगी **मेध्य** भाव को सुरक्षित किया जाता था इसे ही **पशुमेध** कहते थे।

जब यह कहा जाए कि **ज्योति** हवि है, यज्ञोपयोगी है, **मेध्य है, तम** निरुपयोगी अर्थात् **अमेध्य** है हवि बनने योग्य नहीं है, तो अध्ययन करना होगा कि ज्योति रूप मेध्य हवि की गौएं कौन हैं तो ज्ञात होगा कि सूर्य की सप्तविध **रश्मियां** ही **गौ** हैं जो अपने केन्द्र **सूर्य** से चलकर ग्रहोपग्रह रूप परिधि तक जातीं और पुन: लौट आती हैं। उनके अमेध्य भाव की हिंसा करते हुए, तम का निराकरण करना, प्रकाश को अबाध गति से प्रसारित होने देना **गोमेध** है।

वाणी भी गौ है—

जहाँ सभी इन्द्रियें **गौ** हैं वहां **वाणी** भी **गौ** है। यह भी निरन्तर गतिशील रहती है इसके भी केन्द्र और परिधि दो विन्दु हैं **केन्द्र** विन्दु **मन** है तो **परिधि** विन्दु **श्रोत्र** हैं, इन्हीं दो विन्दुओं के मध्य गमनागमन रहता है, गाय की भांति इसके भी चार स्तन हैं कहा भी है **'वाग् वै शबली कामधेनुः।' एवं वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारस्स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति, स्वाहाकारं च वषट्कारं च; हन्तकारं मनुष्याः; स्वधाकारं पितरः; तस्याः प्राण वृषभो, मन वत्सः**[1]। इस प्रकार वाग्गौ के **स्तनों** का ही वर्णन नहीं है अपितु उसके **वृषभ** और **बछड़े** का भी वर्णन है। वाग्धेनु की उपासना ब्राह्मण करता है इसके उपयोग का अधिकार भी ब्राह्मण को ही है। कारण अति स्पष्ट है, वह ही राष्ट्र का मुख है अतः वाणी उसकी वशवर्ती होकर रहती है। वाणी के अमेध्य भाव असत्य की हिंसा करते हुए उसके मेध्य भाव सत्य की रक्षा करते हुए श्रोत्र के माध्यम से हृदय और अन्य व्यक्तियों की वाणी से संगमन करा देना भी **गोमेध** है।

गौ की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए शतपथकार ने कहा है कि प्रजापति के मुख से बल स्रवित हुआ, उससे गौ की उत्पत्ति हुई[3]। इस वर्णन से भी वाणी रूपी गाय का ही बोध होता है। आशय अति स्पष्ट है कि ब्राह्मण को राष्ट्र में आततायी राजा द्वारा प्रजा पर किये जा रहे अत्याचार को देखकर अत्यन्त दुःख हुआ और जहाँ वह आंसू बहाने लगा वहां आह भी भरने लगा और अत्याचार के विरुद्ध वाग् प्रयोग करने लगा, बोलते बोलते जीभ पर छाले पड़ गये, ब्राह्मण की इस अवस्था को देख कर वाणी रूपी गौ का जन्म हुआ अर्थात् राष्ट्र के ब्राह्मण वर्ग ने मिलकर वाणी का प्रयोग आरम्भ कर दिया। सभी ब्राह्मणों की वाणी एक होकर अत्याचार के प्रतिकारार्थ जुट गई, तो जानो **गोमेध** यज्ञ सम्पन्न हो गया। इस प्रकार पुरुष-सूक्त वर्णित ग्राम्य पशुओं में तृतीय गौ पशु से सम्बद्ध मेध का वर्णन दिखा दिया गया, उससे यदि अब श्रौत ग्रन्थों में वर्णित गोमेध का किञ्चित् स्पष्टीकरण हो सके तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

हमने **गौ** पशु को ब्राह्मण वर्ण का प्रतिनिधि माना है, इसलिए वर्णात्मा पुरुष के घटक ब्राह्मण में गौ के समग्र रूप को सक्रांत करना होगा, यदि गौ में वत्सलता है, तो ब्राह्मण में भी वत्सलता लानी होगी, यदि गौ पशु सर्वमित्र हैं[4] तो ब्राह्मण को भी सर्वमित्र बनना होगा, यदि गौ पक्षपात रहित होकर सबका भरण-पोषण करती है[5] तो ब्राह्मण को वैसा बनना होगा।

गौ का सर्वोत्तम गुण **वत्सलता** है, गाय का वत्स के प्रति स्नेह व्यवहार का नाम वत्सलता हो गया है स्वयं भगवती श्रुति ने पुरुष को अन्योऽन्य के व्यवहार में भी गौ की वत्सलता की ही उपमा

---

१. ता० ब्रा० २१.३.१. २. शत० १४.८.९.२

३. **मुखादेवास्य [प्रजापतेः] बलमस्रवत्। स गौः पशुरभवत्॥** १२.७.१.४

४. **गौर्वाव सर्वस्य मित्रम्।** तै सं० २.५.२.६ ५. **गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति।** शत० ३.१.२.१४

दी है तद्यथा **अन्योऽन्यमभिहर्यंत जातं वत्समिवाघ्न्या**[1] गौ में जब यही वात्सल्य भाव पराकाष्ठा को पहुंच जाता है, तो वीररस जन्म लेता है और उस समय वत्स की रक्षार्थ अपने शृङ्गों से सिंह का भी साम्मुख्य करती है, यहाँ तक कि अपने प्राणों की बलि देकर भी वत्स की रक्षा करती है।

ब्राह्मण में गौ का कोई रूप संक्रान्त हो अथवा न हो, परन्तु वात्सल्य रूप तो अवश्य संक्रान्त होना चाहिए, संसार के सब प्राणियों को वत्सवत् समझे उनकी रक्षार्थ यदि कदाचित् शस्त्र भी ग्रहण करना हो तो करे परन्तु अपने वत्सों पर आंच न आने दे। जिस प्रकार गाय वात्सल्य भाव से प्रेरित हो, स्तनों में दूध भर लाती है और तब तक धैर्य नहीं करती जब तक अपने वत्स को स्तन्यपान नहीं करा देती। ब्राह्मण को भी चाहिए कि इसी वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर नित्य नूतन ज्ञानदुग्ध निर्माण करे और तब तक धैर्य न रखे जब तक अपने श्रोतारूपी वत्सों को पिला न दे।

अथर्व वेद में उल्लेख है कि इस शरीर में ब्रह्मांड के देव इसी प्रकार आ बैठे कि जिस प्रकार [**'गावो गोष्ठ इवासते'**[2]] गौवें अपने गोष्ठ में आ बैठती हैं वर्तमान में सभा और समिति के लिए प्रयुक्त होनेवाला **गोष्ठी** और सभास्थल के लिए प्रयुक्त होने वाला **गोष्ठ** शब्द इस बात का प्रमाण, है कि पुरुष-पशु ने और विशेषकर ब्राह्मण ने विचार विनिमय के लिए सभास्थल में कहाँ किस प्रकार., किस उद्देश्य से बैठना चाहिए गो पशु से ही सीखा। गौ अपने गोष्ठ में निश्चत स्थान पर बैठती है, उसका निश्चित स्थान उसे निश्चिन्त कर देता है कि जब तक मैं जुगाली न कर लूं तब तक कोई मुझे यहाँ से उठाए नहीं। गोष्ठ और गोष्ठी का भी यही नियम है, प्रयेत्क व्यक्ति अपने निश्चित आसन पर आसीन हो जिससे कि वह निश्चिंत होकर मनन और निदिध्यासन कर सके, अर्जित ज्ञान आहार में यदि अमेध्य वस्तु आ गई हो तो उसे निकाल बाहर करें और मेध्य दुग्धनिर्माण करता रहे, जिससे वत्स को पिलाने पर किसी प्रकार की हानि न हो और शीघ्र पच जाए।

गोष्ठ में आसीन होकर रोमन्थ प्रक्रिया जितनी निश्चिन्तता से करती है आहार संग्रह के लिए उतनी ही अधिक चिन्ता करती है। यत्र तत्र घूमकर शीघ्र ही आहार संग्रह कर लेती है। ब्राह्मण को भी यत्र तत्र ज्ञानियों के पास जाकर ज्ञानार्जन करना चाहिए उसके लिए सदा चिन्तित रहना चाहिए।

गौ का समग्र रूप, सर्वरूप, विश्वरूप वर्णन करना अत्यन्त दुष्कर है और ब्राह्मण में उसका संक्रान्त करना और भी कठिन है समग्र रूप नहीं तो कुछ गुण अवश्य धारण करने चाहिए तद्यथा गौ सब की मित्र है और सबका भरण-पोषण करती है तद्वत् ब्राह्मण को भी सर्वमित्र होना चाहिए और सबका भरण-पोषण करना चाहिए। ब्राह्मण के लिए स्वयं भगवान् वेद का आदेश है कि **सर्वो व तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिः**[3]। जहां ब्राह्मण रक्षार्थ परिधि बना लेता है वहाँ सब प्राणी जीवित रहते हैं **गौ, अश्व, पुरुष, और कोई भी पशु**।

गौ के समग्र रूप को संक्रान्त करना तो आवश्यक है ही परन्तु गाय पशु की गति का संक्रमण तो अवश्य किया जाना चाहिए। गौ संज्ञा का कारण उसकी विशिष्ट गति ही है गच्छतीति गौः।

गौ और आर्य दोनों ही गतिशील हैं—

गौ और आर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आर्यों के संस्कारों में, यज्ञों में, गृहों में, गोष्ठों में, खेतों में, खलिहानों में गो-पशु प्रदर्शित होता है। गाय उनके जीवन का आवश्यक अंग है। उन्हीं का क्यों

---

१. अथर्व० ३.३०.१. २. अथर्व० ११.८. ३. अथर्व०

मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी पशु है। परमात्मा ने गाय-पशु में इतनी अधिक विशेषताएँ निहित की हैं कि जिनके बिना जनजीवन ठप्प हो जाये। जहां गाय-पशु की जनजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगिता है, वहां वह आदर्श भी तो है। आर्य के लिए गाय गति का प्रतीक है। आर्य भी गतिशील है और गाय भी गतिशील। आर्य को अपनी गति मर्यादित करने के लिए गाय को आदर्श बनाना होगा।

गत्यर्थक [ऋ] धातु से आर्य शब्द निष्पन्न हुआ है और गत्यर्थक (गम्) धातु से गौ शब्द निष्पन्न हुआ। जहां इन दोनों धातुओं के अर्थ **'गति'** में सूक्ष्म भेद है वहां आर्य और गाय की गति में भी सूक्ष्म अन्तर है। आर्य अपने श्रम द्वारा गति अर्जित करता है जबकि गाय को वह गति निसर्गतः सिद्ध है। आर्य को सीखना है और गाय से सीखना है। आर्य की गति—[गति-अर्थ] का आदर्श गाय है कि वह दैनिक जीवन में गाय का अध्ययन कर अपने आचरण में गति को अपनाये। आर्य शब्द में प्रयुक्त 'ऋ' धातु का अर्थ नपी-तुली गति है 'ऋ' [मित] गतौ परन्तु प्रयोग के आधार [ऋतु, ऋतुधर्म, ऋत्विक् आदि शब्द] पर मर्यादित गति होता है। इस मर्यादित गति का प्रत्यक्ष कहाँ करे और किसमें करें इसलिए परमात्मा ने ऐसी व्यवस्था कर दी कि कुछ पशु उसके दैनन्दिन उपयोग में आने वाले बना दिये कि जो स्वभावतः मनुष्य के साथ रहना पसन्द करते हैं. यही कारण है कि सूक्त में उन [अश्व, गौ, अजा, अवि] की गणना ग्राम्य पशुओं में की है। पुरुष भी ग्राम्यपशु, अश्व, गवादि भी ग्राम्य पशु, पुरुष भी सोशल् एनिमल और अश्व, गवादि भी सोशल् एनिमल।

मित-गति का अभिप्राय क्या है इसे गौ पशु में अध्ययन कर अपने जीवन में लाये। हम दिखा चुके हैं कि गाय वह पशु है जो निष्काम भाव से यज्ञ-हवि सोम का सवन करने तथा भूखे के मुख में हवि के विसर्जन हेतु निरन्तर गतिशील है। बस आर्य को नियमित गति करने हेतु अपने केन्द्र और परिधि-बिन्दु निर्धारित करलेने चाहिये, और उनका अतिक्रमण न करते हुए मर्यादित गति करते रहना चाहिए। इस गति का सुपरिणाम भूखे के मुख में विसर्जन करने हेतु यज्ञ-हवि, दुग्ध [सोम] का आयात करना होना चाहिए।

जहाँ दोनों धातुओं की संज्ञाओं में अन्तर है वहां दोनों के अर्थ में अन्तर नहीं, यदि है तो अत्यन्त सूक्ष्म। आर्य की गति नैमित्तिक है जब कि गाय की गति स्वाभाविक है।

अथ अवि-मेधः

पश्वलाम्भन क्रम में चौथा स्थान ग्राम्यपशु **अवि** का है। हमने **अवि** पशु को **वैश्य** वर्ण का प्रतिनिधि माना है, आचार्य द्वारा वर्णात्मापुरुष के उदर भूत वैश्य में अविपशु के समग्र रूप को संक्रान्त करना **अविमेध** है। सूत्र-ग्रन्थों में अविमेध का वर्णन न के बराबर है, अतः यही कहा जा सकता है कि अवि के नैसर्गिक गुणों का सब प्रकार सब ओर से आलम्भन कर समाज और मानवोपयोगी बना देना तथा उन गुणों को तत्प्रतिनिधि भूत वैश्य में संक्रान्त कर देना **अविमेध** है।

अविमेध को समझने में अवि की **ऊर्णायु** संज्ञा सहायक हो सकती है ऊन ही जिसकी आयु है, उस अवि को **ऊर्णायु** कहते हैं। ऊर्ण शब्द का प्रसिद्ध अर्थ **ऊन** है और ऊर्णुञ् आच्छादने धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका स्पष्ट अर्थ है **आच्छादन, वसन, वस्त्र** ऊन वह आच्छादन है, कि जो स्वयं भेड़ की आयु का भी कारण है और अन्य प्राणियों की आयु का भी। भेड़ की आयु=जीवन को हानि न पहुंचाते हुए

ऊन ले लेना **अविमेध** है अर्थात् शीत ऋतु में उसकी ऊन न लेना जबकि उसके लिए आच्छादन का काम देती हो और ग्रीष्मादि ऋतुओं में ऊन ले लेना जो शेष पशुओं के आच्छादन का साधन बन सके अन्य प्राणियों की आयु का हेतु। निस्सन्देह शेष ग्राम्यपशु पुरुषपशु के भोग्य हैं और वह उनका भोक्ता है, परन्तु भोक्ता पुरुष का कर्तव्य है कि किसी भी प्राणी के **जाति, आयु, भोग** को हानि पहुंचाए बिना भोग ले, अन्यथा न ले। भेड़ का **ऊर्णायु** नाम ही पुकार-पुकार कर कह रहा है, कि मेरी ऊन ही मेरी आयु है, मेरा जीवन है, इसलिए मेरी आयु में बाधा न डालते हुए ऊन का उपभोग कर सकते हो, जिससे मेरी ऊन तुम्हारी आयु अर्थात् जीवन का हेतु बन सके। बस भेड़ को प्राप्त करते समय सब प्रकार सब ओर से ऊर्णायु की ऊन का स्पर्श द्वारा उसकी लम्बाई और कोमलता का निरीक्षण करना अवि **आलभन** है। उन बालों में अमेध्य भाव की हिंसा करते हुए भेड़ की मेधा अर्थात् आयु की रक्षा करते हुए मेध्य हवि रूप ऊन को पुरुषपशु और अन्य प्राणियों के लिए उपयोगी बना देना **अविमेध** है।

रात-दिन पशुविशेषज्ञ परीक्षणरत रहकर हर पशु की नैसर्गिक शक्ति का सर्वत: सर्व प्रकारेण आलम्भन कर उसके नैसर्गिक गुणों को बढ़ाकर उपयोग ले रहे हैं, यह **पशुमेध** ही तो है। यदि अवि-पशु की ऊन पैदा करने की नैसर्गिक सामर्थ्य का **सर्वतः सर्वप्रकारेण** निरीक्षणकर उसकी नस्ल को सुधारने और ऐसा बनाने के निमित्त [कि भेड़ की ऊन लम्बी हो और कोमल भी हो] एक प्रदेश की भेड़ का अन्य प्रदेश की भेड़ से संगमन कराना भी वैदिक याज्ञिकों की परिभाषा में **अविमेध** ही है।

भेड़ और बकरी लघुकाय होने से ऊंची से ऊंची चोटी तक पहुंचकर कट्वम्लतिक्तकषायरस-युक्त ओषधियों का सेवन करती हैं, जिससे उनका दुग्ध अत्यन्त उपयोगी होता है, आयुर्वेद विशेषज्ञ यदि उनका, उनके दूध का, और उनके दूध में किस ओषधि के किस गुणधर्म का संगमन हुआ है, इसका सर्वतः सर्व प्रकारेण निरीक्षण कर उन नैसर्गिक पशुभावों को प्राप्त करते हैं तो यह भी **पश्वालम्भन** ही है। न केवल उनके दूध का ही परीक्षण करना पर्याप्त है, अपितु उनके दूध में किन ओषधियों का गुण संक्रान्त हुआ है, यह जानना भी **पशुमेध** है।

आयुर्वेद के ज्ञाता भिषक् इनका अनुगमन कर वनों, अरण्यों में, पर्वतों की ऊंची चोटियों तक पहुंचकर नई-नई ओषधियों का ज्ञान लाभ कर सकते हैं यह जो ओषधि+आलभन हुआ तो यह भी भेड़-बकरी के माध्यम से हुआ उस दिशा में भी इन पशुओं ने मार्गदर्शक का काम किया उनकी नैसर्गिक घ्राण और रसन शक्ति के माध्यम से ओषधि प्राप्त कर लेना भी तो **आलभन और मेधन** ही है।

ग्राम्य पशु न केवल ओषधि आदि के आलम्भन में ही मार्ग-दर्शक का काम करते हैं, अपितु कौन सी भूमि, कृषि और ग्राम बसाने के योग्य है उसमें भी पथप्रदर्शन करते हैं। गवादि ग्राम्य पशु क्षुधा और तृषा की निवृत्यर्थ स्वत: ही [अपनी नैसर्गिक शक्ति के आधार पर] उन स्थलों का पता चला लेते हैं कि जहां पेय जल और भोज्य ग्रास [grass] का प्रबन्ध है, उनका अनुगमन करके पुरुष-पशु भी ऐसे स्थलों को ही कृषि और आवास का स्थान बना लेते हैं।

उक्त सभी कार्य [१] पशु-पालन [२] कृषि [३] आवास निर्माण [४] ओषधिनिर्माण [५] ओषधिनिर्यात [६] अन्नादि का उत्पादन [७] ऊनआदि का निर्यात [८] वाणिज्य [९] व्यापार [१०] आच्छादन कार्य, वैश्य के लिए विहित हैं, अतः हमने उक्त सभी बातों का प्रतीक मानकर **अवि को वैश्य** वर्ण का प्रतिनिधि माना है।

अविपशु में अपनी ऊन द्वारा रक्षा करने की सामर्थ्य तो निश्चित ही है, यही काम वैश्य का भी है। **वैश्य** को सूक्त में **ऊरु** और **मध्य** अवयव स्वीकार किया है यहीं **उदर** और **शिश्न अर्थ** और **काम** के केन्द्र स्थापित किए हैं जिन्हें गुह्य अङ्ग माना जाता है। इसलिए वैश्य को गुप्त संज्ञा दी गई है, जिसका अर्थ रक्षा करना है, अतः वैश्य रक्षार्थ आच्छादन दे, और आच्छादन का नैसर्गिक प्रवन्ध परमात्मा ने ग्राम्य पशु को ऊन से युक्त करके तथा पृथिवी रूपी आवि को कपास से युक्त करके दिया है, अतः दोनों प्रकार के आच्छादन के साधन **ऊन** और **कपास** का अधिपति वैश्य को ही वनाया गया। मनु के **कृषि** और **गोरक्षा** शब्दों में यही रहस्य निहित है।

सर्वातिशायी पुरुष ने प्रत्येक जीव के लिए त्रिविध आच्छादनों का प्रवन्ध किया है, जिन्हें हम जीव के तीन [स्थूल, सूक्ष्म और कारण] शरीर कहते हैं। इन तीन प्रकार के आच्छादनों का प्रवन्ध तीनों वर्णों को करना होता है। कारणदेह [मस्तिष्क] के आच्छादन का ब्राह्मण को, सूक्ष्म देह [हृदय] के आच्छादन का क्षत्रिय को, और स्थूलदेह [उदर] के आच्छादन का वैश्य को। शरीर में किसी घाव के लगने पर जो अन्दर से भरने का प्रवन्ध हो रहा होता है वह प्राण रूप क्षत्र द्वारा क्षतत्राण है परन्तु उस पर बाहर से टाँके आदि अथवा वस्त्र आदि द्वारा आच्छादन देना, वैश्य का कर्तव्य है, यतः वैश्य समाज के आच्छादन का प्रवन्ध करता है, अतः हमने भेड़ को वैश्य पशु और वैश्य का प्रतिनिधि माना है। यह हुआ अविमेध पर विचार हमारे इस प्रयत्न से यदि श्रौत ग्रन्थों में विहित **अविमेध** का रहस्य समझा जाएगा तो अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

अ थ अ ज - मे धः

पश्वालभन में अन्तिम स्थान अज पशु का है, हमने **अज** पशु को **शूद्र** वर्ण का प्रतिनिधि माना है; उसका कारण अति स्पष्ट है कि यह **पशु** भी **अज** है और **शूद्र** भी [विद्यातः जन्म न पा सकने के कारण] **अज** है। अज पशु में भी सभी पशुओं के रूप संक्रान्त रहते हैं, शूद्र में भी सभी वर्णियों के गुणधर्म वीज रूप में विद्यमान रहते हैं; अज के विषय में शतपथकार का वचन है **'अजे हि सर्वेषां पशूनां रूपम्'**[1]। वकरे की मूछें पुरुष जैसी होती हैं, कान गधे जैसे, मुख घोड़े के समान होता है।[2] इसी प्रकार शूद्र में अनसूया ब्राह्मण जैसी तपस्या, क्षत्रिय जैसी शुश्रूषा [श्रोतुमिच्छा] सुनने की इच्छा वैश्य की सी होती है। आचार्य द्वारा शूद्र [कुमार ब्रह्मचारी] की इन्हीं नैसर्गिक शक्तिओं का सर्वतः सर्व प्रकारेण निरीक्षण कर प्राप्त कर लेना आलम्भन है, तदनुकूल सम्यक् ज्ञान युक्त कर देना **संज्ञपन** है और समाज, राष्ट्र, तथा विश्व के लिए उपयोगी बना देना **मेधन** है।

अज-पशु—

यथा प्रत्येक पशु में नैसर्गिक शक्तियां हैं तद्वत् **अज** पशु में भी हैं। अजपशु सरलता और चञ्चलता का अद्भुत समन्वय है, इसीलिए अजपशु को नव प्रवेशार्थी कुमार ब्रह्मचारी का प्रतीक माना है। वालक भी सरलता और चञ्चलता का अद्भुत समन्वय है। अज' संज्ञा जिस चतुष्पादपशु की परिचायिका है वह पशु के नैसर्गिक गुण के कारण है। अज में अर्थात् वकरे में दो वातें विशेष हैं— एक **गतिशीलता** दूसरी **क्षेपणशीलता** – जो वस्तु गति में वाधक हो उसे झटक देना, फेंक देना। प्रायः वकरे के खुरों के मध्य कीचड़ अथवा कंकड़ के आने से गति में अवरोध आता है, तो वह तत्काल झटककर कीचड़

१. शत० ६.५.१.४

२. काठ० १३.१

अथवा कंकड़ को फेंक देता है। प्राय: चंचल बालकों में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि उनकी गति में जो भी रुकावट आयी कि उसे वह झटककर हटा देना चाहता है, अत: इन विशिष्टताओं के कारण पशु-विशेष की संज्ञा वेदों में **'अज'** थी। उसके गुण-विशेष का अध्ययन कर पाणिनि मुनि ने **'अज गतिक्षेपणयोः'** धातु का निर्माण किया। बकरे की **सरलता, चंचलता, गति** और **क्षेपणशीलता** रूप पशुभाव का सब प्रकार का निरीक्षण कर प्राप्त करना **'अजालम्भ'** है, बकरे को प्रशिक्षण द्वारा मानवोपयोगी बनाना उसका **'संज्ञपन'** है, उसके पशु भाव में विद्यमान अमेध्य भाव की **हिंसा पशुहिंसा** है और मेध्य-भाव को मनुष्य-जीवनोपयोगी बनाना **अजमेध** है।

अज और नवप्रवेशार्थी छात्र—

नव प्रवेशार्थी बालक की संज्ञा **अज** है। आचार्य द्वारा घूम-फिर कर **अज** प्रकृति वाले बालकों को ढूंढ निकालना **आलम्भन** है। बालक में **अजवत्** वर्त्तमान पशुभाव को प्रशिक्षण द्वारा **मेध्य** बनाकर समाजोपयोगी बनाना पशु **'संज्ञपन'** और **'पशुमेध'** है। उसे **अज** से **द्विज** बनाना अभिप्रेत है। इसका वर्णन यजुर्वेद के मन्त्र[1] में किया गया है जो कि शिक्षाशास्त्र के गंभीर रहस्यों का विधायक है। याज्ञिकों ने उसका पशुबलि में विनियोग कर विवेक-शून्यता का परिचय दिया है। वहां वर्णन है कि याज्ञिक लोग निरीह **'अज'** पशु को बांध कर यज्ञशाला की ओर ले जाते हैं; फिर **विशकलन** करते हैं। आचार्यपत्नी उसके अंग-अंग को धोती है और यज्ञ में हवि देने के उपरान्त उसके प्रत्येक अंगोपांग के आप्यायन करने की प्रार्थना की जाती है। यही वह प्रकरण है जिसमें पशुयागवादी यज्ञों में पशु-आलम्भन [पशुहिंसा] मानते हैं।

विद्यामार्त्तण्ड पं० बुद्धदेव विद्यालंकार ने इस प्रकरण का बहुत युक्तियुक्त विवेचन किया है। यहां उनके भाव उन्हीं के शब्दों में दिए जाते हैं—

अजमेध और पशुयागवादियों का भ्रम—

'पशुयागवादियों के मतानुसार बकरी के बच्चे को जब संज्ञपन अर्थात् मारने के लिए ले जाते हैं तो उसे फांसी लगाकर मारते हैं। उस समय मन्त्र पढ़ते हैं—**'ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रति मुञ्चामि'**[2] अर्थात् हे देवताओं की हवि! तुझे हम **ज्ञान के पाश** से बांधते हैं। यह गला घोंटना ज्ञान का पाश कैसे हुआ? विचारणीय बात यह है कि यहाँ प्रकरणानुसार **सम्यक् ज्ञान** देना—अर्थ ठीक हुआ या गला घोंटना। फिर मन्त्र पढ़ते हैं — **अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनुभ्राता सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः।**[3] हम अब तुझे मारेंगे, तेरे माता, पिता सहोदर भाई और टोली के मित्र सब इस शुभ कार्य में अनुमति दें।

विचारणीय है कि पहले तो बकरी के बच्चे का इस प्रकरण में कहीं वर्णन नहीं। फिर यदि यहां छाग शब्द का प्रयोग मान भी लें, तो यह वर्णन छाग के समान विनय गुण वाले बालक का होगा। माता-पिता, सहोदर भाई और हमजोलियों से अनुमति मांगना उपहसनीय बात है, क्योंकि प्रथमत: बकरी के बच्चे के माता-पिता आदि का पता ही क्या? फिर उनमें अनुमति देने की शक्ति ही कहाँ? यदि उनमें अनुमति देने की शक्ति होती तो वे यजमान को ही सम्मति देते कि आप अपनी ही बलि देकर स्वर्ग क्यों नहीं चले जाते। अत: यहाँ प्रकरणविरुद्ध अर्थ करना अयुक्त है।

---

१. यजु० ६.८ २. यजु० ६.८ ३. यजु० ६.९

आगे चलिये। यजमान की पत्नी मरे हुए बकरे के अंग का स्पर्श करते हुए मन्त्र पढ़ती है " **वाचं ते शुन्धामि, प्राणं ते शुन्धामि, श्रोत्रं ते शुन्धामि, नाभिं ते शुन्धामि, मेढ्रं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि, चरित्राँस्ते शुन्धामि**।"[1]

'हे बकरी के बच्चे ! मैं तेरी वाणी को शुद्ध करती हूं, प्राण को शुद्ध करती हूं, चक्षु को शुद्ध करती हूं, श्रोत्र को शुद्ध करती हूं, नाभि को शुद्ध करती हूं, उपस्थेन्द्रिय को शुद्ध करती हूं, गुदा को शुद्ध करती हूं और तेरे चरित्र को शुद्ध करती हूं।' यह चरित्र शुद्धि तो जीवित बकरे की भी असम्भव है, मरे का तो कहना ही क्या ? अगले मन्त्र में तो मरे हुए बकरे को आशीर्वाद देते हैं—'**वाक् त आप्यायताम्, प्राणस्त आप्यायताम्, चक्षुस्त आप्यायताम्, श्रोत्रं त आप्यायताम्**।[2]

हे मरे हुए बकरे ! तेरी वाणी फले-फूले, तेरे प्राण फलें-फूलें, तेरे चक्षु फलें-फूलें, तेरे श्रोत्र फलें-फूलें और '**शमहोभ्यः**' तेरे दिन सुख-शान्ति से बीतें।'

अजमेध और शौच-शिक्षा—

यदि दुर्जन-तोष न्याय से **संज्ञपन** शब्द के **मारना** [प्राण-वियुक्त करना] और **सम्यक्-ज्ञान** देना दोनों ही अर्थ मान लिए जाएं तो देखना यह होगा कि प्रकरण में कौन अर्थ संगत बैठता है। '**संज्ञपन**' का अर्थ विद्यादान मानने से अर्थ इस प्रकार हुआ…"हे विनीत बालक ! आज घर से गुरुकुल के लिए विदाई देते समय, हम तुझे ज्ञान के पाश [विद्यासूत्र] से बांधते हैं। माता-पिता, सहोदर भाई, टोली के साथी सब तुझे प्रसन्न होकर गुरुकुल के लिए विदा करें। (गुरुकुल पहुंचने पर) गुरुपत्नी कहती है—'मैं तेरी वाणी को शुद्ध करती हूं, प्राण शुद्ध करती हूं, नेत्र शुद्ध करती हूं, कान शुद्ध करती हूं, नाभि शुद्ध करती हूं, उपस्थेन्द्रिय शुद्ध करती हूं, गुदा शुद्ध करती हूं और इस प्रकार सब इन्द्रियों की शुद्धि और सदुपयोग सिखा कर मैं तेरे चरित्र को शुद्ध करती हूं'। फिर '**अज**' बालक के **विद्यातः द्विज** बन जाने पर अर्थात् स्नातक होने के समय **ऋत्विक्** लोग उसे आशीर्वाद देते हैं—तेरी वाणी फले फूले, तेरे प्राण फले फूलें, तेरे चक्षु फले फूलें, तेरे कान फले फूलें, तेरे दिन सुख से बीतें।"[3]

इस प्रकार यह वैदिक '**अजसंज्ञपन**' का संक्षिप्त वर्णन हुआ। वेद में जहाँ भी इस प्रकार के शब्द हैं उनमें जीवनोपयोगी उदात्त भावनाएं अन्तर्निहित हैं। वेद में कहीं भी यज्ञ में पशुहिंसा का प्रतिपादन नहीं है।

जीवित पदार्थ और देवों की हवि—

जब तक शतपथ का '**जीवं वै देवानां हविः**'[4]—'जिन्दा ही देवताओं का हवि हो सकता है मुर्दा नहीं'—यह वाक्य विद्यमान है तब तक प्रयत्न करने पर भी यज्ञ में पशु-हिंसा सिद्ध नहीं हो सकती।

जहि' 'मारय' आदि प्रयोगों का अभाव—

इसके अतिरिक्त सारे वैदिक वाङ्मय में पशुयागवादी एक स्थान पर भी **पशुम् मारयन्ति**'

---

१. यजु० ६.१४. २. यजु० ६.१५.

३. विद्यामार्त्तण्ड बुद्धदेव विद्यालंकार-कृत 'किस की सेना में भरती होंगे कृष्ण की या कंस की ?' पृ० १३–१५

४. शत० ब्रा० ३.८.२.४.

अथवा प्राणैर्वियोजयन्ति' ऐसा वाक्य नहीं दिखा सकते। हाँ इसका उलटा तो अवश्य उपस्थित है। **तन्नाह जहि मारयेति मानुषं हि तत्, संज्ञपयान्वगन्निति तद्धि देवत्रा, स यदाहान्वगन्निति-एर्तांह ह्येष देवाननु गच्छति तस्मादाहान्वगन्निति ॥**[1]

—पशु के संज्ञपनकाल में '**जहि मारथ**', ये शब्द नहीं कहे जाते क्योंकि यह मनुष्यों का व्यवहार है। उस समय ये शब्द बोले जाते हैं—'**संज्ञपय**', '**अन्वगन्**' इत्यादि। क्योंकि '**संज्ञपन**' के द्वारा यह देवों का **अनुगामी** बन जाता है। इसीलिए कहा '**अन्वगन्**'।

यह सचमुच बड़ी विचित्र बात है कि '**पशुयाग**' में '**संज्ञपन**' और '**आलम्भन**' शब्दों का ही व्यवहार होता है, '**मारण**" का कहीं नहीं।

उत्तरकाल में पशुहिंसा-सम्बन्धी वाक्यों का प्रक्षेप—

जहाँ कहीं भी वैदिक वाङ्मय में पशुहिंसा-सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध होता है वहाँ जिह्वा-लोलुप सुरामांस सेवी तथाकथित याज्ञिकों के प्रक्षेप की लीला की ही दुरभिसन्धि समझनी चाहिए। यह प्रक्षेपलीला महाभारत से पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। अतएव महर्षि व्यास ने ऐसे **वेदघातक** लोगों को **धूर्त्त** कहकर उनके इस जघन्य कर्म की निन्दा की है—

मद्यं मत्स्यान् सुरां मांसमासवं कृशरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥
सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्। कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥[2]

आचार्य सायण की सत्योक्ति —

अपनी वैदिक व्याख्याओं में यज्ञिय पशु-हिंसा के परंपरानुसारी समर्थक चतुर्वेदभाष्यकार आचार्य सायण को भी अन्ततः इस सत्य को स्वीकार करना ही पड़ा। यज्ञशाला के इस मनघड़न्त पशु-मारण से उद्विग्न होकर सायणाचार्य ने उन हिंस्रस्वभावी याज्ञिकब्रुवों को यज्ञलम्पट कहकर धिक्कारते हुए घोषणा की है—'**अस्मिन् सूक्ते पुरुषस्यार्थान्मनुष्यस्य माहात्म्यं वर्ण्यते। तच्च तद्भिन्नभिन्नावयवान् को देवोऽकरोदित्यादिप्रश्नरूपेण तत्तत्प्रश्नानामुत्तररूपेण च। यज्ञलम्पटाः साम्प्रदायिकास्तु एतत्सूक्तं पुरुषमेधे विनियोजयन्ति।**'[3]

इस प्रकार ग्राम्य पशुओं के पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अजा का आलम्भन, संज्ञपन और मेधों का वर्णन करने के उपरान्त संक्षेपतः **वायव्य** और **आरण्य** पशुओं के **आलम्भन** का क्या उद्देश्य है, सूक्त में **वायव्यान् आरण्यान्** कह कर उनके स्मरण करने का क्या प्रयोजन है, यह दिखाते हैं।

आश्रमात्मा के आदर्श मान—

हमारी स्थापना है कि पुरुष-सूक्त में जहाँ **वर्णात्मा पुरुष** के निर्माण का स्पष्ट उल्लेख है, वहाँ **आश्रमात्मा पुरुष** के निर्माण का मात्र संकेत है। पशुओं के त्रिविध **वायव्य, आरण्य** और **ग्राम्य** मान चतुर्धा आश्रमों के लिए आदर्श हैं। प्रश्न है कि क्या चतुर्धा आश्रमों के लिए त्रिधा पशु आदर्श हो सकते हैं? उत्तर में निवेदन है कि यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो चतुर्धा विभक्त आश्रम भी तो अन्ततः तीन ही में सिमिट जाते हैं। **प्रथमाश्रमी** और **तृतीयाश्रमी** का आवास स्थान गृह न रहकर **अरण्य** होता है। अतः दोनों के लिए **आरण्य** पशु आदर्श हैं; बच गये **गृहस्थ** और **संन्यास**। **गृहस्थ** के लिए **ग्राम्य** पशु आदर्श हैं और **संन्यास** के लिए **वायव्य** पशु। तैत्तिरीय आरण्यककार का कथन है कि "**असमै वै लोकाय ग्राम्याः**

---

१. शत० ब्रा० ३.८.१.१५. २. म० भा० १२.२५७.६-१० ३. अथर्व०। सा० भा० १०.२.

पशवः आलभन्ते, अमुष्मा आरण्याः"[1] **अस्मै** से अभिप्राय **पृथिवी** लोक है और **अमुष्मं** से द्युलोक और फिर **गृहस्थ** की वैदिक संज्ञा **पृथिवी** लोक है और **वानप्रस्थ** की वैदिक संज्ञा **द्युलोक**। गृहस्थाश्रमी **ग्राम्य** पशु की भांति **सामाजिक**[2] पशु है तो **वानप्रस्थ आरण्य** पशु की भांति **एकान्तसेवी**। जिस प्रकार **आरण्य** पशु एक दूसरे से छुपे रहते हैं[3] वैसे ही **वानप्रस्थ** भी गृहस्थों से छुपे हुए से रहते हैं। शतपथ में वानप्रस्थ की एक संज्ञा **पितर** है और पितरों के लिए कहा है **"तिर इव वै पितरा भवन्ति"** पितर लोग ग्राम्य व्यक्तियों से छुपे हुए से रहते हैं; इसीलिए हमारी स्थापना है कि **आरण्य** पशु **वानप्रस्थ** का प्रतीक होकर आया है।

[वायव्य] पशुमेध और संन्यास—

संन्यासी के लिए **वायव्य** पशु आदर्श हैं। **संन्यासी** की वैदिक संज्ञा परम हंस है। अतः परम हंस के लिए **वायव्य** पशु आदर्श न होंगे तो कौन होंगे ? **वायव्य** पक्षियों के अध्ययन से ही यह जाना जा सकता है कि वायु के सहारे वह अपने को कितना हलका कर लेते हैं कि जो ऊँची से ऊँची उड़ान भरते हैं एवं उनके दीर्घजीवी होने का क्या रहस्य है ? संभवतः **संन्यासी** को **परमहंस** कहने का यही कारण है कि संन्यासी आकाशचारी पक्षी की भांति स्वच्छन्द और निर्द्वन्द्व उड़ान भरता है। वह सीमा में आवद्ध नहीं रहता। संन्यासी को परिवार, प्रान्त, देश और राष्ट्र की सीमाएं नहीं वांध सकतीं, उसे पर्वतीय और समुद्रीय सीमाएं भी नहीं वांव सकतीं। वह इन वंधनों से ऊपर उठकर असीम आकाश में उड़ान भरता है, वह वेद के शब्दों में **"विश्वमानुष"** हो जाता है, विश्व का सदस्य हो जाता है, वह परमहंस हो जाता है या तो वह मानसरोवर पर मुक्ताफल चुगता है या फिर सर्वत्र नीरक्षीर-विवेक करता हुआ भ्रमणरत रहता है। **वायव्य पक्षी हंस** भी **परिव्राद्** और **संन्यासी परमहंस** भी **परिव्राद्**। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि व्यक्ति को परमहंस [संन्यासी] वनने के लिए वायव्य पशुओं का आलभन करना चाहिए।

[आरण्य-पशु] मेध और वानप्रस्थ—

वानप्रस्थ और **ब्रह्मचारी** के आदर्श **आरण्य** पशु हैं। इन दोनों का निवास 'ग्राम' न होकर अरण्य होता है। जहां **वायव्य** पशु स्वच्छन्द विहारी हैं, **ग्राम्य** पशु संघविहारी हैं वहां **आरण्य** पशु एकान्त विहारी हैं, वन में प्रकृष्टतया स्थित रहने वाले। इनका अपना निश्चित क्षेत्र है, जिसका उल्लंघन करना उनके लिये निषिद्ध है। जहाँ दोनों के लिए घर छोड़ना अनिवार्य है वहां दोनों के लिए वन में प्रकर्षतया स्थित रहना भी अनिवार्य है। **ब्रह्मचारी** घर छोड़ता है **अध्ययन** के लिए और **वानप्रस्थ** घर छोड़ता है **अध्यापन** के लिए। दोनों एक दूसरे के आधार, एक दूसरे के पूरक, एक दूसरे के आश्रित, अध्ययनाध्यापन के ये दोनों घटक **अन्तेवासी** और **आचार्य** नाम से सम्बोधित किए जाते हैं। वैदिक शिक्षापद्धति में तो अन्तेवासी आचार्य का गर्भ ही होता है **"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः"** आचार्य यदि **गृभी** है तो अन्तेवासी **गर्भ** है, इसलिए हमने लिखा था कि प्रथमाश्रमी तृतीयाश्रमी में सिमिट जाता है। व्यक्ति के प्रथम जन्मदाता माता-पिता को जैसे गृह में स्थित रहना होता है उसी प्रकार व्यक्ति के द्वितीय जन्मदाता आचार्य को अरण्य में प्रकृष्टतया स्थित रहना होता है। स्वयं भगवती श्रुती ने भी कहा है—**"उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत"** पर्वतों की तलहटियों और नदियों के संगम पर स्थित आश्रमों में [धिया] विद्यामाता की कुक्षि से विप्र का जन्म होता है। अतः वानप्रस्थ

---

१. तै० आ० ३.९.३.१ २. ग्राम्याः पशव अविरिव शान्ता इव, का० २९.८

३. आरण्या पशवो गुहेव निलायमिव, प्रलायमिव चरन्ति। का० २९.८

व्यक्ति के निर्माण के लिए आरण्य-पशु का आलम्भन करे।

यज्ञ कोई साधारण वस्तु नहीं। वह तो प्रजाओं के जीवन में ओत-प्रोत है। विश्व-निर्माता ने अपने **'सर्वहुत् यज्ञ'** रूप से ही प्रजाओं का निर्माण किया है। अत एव प्रत्येक जीवन, यज्ञ का ही रूप है। प्रजापति ने स्वयं अपनी आहुति डाली तो वह विश्वरूपी यज्ञ चला और चल रहा है। पुरुष-सूक्त में **'यज्ञ'** की यह **विराट्** व्याख्या वर्णित है। उसमें विविध प्रकार से विश्व की रचना को, जिसमें मानव [दशांगुल] पुरुष भी सम्मिलित है यज्ञ कहा गया है। वह सर्वहुत् प्रजापति समस्त भुवनों की आहुति इस यज्ञ में डाल रहा है। वह इससे अपने लिए कुछ नहीं चाहता। वह तो केवल यज्ञ की पूर्ति चाहता है। वह चाहता है कि यज्ञ का घूर्णमान चक्र रुके नहीं, सतत चलता रहे। प्रत्येक व्यक्ति उस यज्ञ की कड़ी बन जाए।

सर्वहुत् प्रजापति ने **ब्रह्माण्ड** और **पिण्ड** [दशांगुल पुरुष] का निर्माण कर यजमान का आसन रिक्त कर दिया और पुरोहित का आसन ग्रहण कर लिया। यजमान के रिक्त आसन पर **'दशांगुल पुरुष'** आसीन हो गया और उसने व्रत लिया कि मैं अपनी [व्यक्ति] सर्वाहुति देकर समाज और राष्ट्र-यज्ञ का सम्पादन करूंगा। देव की पूजा करूंगा, समान वय और समान योग्यता वालों से संगति करूंगा और अपने छोटों के प्रति दान करूंगा। मैं अपने को किसी भी बृहत् यज्ञ का आधार बनाऊंगा। व्यक्ति को परिवार-यज्ञ का और परिवार को समाज-यज्ञ का, समाज को राष्ट्र-यज्ञ का, राष्ट्र को विश्व-यज्ञ का. विश्व-यज्ञ को सर्वहुत् यज्ञ का आधार बनाऊंगा और सर्वहुत् प्रजापति पुनः उस हवि को सहस्र-गुणित करके लौटा देंगे, इस प्रकार यज्ञ-चक्र चलता रहेगा।

चींटी से लेकर मनुष्य-पर्यन्त सभी व्यक्ति विश्वयज्ञ के घटक हैं, उसकी कड़ी हैं वे परस्पर एक दूसरे की भावना करते हुए परम श्रेय को प्राप्त होवें। इस परस्पर भावना का मूल सूत्र यह है कि "जिससे कुछ ले" उसे किसी न किसी रूप में अवश्य लौटा दे।" यदि व्यक्ति इस मूल सूत्र को छोड़ देगा तो यज्ञ का विघात होगा। अन्त में भगवान् श्री कृष्ण के शब्दों में यही कहेंगे—

"एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।"[1]

इस यज्ञचक्र की शृंखला कहीं भंग हुई तो यज्ञ भंग हुआ समझिए। पुरुष-सूक्त-गत **"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः"** इत्यादि मन्त्रों में बताए हुए चक्र को, जो अपने जीवन में, तदनुसार आचरण द्वारा नहीं आवर्तित करता उस इन्द्रियाराम पापबुद्धि व्यक्ति का जीवन व्यर्थ है।

---

१. भ० गी० ३.१६

षष्ठ अध्याय

सर्गोदय

तृतीय और चतुर्थ अध्याय में क्रमशः परमतत्त्व पुरुष और प्रकृति तत्त्व का दार्शनिक विवेचन हुआ है, तदुपरान्त पञ्चम अध्याय में पुरुष और प्रकृति के संगतीकरण का, जिसके परिणाम स्वरूप पुरुष की संज्ञा सर्वहुत हुई, पुरुष ने प्रकृति को आहुति बनाया और उसके प्रत्यावर्तित होते ही सर्गोदय हुआ इस षष्ठ अध्याय में प्रस्तुत है सर्गोदय क्यों और कैसे ?

संप्रश्न

मानव ने अभी आंखें खोलीं ही थीं कि उसे विराट् के ललाट पर एक संप्रश्न उभरा हुआ नज़र आया 'किम्' ? इस विश्व का **आरम्भण** या **उपादान** कौन था ? इसका **निमित्त** कैसा था ! **अभण** कौन था ? और इसका **अधिष्ठान** अर्थात् **आलम्बन** कौन था ?[1] वह मानव ठोड़ी को हाथ पर सहारा दिए समाधान की खोज में था, कि नया संप्रश्न गूंज उठा कि 'बताओ ? वह कौन-सा **वन** था ? कौन-सा **वृक्ष** था, जिससे **द्युलोक** और **पृथिवी** लोक का **तक्षण** हुआ ?[2] 'कौन कहां गतिमान था ? किसकी शरण थी ? क्या उस समय **जल** और गम्भीर सागर थे' ?[3] उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उसने देखा कि संप्रश्न रूप सुरसा का जन्म और अधिक विकसित हुआ जा रहा है तथा चित्रपट की भांति प्रश्न पर प्रश्न उभरते आ रहे हैं—'कौन जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से आई ? स्वयं देव भी तो कभी इसके [जन्म के] बाद ही प्रकट होंगे। कौन जाने यह कहां से उत्पन्न हुई है ?'[4] उसने विस्फारित नेत्रों से देखा कि एक **'अतिप्रश्न'** भी उभर रहा है। उसने पढ़ा 'यह विसृष्टि कहां से उत्पन्न हुई है ? यह जन्मी भी है, यह नहीं ? परम व्योम में जो इसका साक्षी द्रष्टा है वही इसे जानता है।'[5]

अब उसका हाथ ठोड़ी पर से हटकर माथे पर आ टिका। उसे भय था कि कहीं इस **अतिप्रश्न** से उसका मूर्धापात न हो जाए। अन्ततः उसने **'अकस्मात्'** का सहारा लेकर कुशल मनायी। मैटरलिंक ने अपनी पुस्तक The Great Secret में कितने आश्वासन भरे शब्दों में इसी भाव को व्यक्त किया है—

---

१. किं स्विदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् ।—ऋ० १०।८१।२

२. किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।—ऋ० १०.८१.४

३. किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ।—ऋ० १०.१२९.१

४. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।—ऋ० १०.१२९.६

५. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥—ऋ० १०.१२९.७

"आइये सर्वप्रथम हम ऋग्वेद के उन मनीषियों की बात सुनें जिनके शब्दों में चिर-उपार्जित ज्ञान की प्रतिध्वनि निहित है। देखें किस प्रकार इस उग्र समस्या का समाधान उन लोगों ने किया है—

'न **सत्** था न **असत्**। न कोई आकाश था, न ही उसके परे कोई स्वर्ग। क्या गति हुई ? क्या नष्ट हुआ ? और किसके संरक्षण में ?......क्या मानवी साहित्य में खोजने पर भी ऐसे प्रश्नों के मिलने की सम्भावना है—जो इनसे अधिक आश्चर्यजनक, इनसे अधिक वेदनापूर्ण, इनसे अधिक ओजस्वी, इनसे अधिक निष्ठापूर्ण और साथ ही इनसे अधिक भयावह हों। जीवन-प्रवाह के आरम्भ में ही ऐसा कहा और इस प्रकार पूर्णतम विधि से मनुष्यों ने अपनी अज्ञता को एकान्ततः स्वीकार किया है। सहस्रों वर्षों से बढ़ने वाले हमारे गम्भीर **संशयों** और **संदेहों** की **परिधि** क्या और कहीं इतनी **विशाल** बन सकी है, जितनी कि यहां ? अब तक इस दिशा में जो कुछ कहा जा चुका है, उस सबको फीका कर देने वाले हमारे ये उषःकालीन वाक्य हैं, और कहीं ऐसा न हो कि इन जटिल संप्रश्नों के पथ पर चलते हुए, हम भविष्य में निराश हो बैठें; इसलिए **नासदीय-सूक्त** के ऋषि ने, **संशयवाद** के मार्ग में निर्भयतापूर्वक उससे भी कहीं अधिक कह डाला है, जितना कि हम भविष्य में कह पाएंगे। ऋषि यह पूछने में भी तो नहीं हिचकिचाया कि स्वयं ब्रह्म को भी इस सृष्टि का या अपने किये का ज्ञान है या नहीं।'[१]

इन **सम्प्रश्नों** का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं हो जाता, अपितु नासदीय सूक्त से ठीक अगले सूक्त में प्रश्न के लिए फिर मुख खुलता है और ऋषि पूछ बैठता है : **'कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानम्'**[२] इसकी **प्रमा** क्या थी ? किस **प्रतिमा** या नमूने को लेकर सृष्टिकर्ता ने इसका सूत्रपात किया ? किस

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत **'ऊरुज्योति'** से उद्धृत, पृ० ७-८

"Let us at once give ear to Rig-veda, the most authentic echo of the most immemorial tradition. Let us note how it approaches the formidable problem :

There was neither Being nor non-Being. There was neither atmosphere nor heavens above the atmosphere. What moved and whether ? and in whose care ? Were there waters ?......Is it possible to find in our human annals words more magastic, more full of solemn anguish, more august in tone, more devout, more terrible ? Where could we find at the very foundation of Life a completer and more irreducible Confession of.........ignorance ? Where from the depths of our agnosticism, which thousands of years have augmented, can we point to a wider horizon ? At the very outset it possess all that has been said and goes farther than we shall ever dare to go, lest we fall into despair, for it does not fear to ask itself whether the supreme Being knows what he has done-knows whether he is or is not the creator, and questions whether He has become conscious of Himself."

२. ऋ० १०.१३०.३

आयोजन या रचना-विधि का अनुसरण यहां किया गया ? पुनश्च किस **निदान** या उपकरण से इनकी रचना की गई ?

प्रश्नत्रय का उत्तर 'पुरुष' शब्द—

ये तीन महान् प्रश्न हैं जिनका समाधान पुरुष-सूक्त में सहासपूर्वक दिया गया है। **प्रमा** क्या थी, **प्रतिमा** क्या थी और **निदान** क्या था ? इन तीनों ही प्रश्नों का उत्तर एक ही सांस में दे दिया गया **'पुरुष'—पुरुष** ही इस विविध सृष्टि की **प्रमा** था; पुरुष ही इसकी **प्रतिमा** था; और पुरुष ही इसका **निदान** भी था।

प्रतिमा का अर्थ नमूना किया जा सकता है । ब्रह्माण्ड, जिसकी संज्ञा **'विराट् पुरुष'** है वह नमूना था, वह **प्रतिमा** था, जिसके अनुरूप रचयिता को तक्षण करना था और उसने उसके अनुरूप पिण्ड-पुरुष का तक्षण किया जिसे **प्रमा** कहा जा सकता है। अथवा इसे उलट कर भी कह सकते हैं कि **पिण्ड** ही वह **प्रतिमा** थी कि जिसके अनुरूप इस विशाल ब्रह्माण्ड अथवा **'विराट् पुरुष'** का तक्षण किया गया। दोनों ही प्रतिमा थीं और दोनों ही प्रमा। इन दोनों में इतना साम्य है कि युगों के चिन्तन स्वरूप परिणामतः, **'पिण्ड-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्'**, और **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** जैसी उक्तियां प्रसिद्ध हुईं। इनका निदान भी **'प्रकृति'** पुरुष ही था; और तीनों तत्त्वों की संज्ञा भी वेद में एक 'पुरुष' ही है।

गीता के 'पुरुषत्रय'—

गीता के शब्दों में **पिण्ड और ब्रह्माण्ड** की सम्मिलित संज्ञा **क्षर** पुरुष है; **पिण्ड** में शयन करने वाले पुरुष-की संज्ञा **अक्षर** पुरुष; और **ब्रह्माण्ड** में शयन करने वाले तथा सबके व्यवस्थापक एवं शासक की संज्ञा **अव्यय** पुरुष है।[1] इन्हीं तीनों में से **क्षर** अथवा **निदान** को दार्शनिक भाषा में **उपादान** कारण और **'अव्यय पुरुष'** को **निमित्त** कारण कहा जाता है ।

पुरुष-सूक्त में तीनों पुरुषों का उल्लेख—

किसी भी रचना में इन तीन पुरुषों [अनादि तत्त्वों] की परम आवश्यकता रहती है। सो उनका प्रतिपादन पुरुष-सूक्त के प्रथम मन्त्र में भी अपेक्षित था; और एक को **'सहस्रशीर्षाक्षपाद्'** पुरुष, दूसरे को **दशांगुल** पुरुष और तीसरे को **'इदं सर्वम्** पुरुष' कहा गया है, [जिसे प्रथम मन्त्र में **'भूमि'** शब्द से स्मरण किया गया है और जिसे शास्त्रों में **क्षेत्र**[2] भी कहते हैं]। इन्हीं तीनों का वर्णन **'पुरुष-मेधाध्याय** [यजु० ३१.१८] में अधिक स्पष्ट रूप से हुआ है : प्रथम के लिए **'महान्तं पुरुषं'**, द्वितीय [स्वयं भोक्ता] के लिए **'अहम्'** शब्द का प्रयोग हुआ है और तृतीय के लिए **'तमस्'** का।

इसी प्रसंग का ऋग्वेद सूक्त १६४ वें में पुनः आलंकारिक रूप से वर्णन हुआ है। 'एक वृक्ष है

---

१. **द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरमेव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥**
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्यूदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
भ० गी० १५.१६,१७

२. [क] गीता० १३.१
[ख] **क्षयणात् करणाच्चैव क्षतत्राणात् तथैव च ।भोज्यत्वाद् विषयत्वाच्च क्षेत्रं क्षेत्रविदो विदुः॥**
वा० पु० १०२.१११

जिस पर दो पक्षी बैठे हैं, उनमें से एक, उस वृक्ष के फल खा रहा है और दूसरा निःसंग भाव से देख रहा है। यहां वृक्ष इस जगत् का वाचक है, और दोनों पक्षियों में फल खाने वाला पक्षी **भोक्ता-पुरुष** का और निःसंग पक्षी **द्रष्टा पुरुष** का। शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र[1] में पैंगी-रहस्य-ब्राह्मण तथा पैंगी-उपनिषद् से क्षेत्रज्ञ विषयक दो श्रुतियां उद्धृत करते हैं—[१] पैंगी-रहस्य-ब्राह्मणेन अन्यथा व्याख्याततत्वात्—**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति—इति, सत्त्वम्। अनश्नन् अन्योऽअभिचाकशीति। अनश्नन् अन्योऽभिपश्यति—ज्ञः। तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ—इति। सत्त्व शब्दः जीवः, क्षेत्रज्ञः परमात्मा। तदेतत् सत्त्वम् येन स्वप्नं पश्यति। अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः, तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ इति।**

अर्थात्—उन दोनों में से एक फल को अच्छे प्रकार भोगता है। वह [भोक्ता] **सत्त्व** है। न खाता हुआ एक, सब ओर देखता है, वह [द्रष्टा] **ज्ञ** है। वे दोनों **सत्त्व और क्षेत्रज्ञ** हैं। वही सत्त्व है जिससे स्वप्न को देखता है। यह जो शरीर में 'देखने वाला' है, वह **क्षेत्रज्ञ** है। [२] **यदापि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेन... । सत्त्वं=प्रकृतिः । क्षेत्रज्ञो=ब्रह्म ।**

[१] 'प्रतिमा' पुरुष—

पुरुष-सूक्त में इन तीनों पुरुषों में से सर्वप्रथम सृष्टि के **निमित्त** कारण-भूत पुरुष का वर्णन हुआ है, जिसे **सहस्रशीर्षाक्षपाद्** से स्मरण किया गया है। लेकिन इस प्रकार का कथन उसकी योग्यता और सामर्थ्य की दृष्टि से हुआ है यह एकमात्र आलंकारिक वर्णन है; अन्यथा, **'अव्यय पुरुष'** में शीर्षाक्ष-पाद् की संभावना कहां ? तृतीय अध्याय के अन्तर्गत षोडशीपुरुष प्रकरण में **कामना, ईक्षण और तपरूप** तीन कलाओं का उल्लेख हुआ है[2] : जगत् के निमित्त कारण सर्वातिशायी पुरुष की सामर्थ्य अनन्त है—वह सहस्रशीर्ष है अर्थात् उसकी कामना अनन्त है; वह सहस्राक्ष है अर्थात् उसका ईक्षण अनन्त है; वह सहस्रपाद् है अर्थात् उसमें तप सामर्थ्य अनन्त है। इह लोक में उसके एक चरणगत समस्त प्राणियों में जो **कामना, ईक्षण और तप** दृष्टि-गोचर होता है, वह तो उसका एक अंश-मात्र है। इन समस्त भूतों की कामना, ईक्षण और तप में ह्रास की सम्भावना है,—क्षय की सम्भावना है, परन्तु सर्वातिशायी पुरुष के कामना ईक्षण और तप में किसी प्रकार का क्षर-भाव नहीं है वह तो द्युलोक में सदैव अमृत है।

[२] प्रमा पुरुष पिण्ड-पुरुष—

पुरुष-परिभाषा में भोक्ता [जीवात्मा] की स्थिति मध्यम पुरुष की है। सूक्त में मध्यम पुरुष को **दशांगुल** कहा गया है। दशांगुल विशेषण से मध्यम पुरुष **द्विपाद्** सिद्ध होता है; जिसमें ज्ञान और आनन्द रूप द्विपाद् के सम्मिलित होने से यह **दशांगुल** पुरुष भी **चतुष्पाद्** हो जाता है। दर्शन में 'मध्यम पुरुष' की सामान्य संज्ञा **'आत्मा'** है जो कि सततगमनार्थक **'अत्'** धातु[3] से निष्पन्न होता है, गमन के तीन अर्थ अति प्रसिद्धि हैं—**ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्चेति**। प्रत्येक गमन से पूर्व ज्ञान, और पश्चात् प्राप्ति अवश्यम्भावी है। इसी को हम **ज्ञान, प्रयत्न,** और **फल** कहते हैं। **फल** दो हैं—**भोग** और **अपवर्ग**। **भोग** का **'इह'** से सम्बन्ध है, और **अपवर्ग** का **'ऊर्ध्व'** से [पर से]; भोग का मर्त्य से और अपवर्ग का अमृत से। **कर्मात्मा** पुरुष के **प्रयत्न** और **भोग** [फल] इस लोक के **द्विपाद्** हैं; **ज्ञान** [आत्म ज्ञान] और **अपवर्ग** [फल] परलोक के **द्विपाद्** हैं। इस प्रकार कर्मात्मा पुरुष भी **चतुष्पाद्** हुआ।

भोग और **अपवर्ग** के लिए ही इस सृष्टि की रचना हुई है।[4] यदि दशांगुल पुरुष को भोग और

---

१. वे० सू० १.२.१२ तथा १.३.७ २. शो० प्र० १०५-१०७

३. **'अत सातत्यगमने'** भ्वा० ग० ३८

४. यथा चतुर्थ अध्याय में कहा जा चुका है **'भोगापवर्गार्थम् दृश्यम्'**। पृ० १७६

अपवर्ग की उपलब्धि न करानी होती, तो सृष्टि-रचना निष्प्रयोजन और निरुद्देश्य होती। इस कारण सृष्टि-रचना में निमित्तकारण 'सर्वातिशायी-पुरुष' का एवं उपादानकारण 'प्रकृति-पुरुष' का जितना योग-दान है, उतना ही भोक्ता=‘दशांगुल-पुरुष’ का भी है।

वेद के सृष्टि-रचना विषयक सूक्तों में **मन्यु-सूक्त** भी एक सूक्त है; जिसमें सृष्टि-रचना-विषयक वर्णन प्रश्नोत्तर रूप में बहुत ही रोचक हुआ है। इस प्रसंग में प्रथम और द्वितीय मन्त्र द्रष्टव्य है—

सृष्टि के आरम्भ में परब्रह्म ने अपने आपको बहुत रूप में उत्पन्न करने की कामना की। अपने को उत्पन्न करने के लिये **जाया** की आवश्यकता थी। सो उसने **सत्त्व-रजस्-तमस्** रूपा त्रिगुणात्मिका **माया** को जाया-रूप में वरण किया[1]। इस पर भी वह [युगल] सृष्टि-रचना में असमर्थ रहा। तब उसने [तृतीय तत्त्व] **'कर्मात्मा-पुरुष'** के अनुष्ठीयमान पुण्यापुण्यात्म कर्मों को फलोन्मुख पाया; तत्क्षण उसे भोगापवर्ग रूप फल भुगताने के लिये ब्रह्म ने सृष्टि रचना शुरू कर दी। इस बात का वर्णन उक्त सूक्त के द्वितीय मन्त्र में हुआ है—**तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे**[2]। **इस पर सायण लिखते हैं—तस्मिन् सृष्टि-समये स्रष्टुः परमेश्वरस्य तपः— स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मकम्। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' इति मुण्डके १।१।६—तस्य कर्म च प्राणिभिरनुष्ठितं पुण्यापुण्यात्मकं सुखदुःखफलोन्मुखं परिपक्वं कर्म च आस्ताम् अभवताम् -तपः कर्मणी एव सम्यगुपकरणत्वेन तस्मिन् समये अवस्थिते इत्यर्थः।** सर्गारम्भ में सृष्टि के निमित्त करणभूत परमेश्वर का **तप** जहां विद्यमान था, वहां **भोक्ता** प्राणियों के **कर्म** भी विद्यमान थे, और वे कर्म, सुख-दुःख रूप फलोपभोग के लिये उन्मुख थे। उन दोनों के मध्य स्थित **'एव'** शब्द जहां परमेश्वर के **तप** को प्रधानता दे रहा है, वहां दशांगुल पुरुष के **कर्मों** को भी प्रधानता दे रहा है। कदा-चित् सब कुछ होते हुए भी दशांगुल पुरुष के फलोन्मुख, [पुण्यापुण्यरूप, संचित] कर्म न होते तो सृष्टि-रचना असम्भव थी। मन्त्र के प्रश्न कर्ता ने पूछा था **'का प्रमा, प्रतिमा किं निदानम्'** ? इस प्रश्न के अन्तिम प्रश्न **'किं निदानम्'** का उत्तर यही है कि सर्गादि में जहां सृष्टि का निमित्तकारण भूत, कामना-ईक्षण-तप-युक्त **सहस्रशीर्षाक्षपाद्** पुरुष विद्यमान था; और जहां प्रलय कालीन महार्णव में परमेश्वर के सामर्थ्य से, प्रकृति अपनी **साम्यावस्था** में विद्यमान थी; वहां फल के लिये उन्मुख पुण्यापुण्यरूप संचित कर्मों से युक्त **दशांगुल पुरुष** भी विद्यमान था।

द्विविध चेतन—

न्यायदर्शनादि में आत्मा को द्विविध माना गया है : **'आत्मा-द्विधः आत्मा परमात्मा चेति'**। पुरुष सूक्त में भी चेतन पुरुष को द्विविध माना गया है। पुरुष-सूक्त की परिभाषा में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है : **पुरुषो द्विविधः—सहस्रशीर्षाक्षपाद् दशांगुलश्चेति।**

निदान पुरुष [तृतीय]—

अब तीसरे पुरुष [जिसे गीता ने **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** कहकर स्मरण किया है, और जिसे सूक्त में **'पादोऽस्य विश्वा-भूतानि'** कहा गया है,] का वर्णन अभीष्ट है। यही वह अंश है **क्षर-भाव** कहते हैं। इसका क्षर होना इन्हीं अर्थों में है कि विनाश के समय यह अपने कारण में 'प्र+लय' साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है, पुनः वही सृष्टि-रचना के समय 'विश्वाभूतानि' रूप में विकार को प्राप्त हो जाता है।

---

१. अथर्व० ११.८.१। सा० भा० पर आधारित। २. अथर्व ११.८.२,६

पुरुष सूक्त और प्रकृति पुरुष—

पुरुष-सूक्त में 'प्रकृति पुरुष' को विभिन्न नामों से स्मरण किया गया है। ये संज्ञाएं उसके क्रमिक विकास को दृष्टि में रखकर की गई प्रतीत होती है —

[१] भूमिः [२] इदम् सर्वम् [३] विश्वाभूतानि [४] विराट् [५] पृषदाज्य [६] तमस्

इनमें से कतिपय तत्त्वों का विशद-वर्णन चतुर्थ अध्याय में द्रष्टव्य है। यहां केवल-मात्र सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक जितना अंश अपेक्षित है, उसका वर्णन करेंगे।

भूमिः—

यह पृथिवी, जो हम सबकी प्रतिष्ठा है भूमि ही है। पुरुष-सूक्त में भूमि शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है—प्रथम पंचम एवं चतुर्दश मन्त्र में।

तमस् की वाचिका—

प्रथम मन्त्र में 'भूमि' शब्द उस प्रलयकालीन अवस्था की वाचिका है, जिसे नासदीय-सूक्त में **'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'** अथवा **'तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्'**[१] कहा है, और मनु के शब्दों में—**"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।"**[२]

वह अवस्था गूढ अन्धकार से आच्छादित थी, किसी प्रकार की तर्कना नहीं की जा सकती थी और जो कुछ था—सर्वथा अविज्ञेय था। जिस प्रकार यह भूमि आज सम्पूर्ण चराचर जगत् की प्रतिष्ठा है, वैसे ही यह समस्त कार्य जगत् की प्रतिष्ठा तब भी थी। सम्भवतः इस भाव से ही अथर्व श्रुति में उसे **प्रमा** कहा गया है।[३]

उपादान-तत्त्व की वाचिका—

अनेक विद्वानों ने **भूमि** को सृष्टि का उपादानतत्त्व भी माना है। रामानुजाचार्य ने अपने पुरुष-सूक्त भाष्य में **भूमि** का अर्थ **मूल-प्रकृति** किया है।[४] अहिर्बुध्न्य-संहिताकार ने तो स्पष्ट ही जगत् के **उपादान**भूत तत्त्व को **भूमि** माना है।[५] इस प्रकार **'भूमि'** सृष्टि-रचना विषयक उपादान सामग्री की भी वाचक है। उत्तर-नारायण-अनुवाकगत—**'तमसः परस्तात्'** मन्त्र चरण में **तमस्** शब्द **प्रकृति** का वाचक है।[६] इस प्रकार **'भूमि'** और **'तम'** दोनों ही एक अवस्था के द्योतक हैं। 'तम' शब्द तो इस बात का द्योतक

---

१. ऋ० १०।१२९।३ २. मनु० १.५ ३. [।] अथर्व० १०.७.३२

[।।] **'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमा'** के आधार पर भूमि को जगत् का मूल कहा जा सकता है : यथा वट-बीज वट रूप वृक्ष की सत्ता को माप देने से वृक्ष की 'प्रमा' है, उसी प्रकार कार्यरूप जगत् की सत्ता को माप देने के कारण भूमि उसकी 'प्रमा' है।

४. **'भूमिमिति, भूमिशब्दः सर्वकारणीभूतप्रकृतिमारभ्य भूमिपर्यन्तकार्यः।'**
—पु० सू० भा० [प्रथम मन्त्र के भूमि पद पर]

५. **भूमिं जगदुपादानं भूमिरिहोच्यते।** अ० बु० सं० ५९.१७

६. उदयवीर शास्त्री **'तमस्'** शब्द **प्रकृति** का वाचक है, इस विषय में अनेक प्रमाण देते हुए अन्त में पुरुष-सूक्त के **'तमसः परस्तात्'** को भी प्रमाण रूप में उद्धृत करते हुये लिखते हैं—'यहां भी **'तमसः'** पद का प्रयोग प्रकृति के अर्थ में हुआ है जो उसके अचेतन स्वरूप के आधार पर कहा जा सकता है।' सा० सि० चतुर्थ अ० पृ० ३५६ पाद-टिप्पणी।

है कि सृष्टि जब प्रलयकालीन अवस्था से रचनोन्मुख हो रही थी, तब क्या अवस्था थी ।

'अव्यक्त अवस्था' की वाचिका-भूमि—

वह **अप्रकेत** थी, **अप्रतर्क्य** थी, **अविज्ञात** थी और **प्रसुप्तावस्था** में थी, परन्तु उसकी स्थिति अन्ततः क्या थी, इस स्थिति को पुरुष-सूक्त ने **भूमि** तत्त्व से स्पष्ट किया है—वह सबकी **भूमि** थी, वह **प्रमा** थी [उसमें सब कार्यजगत् को अस्तित्व में ला देने की सम्भावना थी]। उसी को दार्शनिक 'अव्यक्त' [अवस्था] कहा करते हैं; और यतः सृष्टि रचना में इसका योगदान महान् है, अतः इसे **'महान्'** और **'ज्येष्ठ'** भी कहते हैं । निरुक्त में ऋ० १०.१२०.१ के व्याख्यान में आचार्य यास्क लिखते हैं **'भुवनेषु ज्येष्ठम्—अव्यक्तम् ।'**[१] अव्यक्त को 'प्रधान' भी कहा गया है।

इस विषय में विष्णु एवं वायुपुराण गत दो प्रमाण द्रष्टव्य हैं ।[२] वायु-पुराण में **'अव्यक्तानुग्रहेण च'** पाठ है और विष्णु-पुराण[३] में **प्रधानानुग्रहेण'** पाठ है । अतः अव्यक्त और प्रधान पर्याय मात्र हैं । वायु-पुराण में ही एक और स्थान पर वर्णन आता है—**अव्यक्तात् कारणात् तस्मान्नित्यात् सदसदात्मकात्' । सृजते स पुनर्लोकानभिमानगुणात्मकान्'**[४] । वह अव्यक्त-नित्य-सदसदरूप कारण से युक्त अभिमानगुणमय लोकों को पुनः उत्पन्न करता है ।

यह भूमि भी अश्वत्थ वीज की भांति थी कि जिसमें सम्पूर्ण अश्वत्थ-वृक्ष प्रसुप्त पड़ा हुआ था; जैसे अश्वत्थ-वीज-कणिका में अन्तर्भूत महाद्रुम [निष्पन्न होकर] व्यक्तरूप में प्रकट होता है, वैसे ही इस अव्यक्त [भूमि] से व्यक्त जगत् सम्भव हुआ ।[५] इस आरम्भिक अवस्था को **'अलिंगा प्रकृति'** भी कहा गया है ।[६] इसी बात को पुरुष-सूक्त ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—'यह सम्पूर्ण उसकी महिमा है कि जिसने विकारवान् जगत् को पूर्णरूप से अपने उदर में स्थापित किया हुआ था,[७] उसी का परिणाम था कि उससे अग्रिम **,इदं सर्वम्', 'विश्वा भूतानि', 'विराट्'** और **'स्थूल भूमि'** आदि विकारों का आविर्भाव हुआ ।'

यजुर्वेद में भूमि के इसी रूप को **'विद्युत् पुरुष'** के नाम से कहा है, [जिसके आधार पर, समस्त आधुनिक विज्ञान इस प्रथम संकेतित मूल-तत्त्व का विशदतर उपस्थापन करता है ।

विकारों के उत्पन्न होने से पूर्व एक प्रश्न और उपस्थित होता है : वह यह कि, यद्यपि पिण्ड-पुरुष और विराट्-पुरुष परस्पर एक दूसरे की **प्रमा** और **प्रतिमा** थे, प्रकृति की साम्यावस्था और दशाङ्गुल पुरुष के फलोन्मुख पुण्यापुण्य रुप संचित कर्म **निदान** थे, और सर्वातिशायी सहस्रशीर्षाक्षपाद् पुरुष जगत् का **निमित्त**-कारण भी विद्यमान था–अर्थात् सृष्टिरचना के लिए जो अपेक्षित सामग्री थी, वह सब विद्यमान थी, तथापि पूछा जा सकता है कि जिस 'पुरुष' रूप की तुम धारणा करने चले हो उसकी कल्पना क्या कुछ हो सकती है ? **'यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ?'**

---

१. निरु० १४.२४ २. वा० पु० ४.७४ ३. वि० पु० १.२.५४

४. वा० पु० १०३.३७.

५. **यथा अश्वत्थकणिकायाम् अन्तर्भूतो महाद्रुमः । निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तम् अव्यक्तात् सम्भवस्तथा ॥** म० भा० । १२.२०४. २

६. **अलिङ्गां प्रकृतिं त्वाहुः** । म० भा० १२. ३०३. ४७ [२९२. ४२ पू० सं०] .

७. पु० सू० ३

इस सृष्टि-रचना में एककोषी जीव से लेकर गज-पर्यन्त प्राणियों की, और पृथिवी से लेकर द्युलोक-पर्यन्त के प्रत्येक अवयव-अवयव की [घटक-घटक की] प्रमा क्या थी **प्रतिमा** क्या थी ?–design क्या था ? **ईक्षण** क्या था ?

यथापूर्व वाद—

इन समस्त शंकाओं का समाधान वैदिक दर्शन में **'यथापूर्वमकल्पयत्'**[1] कहकर किया गया है। सृष्टि में हमें जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह सब कुछ वैसा ही है जैसा पूर्वकल्प में था। पूर्वकल्प में वैसा ही था जैसा कि उससे पूर्वकल्प में था। इस सिलसिले का कहीं आदि नहीं। अर्थात् सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है। इसका प्रवाह नित्य है, अनादि और अनन्त है। रात्रि के पश्चात् दिन और दिन के पश्चात् रात्रि, दिन से पूर्व रात्रि और रात्रि से पूर्व दिन का अनवरत प्रवाह चल रहा है।, तद्वत् सृष्टि और प्रलय का प्रवाह भी अनादि काल से चला आ रहा है। अतः, जो वस्तु पूर्वकल्प में जिस प्रकार आयोजित थी, इस काल में भी वह वैसे ही आयोजित चली आ रही है। ऐसा नहीं है कि पूर्वकल्प में किसी वस्तु की योजना किसी और प्रकार से की थी और इस कल्प में किसी और प्रकार की हो।

याथातथ्य वाद—

उपर्युक्त विचारधारा पर और भी अधिक बल पड़ जाता है, जब हम **याथातथ्यवाद** को भी इसमें सम्मिलित कर लेते हैं : **'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः'**[2]।

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है – ईश्वर में अपनी शाश्वती प्रजा के लिए उनके कर्मों का फल **याथातथ्य**रूपेण प्रदान किया।

'याथातथ्य' का अर्थ है कि जो **घटना, योजना अथवा वस्तु** जैसी हो सकती है, जैसी होनी चाहिए और जैसी उसकी वास्तविकता है—वैसी ही वह बनाई गई हैं। **'यथा'** का अर्थ है **'जैसा'** अर्थात् अनतिक्रमण और **'तथा'** का अर्थ है **'वैसा'**। एवं च याथातथ्य, अर्थात् **'वस्तु-तादात्म्य'**: वस्तु के तथ्य-भार की बिना उल्लंघना किए योजना करना।

'यथापूर्व' और **'याथातथ्य'** देखने में दोनों ही पद अत्यन्त लघु हैं, परन्तु इनके पीछे महान् दार्शनिक रहस्य छिपा हुआ है। उन दोनों की वास्तविकता को समझ लेने से, वर्तमान में प्रचलित अनेक अवैदिक दार्शनिक मान्यताओं का निरास हो जाएगा। 'चेतन की निमित्तता से जो कार्य सम्पन्न होता है उसके दो पक्ष हैं : एक तो यह कि वस्तु के आकार में परिवर्तन लाकर भी अन्य प्रकार की योजना बना कर वस्तु का प्रकटीकरण–दूसरे यह कि इस परिवर्तन एवं आयोजन के नियम को प्रकट करना। कुम्भकार यदि घड़े को बनाता है तो जहां उसकी निमित्तता मिट्टी को घड़े के रूप में प्रकट करती है, वहां घट-रचना के नियम को भी व्यक्त करती जाती है। वस्तुनिर्माण से नियम की ओर जहां दृष्टि जाती है, वहां नियम के दर्शन से वस्तु की ओर दृष्टि जाती है। इस प्रकार नियम और वस्तु दोनों साथ साथ रहते हैं। सृष्टि-रचना में महान्-चेतन सत्ता की क्रिया से भी यही प्रमाणित होता है : एक ओर वह सृष्टि के पदार्थों की रचना करता है और दूसरी ओर नियमों को प्रकट करता है। इनमें अन्य तरह का अध्ययन अन्य तरह का ज्ञापक है। चाहे ऋत के अध्ययन से सत्य [वस्तु] का ज्ञान करें और चाहे वस्तु के अध्ययन से **ऋत** का ज्ञान करें।

---

१. ऋ० १०.१९०.१ २. यजु० ४०.८

उपर्युक्त विवेचन से निम्न लिखित तथ्य सामने आते हैं—

१. जगत् की रचना होती है।

२. ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि पदार्थ हैं।

३. कार्यकारण भाव—सत्कार्यवाद का नियम सृष्टि में पाया जाता है।

४. परमात्मा निमित्त कारण है, सो जगत् की रचना में कोई त्रुटि नहीं।

५. जगत् की रचना सोद्देश्य है [१]।

इस प्रकार **'याथातथ्यवाद'** एवं **यथापूर्ववाद** के आधार पर यह ज्ञात हुआ कि प्रकृति किस रूप में विकृत अवस्था को धारण करेगी अथवा प्रवर्त्तमान सृष्टि की **प्रतिमा** [design] क्या होगी। अब पुरुष-सूक्त के अनुसार अग्रिम विकारभूत सृष्टि का वर्णन किया जाता है।

पुरुष-सूक्त में जगत् के निमित्त कारण 'सर्वातिशायी **पुरुष**' का **भूमि** और **दशांगुल**—[प्रकृति पुरुष और कर्मात्मा पुरुष] के प्रति क्या व्यवहार था, स्पष्ट वर्णित है। वह प्रकृति के अणु-अणु में व्याप्त था इसी को दिखाने के लिए **'स भूमिं सर्वतस्पृत्वा'** और **'विश्वतो वृत्वा'** का प्रयोग हुआ है।[२] उसने **कामना** की कि अणु-अणु में प्रेरणा आ गई।[३] मानों **प्रसुप्त 'तम'** हल चल में आ गया।[४] [जिसको सूक्त में **'इदं सर्वम्'** संज्ञा से याद किया गया है]।

'सर्वातिशायी पुरुष' यदि ओत-प्रोत न होता, तो एक भी परमाणु को प्रेरणा न दे सकता था। 'कर्मात्मा पुरुष से' प्रति भी उसका व्यवहार **'दशाङ्गुलमत्यतिष्ठद्'** मन्त्र चरण से प्रकट होता है। जहां वह स्वयं **गति, स्थिति, कृत** और **फल** इन सब से ऊपर है[५] वहां वह कर्मात्मा पुरुष के **गति, स्थिति, कृत** और फल का अध्यक्ष भी है—**'कर्माध्यक्षः केवलो निर्गुणश्च'**।[६]

इ द म् स र्व म्

इदं' और सर्वम्' सलिलावस्था' के वाचक—

वैदिक शब्दकोष निघण्टु में **'इदम्'** और **'सर्वम्'**, जल नामों में पठित हैं।[७] तदनुसार सूक्तगत-सृष्टिविषयक रचना-क्रम को देखते हुये **'इदम्'** **'सर्वम्'** तत्त्व **'आपः'** अवस्था का या सलिलावस्था का, वाचक हुआ : **'अप्रकेतं सलिलम् सर्वमा इदम्'**[८]—यह उसकी अनन्तर[द्वितीय]अवस्था थी। अंतर इतना ही था कि प्रथम, समस्त प्रकृति=[परमाणुमण्डल] स्थिर और प्रसुप्त थी, जब कि, सलिलावस्था में उसमें गति—हलचल थी, नामरूपात्मक जगत् को रचने की सामर्थ्य उसमें आ चुकी थी और उसके लिये अणु-अणु सर्गोन्मुख हो रहा था, तब पिपीलिका से लेकर गज-पर्यन्त प्राणी के [और एककोषीय देह से लेकर

---

१. वैद्यनाथ शास्त्री कृत **'सृष्टि रचना का वैदिक दर्शन'** नामक लेख से उद्धृत, [वेदवाणी' मासिक] वेदांक, वर्ष १२, अंक १,२, सन् १९५९]

२. पु० सू०—१०।९०।१

३. **महांस्तु सृष्टिं कुरुते नोद्यमानः सिसृक्षया।** वा० पु० ४.२७
महान्सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानः सिसृक्षया॥ म० भा०। शा० प० २३८।६६ [पू० सं०]

४. **ततः स्वयम्भूर्भगवान्नव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।**
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः॥ मनु० १।६

५. दशांङ्गुल पद से गृहीत पु० सू० १ चतुर्थ अध्याय में लिखा जा चुका है।

६. श्वे० उ० ६.११ ७. नि० १।१२।७६ ८. ऋ० १०।१२९।३

विशाल ब्रह्माण्ड तक के] बीज 'आपों' में गर्भित हो चुके थे[1]; जिसका वर्णन सूक्त में—**'अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे'**[2] के रूप में प्राप्त होता है। यह वैसे ही हो रहा था जैसे कभी भूत में हुआ था,—**'यथापूर्वम्'**।

'इदं सर्वम्' से अग्रिम स्थिति सृष्टि-रचना—

कोई क्षण जा रहा था जब सर्वातिशायी पुरुष ने ईक्षण किया, कि वह **आपः** तत्त्व **महदण्ड** के रूप में परिवर्तित हो जाये। यह जो कुछ भी था उससे समस्त भूतों का निर्माण होना था। तब सर्वथा वैसे ही अवस्था थी जैसी कि घट-निर्माण करने से पूर्व होनी चाहिये। कुम्भकार था, उसमें **कामना** थी, **ईक्षण** था, **प्रतिमा** [design] थी, **उपादान**-भूत मिट्टी भी थी, उपर्युक्त अवस्था थी, दण्ड था, चक्र था,—कि बड़े वेग से चक्र घूमने लगा। कुम्भकार का हाथ मिट्टी के लोंदे पर गया और देखते ही देखते घट शरावे आदि अनेक नामरूपात्मक वस्तुओं का निर्माण होने लग गया। सृष्टि-रचना के समय भी यही कुछ अवस्था थी : अनन्त-'कर्मात्मा पुरुष' पुण्यापुण्यात्मक कर्मों का फल भोगने के लिये उत्सुक थे और प्रकृति का अणु-अणु सर्गोन्मुख था।

[सत्त्व, रजस् और तमस्] गुणों की साम्यावस्था को प्रलय जानना चाहिये। विषमावस्था सृष्टि कहलाती है। तिलों में जैसे तेल, और दूध में जैसे घृत रहता है—उसी प्रकार **सत्त्व, रजस्** और **तमस्** में सृष्टि अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है। सर्वातिशायी पुरुष के योग से उसमें क्षोभ पैदा हुआ, उसके लिये उसने महद्-अण्ड में प्रवेश किया; प्रकृति के क्षुब्ध होते ही रजः प्रकट हुआ और [प्रकृति के] गुण पुरुष से अधिष्ठित हुए [विषमता को प्राप्त होते हुए], सृष्टि को उत्पन्न करने लगे।

विराट् स्थिति—

पुरुष-सूक्त की भाषा में **'इदं सर्वम्'** नामक **'आपः'** सर्वातिशायी शक्ति से प्रेरणा पाकर क्षुब्ध थी और बड़े वेग से गतिमान् थी। यह अवस्था संवत्सर[3] पर्यन्त रही[4] और **महद्-अण्ड** परिपक्व हो गया। जिस प्रकार जीव विज्ञान का विशेषज्ञ, 'परिपक्व अण्डे में पक्षी किस अवस्था तक पहुंच चुका है' इस बात को उसके **द्विधा** विभक्त होने से पहले ही जान लेता है। तद्वत्, पुरुष-सूक्त में **विराट्** के **'द्वि'धा** विभक्त होने से **पूर्व'** की अवस्था का वर्णन, सूक्त के **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'** मन्त्र-चरण में किया गया है [इसी

---

१. **तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।** ऋ० १०।८२।६
आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। ऋ० १०।१२१।७

२. यजु० ३१.१७

३. किसी भी वस्तु के प्रारम्भिक रचना-काल से लेकर उसके परिपक्व होने तक जितना समय लगता है उसके लिए यहां **'सवंत्सर'**, पद का प्रयोग किया गया है।

४. **गुणसाम्ये लयो ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते ॥९॥ तिलेषु वा यथा तैलं घृतं पयसि वा स्थितम्। तथा तमसि सत्त्वे च रजोऽव्यक्ताश्रितं स्थितम् ॥१०॥ क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः। प्रधानं पुरुषञ्चैव प्रविश्याण्डं महेश्वरः ॥११॥ प्रधानात् क्षोभ्यमानात्तु रजो वै समवर्त्तत ॥१२॥ रजः प्रवर्तकं तत्र बीजेष्विव यथा जलम्। गुणवैषम्यमासाद्य प्रसूयन्ते ह्यधिष्ठिताः ॥**
वा० पु० ५।९।१३॥

को प्रजापति की **'अजायमान'** अवस्था कहते हैं] ।[१] महदण्ड के मध्य **पंचभूत, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी,** आदि **'विकार'** निर्मित्त हो चुके थे । समय आया कि महदण्ड द्विधा विभक्त हुआ और उसमें सभी वस्तुएं विशेषतया राजमान होने लगीं । यह प्रजापति का **'बहुधा विजायते'** रूप था । विराट् के खुले हुए मुख में निचले जवड़े की संज्ञा **भूमि** और ऊपर के जवड़े की संज्ञा **द्युलोक** हुई और मध्य का भाग **अन्तरिक्ष** कहलाया । उपनिषद् के ऋषि ने महासंहिताओं का वर्णन करते हुए **'भूमि' [पृथिवी] पूर्वरूपं, द्यौर्-उत्तर रूपं आकाशः सन्धिः'**[२] कहा है ।

भूमि का पूर्व रूप होना—

भूमि पहले बनी, और द्युलोक के सूर्य, ग्रह आदि अनेक अंग पश्चात् अस्तित्व में आये । इस क्रम विषयक गम्भीरता को लेकर ऋग्वेद में एक मन्त्र है : **'कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः को विवेद'**[३] अर्थात् 'इन द्यावा पृथिवी दोनों में से कौन **पूर्वा** कौन **अपरा** है ? किस प्रकार दोनों उत्पन्न हुए ? हे कवि लोगो ! कौन स्पष्ट जानता है ?

प्रश्न की गम्भीरता को समझकर यजुर्वेद में कहा गया : **'भूतस्य प्रथमजा'**[४] । शतपथ-ब्राह्मण में इस याजुष् मन्त्र के व्याख्यान में लिखा है—**'इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा'**[५] अर्थात् यह ही पृथिवी भुवनों में प्रथम हुई ।

सर्वप्रथम उत्पन्न होने पर भी पृथिवी इस योग्य न थी कि वह किसी की प्रतिष्ठा बन सके; न उसमें प्रसवात्मिका शक्ति ही थी । शुरु-शुरु में वह **आर्द्रा, शिथिला** तथा **पिलिप्पिला** थी ।[६] समय आने पर वह कठोर होती चली गई । एक समय आया कि जब उसकी स्थिति कछुए की पीठ[७] जैसी हो गई परन्तु वह अभी ओषधियों-वनस्पतियों से शून्य थी, जिसे गंजी कह सकते हैं । शतपथकार ने भी लिखा है: **'काल्वाली कृताहैव र्तांह पृथिव्यास'** ।[८] अर्थात् यह पृथिवी निश्चय से गंजी थी । ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—**'इयं वा अलोमिकेवाग्र आसीत्'** ।[९] आरम्भ में यह लोम रहित के समान थी । वृक्ष, वनस्पत्ति, ओषधियां कुछ न थीं । धीरे-धीरे भूमि इस योग्य हुई कि वह प्राणियों की प्रतिष्ठा बन सके । उसमें ओषधि-वनस्पति तथा वृक्ष प्रसूत हो सकें ।

चेतना का मूल पृषदाज्य—

यहां तक स्पष्ट हुआ कि जगत् के निमित्त-कारण सर्वातिशायी पुरुष ने कामना की, ईक्षण

---

१. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।। यजु० ३१.१९

२. तै० उ० १.३.१ ३. ऋ० १.१८५.१

४. यजु० ३७.४ ५. शत० ब्रा० १४.१.२.१०

६. सा हेयं पृथिवी अलेलायद् यथा पुष्करपर्णमेवम् । तां दिशोऽनुवातः समवहत् ।।
—तै० ब्रा० १।१।३

अथवा र्तांह शिथिरासीत् । मै० सं० १।१०।१३। का० स० ३७।७

शिथिरा वा इयमग्र आसीत् मै० सं० १।६।३।। आर्द्रेव हीयमासीत् । क० क० ६।६।।

७. म० भा० । १२.३००.६ ८. शत० ब्रा० २।२।४।३. ऐ० ब्रा० २४।२२।।

९. ओषधिवनस्पतयो वै लोमानि । जै० ब्रा० २।५४।।

किया और तप तपा। न प्रमा का अभाव था, न प्रतिमा का और न निदान का, परन्तु एक समस्या अब भी अवशिष्ट थी वह यह कि वृक्ष वनस्पतियों का; वायव्य, ग्राम्य पशुओं का; तथा समस्त प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट प्राणी मनुष्य का धरती पर अवतरण कैसे हुआ? अर्थात् चेतन का अवतरण कैसे हुआ? इनका बीज कहां से आया ?

पहले बीज था या वृक्ष ? इस समस्या का समाधान भी पुरुष-सूक्त में अपने ही प्रकार से किया गया है : 'सर्वहुत्-यज्ञपुरुष' ने **'पृषदाज्य'** का सम्भरण किया उससे **वायव्य, आरण्य** और **ग्राम्य** पशुओं की उत्पत्ति हुई।' **पृषदाज्य सम्भरण,** बीज का सम्भरण है, **पृषदाज्य** तत्त्व **'रेतस्'** शक्ति का वाचक है : यह चतुर्थाध्याय में द्रष्टव्य है। बीज पहले अथवा वृक्ष पहले—इसका समाधान इसी में निहित है : **वायव्य आरण्य** और **ग्राम्य** पशुओं की उत्पत्ति से पहले **पृषदाज्य** का सम्भरण हो चुका था।

महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि **'बीजमात्रं पुरा सृष्टम्'**[1] अर्थात् बीज मात्र की उत्पत्ति पहले की गयी। क्योंकि—**'नाबीजाज्जायते किञ्चित्'**[2] अर्थात् बिना बीज के कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और फिर प्रत्येक बीज का सामर्थ्य पृथक्-पृथक् है : कुछ बीजों के आवरण उनके साथ लगे रहते हैं। सर्षप से लेकर वट-वृक्ष तक के बीजों की गणना इसी श्रेणी में आती है–जिनको उद्भिज्ज योनि कहते हैं। कुछ बीज ऐसे होते हैं जो कुक्षिगत होने के पश्चात् अपना आवरण बना लेते हैं। पिपीलिका से लेकर शुतुर्मुग-पर्यन्त बीज इसी श्रेणी में आते हैं–जिन्हें अण्डज योनि कहते हैं उन्हें कुक्षि से बाहर आने पर पुनः ऊष्मा दी जाती है। उन पर बना हुआ आवरण कवच का कार्य करता है। कुछ बीज ऐसे होते हैं जिनका निषेक होने पर वे मातृकुक्षि में ही बढ़ते और मातृकुक्षि से ही जन्म लेते हैं। मूषक से लेकर हस्ती-पर्यन्त पशु इसी श्रेणी में आते हैं—जिन्हें जरायुज कहा जाता है। चौथे प्रकार के बीज वे हैं जो उभयविध हैं-उद्भिज्ज भी अण्डज भी [यथा मण्डूक, इन्द्रगोप इत्यादि][3] : प्रलयकालीन अवस्था में जो बीज अपने कारण में लीन हो गए थे वे परमेश्वर के सामर्थ्य से पुनः सक्रिय बीज रूप में परिवर्तित हुए और उनको यह भूमि प्राप्त हुई [जो कि अब प्रसवात्मिका थी]। इन समस्त बीजों को पृथिवी ने धारण कर लिया। इसीलिए इस पृथिवी की संज्ञा **'गृभिः'** हुई।[4] प्रत्येक बीज ने अपने अनुकूल वातावरण पाकर अंकुरित होना और बढ़ना आरम्भ किया। समय आने पर वे सब उत्पन्न हुए और वायव्य, आरण्य, ग्राम्य विविध पशु-रूप धारण करने लगे।

सर्गारम्भ में माता भूमि, पिता परमेश्वर—

मूल प्रश्न अब नया मोड़ लेता है कि 'सृष्टि के मध्य समय में उक्त सब प्रकार की योनियों और उनकी उत्पत्ति के नानाविध प्रकारों का हम प्रत्यक्ष करते हैं; परन्तु सर्गारम्भ में न तो माता-पिता ही थे और न ये प्रकार, उस समय कौनसी प्रक्रिया हुई जिससे जड़-जंगम जगत् की उत्पत्ति हुई ?' इसका उत्तर

---

१. म० भा० शा० प० १८६. १५ पू० सं० २. म० भा० शा० प० २७६.११

३. **जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः।**
तत्र पशु-मनुष्य-व्यालादयो जरायुजाः, खग-सर्प-सरीसृप-प्रभृतयोऽण्डजाः,
क्रमिकीट-पिपीलिकाप्रभृतयः स्वदेजाः, इन्द्रगोप-मण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः। सु० सं० १.२६-२६

४. चतुर्थ अध्याय के भूमि विषय में इसका वर्णन किया जा चुका है। पृ०१४४

वेद के शब्दों में यही है कि आरम्भ में भूमि माता थी[1] और पिता स्वयं परमेश्वर थे।[2] भूमि माता में वह सब सामर्थ्य था जो एक मातृ-कुक्षि में होती है। बीजों का अपना सामर्थ्य था। प्रत्येक योनि के बीज ने अपने अनुरूप आवरण बनाए और वह उनमें उस समय तक सुरक्षित रहा जब तक कि वह पूर्ण परिपक्व [अर्थात् युवावस्था तक] नहीं हो गया। बीजों के परिपक्व होने की सबसे बड़ी पहिचान यही थी कि उत्पन्न होते ही वे सब अपने कर्म करने में समर्थ थे।

आदि मानव की आयु—

वे प्राणी किस आयु में उत्पन्न हुये यह कहना कठिन है, इतना कहा जा सकता है कि जिस बीज से उनकी उत्पत्ति हुई, उस बीज को उत्पन्न करने का सामर्थ्य जिस आयु में हो सकता है सृष्टि के आदि में प्राणी उसी आयु में उत्पन्न हुए होगें। इतने समय पर्यन्त उन्हें भूमि में रहना पड़ा होगा। [यह समय उनका संवत्सर कहा जा सकता है। ये नियम प्रत्येक योनि के पृथक्-पृथक् रहे होंगे। दिन मास और वर्ष के परिमाण से, यह अवधि कम और अधिक भी हो सकती है।]

चेतन-प्राणी का उत्पत्ति क्रम—

रचना-विषयक उपर्युक्त क्रम में इन विभिन्न प्रकार की योनियों की उत्पत्ति का क्रम क्या था? वृक्ष-वनस्पति पहिले उत्पन्न हुए पशु अथवा मनुष्य? इन प्रश्नों का उत्तर भी पुरुष-सूक्त में प्राप्त होता है: पुरुष-सूक्त में वृक्ष वनस्पतियों का स्पष्टतः उल्लेख नहीं हुआ है, लेकिन भोक्ता से पूर्व भोग्य पदार्थ का होना आवश्यक है। इस नियमानुसार पशुओं से पूर्व वृक्ष वनस्पतियों का पूर्व उत्पन्न होना स्वतः सिद्ध है। ये औषधियां कितनी पूर्व हुईं इस विषय में वर्णन आता है —**'या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यः त्रियुगं पुरा'**[3] जो औषधियां देवों से तीन युग पूर्व हुईं।

पुरुष-सूक्त में पशुत्रय-वर्णन—

पुरुष-सुक्त में विविध पशुओं का वर्णन हुआ है।[4] उनमें सर्वप्रथम **वायव्य** पशुओं की गणना है तत्पश्चात् **आरण्य** और सबसे अन्त में **ग्राम्य** पशुओं की।

ग्राम्य पशुओं में मानव की गणना—

ग्राम्य पशुओं के उल्लेख से मानव का वर्णन भी समाहित हो गया है, क्योंकि वैदिक साहित्य में ग्राम्य पशुओं के अन्तर्गत मनुष्य की भी गणना की जाती है। यथा तैत्तिरीय सं० में एक स्थल पर तीन ग्राम्यपशुओं का वर्णन किया है, उनमें मनुष्य की भी गणना है:[5] पशु मानव के भोग्य हैं, सेवनीय हैं। अतः पशुओं की उत्पत्ति के पश्चात् ही मानव की उत्पत्ति मानी गयी है।[6] पुरुष अन्तिम कृति थी। जिस

---

१. **तत्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः** [यजु० २५। १७]

२. पृषदाज्य का सम्भर्त्ता पुरुष [परमात्मा] को बताया है।

३. यजु० १२.७५. ४. पु० सू० ८.

५. **एतावन्तो [पुरुषः अश्वः गौ अवि अजः] वै ग्राम्या पशवः।**
तै० सं० २।१।१।५ ॥ का० सं० १३.१.

६. **ओषधीरनु पशवः पशूननु मनुष्याः।** मै० सं० ३.१.५.

प्रकार **पुरुष** [परमात्मा] समस्त 'पदार्थों'[1] में पराकाष्ठा है, उसी प्रकार **पुरुष** [मनुष्य] भी समस्त चेतन प्राणियों में पराकाष्ठा है।

युवा मनुष्यों की उत्पत्ति—

प्राणियों में मनुष्य की उत्कृष्टता का कारण उसका **द्वितीय जन्म** है।[2] सर्गारम्भ में पशुओं को एक ही जन्म मिला था। किन्तु मनुष्य को **दो-दो जन्म** मिले। **शरीरतः** भी और **विद्यातः** भी। उसे मनन-शक्ति प्राप्त थी। वह चल फिर सकता था। अपने कार्य करने में समर्थ था। वह युवक था। ये विशेषताएं युवा में ही सम्भव हैं बालक में नहीं। शरीरतः और विद्यातः परिपक्व युवा मनुष्य ने जन्म के समय अपने ऊपर पड़े, [पार्थिव] आवरण को हटाया और वह खड़ा हो गया भूमि पर विचरण करने लगा। युवा शिशु की इस आरम्भिक स्थिति का रोचक वर्णन ऋग्वेद में हुआ है—

'चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावप्येति धातवे।
अनूधा यदि जीजनदधा च नु ववक्ष सद्यो महि दूत्यं चरन्॥'[3]

वड़ा आश्चर्य है उस तरुण शिशु पर कि जो उत्पन्न होते ही **बोलने** और **चलने** लगा। वह **शिशु** होते हुए भी माता पिता [तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः][4] के पास दूध पीने नहीं जाता। कारण स्पष्ट है कि उसे जन्म देने वाली माता के **ऊधस्** [स्तन] नहीं हैं। तदनन्तर वह पृथिवी पर ईश्वरीय ज्ञान का संदेशवाहक बनकर विचरण करने लगा। यह मन्त्र किंचिद् भेद से सामवेद में भी है।[5]

ऋग्वेद के इस मन्त्र में आदिमानव की **युवोत्पत्ति** का वर्णन किया गया है। यहां जात्याख्या में तरुणादि शब्दों का एकवचन में प्रयोग है। वस्तुतः आदि सृष्टि में वहुत संख्या में मानवोत्पत्ति हुई थी। इस विषय में ऋग्वेद का कथन द्रष्टव्य है—

'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥'[6]

—वे पृथिवी के पर्त का भेदन करके जन्मने वाले भूमि माता के पुत्र [आदिमानव] उत्कृष्ट जन्मा थे। उनमें उस समय न कोई ज्येष्ठ था, न कनिष्ठ था, और न कोई मध्यम ही था [सब युवा जन्मे थे, एक आयु के थे]—सब शरीर और ज्ञान की उपलब्धि में समानभाक् थे। जन्म लेने के बाद वे अपने-अपने तप और श्रम से बढ़ने लगे। इस प्रकार के दिव्य मानव हमें सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराते हैं।

'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥'[7]

---

१. **यहां 'पदार्थ पद वैशेषिक' के 'धर्मविशेषप्रसूतात्'—'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानाम्'** के अनुसार द्रव्य गुण आदि सभी का ग्राहक है। —वै० सू० १.१.४

२. **स हि विद्यातः तं जनयति, तदस्य श्रेष्ठं जन्म।** आप० ध० सू० १.१.१.१६,१७

३. ऋ० १०.११५.१ ४. [क] यजु० २५.१७

[ख] **इयं हि पृथिवी पशूनां योनिः।** मं० सं० ३।७।७

५. **चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथ न यो मातरावन्वेति धातवे।**
अनूधा यदजीजनदधा चिदा ववक्षत् सद्यो महि दूत्यां चरन्॥ —साम०। पू० ६४

६. ऋ० ५.५९.६ ७. ऋ० ५.६०.५

—सर्गारम्भ में उत्पन्न मनुष्य न बड़े थे, न छोटे बच्चे थे। वे युवा-भरण पोषण में समर्थ भाई-भाई कल्याण के लिए एक से बढ़ते हैं। मिश्रणा-मिश्रण करने वाला सदा श्रेष्ठकर्मा और पापियों को रुलाने वाला शक्तिशाली प्रभु इनका पिता है। और उद्यमी मनुष्यों के लिए [सुकाल स्थित करने वाली] प्रकृति अथवा पृथिवी इनके लिए आसानी से दुही जाने योग्य होती है। इन दोनों मन्त्रों का देवता **'मरुतः'** है। यहां **'मरुत्'** मनुष्य का वाचक है।

उपर्युद्धृत ऋग्वेदीय मन्त्रत्रय के विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है—

१. आदि सृष्टि में उत्पन्न मनुष्य शिशु होते हुए भी तरुण था।
२. आदिमानव की माता पृथिवी और पिता द्यौः था।
३. पृथिवी और द्यौः दोनों को 'मातरौ' शब्द से अभिहित किया गया है।[1]
४. उनकी माता ऊधस् रहित थी।
५. तरुण शिशु द्वारा महान् संदेश का वहन [दूत्य=ज्ञान प्रसार] हुवा।
६. समस्त पदार्थों की सद्यः प्राप्ति।
७. आदि मानवों में कोई बड़ा-छोटा नहीं है अपितु सभी संभ्राता हैं।
८. सभी उद्भिदः हैं, भूमि का भेदन करके उत्पन्न हुए।

इन आठ बिन्दुओं में से अन्तिम बिन्दु में 'आदिमानवों को **उद्भिज्ज** माना जाना' आश्चर्यजनक है। जब कि वे जरायुजों में गणित हैं। यहां **वृक्ष, वनस्पति,** लता तथा **गुल्म** आदि को उद्भिज्ज-योनि माना गया है,[2] न कि मनुष्य को : इस विरोधाभास का समाधान इस प्रकार सम्भव है—

मानव और मण्डूक का उत्पत्ति-साम्य—

आदिमनुष्य की उत्पत्ति **मण्डूक** की उत्पत्ति से अधिक साम्य रखती है।[3] **मण्डूक** को **अण्डज** और **उद्भिज्ज** श्रेणी में रखा गया है।[4] इसी प्रकार मानव को भी **उद्भिज्ज, जरायुज** दो श्रेणियों में रखा

---

१. माता और पिता के सह कथन के लिए लौकिक संस्कृत में पितरौ शब्द का प्रयोग होता है [पिता मात्रा अष्टा० ६.२.७०] किन्तु वेद का यह वैशिष्ट्य है कि यहां दोनों के सहकथनार्थ **'मातरौ'** पद का प्रयोग है।

२. [क] **उद्भिज्जास्तु तृणलतावृक्ष-वनस्पतयः** [भेल-संहिता—आयुर्वेदरहस्य दीपिका, पृ० ११]
[ख] **औद्भिदं तु चतुर्विधम्—उद्भिज्जाः स्थावरास्तथा वीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः।**
द्र०—च० सं० अध्याय–१.७१
[ग] **उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीज-काण्ड-प्ररोहिणः।** मनु० १.४६

३. इसीलिए आयुर्विज्ञान [Medical Sce.] जीव विज्ञान [Biology] तथा चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करने वालों को भी सर्वप्रथम मण्डूकों पर ही प्रयोग करने पड़ते हैं। क्योंकि न केवल उत्पत्ति, अपितु शरीर रचना में भी मानव और मण्डूक की समता है।

४. **इन्द्रगोप-मण्डूकप्रभृतयः उद्भिज्जाः** —सु० सं०–१.२६
अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं-प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥ —मनु० १.४४

जा सकता है : सर्गारम्भ की **अमैथुनी** [सृष्टि[1] की] दृष्टि से उसे **उद्भिज्ज** कहा जा सकता है, [क्योंकि वह पृथिवी के पर्त का उद्भेदन करके **मण्डूकवत्** बहिर्भूत हुआ] और पश्चात् कालीन जैवी सृष्टि में मातृ-कुक्षि में आबद्ध जरायु से, **गवादिवत्** बहिर्भूत होने के कारण उसे **जरायुज** तो माना ही गया है।

आदि मानव की उत्पत्ति और मण्डूक-सूक्त —

मण्डूक और आदिमानव की उत्पत्ति की इस साम्यता को 'मण्डूक-सूक्त' में भी देखा जा सकता है। इन दोनों में न केवल उत्पत्ति की ही साम्यता है, अपितु आचरण की भी साम्यता है। दोनों ही भूमिगत होकर संवत्सरभर शयन करते हैं, दोनों ही पर्जन्य-ध्वनि से प्रेरित होते हैं एवं दैवीवाक् का मण्डन करते हैं : जिसका आलंकारिक एवं मनोहारी वर्णन इस सूक्त में है; विस्तार भय से सम्पूर्ण सूक्त पर विचार न करके, केवल प्रथम मन्त्र पर ही विचार करेंगे—

'संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः॥'[2]

वे व्रतपरायण ब्राह्मण, संवत्सर भर सोते रहने के पश्चात् **पर्जन्य** से संतर्पित वाणी को [मेंढकों के समान] बोलने लगे।

ब्राह्मणाः—सर्गारम्भ में जन्मे वे [मानव] सबके सब ब्राह्मण थे; —**'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः'**[3] ब्रह्म=वेद के सब ज्ञाता थे — सबको वेद ज्ञान रूपी दायाद-धन समान रूप से मिला था। ब्रह्म अर्थात् वेद के ज्ञाता होने के कारण। तथा **ब्रह्म—[वेद]**[4] के साथ जन्म लेने के कारण साहचर्य से भी वे **ब्राह्मण** थे। बहुवचन इसलिए है कि वे संख्या में बहुत थे।

आदि मानव और मण्डूक की समानतायें—

'व्रतचारिणः'— वे ब्राह्मण संज्ञा वाले आदिमानव व्रतचारी थे : अर्थात् ईश्वरीय आदेश वेद के अनुसार अपने व्रतों [=कर्मों][5] का अनुष्ठान करने के स्वभाव को धारण कर रहे थे [उनका भोग कर्म नियमित[6] था। वे व्रतों की प्राप्ति कर रहे थे]।

'संवत्सरं शशयानाः'—वे संवत्सर-भर सोते रहे। वे संवत्सर भर भूमिमाता के उदर में निर्माणाधीन अवस्था में रहे। भूमि माता की कुक्षि में द्यौः पिता के द्वारा सोमरूप रेतस् के निषेक के साथ ही उन ब्राह्मणों के शरीरों का निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ। भौतिक-शरीर-रचना के साथ ही ऋगादिचतुष्टयात्मक वेद-ज्ञान भी उन्हें अन्तरोतप्रोत महाशक्ति प्रभु से मिलने लगा। इस शरीर-निर्मिति और ज्ञानोपलब्धि में जो काल लगा वह उनका संवत्सर था।

पर्जन्यजिन्वितां वाचम्—

उन व्रतचारी ब्राह्मणों के शरीरों की रचना पूर्ण हुई, उन्हें ज्ञान भी मिल गया। भरे-पूरे

---

१. **'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च', 'सन्त्योनिजाः', 'वेदलिङ्गाच्च'।**
—वै० सू० ४.२.५,१०,११

२. ऋ० ७.१०३.१

३. **'वज्रसूची'** नामक प्राचीन प्रबन्ध

४. **ब्रह्मारम्भेऽवसाने च** [मनु० २.७१] **वेदाध्ययनारम्भे**—कुल्लूक टीका

५. कर्मनाम, नि० २.१.७

६. **जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।** —यो० सू० २.३१

सुन्दर शरीर को और अगाध वेदज्ञानराशि को पाकर वे तरुण ब्राह्मण फूले न समाए। उनके चित्त हर्ष-विभोर हो उठे। उनकी वाणी में अन्तःकरणोत्पन्न आनन्दमेघ के गर्जन की प्रतिध्वनि हो उठी। हर्षोद्वेग से कम्पन होने लगा। उस कम्पन से वाततन्त्र में ऊष्मा फैल गई और वाक्-तन्त्री झंकृत हो उठी और वे तृप्तिजन्य आनन्द से सराबोर वाणी को **'अग्निमीळे पुरोहितं'** के रूप में बोलने लगे।

मण्डूकाः—वे ब्राह्मण, सर्गारम्भ में वेद-ज्ञान से आप्यायित परमवाक् का उच्चारण वैसे ही करने लगे जैसे वर्षारम्भ में **मण्डूक** विविध वागुच्चारण करते हैं। **मण्डूक** [=दर्दुर] वर्षा ऋतु के सुहावने समय की शोभा होने के कारण वर्षा-योषा के क्वणितकंकण आभूषण होने के कारण, 'मण्डूक' कहलाते हैं। किंच वर्षारम्भ की सूचना का मण्डन करने के करण भी वे मण्डूक हैं[1]। वे ब्राह्मण भी सर्गारम्भ में प्रकृति-युवती के व्यक्तवचा-अवतंस होने के कारण मण्डूक थे=आभूषक थे—उसके शोभा-विस्तारक आभूषण थे [और वेद ज्ञान की प्राप्ति का परस्पर मण्डन करने के कारण भी वे] : मण्डूक थे। मण्डूक संवत्सर भर भूमि के उदर में सोते रहते हैं। ये ब्राह्मण भी शयनरत रहे। ये **मण्डूक** संवत्सर भर **व्रती** रहते हैं—बाह्य भोजन आदि पदार्थों से विरत रहते हैं। वे ब्राह्मण भी स्व-शरीर निर्माण काल में बाह्य भोग से विरक्त रहे। ये मण्डूक वर्षारम्भ में पर्जन्य [मेघ] की घनध्वनि होते ही बस बाहर निकलने को विकल हो उठते हैं, और उनकी वाणी आप्यायित होकर टरटराने को आतुर हो उठती है; ये **ब्राह्मण** भी **शरीरतः** और **ज्ञानतः** परिपूर्ण होते ही, सर्गारम्भ में परमेश्वर के सूक्ष्म **नोदन** से प्राप्त आत्मशक्ति के द्वारा बुद्धि तत्त्व में आनन्द-मेघ का गम्भीर गर्जन होने पर वाक्यप्रयोग के लिए उत्सुक हो उठे। फुफ्फुस-तन्त्री को साधकर, उच्चारणांगों के साज को सम्भाल लिया और लगे झूमझूमकर वेदकाव्य का गान करने।

'प्र-अवादिषुः'[2]—प्र=अच्छी प्रकार से—'प्रकृष्ट रूप से'—श्रेष्ठ पद्धति से बोल पड़े। वदन करने लगे— व्यक्त वाणी का उच्चारण करने लगे। उपमानभूत **मण्डूक** तो अव्यक्त वाणी का ही

---

१. सूक्ष्मार्थ स्वारस्य को देखकर **'मण्डूक'** शब्द **'मडि भूषायां हर्षे च'** [धा० पा०। चु० ग० ५३], **'विभाजने च'** [धा० पा०। भ्वा० ग० २६९] धातु से औणादिक 'ऊकण्' प्रत्यय **शालिमण्डिभ्यामूकण्** [उणादि० ४.४२]करने पर मण्डूक शब्द सिद्ध होता है। **'मण्डयति, भूषयति विभजते वा इत्यर्थं श्रुतिपदं वा वेदवाक्यं वा निर्विचिकित्सं वा मण्डूकः'** अथवा **मण्डयति स्वरोच्चारणेन वेदमन्त्रान् भूषयति इति मण्डूकः।** अथवा यह शब्द औणादिक प्रत्यय करने पर दो धातुओं से निष्पन्न हो सकता है—**मडि** धातु एवं **वच** परिभाषणे से **मण्डनं मण्ड स अस्यास्तीति मण्डम्'**। **मडि** धातु से **'घञ्'** प्रत्यय और तदन्त से मत्वर्थी अच् प्रत्यय करने पर 'मण्डम्' इस प्रकार का नपुंसक लिंग शब्द बनता है। **'मण्डं भूषितं वक्ति उच्चारयति विवृणोति वा अर्थं यः स मण्डूकः'**। **'मण्ड'** शब्द के उप पद में रहने पर **वच्** धातु से **'क'** प्रत्यय करने पर 'व' को सम्प्रसारण, सम्प्रसारण को दीर्घ तथा 'पृषोदरादि'-पद्धति से चकार को कुत्व तथा 'मण्ड' के अन्त्य आकार का लोप होने पर मण्डूक शब्द बनता है। यास्क, **सत्य** शब्द को तीन धातुओं से निष्पन्न मानते हैं उसी प्रकार **मण्डूक** शब्द भी दो धातुओं से सिद्ध होता है। इस निष्पत्ति के अनुसार संगति यथोचित और सयौक्तिक प्रतीत होती है। जिससे मन्त्रार्थ अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार यौगिकवाद का आश्रय लेने से सूक्तार्थ में चमत्कार आ जाता है।

२. **वद व्यक्तायां वाचि** [धा० पा०। भ्वा० ग० ९८९] लुङ्लकार प्रथम पुरुष बहुवचन।

उच्चारण कर सकते हैं। प्रकृष्ट रीति तो दूर, व्यक्ताक्षर बोलना भी उनके लिए असम्भव है। अतः प्र-अवादिषुः क्रिया के मुख्य कर्त्ता **ब्राह्मण** हैं जोकि यहां **उपमेय** हैं।[१]

कितना मनोहर है इस मन्त्र में आदि मानव के आविर्भाव का आलंकारिक वर्णन! कितनी **साम्यता** प्रदर्शित की है — **मण्डूक और ब्राह्मण** [आदि-मानव] की!! कितने अल्प शब्दों में प्रसंगात् वागाविर्भाव का वैज्ञानिक विश्लेषण भी कर दिया!!!

दयानन्द सरस्वती का अभिमत —

दयानन्द सरस्वती वेद के उपर्युक्त मत को आधार बनाकर ही सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं—

"**प्रश्न**—आदि सृष्टि में मनुष्यादि की बाल्य, युवा वा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी अथवा तीनों में?

उत्तर — युवावस्था में, क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता तो पालन के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते, और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती, इसलिए युवावस्था में सृष्टि की है"।[२] दयानन्द सरस्वती ने इस प्रकार आदि मानव की युवावस्था में उत्पत्ति का प्रतिपादन करके मानों वेद के अभिमत को हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है।

मिशकात शरीफ गत वर्णन—

वेद की इस विचारधारा का प्रभाव मुस्लिम मत पर भी पड़ा। वहां भी इससे साम्य रखती हुई धारणा है। **मिशक़ात शरीफ**[३] में लिखा है 'अबू हरैरा से रिवायत है कि **रसूल** ने कहा—**'पुनः ईश्वर आकाश से पानी बरसाता है पस वह उग आते हैं, जैसे आती है सब्ज़ी'**। कहा कि मनुष्य की कोई चीज नहीं बचती केवल रीढ़ की हड्डी और वो रीढ़ की हड्डी है और उससे कयामत के दिन प्राणियों को जोड़ कर जीवित कर दिया जाता है'।

अनेक आधुनिक वैज्ञानिकों का अन्वेषण भी वैदिक विचार का पोषण करता है। प्रसिद्ध -प्राणि शास्त्री डा० क्लार्क का मत उल्लेखनीय है।

डा० क्लार्क का मत—

'मनुष्य हिमयुग से ठीक पूर्व प्लायोसीन युग में उत्पन्न हुआ। वह **अचानक** उत्पन्न हुआ और सर्वथा इसी रुप में, जैसा कि आज। इससे पूर्व इसकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं। **वह उत्पन्न होते ही चलने, विचारने तथा आत्म-रक्षा करने में समर्थ था।"**[४] [उनके अनुसार उससे पहले की या बीच की कोई

---

१. इस सूक्त का—**ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्॥**

२. स० प्र० अष्टम समुल्लास, पृ० ३४०. ३. मिशक़ात जिल्द ४ किताबुल फ़ितन, पृ० ६४०.

४. "According to Dr. Clark's belief man appeared in the plocene age. Just preceeding the Ice age. He appeared suddenly and in substantially the same form as he is to-day. There is not the slightest evidence of his existance beforee that time. He appeared able to walk able to think and albe to defend himself. Dr. Clark holds there are no mising links."

—Quarterly Review of Biology से उद्धृत.

कड़ी गुम नहीं हुई ।] इस प्रकार इस सम्पूर्ण विस्तृत विचन से ज्ञात हुआ कि सर्गारम्भ में मनुष्य की स्थिति क्या थी ?

निष्कर्ष—

सम्पूर्ण विवेचन का यह निष्कर्ष हुआ कि **निमित्त कारण परमेश्वर** ने, **उपादान-भूत प्रकृति** और **निदान** भूत [जीव के] पुण्यापुण्य [कर्मों के सहयोग] से सृष्टिरचना की; और दशांगुल पुरुष के भोगापवर्ग के लिए, इस जगत् की रचना की । इस रचना का भी एक क्रम है : उस क्रम में **दशांगुल** पुरुष सर्वातिशायी पुरुष की **सर्वोत्कृष्ट,** अन्तिम और पूर्ण रचना है । दशागुल पुरुष को अपनी ही अनुकृति में वना देख उसने अत्यन्त प्रसन्नता तथा आत्मतृप्ति अनुभव की । अपने सृजन-कर्म की मानव सृष्टि के रूप में परिपूर्णता को देख कर उसे महान् संतोष हुआ और उसने अपना हाथ थाम लिया ।

विवेचनीय पुरुष-सूक्त में भी इस प्रसंग के साथ ही सृष्टि उत्पत्ति के वर्णन का समापन हो गया है । मानो ईश्वरीय सृष्टि की रचना के विषय में अब किंचित् भी वक्तव्य न हो । तदनन्तर सर्वातिशायी पुरुष ने दशांगुल पुरुष को आदेश दिया कि अब तुम रचना करो । मैंने तुम्हें दश अंगुलियों वाले हाथ इसी लिए दिए हैं, तुम ऐसी **प्रतिमा** का निर्माण करो, कि जिससे इस विश्व का कल्याण हो । उसने **'विराट पुरुष'**–रूप **प्रतिमा** 'और **पिण्ड पुरुष'**–रूप **प्रतिमा** की ओर संकेत करते हुए कहा — जो कुछ तुम गढो अथवा तक्षण करो [तराशो], वह इन दोनों प्रतिमाओं में से किसी एक के अनुरूप अवश्य होना चाहिए । इन्हीं की भांति उसके **शिर, बाहु, उदर** और **चरण** होने चाहिएं : मेरा कार्य समाप्त हुआ अब तुम्हारे कार्य का समारम्भ है, यह आदेश देकर उसने उससे पूछा कि 'जिस पुरुष के निर्माण की तुमने रूपरेखा तैयार की है — उसका **मुख** क्या होगा ? उसके **बाहु** क्या होंगे ? उसके **ऊरु** क्या होंगे ? और **चरण** क्या होंगे? **दशांगुल पुरुष** ने अत्यन्त साहस से प्रश्न का समाधान करते हुए, कहा कि 'जिस पुरुष का मैं निर्माण करूंगा उस पुरुष का नाम **'समाज पुरुष'** होगा उसका **मुख ब्राह्मण** होगा, उसकी **भुजाएं क्षत्रिय** होंगी, उसके **ऊरु-उदर वैश्य** होंगे, एवं **चरण शूद्र** होंगे अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि ब्राह्मण को मुख स्थानीय, क्षत्रिय को बाहुस्थानीय, वैश्य को उदरस्थानीय, और शूद्र को चरण स्थानीय बनाऊंगा । यही कारण है कि पुरुष-सूक्त के सृष्टि-रचना-क्रम में दशांगुल पुरुष की रचना के पश्चात् ही समाज-पुरुष के निर्माण की बात कही गई है । जिसका वर्णन अष्टम अध्याय में किया जाएगा ।

सप्तम अध्याय

वेदाविर्भाव

पुरुषसूक्त विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से अन्य सूक्तों की अपेक्षा अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पुरुषतत्त्व का प्रतिपादन सर्वप्रथम इसी सूक्त में हुआ है। जिस प्रकार दार्शनिक भाषा में आत्मा द्विविध माना जाता है, उसी प्रकार इस सूक्त का 'पुरुष' भी द्विविध है—एक सर्वातिशायी पुरुष और दूसरा दशांगुल पुरुष। इन दोनों ही चेतन पुरुषों से भिन्न प्रकृति-पुरुष का भी यहां प्रतिपादन हुआ है, जिसकी संज्ञा **'भूमि'**, **'इदं सर्वम्'**, **'विश्वा भूतानि'**, **'विराट्'**, और **'पृषदाज्य'** के रूप में प्रतिपादित हुई है। अर्थात् सृष्टि के निमित्त कारण, उपादान कारण और [जिसके लिये यह सृष्टि रची गई है उस] **'जीवात्म'**-तत्त्व का भी प्रतिपादन यहाँ किया गया है।

अपौरुषेय-ज्ञान का प्रतिपादन—

इस सूक्त की अन्य अनेक विशेषताओं के अतिरिक्त एक और महती विशेषता यह है, जो कि अन्यत्र दुर्लभ है और वह है—**'अपौरुषेय-ज्ञान'** के प्रतिपादन की। वेद में, एक दो स्थलों को छोड़कर [जहां कि **ऋक्**, **यजुः**, **साम** और **अथर्व** का नाम लेकर महत् ब्रह्म का वर्णन किया हो] अन्यत्र कहीं भी अपौरुषेय ज्ञान के आविर्भाव की बात नहीं मिलती। पुरुषसूक्त में स्पष्टतः इसका प्रतिपादन किया गया है। उस **सर्वहुत् यज्ञ-पुरुष** से ज्ञान के आविर्भाव का वर्णन इस सूक्त में इन शब्दों में किया गया है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥[1]

—उस **सर्वहुत् यज्ञ** पुरुष से **ऋक्** और **साम** उत्पन्न हुए और उसी से **'छन्दः'** तथा **'यजुः'** भी उत्पन्न हुए।

इस प्रसंग में निम्नांकित बातें विचारणीय हैं—

१. **सर्वहुत् यज्ञ से ऋग्, साम, छन्दः और यजुः की उत्पत्ति हुई।**
२. **[याज्ञिक परिभाषा में सर्वहुत्] यज्ञ की सार्थकता के लिये हवि आदि यज्ञोपकरणों की आवश्यकता होती है।**
३. **'ऋक्', 'साम' आदि क्या हैं।**
४. **'छन्दः' पद का वाच्य क्या है? इत्यादि।**

सूक्त में सर्वप्रथम सर्वातिशायी पुरुष [की महिमा] का वर्णन 'सहस्रशीर्षाक्षिपाद' नाम से किया गया है। यह 'महिमा' उसका एक अंश भी है, वस्तुतः वह **'अतो ज्यायांश्च'** [मन्त्र २] फिर उसे ही **'विराट्'**

---

१. ऋ० १०.९०.९.

से अधिक बताया गया है [मन्त्र ५]। जैसे ही धरती पर चैतन्य के आविर्भाव की बात आई कि उसे **सर्वहुत् यज्ञ** की संज्ञा दे दी गई [मन्त्र ८] और [यह **'सर्वहुत्'**, षोडशी पुरुष की मात्र एक कला है, जिसका वर्णन तृतीय अध्याय में द्रष्टव्य है।]

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि सूक्त के द्वितीय मन्त्र में **'इदं सर्वम्'** की संज्ञा **पुरुष'** बताई गई है और इस **इदं सर्वम्'** का एक अर्थ जहां प्रत्यक्ष जगत् है वहाँ मूल प्रकृति भी है। [सृष्टि] यज्ञ का पूर्णाहुति के समय [इदं] **'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा'** कहकर **'दृश्य जगत्'** की आहुति मूल प्रकृति संज्ञी पुरुष में दे दी जाती है यही उसका सर्वहुत् रूप है। उस समय पुरुष **सर्वं हूयतेऽस्मिन्निति सर्वहुत्'** संज्ञा को सार्थक करता है और सृष्टि रचना के समय **'[इदं] सर्वं वै पूर्णं स्वाहा'** कहकर 'विराट् पुरुष' में हवि डाल देता है। उस समय पुरुष **'इदं सर्वं हूयतेऽनेनेति सर्वहुत्'** संज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार सृष्टियज्ञ में 'सर्वस्व' आहुत कर जगत् की रचना अर्थात् आहुति को प्रत्यावृत्ति रूप चक्र प्रत्यावर्तित होता है : **'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥'** के द्वारा प्रतिपादित किया है।

सर्वहुत् यज्ञमयप्रभु इससृष्टि यज्ञ के यजमान हैं, 'इदं सर्वम्' की हवि है. **अन्तरिक्ष वेदि** है तथा **साध्य, वसु** और ऋत्विक्[यज्ञ में शामिल] **विश्वे देवा हैं]** वह जब **'पृषदाज्य'** को हवि बनाता है, तो **'भूमि'** वेदि होती है। और **वेदि** की सार्थकता भी इसी में होती है, कि वह निरन्तर हवि को ग्रहण करती हुई उसे सहस्रगुणित कर वापिस लौटाती रहे।

हृदय वेदि में 'सर्वहुत्' की ज्ञान-हवि—

'सर्वहुत् यज्ञ' पुरुष जहां **'इदं सर्वम्'** की अथवा **'पृषदाज्य'** की हवि देते है वहां **'ज्ञानहवि'** भी देते हैं। जैसे नित्य प्रकृति के रूप में **'पृषदाज्य'** रूप हवि, **'यज्ञपुरुष'** के पास सदा वर्त्तमान रहती है वैसे ही **नित्यज्ञान** भी उसमें सदा रहता है। वह सर्वज्ञ है। ज्ञान उसका शाश्वत तथा स्वाभाविक गुण है **स्वाभाविकी जानबलक्रिया**[२] ज्ञान-हवि के लिये वेदि की आवश्यकता थी और उसकी पात्रता **'दशांगुल पुरुष'** **च।** से भिन्न किसी में न थी। **'दशांगुल पुरुष'** का **हृदय** ही वह **वेदि** थी जिसमें **ज्ञान-रूप हवि** आहुत की गई। उसी **ज्ञान** का जब **हृदय-वेदि** से प्रत्यावर्तन हुआ, तब उसकी संज्ञा **'ऋग्यजुः, छन्दः और साम'** हो गई। क्योंकि इनको **हृदय-वेदि** में से 'लाभ' किया गया इस कारण इनका नाम **वेद** हो गया।

इस ज्ञान की **'अपौरुषेयता'** इस कारण से भी है कि इसकी हवि दशांगुल पुरुष अर्थात् कर्मात्मा पुरुष के द्वारा नहीं डाली गई थी। यहां **सर्वहुत्'** शब्द का अर्थ ज्ञान को पूर्णतया हवि बना देने से है। यह चक्र सृष्टिचक्र की भांति नित्य चलता रहता है। **सृष्टि-रचना** के समय **ज्ञान-हवि दशांगुल** पुरुष के हृदय में आहुत होती रहती है और **प्रलयावस्था** में वह **हवि, 'सर्वज्ञानमय'** पुरुष में लौटती रहती है : **'यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरवदध्म एनम्।'**[३]

अपौरुषेय रचना का पौरुषेय रचना से अन्तर—

वेदरूपी ज्ञान की अपौरुषेयता का एक कारण और भी है। अपौरुषेय रचना और पौरुषेय रचना में सदा एक भारी अन्तर होता है। अपौरुषेय रचना सदा अन्दर से बाहर की ओर विकसित होती है जबकि पौरुषेय रचना बाहर से अन्दर की ओर। जो वस्तु अपौरुषेय होगी, उसकी रचना अन्दर से उभरती हुई बाहर को जायेगी; सन्तरा, नारंगी, अमरूद, आम, नारियल, वृक्ष, पुष्प आदि

---

२. श्वे० उ० ६.८.   ३. अथर्व० १९.७२.१.

अन्दर से बाहर की ओर बढ़ते हैं जबकि पौरुषेय रचना बाहर से गढ़गढ़कर तैयार की जायेंगी। गेंद, बन्दूक की गोली, मकान, मेज, कुर्सी आदि पदार्थ बाहर से विकसित किये जाते हैं।

यही बात ज्ञान के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। जो ज्ञान अन्दर से उद्‌बुद्ध अथवा प्रेरित होकर बाहर की ओर आएगा—वह अपौरुषेय कहलाएगा, और जो ज्ञान बाहर से अन्दर की ओर बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त किया जाकर, अन्तःकरण की ओर प्रवृत्त होगा, वह पौरुषेय कहलायेगा : **अपौरुषेय ज्ञान का प्रादुर्भाव हृदय-गुहा से होगा.** जबकि **पौरुषेय ज्ञान कानों में डाला जाएगा; अपौरुषेय ज्ञान के** लिए **वाक्** और **श्रोत्र** इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होगी। **हृदय-गुहा** में विद्यमान **सर्वातिशायी पुरुष'** और **'दशांगुलपुरुष'** दोनों ही गुप्त [अतीन्द्रिय] भाषण कर रहे होंगे, वहां वाक्-श्रोत्र का उपयोग न होगा। सर्वातिशायी पुरुष के वागादि इन्द्रियों के होने का प्रश्न ही नहीं। दशांगुल पुरुष की वागादि इन्द्रियां होंगी, परन्तु वह उनका उपयोग न कर सका होगा, [क्योंकि वह अभी **'पृश्नि-माता'** के उदर में होगा और उल्व-[आवरण] से आच्छादित होगा तब न **वाक्** विवृत होगी न **श्रोत्र** विवृत होंगे]। एक निरवयव पुरुष निराकार-निरिन्द्रिय और दूसरा पुरुष सावयव-साकार-सेन्द्रिय-शरीर मिलने पर भी आवरणयुक्त होने से, इन्द्रिय उपयोग करने में असमर्थ होगा। इन सब के अभाव में भी, **गुप्त भाषण होगा, मंत्रणा होगी।** [भले ही कुछ भेद के साथ ठीक उसी प्रकार कि जिस प्रकार मातृ-उदर में विद्यमान **गर्भ** की, **माता के मनन चिन्तन** आदि के साथ एकरूपता रहती है। वहां भी दोनों के मन तथा हृदय को बांधने वाले सूत्र होते हैं] परन्तु हृदय गुहा में विद्यमान दशांगुल एवं सर्वातिशायी के मध्य कोई भी बाह्यसूत्र न होंगे। वहां तो **'सर्वातिशायी पुरुष'** के अन्तर्यामी होने से **'दशांगुल पुरुष'** के हृदय में मन्त्र **प्रेरित** हो रहे होंगे—**उच्छ्वसित** हो रहे होंगे —सर्वथा गुप्त मन्त्रणा-मन्त्र=वेद।

एक निगूढ़ समस्या—

पुरुषसूक्त-प्रतिपादित सृष्ट्युत्पत्ति के प्रसंग में, मनुष्योत्पत्ति और वेदाविर्भाव के क्रमविपर्यय को देखकर एक निगूढ़ समस्या का उठना स्वभाविक है; जिसे डा० सुधीरकुमार गुप्त ने अपने पुरुषसूक्त भाष्य में **'एक समस्या'** नाम से उठाया भी है। उनके शब्द निम्नलिखित हैं—

"परन्तु अभी मानवसृष्टि का वर्णन नहीं किया गया है। इससे पहले मन्त्र में **ग्राम्यान्**[1]-पशु शब्द से मानव का भी ग्रहण तो किया जा सकता है, परन्तु अगले मन्त्र में पशुओं का पुनः विस्तार किया गया है। मानवों का वर्णन केवल मन्त्र १२ में आया माना जा सकता है। फिर ऋग्वेदादि की उत्पत्ति कैसे हुई ? क्या इसमें नित्य वाणी के प्रकाश का भाव लेकर, वाणी के अंग होने के कारण ही ऋग्वेद आदि का वर्णन किया गया है अथवा अन्य किसी दृष्टि से, यह विचारणीय है। उधर ब्राह्मण-ग्रन्थों में **ऋक्** आदि के कुछ अर्थ मिलते हैं, क्या उनमें से भी कोई अर्थ यहां अभिप्रेत है ?"[2]

समाधान : द्विजन्मा आदिमानव—

यहां डा० गुप्त के द्वारा उत्थापित समस्या का मूल अभिप्राय यह है कि 'पुरुषसूक्त में मनुष्यों

---

१. **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥**
—ऋ० १०.९०.८

२. डा० सुधीरकुमार गुप्त-कृत **'वेदलावण्यम्'**। पु० सू० [पृ० २४ अ]

की उत्पत्ति बारहवें मन्त्र[1] में प्रदर्शित की गई है और ज्ञानोत्पत्ति की बात नवम मन्त्र में कह दी गई है। जब अभी मानव की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी तो ज्ञान किसको दिया गया ? अर्थात् **मानवोत्पत्ति** से पूर्व **ज्ञानाविर्भाव** का वर्णन करना उचित प्रतीत नहीं होता है ?"

डा० गुप्त के द्वारा उत्थापित शंका का उठना स्वभाविक है। सूक्त का अवलोकन करने पर आपाततः ऐसी ही प्रतीति होती है। किन्तु सूक्ष्म निरीक्षण से इसका समाधान भी सहज ही हो जाता है। वस्तुतः ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में जो क्रम दिया है, वह बहुत ही उपयुक्त है, और उसी के अध्ययन से उपर्युक्त समस्या का अपोहन सुलभ है।

यहाँ पहले अष्टम मन्त्र में **'पृषदाज्य'** के **सम्भरण** से किन-किन को उत्पन्न करने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ, केवल इसी का वर्णन है। उस श्रेणी में **वायव्य, आरण्य** और **ग्राम्य** पशु कहकर **जीवमात्र** का ग्रहण कर लिया है। इसके अन्तर्गत कीट से लेकर मानव-पर्यन्त सभी समाहित हो गये हैं।

इसके पश्चात् ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है। ज्ञान का आविर्भाव होने से पूर्व सभी पशु थे। पुरुष की पृथक् गणना नहीं थी। क्योंकि मनुष्य धारणात्मक बुद्धि के विषय-ज्ञान के कारण ही तो पशुओं से विलक्षण प्रतीत होता है। उस ज्ञान के प्रदान करते ही मानव पशु-श्रेणी से पृथक् कर दिया गया। परिणामतः जहां पशुओं के नाम गिनाये गये[2] वहां पुरुष-पशु का नामांकन नहीं किया गया। शिक्षित होते ही वह तो समाज के निर्माण के योग्य हो गया।

पशु-पक्षियों में नैमित्तिक ज्ञान की पात्रता न होने के कारण उन्हें उस ज्ञान से विमुख ही रक्खा गया। नैमित्तिक ज्ञान की पात्रता तो मानव में है—

सृष्टि के आदि-मनुष्यों का निर्माण शरीरधारी **माता, पिता** और **आचार्य** से संभव न था। उस समय सर्वातिशायी **पुरुष** [महद् ब्रह्म] ही **माता, पिता** और **आचार्य** थे। उसका उदर पृथिवी थी उसी में मानव **शरीरतः** और **विद्यातः** उभयविध **जन्म** ग्रहण कर रहे थे। पंतजलि ने उसी ब्रह्म को अपूर्व गुरु माना है जिससे कि पूर्व किसी को नहीं माना जा सकता—**'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**।[3] अथर्ववेद में भी उस परम ब्रह्म को अपूर्व ज्ञान-प्रदाता कहा है—**'अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्'**[4] उस अपूर्व महद् ब्रह्म के द्वारा प्रेरित ज्ञान का [=वाक् का] आदि मनुष्यों ने यथायोग्य वर्णन किया···कथन किया।

अथर्ववेद के प्रसिद्ध ब्रह्मचर्यसूक्त में ब्रह्मचारी का, विद्यातः जन्म प्राप्त करने के लिए आचार्य के उदर में रहने का रोचक वर्णन है—

'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥'[5]

इस मन्त्र में आये हुए **'ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः** का अर्थ, आचार्य सायण ने भी—**'ब्रह्म-**

---

१. **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥**
—ऋ० १०.९०.१२.

२. **तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥**
—ऋ० १०.९०.१०

३. यो० सू० १.२६. ४. अथर्व० १०.८.३३. ५. अथर्व० ११.५.३.

चारिणं माणवकं अन्तः-विद्याशरीरस्य मध्ये गर्भं कृणुते करोति' यह किया है। आचार्य, ब्रह्मचारी को उतने समय पर्यन्त उदर में धारित किये रहता है जब तक कि विद्यामय शरीर से जन्म न हो ले। **जातम्'** पद का भी अर्थ, सायणाचार्य **'विद्यामयशरीरादुत्पन्नम्'** करते हैं।

इन दो प्रकार के जन्मों की बात धर्मसूत्रकार आपस्तम्ब ने भी कही है : **'स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः'**[1]।

जब सामान्य ब्रह्मचारी की यह बात है तो सृष्टि के आदि में जन्मे हुए व्यक्ति की तो कथा ही क्या ? उसे तो दोनों जन्मों की सुतरां आवश्यकता है। अतएव सर्वातिशायी [सर्वहुत् यज्ञपुरुष-रूप, परमाचार्य] पिता ने, आद्य मानवों को विद्यातः और शरीरतः उभय प्रकार के जन्म एकसाथ ही दिये क्योंकि उन्हें भूमि पर स्वतन्त्र रूप में भेजने से पूर्व यह आवश्यक था कि वह उन्हें जीवन-व्यवहार हेतु सभी नियमों से अवगत करावे। यह सामान्य-सी बात है कि किसी भी निर्माण से पूर्व उसके सुदृढ़ नियमों का निर्धारण पहिले करना होता है। [सभा-समिति, राज्य, प्रदेश, नगरों के संस्थानों के] नियम तथा संविधान, व्यवस्था के प्रारम्भ होने से पूर्व ही बनाये जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो वे संस्थान पंगु ही रहेंगे। एवमेव सर्वातिशायी यज्ञपुरुष ने भी मानव को शरीरतः जन्म देने से पूर्व ही उसे वेदज्ञान से प्रपूरित-परिचित कर दिया। वेदज्ञान से भरपूर आत्मज्योति वाला मानव, जब शारीरिक जन्म पाकर पृथिवी पर विचरण करने लगा तो, ज्ञानयुक्त होने के कारण, उसे जीवन-व्यवहार में तथा जगत् को समझकर उससे काम लेने में किंचित् भी कठिनाई नहीं हुई।

अतः इस सूक्त का यदि केवल **शरीरतः** जन्म को लक्ष्य में रखकर अध्ययन किया जाय तो विसंगति प्रतीत होती है, किन्तु यदि उपरिर्चचित प्रकार से **विद्यातः** जन्म को दृष्टि में रखकर तथा उसे विशिष्टतर जन्म समझकर सूक्तावलोकन किया जाय तो, सुसंगति ही प्रतीत होती है।

शरीर और ज्ञान का क्रमिक आविर्भाव—

इसी प्रसंग में एक समस्या और उपस्थित होती है कि क्या एक ही काल में सम्पूर्ण मन्त्र उत्पन्न हुए अथवा भिन्न-भिन्न काल में ? प्रायः सभी आचार्य इस बात पर सहमत हैं कि वेदों की **आनुपूर्वी नित्य है उनमें क्रम है।** यह सब होते हुए भी ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान के प्रकाशित करने के लिए उक्त मन्त्रों की स्वतः स्फूर्ति अथवा बुद्धिपूर्वक रचना, इन दोनों पक्षों में से चाहे कोई भी पक्ष माना जाय, उनकी उत्पत्ति क्रम से हुई, यह बात अवश्य माननी होगी। क्योंकि इतनी महान् शब्दराशि रूप मन्त्रों की उत्पत्ति का बिना क्रम होना संभव नहीं। यह सर्वानुभव-सिद्ध है कि शब्द की उत्पत्ति कण्ठ, तालु आदि से सम्बद्ध होती है, परन्तु सभी शब्दों की उत्पत्ति में एक ही सम्बन्ध पर्याप्त नहीं। इसलिए अनेक शब्द मानने पड़ते हैं। ऐसा मानें तो शब्दराशि मन्त्रों की उत्पत्ति क्रम से हुई स्पष्ट है। यहां सर्वत्र **'उत्पत्ति'** शब्द **अभिव्यक्ति और उत्पत्ति**—यथाभिमत दोनों का वाचक है। जो मन्त्र क्रम से उत्पन्न हैं उनके लिए भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न हुए कहना ही युक्त प्रतीत होता है, एक काल में उत्पन्न हुए नहीं। क्योंकि क्रम, कदापि बिना कालभेद के नहीं हो सकता। एक मन्त्र की उत्पत्ति से दूसरे मन्त्र की उत्पत्ति में [अथवा एक सूक्त की उत्पत्ति से दूसरे सूक्त की उत्पत्ति में] जितना कालभेद वादी को अभिप्रेत है उतना कालभेद चाहे न हो, तथापि मन्त्रों की उत्पत्ति में कालभेद अवश्य है'—ऐसा मानना अयुक्त नहीं कहा जा सकता।

---
१. आप० ध० सू० १.१.१.१६,१७.

उक्त समस्या, उभय-पक्ष के सम्मुख उस अवस्था में ही उठती है, कि जब वेदाविर्भाव, मनुष्योत्पत्ति हो लेने के पश्चात् माना जाय। उस अवस्था में तो मन्त्रों का क्रमभेद अवश्य बना रहेगा। ईश्वर द्वारा हृदय में प्रेरित ज्ञान जब वैखरी वाक् बनकर प्रस्फुटित होगा तब कण्ठ, तालु आदि स्थानों का उपयोग होगा और एक मन्त्र का दूसरे मन्त्र से, एक सूक्त का दूसरे सूक्त से कालभेद और क्रमभेद अवश्य बना रहेगा, वेदाविर्भाव के क्रम से पुरुषसूक्तानुसार परिवर्तन मान लेने से इस समस्या का समाधान अनायास हो जाएगा। सूक्त के क्रम में **वेदाविर्भाव प्रथम** है और **मनुष्योत्पत्ति पश्चात्** है। सर्गारम्भ में सभी मनुष्य जहाँ **शरीरतः** जन्म के लिए **'पृश्नि माता'** की कुक्षि में थे, वहाँ **विद्यातः** जन्म प्राप्त करने के लिए **आदि-आचार्य** [सर्वातिशायी-पुरुष] के **उदर** में थे। जहाँ शरीर-निर्माण हो रहा था, वहाँ ज्ञान-प्राप्ति भी हो रही थी। उत्पत्ति के समय वे समस्त ज्ञानराशि से युक्त थे। अब न मन्त्रों के क्रमभेद का प्रश्न था, न कण्ठ ताल्वादि स्थानों के उपयोग की बात थी। वे सभी उत्पन्न होते ही ब्राह्मण थे। वे ब्रह्म अर्थात् वेद के अपत्य थे—जिनका व्रत था कि भूमि पर चरण रखते ही इस दैवी वाक् का—वेद का प्रचार और प्रसार करेंगे। अतः उत्पन्न होते ही वे सभी परस्पर, दैवी वाक् का मण्डन करने लगे। सर्गोदय की उस प्रथम उषा का सजीव वर्णन **'संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः,** में हुआ है। उसी दैवी वाक् का आविर्भाव पुरुषसूक्त में दर्शाया है—**ऋचः सामानि जज्ञिरे···छन्दांसि···यजु०।**

ऋक्, साम्, छन्दः और यजुः क्या हैं ?

'सर्वहुत् यज्ञ' पुरुष से विद्यातः जन्म के प्रसंग में चार पदार्थों के उत्पन्न होने की बात कही गई है। वे चार पदार्थ हैं—**ऋचः**, **सामानि**, **छन्दांसि** तथा **यजुः**। अब यह विचारणीय है कि ये **'ऋचः'** आदि पदार्थ हैं क्या ? वेद-संहिताओं में अन्यत्र भी **ऋचः**, **सामानि** और **यजूंषि** आदि का एक साथ पाठ उपलब्ध होता है;[1] पर कहीं भी कोई इस प्रकार का निश्चयात्मक विशेषण-विशेष्यभाव नहीं मिलता जिससे **'इदमित्थम्'** रूप में यह कहा जा सके कि अमुक को **ऋचः**, **साम** या **यजुः** कहते हैं। सांहितिक सहयोग के अभाव में हमें संहितेतर वैदिक साहित्य के प्रकाश में ही इस बात का निर्णय करना होगा। शतपथब्राह्मण में कहा है—**'त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि इति ॥'**[2]—**ऋक्**, **यजुः** और **साम** ये तीन प्रकार की विद्याएं हैं।

इस ब्राह्मणवचन से यह स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है कि **ऋक्**, **यजुः** और **साम** ये नाम विद्या के हैं। विद्या और ज्ञान पर्यायवाची हैं। फलतः **ऋक्**, **यजुः** और **साम** ये ज्ञानविशेष के नाम हैं। ज्ञान के लिए अति प्रसिद्ध प्राचीन नाम है **'वेद'**। संस्कृत वाङ्मय में **ऋक्**, **यजु** और **साम** तथा **अथर्व** के

---

१. [क] **ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि।···यजु० १८।६७॥**

[ख] **ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये।···यजु० ३६।१॥**

[ग] **अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।···ऋ० ५।४४।१५॥**

[घ] **यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ॥ ···अथर्व० १०।७।२०।**

[ङ] **ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।···अथर्व० ७।५४।१॥**

२. शत० ब्रा० ४.६.७.१.

साथ वेद शब्द का प्रयोग बहुत उपलब्ध होता है।[1]

संहिताओं में निर्दिष्ट ये **ऋचः**, **सामानि** और **यजूंषि** आदि वस्तुतः वेद हैं कि नहीं, इस बात के निर्णय के लिए हम शास्त्र के दो एक स्थलों का निरीक्षण करना उचित समझते हैं। मनुस्मृति में कहा है—**अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥**[2]

'ब्रह्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिए **अग्नि**, **वायु** और **रवि** से क्रमशः **ऋक्**, **यजुः** और **साम** नामक सनातन **ब्रह्म** [=वेद] का दोहन किया। इसी प्रकार शतपथ-ब्राह्मण में कहा है—**अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥**[3] अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुआ। यही बात ऐतरेय ब्राह्मण में दोहराई गई। '**ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्॥**[4]

स्पष्ट है कि ऋग्वेद को ही संक्षेप में **ऋक्=ऋचः** यजुर्वेद को ही **यजुः=यजूंषि** और **सामवेद** को ही **साम=सामानि** तथा **अथर्ववेद** को ही **अथर्व=अथर्वाङ्गिरस्** आदि नामों से अभिहित किया गया है।

"छन्दांसि" पद का वाच्य—

इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि पुरुष-सूक्त के इस सप्तम मन्त्र में वेदों के आविर्भाव की बात कही गई है, पर इस निर्णय के साथ ही, एक समस्या और उपस्थित हो आती है वह यह कि संस्कृत-वाङ्मय में जहां भी वेदों की बात कही गई है वहां उसके साथ '[5]चतुष्टय' पद अन्वित है। जब कि

---

१. [क] **एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।**
—शत० ब्रा० १४।५।४।१०॥

[ख] **अग्निमीडे इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते।...यजुर्वेदमधीयते...सामवेदमधीयते॥**
—गो० ब्रा० १।१।१६॥

[ग] **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः॥**...मु० उ० १।१।५॥

[घ] **नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥**
—वा० रा० किष्कि० -३।२८॥

२. मनु० १।२३॥

३. शत० ब्रा० ११।५।८।३॥ ४. ज० ब्रा० २५।७

५. [क] **यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥**
अथर्व० १०।७।२०

[ख] **चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः॥** निरु० १३।७॥

[ग] **चत्वारो वेदाः साङ्गाः अथर्वणो वेदः।** पा० व्या० म० भा० (पस्पशाह्निक)

[घ] **चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते॥** षड्गुरु शिष्य०

[ङ] **अवतीर्णो महाभागो वेदं चक्रे चतुर्विधम्॥**
ऋगथर्वयजुः साम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव॥ भा० पु० १२।६।४९,५०

[च] **चत्वारि शृङ्गा इति वेदा वा एतदुक्ताः॥** का० सं० २५।१ [क्रमशः]

सूक्तगत मन्त्र में **ऋचः, सामानि और यजुः**" नाम्ना उल्लेख तीन वेदों का ही प्रतीत होता है। [अथर्ववेद को जैसे भुला दिया गया है।] मन्त्र को सामान्यतः देखने पर, आपाततः भ्रम यही उत्पन्न होता है; किन्तु मन्त्र के तृतीय चरण का जरा गौर से अध्ययन करने पर इस भ्रम का निरास हो जाता है। तृतीय चरण में कहा है—**'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्'** उससे **'छन्दस्'** भी उत्पन्न हुए। यहां **'छन्दांसि'** पद विशेष-रूप से ध्यान देने योग्य है। इस **'छन्दांसि'** से **गायत्री त्रिष्टुप्** आदि छन्दों का ग्रहण करना उचित नहीं। यद्यपि सायण, महीधर आदि कतिपय व्याख्याकार यहां **'छन्दांसि'** पद को गायत्र्यादि का वाचक मानते हैं[1] परन्तु उनका ऐसा मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। यदि यहां **'छन्दांसि'** पद से गायत्री आदि अभीष्ट होते तो 'छन्दः' शब्द का प्रयोग ही व्यर्थ है, क्योंकि **ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद** तो हैं ही छन्दोमय। विना **'छन्दः'** का नाम लिये ही स्वतः ही उनके छंदोमय स्वरूप का ग्रहण हो ही जाता। अतः स्पष्ट है कि यहां **'छन्दांसि'** पद से गायत्री आदि छंद अभीष्ट नहीं हैं। किंच यदि 'छंदांसि' पद 'ऋचः', 'सामानि' और 'यजुः' का विशेषण होता तो पृथक् रूप से इसके साथ **'जज्ञिरे तस्मात्'** इस प्रकार का क्रियापद और सर्वनाम का प्रयोग न होता। जैसे **'ऋचः 'सामानि'** और **'यजुः'** के साथ पृथक्शः **'तस्माद्'** सर्वनाम और **'जज्ञिरे', 'अजायत'** इन क्रियापदों का प्रयोग है अतएव ऋचः की पृथक् सत्ता है, 'सामानि' की पृथक् सत्ता है और यजुः की पृथक् सत्ता है, ठीक उसी प्रकार **'छन्दांसि'** पद के साथ भी **'तस्मात्'** सर्वनाम और **'जज्ञिरे'** क्रियापद का प्रयोग पृथक् होने से **'छन्दांसि'** की भी 'ऋचः' आदि से भिन्न पृथक् सत्ता है।

'छन्दांसि' पद और अथर्ववेद

अथर्ववेद की छन्दोबहुलता—

विमर्शणीय अब यह है कि यदि 'छन्दांसि' पद गायत्र्यादि का वाचक नहीं है तो इससे किसका ग्रहण करना चाहिये ? प्रथम तो 'परिशेषन्याय' से ही 'छन्दांसि' पद से **अथर्ववेद** का ग्रहण करना उचित है; दूसरा इसमें शास्त्रोक्त हेतु भी कुछ है : गोपथ ब्राह्मण में प्रत्येक वेद की अभिज्ञा उसके प्रमुख देवता, ज्योति, छंद और स्थान रूप में प्रस्तुत है : **ऋग्वेद** का प्रमुख छंद **'गायत्री'** माना गया है, **यजुर्वेद का त्रिष्टुप् और सामवेद का जगती** किन्तु **अथर्ववेद** के विषय में स्पष्ट लिखा है—**अथर्वणां चन्द्रमा दैवतम्। तदेव ज्योतिः। सर्वाणि छन्दांसि। आपः स्थानम्॥**[2]

इसमें कहा गया है कि अथर्ववेद के सभी छंद हैं अर्थात् अथर्ववेद में छंदों का बाहुल्य है। सम्भवतः इस 'छंदोबाहुल्य' के कारण ही अथर्ववेद को 'छन्दांसि' अथवा छन्दोवेद नाम से पुकारा जाताहै।

[छ] **चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति** ॥ गो० १।२।१६

[ज] **ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वारः** —प० पु० ५।१८।५६

[झ] **चत्वारो वेदाः** ॥ म० पु० १३३।३३, लि० पु० १।८६।५१-५२; वि० पु० ५।१।३६; प्रभास क्षेत्र १०५।६२; भा० पु० १।४।२०

[ञ] **ऋग्यजुः सामाथर्वाणाश्चत्वारो वेदाः** ॥ नृ० पू० उ० १-२

१. [अ] **तस्माद् यज्ञाच्छंदांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे** ॥ ऋ० १०.९०.९. सा० भा०

[आ] **'छंदांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे'**। यजु० ३१. ७. मही० भा०

२. **ऋचां गायत्रं छन्द यजुषां त्रैष्टुभं छन्दः साम्नां जागतं छन्दः**। गो० ब्रा० १.२९.

अथर्ववेद का छादनत्व और छन्दांसि नाम—

अथर्ववेद के लिये 'छन्दः' शब्द के प्रयोग में शास्त्रीय प्रमाणों के अतिरिक्त एक कारण और भी हो सकता है : अथर्ववेद में शरीर की रक्षा के लिए औषधियों का; यक्ष्मादि रोग-निवारणार्थ चिकित्सा-साधनों का और राज्य-रक्षा के लिए विविध उपायों का विधान किया गया है। अर्थात् रक्षा= छाया-छादन अथर्ववेद का मुख्य कार्य है, निरुक्त में लिखा है—'छन्दांसि छादनात्'[१] जो आच्छादन करता है वह छन्द कहाता है। **अथर्ववेद** भी क्योंकि शरीर, राज्य आदि का औषध-उपायादि-बोधन के द्वारा **आच्छादन** करता है अतः वह 'छन्दः' पद का वाच्य है।

शास्त्रीय प्रमाण—

ऋग्वेद में एक स्थल पर आया है—**यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन्** ॥[२]

यहां कहा गया है कि ब्रह्मा छन्दोगत वाणी को बोलता है। **अथर्ववेद** के ज्ञाता को **ब्रह्मा** कहते हैं। कर्मकाण्डियाज्ञिकों में प्रसिद्धि है कि यज्ञ के चार ऋत्विजों में से प्रत्येक ऋत्विक् एक-एक वेद का विशेष ज्ञाता होता है। गोपथब्राह्मण में कहा गया है—'**प्रजापतिर्यज्ञमतनुत। स ऋचैव होत्रमकरोत्, यजुषाध्वर्यवम्, साम्नौद्गात्रम्, अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्माणम्**'[३] अन्यत्र भी यही बात कही गई है **ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदमध्वर्युम्, सामविदमुद्गातारम् अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्** ॥'[४]

गोपथ के इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि **ऋग्वेद** के ज्ञाता को **होता**, **यजुर्वेद** के ज्ञाता को **अध्वर्यु**, **सामवेद** के ज्ञाता को **उद्गाता** और अथर्ववेद के ज्ञाता को **ब्रह्मा** माना जाता है। यही बात वायुपुराण में भी कही गई है—**ब्रह्मात्वमकरोद्यज्ञे वेदेनाथर्वणेन तु** ॥[५] अथर्ववेद के साथ '**ब्रह्मा**' पद के इस कार्यकारण-भावोत्पन्न अविच्छेद्य सम्बन्ध को जानने के पश्चात् ऋग्वेद के उपर्युद्धृत मन्त्रांश को देखें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि वहां '**छन्दस्यां वाचम्**' का अर्थ अथर्ववेद की वाणी है। ब्रह्मा, अथर्ववेद की वाणी का प्रयोग करता है। **अथर्ववेद** के लिए 'छन्दः' पद के प्रयोग का यह ऋग्वेद का उदाहरण हुआ। यजुर्वेद में भी **छन्दांसि** पद से **अथर्ववेद** का ग्रहण है—**स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यम्...।**[६] स्वयं **अथर्ववेद** में भी उसके लिए **छन्दांसि** पद का प्रयोग हुआ है—

'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः।[७]

यहां **ऋचः**, **साम** और **यजुः** के साथ निविष्ट 'छन्दः' पद **अथर्ववेद** का ही ग्राहक है।

वेदेतर संस्कृत साहित्य में भी '**छन्दांसि**' पद का व्यवहार **अथर्ववेद** के लिए होता रहा है। पूर्वमीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी, अथर्ववेद के लिए 'छन्दांसि' पद के प्रयोग को न्याय्य मानते हैं।[८] हरिवंश ने तो संदेह रहने ही नहीं दिया—

ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्याथर्वणानि च। चत्वारस्त्वखिला वेदा सरहस्याः सविस्तराः ॥[९]

यहां अथर्ववेद के लिए 'छन्दांसि' पद का प्रयोग पर्यायवाची विशेषण के रूप में किया गया है।

श्राद्ध-प्रकरणीय कल्पतरु और स्मृतिमुक्ताफल में तो संकेत ही था—

---

१. द्र० यह शो० प्र०। पृ० ५०
२. गो० ब्रा० १. २९.
३. गो० ब्रा० २.३.२
४. गो० ब्रा० १.२.२४
५. वा० पु० ६०.१८
६. यजु० १२.४
७. अथर्व० ११.७.२४
८. पू० मी० २.१.३५-३७। श० स्वा० भा०
९. ह० वं० पु०

यद्येकं भोजयेच्छ्राद्धे छन्दोगं तत्र भोजयेत् । ऋचो यजूंषि सामानि त्रयं तत्र तु विद्यते ॥[1]

यदि एक को भोजन कराना हो तो छन्दोग=छन्दोवेद=अथर्ववेद के ज्ञाता को भोजन करावे क्योंकि ऋक्, यजुः और साम तीनों ही उसमें विद्यमान हैं। महाभारत में कहा है—

[क] नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंषि विचक्षण।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥
न छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनम् मायया वर्त्तमानम् ॥[2]

—जो मायावी है, छलकपट से युक्त है और जिसने कि पाप कर्म को अपना रक्खा है उसे, उस पापकर्म से न तो ऋग्वेद, न यजुर्वेद, न सामवेद और न ही अथर्ववेद तार सकते हैं, उसे तो उस पापकर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। यहां साम, ऋक् और यजुः के प्रसंग के वाद आये, 'छन्दांसि' पद से स्पष्ट ही अथर्ववेद का बोध होता है।

[ख] छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा, जगौ पुरस्तादृषिसर्ग एषः।
छन्दोविदस्ते य उ तान्यधीत्य, न वेद्यवेदस्य विदुर्न वेद्यम् ॥[3]

यहां स्पष्ट ही अथर्वा के द्वारा छन्दों के गान करने की बात कही गई है। अथर्वा के साथ अथर्ववेद का अपरिहार्य सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है। फलतः यहां 'छन्दांसि' अथर्ववेद के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता।

संस्कृत भाषा से इतर भाषाओं के धार्मिक साहित्य में भी अथर्ववेद को **'छन्दोवेद'** नाम से पुकारने की परम्परा के कुछ प्रमाण उपलब्ध हुए हैं।

'छन्दांसि' [अथर्ववेद] और ज़न्दावस्था—

यह सर्वसम्मत है कि पारसी मत ईसाई, यहूदी आदि मतों की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन है। पारसी मत को वेदमूलक माना जाता है। पारसियों के धर्मग्रन्थ का नाम 'जन्दावस्ता' है। छन्द का अपभ्रंश **'जन्द'** हो गया है। पारसियों की इस 'जन्दावस्था' के अवलोकन से प्रतीत होता है कि महात्मा 'जरथुश्त्र' ने अथर्ववेद के मन्त्रों के आधार पर अपने देश की प्राकृत [पारसी] भाषा में इस ग्रन्थ को रचा। 'छन्दः' अर्थात् **अथर्ववेद** पर परम आस्था रखते हुए इस ग्रन्थ को रचा गया। अतः **'छन्द आस्था'** इसका नाम पड़ा होगा जो कालान्तर में अपभ्रष्ट होकर 'जन्दावस्था' हो गया होगा अथवा 'छन्दः' [=अथर्ववेद] पर अवस्थ [=अवस्थित]=आधारित होने के कारण इसका **'छन्दोऽवस्थ'** नाम पड़ना सम्भव है, जो पीछे जाकर **'जन्दावस्थ'='जन्दावस्था'** हो गया। अक्षर-विज्ञान के नियमानुसार जन्द भाषा में संस्कृत के 'छ' का 'ज' हो जाता है, अतः **'छन्द'** का **'जन्द'** होना स्वाभाविक ही है।[4]

'छन्दांसि' का वाच्य अथर्ववेद और भाष्यकार—

अथर्ववेद के इस **'छन्द'** सम्बद्ध नामकरण की इस उपरिविवेचित प्राचीन परम्परा को ध्यान में रखकर ही कतिपय भाष्यकारों ने इस व्याख्येय ऋचा के **'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्'** पाद की व्याख्या करते हुए **'छन्दांसि'** पद का अर्थ **अथर्ववेद** ही किया है और इस प्रकार उस पुरातन गूढ़ार्थनिविष्ट परम्परा को अक्षुण्ण रखने का स्तुत्य प्रयास किया है।

---

१. स्मृ० मु० फ० [श्राद्धभोजप्रकरण]
२. म० भा०। उ० प० ४३.२.३
३. म० भा०। उ० प० ४३.३०
४. 'वैदिक सम्पत्ति," पृ० २२६-२२७ [पंचम संस्करण]

अपने यजुर्वेद भाष्य में स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'[छन्दांसि] **अथर्ववेदः** [जज्ञिरे] **जायन्ते**[1] [तस्मात्] **परमात्मनः**'[2]—उस परमात्मा से अथर्ववेद उत्पन्न होता है।

[१] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी ऋचा का व्याख्यान करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"[छन्दांसि] **अथर्ववेदश्च...वेदानां गायत्र्यादिछन्दोन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्।**"[3] "वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं, फिर छन्दांसि इस पद के, कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है।"

[२] पिटर्सन :—

From that sacrifice fully made Rigveda and Samaveda were born : from it the Atharvaveda was born, from it the Yajurveda was born.[4]

[३] श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी इस ऋचा की व्याख्या में लिखते हैं :

"अर्थात् सबके द्वारा पूजनीय और यजनीय परमात्मा से **ऋक्, यजुः, साम** और **छन्दः** अर्थात् **अथर्ववेद** प्रकट हुए।"[5]

[४] 'हिन्दुत्व' के प्रसिद्ध लेखक रामदास गौड़ ने लिखा है···"यद्यपि अथर्ववेद का नाम सब वेदों के पीछे आता है तथापि यह समझना भूल होगी कि यह वेद सबसे पीछे बना है। पुरुषसूक्त में छन्दों से अथर्ववेद ही अभिप्रेत जान पड़ता है।"[6]

त्रयी और वेदचतुष्टय—

वेद चार हैं, किन्तु वेदों के लिए 'त्रयी' अथवा 'त्रय' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है :[7] इससे सामान्य मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है कि वेद चार हैं अथवा तीन। वस्तुतः समस्त संस्कृत-वाङ्मय तथा तत्प्रभावित साहित्य में, वेदों के चार होने की बात ही अधिकतया प्रचलित है। 'वेद चार हैं' यह व्यवहार ऋग्-यजुः-साम-अथर्व चारों वेदों में, तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी, पैप्पलाद, जैमिनीय आदि शाखाओं में तथा प्रायः सभी ब्राह्मण, श्रौत, गृह्य आदि शास्त्रांगों में मिलता है।[8] अर्थात् अब प्रश्न यह रह जाता है कि यदि वेद चार ही हैं, तो इसके लिये 'त्रयी' अथवा 'त्रय' शब्द का प्रयोग क्यों होता है ? इसका समाधान इस प्रकार है···जब वेदत्रयी अथवा वेदत्रय का प्रयोग होता है तो उसका अभिप्राय वेद के विद्याभेद अथवा प्रकार-भेद के कथन से है। वेद तीन प्रकार का होता है, अर्थात् वेद के मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं।

---

१. 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' अष्टा० ३.४.६ के अनुसार लिट् का सामान्य काल में प्रयोग है।

२. य० भा० ३१.७ ३. ऋ० भा० भू० [वेदोत्पत्ति-विषय] पृ० २६९

४. ऋग्भाष्यसंग्रहः, पृ० २५६ [देवराज चानना सम्पादित]

५. "वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति", पृ० ५०.

६. रामदास गौड़ कृत "हिन्दुत्व", आठवां अध्याय. [पृ० ५१]

७. [क] **अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्** ॥ मनु० १.२.३

[ख] **त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानीति** ॥ शत० ब्रा० ४.६.७.१

[ग] **त्रयी हृदयसन्दोहसाररूपं मनोहरम्** ॥ वृ० वि० शा० [वौधायन कृत टीका] मङ्लाचरण.

८. द्र० यह शोध प्रबन्ध, पृ० २६० टि० ५.

मन्त्रों के तीन प्रकार—

पूर्वमीमांसा में मन्त्रों के इस प्रकारत्रय का स्पष्टीकरण किया गया है—**'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'** जिन मन्त्रों की अर्थानुसार पादव्यवस्था है उन मन्त्रों को ऋक्' कहते हैं।

'गीतिषु सामाख्या' गानोपयोगी मन्त्रों को **'साम'** कहते हैं। **'शेषे यजुः शब्दः'**[1]

इन दोनों प्रकार के मन्त्रों से अवशिष्ट मन्त्रों को **'यजुः'** कहते हैं।

अधिकरण माला में इसी बात को इस प्रकार कहा है—**'पादबन्धेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः'** अर्थों से युक्त पादव्यवस्था-समन्वित मन्त्र **'ऋक्'** कहलाते हैं।

'गीतिरूपा मन्त्राः सामानि'—गीतिमय मन्त्र 'साम' कहाते हैं। **'वृत्तगीतिर्वजितत्वे प्रश्लिष्ट-पठिता मन्त्रा यजूंषि'**[2] छन्दोव्यवस्था तथा गीतिमयता से रहित जो मन्त्र हैं वे **'यजुः'** कहलाते हैं।

पूर्वमीमांसा और अधिकरणमाला के इस प्रकारत्रय को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं।]१] पद्यबद्ध मन्त्र 'ऋक्' हैं। [२] गीतिबद्ध मन्त्र 'साम' हैं और [३]गद्यबद्ध मन्त्र 'यजुः' हैं।

वेद के चार विभाग—

यह है वेद के लिए 'त्रयी' अथवा 'वेदत्रय' पदों के प्रयोग का कारण। चारों वेदो में इन तीनों प्रकारों के मन्त्र हैं। वेदचतुष्टयत्व का कारण संहिताभेद-ग्रन्थविभाजन-विषयविभाग है। [१] जब संहिताओं की अथवा ग्रन्थों की संख्या को दृष्टि में रखकर, व्यवहार अपेक्षित होता है तब 'वेदचतुष्टय' अथवा **'चत्वारो वेदाः'** कहा जाता है, किं वा [२] जब वेदों के विषय-विभाग को लक्ष्य करके व्यवहार किया जाता है, तब भी—**'चत्वारो वेदाः'** का प्रयोग होता है, क्योंकि वेदों के चार मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं—**विज्ञान, कर्म, उपासना** तथा **ज्ञान** [**ऋग्वेद** में **विज्ञान** का विषय है, **यजुर्वेद** कर्मकाण्ड से सम्बद्ध है, **सामवेद उपासना** का वेद है और **अथर्ववेद ज्ञान** का प्रतिपादक है।[3] जब संहिताभेद, ग्रन्थभेद अथवा विषयविभाग की विवक्षा नहीं होती और केवल मन्त्र प्रकार की दृष्टि से वेद के विषय में कुछ कहना होता है, तब'वेद' को **'त्रयी'** अथवा **'वेदत्रयी'** आदि नामों से पुकारा जाता है।[4]

'ऋग्वेद' आदि संज्ञाओं का कारण—

अब यह प्रश्न है कि जब **'ऋक् साम'** आदि पद, मन्त्रों के प्रकार के बोधक हैं, तो किसी एक संहिता-विशेष को ही **'ऋग्वेद' 'सामवेद'** आदि नाम से क्यों अभिहित करते हैं? क्यों नहीं प्रत्येक वेद के लिये चारों में से प्रत्येक संज्ञा का प्रयोग किया जाय? इसका समाधान यह है कि **'अग्निमीळे'** से लेकर **'समानीव आकूतिः'** तक के मन्त्र समुदाय में=संहिता ग्रन्थ में क्योंकि ऋचाओं की [=पद्यबद्ध मन्त्रों की] बहुलता है अतः उसे **'ऋचः'** अथवा **'ऋग्वेद'** नाम दे दिया गया। **'अग्न आयाहि वीतये'** से आरम्भ होने वाले मन्त्र-समूह में **साम**=**'गीति'** की प्रधानता होने से उसे **'सामानि'** अथवा **'सामवेद'** नाम दिया गया। **'इषे त्वोर्जे त्वा'** से प्रारम्भ हुए मन्त्र-राशि में यजुः=गद्य की प्रमुखता के कारण इसे

---

१. पू० मी० २.१.३५-३७. २. अधि० मा० २.१.५

३. **अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्।।** ऋ० भा० भू० [वेदविषय-विचार, पृ० ३०९]

४. 'हम यह अन्यत्र कह चुके हैं कि ऋक्, यजुः और साम ये तीनों शब्द मन्त्ररचनाप्रणाली के बोधक हैं। इनसे वेद के संहिताभाग की सूचना नहीं होती।'—'हिन्दुत्व' [अष्टमाध्याय], पृ० ५१.

'यजुर्वेद' अथवा **'यजूंषि'** कहा जाने लगा, और क्योंकि अथर्ववेद में उपर्युक्त मन्त्र-प्रकारत्रय में से किसी एक की अत्यधिक बहुलता न थी उसका नामकरण तत्सदृश [तत्सम्बद्ध] नहीं हो सका और उसे **अथर्ववेद, छन्दोवेद, ब्रह्मवेद, क्षत्रवेद** आदि नामों से अभिहित किया जाने लगा।[1]

अब दो ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनमें वेदत्रित्व और वेदचतुष्ट्व की बात साथ-साथ कही गई है।

महाभारत के शान्तिपर्व में कहा है—

त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तमथांगतः। ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥[2]

षड्गुरुशिष्य नाम के एक प्राचीन आचार्य 'ऋक् सर्वानुक्रमणी' की वृत्ति की भूमिका में लिखते हैं—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते। ऋग्यजुस्सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥

चारों वेदों में यज्ञादि से विनियोक्तव्य मन्त्र ऋग्, यजुः, सामरूप से तीन प्रकार के हैं।

फलितार्थ यह हुआ कि—जहां कहीं 'त्रयी' आदि का प्रयोग हुआ है, वहां वह तीन प्रकार के मन्त्रों के अभिप्राय से हुआ है [न कि वेदों के तीन होने के अभिप्राय से]; किंच इस **त्रित्व** अथवा **चतुष्ट्व** के कारण वेदों की संख्या, इयत्ता, परिमाण और विषयवस्तु में किसी प्रकार का किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं आता।

'वेद' संज्ञा क्यों ?

पुरुष-सूक्त की इस सप्तमी ऋचा में निर्दिष्ट **ऋक्, साम,** छन्द [=अथर्व] और **यजुः** रूप में चतुर्धा विभक्त महान् ज्ञानराशि का, संस्कृत-वाङ्मय में अनेक नामों से व्यवहार हुआ है : इसे कहीं श्रुति[3] कहीं मन्त्र,[4] कहीं निगम,[5] कहीं आगम,[6] कहीं ऋषि,[7] कहीं ब्रह्म,[8] कहीं छन्द[9], कहीं

---

१. **तमृचश्च सामानि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।** अथर्व० १५.६.८.
  'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' यजु० ३१.७.

२. म० भा०। शा० प० २२७.१ [पू० सं०]

३. [क] **श्रुतिप्रमाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥** मनु० २.८। ...**वेदप्रामाण्येन**...[कुल्लूक] ॥
  [ख] **श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।** मनु० २.१०
  [ग] ...**तथाऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्ते अनया सा श्रुतिः।**
  स्वामी दयानंद-कृत ऋ० भा० भू० वेदोत्पत्तिविषय पृ० २८२

४. **मत्रि गुप्तपरिभाषणे...घञ्...। गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन् वर्त्तते स मन्त्रो वेदः। मन ज्ञाने ष्ट्रन्...। मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन् वा स मन्त्रो वेदः ॥**
  —ऋ० भा० भू० [वेदविषयविचार प्रकरण। पृ० ३५५]

५. **'इत्यपि निगमो भवति'** निरुक्त २.१३, ३.५,२०॥ निरुक्तकार निगम नाम से सर्वत्र वेदमन्त्र ही उद्धृत करते हैं। ब्राह्मणवाक्योद्धरण-प्रसंग में वे **'इति विज्ञायते'** शब्द का प्रयोग करते हैं।

६. [क] **रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।... आगमः खल्वपि।**
  'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' पा०व्या० म०भा०। पस्पशाह्निक। [क्रमशः]

आम्नाय,[10] कहीं शास्त्र,[11] कहीं संहिता[12] और कहीं दैवी वाक्[13] कहा गया है।

किन्तु इस ज्ञानराशि का सबसे प्रसिद्ध नाम **'वेद'** है। समस्त वाङ्मय में इसका पुष्कल प्रयोग हुआ है। केवल चार संहिताओं में ही 'वेद' शब्द का प्रयोग कम से कम १४ बार हुआ है। ८ बार 'वेद' शब्द आद्युदात्त आया है।[14] चार स्थानों पर अन्तोदात्त 'वेद' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[15] आद्युदात्त 'वेद' शब्द का अर्थ सभी भाष्यकार ऋग्वेदादि संहिताचतुष्टयात्मक ज्ञानराशि करते हैं।[16] अन्तोदात्त 'वेद' शब्द का अर्थ भी सायणाचार्य अथर्ववेद में एक स्थान पर 'चारों वेद' करते हैं।[17] स्वामी दयानन्द

[ख] 'आगमपदेन' श्रुतिः [उद्योतकार नागेश]॥
[ग] आगमो...वेदे [वाचस्पत्याभिधान कोष]॥
[घ] प्रत्यक्षानुमानागमेषु—अन्तिमो वेदः। [सायण-ऋग्भाष्यभूमिका पृ० २]

७. 'ऋषिः पठति-शृणोतु ग्रावाणः' पा० व्या० म० भा० ३.१.१.७
'ऋषिरिति। वेदः सर्वभावानां चैतन्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः' [प्रदीपकार कय्यट]

८. [क] ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः॥ मनु० ९.३१६
'वेद एव च येषां धनम्'—कुल्लूकभट्टकृत म० मु० टी०
[ख] ब्रह्मारम्भे वसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा॥ मनु० २.७१
'वेदाध्ययनस्यारम्भे...कुल्लूकभट्टकृत म० मु० टी०

९. [क] छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि॥ अष्टा० ४.२.६६
[ख] वहुलं छन्दसि॥ अष्टा० २.४.७३ तथा अनेकत्र॥
[ग] अविद्यादि दुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः।
वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्यः [चन्दति] आह्लादी भवति सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः।
—ऋ० भा० भू० [वेदविषयविचार] पृ० ३५५

१०. 'तद्वच नादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' वैशेषिक० १.१.३—'आम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्'
शङ्करमिश्रकृतोस्पकार-टीका।

११. 'शास्त्रयोनित्वात्'॥ वेदान्त० १.१.३।...'शास्त्रस्य-ऋग्वेदादि लक्षणस्य'॥ शाङ्करभाष्य॥
'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' गीता० १६.२३॥ 'शास्त्रं वेदः तस्य विधिं' गीता०-शाङ्करभाष्य।

१२. [क] 'स छन्दोभिरात्मानं समदधात्, यच्छन्दोभिरात्मानं समदधात् तस्मात् संहिता' ऐ० आ० ३.२.६
[ख] वा० को० [संहिता-शब्द]

१३. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा॥ म० भा० शा० प० २२४.५५-६७१.१ पू० सं०
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ म० भा०। शा० प० २३२.४

१४. ऋ० ८.१९.५, यजुः १९.७८, अथर्व० ७.५७.१, १५.३.७, १०.८.५७, १९.६८.१, १९.७२.१, ४.३५.६

१५. यजु० २.२१ [तीन बार], अथर्व० ७.२९.१, १९.९.१२

१६. वेद [विश्वबन्धुपदानु० कोष में चिह्न भेद के कारण वेद]—[ऋगादिग्रन्थसमूहात्मक-ज्ञानराशि] वैदिक पदानुक्रमकोष-संहिता भाग ५म खण्ड 'वेद' शब्द, टिप्पणी में।

१७. ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोग्नयः॥ अथर्व० १९.९.१२॥
···वेदाः साङ्गाश्चत्वारः॥ सा० भा०॥

सरस्वती भी यजुर्वेद के आन्तोदात्त 'वेद' शब्द को ऋग्वेदादि ज्ञानराशि का वाचक मानते हैं।[1] दो स्थलों पर समस्त पद के अवयव रूप में तथा ताद्धित पद के रूप में वेद शब्द प्रयुक्त हुआ है।[2] वेद के शाखा-वाङ्मय में भी इस शब्द का प्रचुर प्रयोग है। गिनी चुनी उपलब्ध शाखाओं में भी न्यूनातिन्यून ५० बार इसका प्रयोग हुआ है। वेदेतर साहित्य की प्रत्येक विधा में शतशः 'वेद' शब्द व्यवहृत हुआ है। 'वेद' शब्द के इस प्रयोगवाहुल्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुष्टयसंहितात्मक ज्ञानराशि का मुख्य वाचक शब्द 'वेद' ही है।

वेद का प्रचलित व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—

सायण ने ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

—जो उपाय प्रत्यक्ष-अनुमान-प्रमाण के द्वारा नहीं जाने जा सकते, उन्हें विद्वान् लोग 'वेद' के द्वारा जानते हैं। 'वेद' वेदन कराता है-ज्ञान कराता है, इसलिए इसे वेद कहते हैं, यही वेद का वेदत्व है।

'वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपाया येन स वेदः'—जिसके द्वारा **धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष** रूप चारों पुरुषार्थों की सिद्धि के उपाय बताये जाते हैं, जनाये जाते हैं वह 'वेद' है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेद' शब्द का निर्वचन चार प्रकार का माना है—

[क] **विदन्ति जानन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैस्ते वेदाः**—सब मनुष्य जिनके द्वारा सब सत्यविद्याओं को जानते हैं उन्हें वेद कहते हैं।

[ख] **विद्यन्ते भवन्ति सर्वाः सत्यविद्याः येषु ते वेदाः**—सब सत्यविद्याएं जिनमें विद्यमान हैं वे वेद कहाते हैं।

[ग] **विदन्ति विन्दन्ते लभन्ते सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या येषु ते वेदाः**—सब मनुष्य सब सत्यविद्याओं को जिनमें पाते हैं, प्राप्त करते हैं वे वेद हैं।

[घ] **विन्दन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैस्ते वेदाः**—सब मनुष्य सब सत्य विद्याओं का विचार जिनसे करते हैं वे वेद हैं।[3]

उपर्युक्त चार प्रकार के निर्वचनों का आधार धातुपाठ के विभिन्न गणों में पठित 'विद्' रूप वाली विभिन्नार्थक ४ धातुएं हैं। **अदादिगणीय ज्ञानार्थक विद धातु, भ्वादिगणीय सत्तार्थक विद धातु, तुदादिगणीय** लाभार्थक **विद्लृ** धातु तथा **रुधादिगणीय** विचारार्थक **विद्** धातु से करण अथवा अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय[4] करने पर वेद शब्द सिद्ध होता है।[5]

---

१. **'वेदोऽसि येन त्वम्'** यजु० २.२१॥ **'विदन्ति येन स ऋग्वेदादि वा'** स्वा० द० कृत य० भा०॥

२. अथर्व० १९.७१.१, ऋ० १०.९३.११

३. **"विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।"**—
स्वा० द० कृत ऋ० भा० भू० [वेदो-त्पत्तिविषय] पृ० २८२

४. **हलश्च।** अष्टा० ३.३.१२१

५. **विद ज्ञाने, विद सत्तायां, विद्लृ लाभे, विद विचारणे एतेभ्यो 'हलश्च' इति सूत्रेण करणाधिकरण-कारकयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेद शब्दः साध्यते।** —स्वा० द०। ऋ० भा० भू० [वेदोत्पत्तिविषय]

वेदि में से ज्ञान का लाभ और वेद—

'वेद' शब्द के उपरिचर्चित निर्वचनों और व्याकरण विवेचन में **'विद्लृ लाभे'** धातु से भी **'वेद'** शब्द को निष्पन्न माना है। वहां **'विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते सर्वाः सत्यविद्या येषु मनुष्याः ते वेदाः'** ऐसा कहकर अधिकरण कारक में प्रत्ययोत्पत्ति मानी गई है। किन्तु लाभार्थक इस **विद्लृ** धातु से **कर्म-कारक** में **घञ्** प्रत्यय[1] करने पर भी **'वेद'** शब्द की सिद्धि समझनी चाहिये। **'विद्यते लभ्यतेऽसौ वेदः'**— जो पाया जाता है—लाभ किया जाता है–प्राप्त किया जाता है, वह 'वेद' है। यह कर्मकारकीय निर्वचन अधिक उपयुक्त तथा प्रसंग सम्पृक्त प्रतीत होता है। यह क्यों? और कैसे 'वेद' का लाभ किया गया इसलिए वे **वेद** हैं तो लाभ कहां से किया गया? और किसने किया? इत्यादि प्रश्नों पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

पुरुष-सूक्त की व्याख्येय इस सप्तमी ऋचा में यज्ञ [पुरुष] से ऋगादि की उत्पत्ति की बात कही गई है। यद्यपि यहां सामान्यतः प्रसंगोपात्त, [सहस्रशीर्षादि विशेषणवान्] परम पुरुष ही यजनीय= पूजनीय तथा संगमनीय होने से, 'यज्ञ' पद का वाच्य है; दूसरे शब्दों में धातु सुलभ अर्थ के बल से यजनीय होने के कारण 'पुरुष'=परमात्मा यज्ञ है। किन्तु यहां यदि हविर्यज्ञ-रूप यज्ञ के रूपक की उद्भावना करके इस विषय को समझने का प्रयास किया जाय तो कुछ अधिक सरलता से यह विषय हृदयंगम होगा।

हविर्यज्ञ का रूपक—

हविर्याग रूप यज्ञकर्म में न्यूनातिन्यून ४ पदार्थों की अपरिहार्य उपस्थिति आवश्यक है—प्रथम **यजमान**, द्वितीय **वेदि**, तृतीय **हवि**, चतुर्थ **लाभ**। हविर्यज्ञकर्म में संकल्पमय गृहपति यजमान है, चतुरस्र-खात आदि वेदि है, आज्य[=घृत] अथवा आज्य-मिश्रित[2] शाकल्य हवि है, और हुतहवि वेदिस्थ अग्नि में पड़कर और सूक्ष्मावस्था में रूपान्तरित होकर, वेदि से पर्यावृत्त होती हुई, वायु के साहचर्य से यज-मानादि के द्वारा नासिकादि के माध्यम से उपलब्ध की जाती है—उसका पुनर्लाभ किया जाता है वह 'लाभ' है: यजमान के द्वारा हुत की हुई हवि को **'वेदि'** वापिस लौटा देती है। वेदि का यही कार्य है कि वह यजमान से कुछ लाभ करती है—पाती है और उसे विकसित करके वापिस यजमान को लौटा देती है। भूमि रूपी वेदि में[3] कृषक-यजमान द्वारा हुत की गई बीज-रूप हवि को भूमिवेदि शतगुणित करके फल-फूल के रूप में वापिस लौटा देती है—उसका लाभ करा देती है। योषा-रूपी वेदि[4] में पति द्वारा हुत रेतस् हवि को योषा-वेदि विकसित करके अपत्य रूप में उसे पुनरपि यजमान-पति को लौटा देती है—उसका लाभ करा देती है। वस्तुतः 'वेदि' का वेदित्व यही है कि उससे कुछ **वेदन**=लाभ प्राप्त किया जाय:[5] अतएव **'वेदि'** शब्द की निष्पत्ति 'विद्लृ' लाभे धातु से मानना अधिक उचित है।

सृष्ट्युत्पत्ति की यज्ञ-रूपता—

सृष्ट्युत्पत्ति-कर्म भी एक यज्ञ है। **सृष्ट्युत्पत्ति** दो प्रकार की है—एक **भौतिक द्रव्योत्पत्ति-रूप**

---

१. **अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्**॥ अष्टा० ३.३.१९
२. **न हि हविरनभिघृतमस्ति**। जै० सं० १.१०.२०
३. **इयमेव पृथिवी वेदिः**। शत० ब्रा० १२.८.२.३६
४. **योषा वै वेदिः**। शत० ब्रा० १.३.६.८
५. **तं [यज्ञं] वेद्यामविन्दन्, यद् वेद्यामविन्दन् तद् वेदेर्वेदित्वम्**। ऐ० ब्रा० ३.९

तथा द्वितीय **सचेतन-प्राण्युत्पत्तिरूप** । यह द्वितीय भी पुनः दो प्रकार की है—एक **सचेतन शरीरोत्पत्ति-रूप** तथा द्वितीय **ज्ञानोत्पत्ति-रूप** । सृष्टि के द्रव्योत्पत्ति-रूप कर्म का वर्णन पुरुषसूक्त की पंचमी ऋचा[1] में किया गया है । तत्पश्चात् चेतन प्राण्युत्पत्ति का वर्णन अष्टमी ऋचा[2] में किया गया । इस यज्ञकर्म के यजमान यज्ञपुरुष [=पूजनीय परमात्मा] थे, पृथिवी वेदि थी, पृषदाज्य [=रेतस् तत्त्व] हवि था और वायव्य-आरण्य-ग्राम्य पशु [प्राणी] 'लाभ' थे] । परन्तु यह लाभ हविर्यज्ञों के समान यजमानार्थ न था । इस सृष्ट्युत्पत्ति यज्ञ का यजमान परमात्मा तो पूर्णकाम है. उसे किसी 'लाभ' की अपेक्षा नहीं है । उसके सर्वत्र व्याप्त—ओतप्रोत होने से उससे कुछ भी **'अलभ'** नहीं है । अतः उसके द्वारा हुत हवि का 'लाभ' अन्यार्थ था—परार्थ था । उन वायव्य आदि शरीरों में निवेशित जो जीवात्मा थे उन्हीं के भोगापवर्ग-रूप प्रयोजन[3] के लिए वह शरीररूप **'लाभ'** था ।

अब नवमी ऋचा[4] में ज्ञानोत्पत्ति-रूप यज्ञकर्म का वर्णन है । इसके **यजमान** भी **'सर्वहुत्'** यज्ञ पुरुष [=परमेश्वर] थे,[वेदि का विवेचन अभी अनुपद ही किया जायगा], **ज्ञान हवि** था और **'ऋचः' सामानि, छन्दांसि** तथा **'यजुः'** लाभ था । ज्ञानोत्पत्ति-रूप यज्ञकर्म के ये तीन प्रमुख अंग हुए । अब चतुर्थ अंग **'वेदि'** के विषय में विचार करना है ।

ज्ञान-हवि की 'वेदि' हृदय—

सृष्ट्यारम्भ में उत्पन्न मनुष्यों [=ऋषियों] के निर्मल हृदय [=अन्तःकरण] ही इस ज्ञानोत्पत्ति रूप कर्म की 'वेदि' थे । उसी निर्मल हृदय-रूपी वेदि में परमेश्वर [=यज्ञपुरुष] यजमान ने अपने नित्यज्ञान रूप हवि को आहुत किया और तब उस हृदय वेदि में से **"ऋक्सामयजुरथर्व' रूप 'लाभ'** प्रकट हुआ । इस 'लाभ' को ही 'वेद' कहा गया है । **'विद्लृ'** लाभे धातु से हमारा **'वेद'** पद की निष्पत्ति मानने का प्रमुख कारण यही है । वेदि में से वेद ही उपलब्ध होगा शास्त्रों में इसे स्पष्ट दुहराया गया है कि—क्योंकि वेदि से इसे प्राप्त किया गया अतः यह **'वेद'** कहलाया ।[5] यही प्रश्न हो सकता है कि अन्य यज्ञ-प्रकारों में तो हुत हवि के रूपान्तरित भाग को 'लाभ' कहा गया था और इस ज्ञानोत्पत्ति-रूप यज्ञकर्म में इसे 'वेद' क्यों कहा गया है ? इसको ऐसे समझना चाहिये कि ज्ञानोत्पत्ति-रूप यज्ञकर्म के **'लाभ'** को **वेद** कहने से, जहाँ वेदि में से लाभ=उपलब्धि होने के मुख्यार्थ का बोध होता है वहां, साथ ही, इस पद से **ज्ञान, सत्ता** और **विचार**[6] आदि उत्कृष्ट भावों की भी प्रतीति होती है, किंच **वेदि'** और **वेद'** की

---

१. तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
   स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ऋ० १०.९०.५
२. तस्मात् यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
   पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ १०.९०.८.
३. भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । यो० सू० २.१८.
४. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
   छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋ० १०.९०.९
५. तं यज्ञं वेद्यामविन्दन् । ऐत० ब्रा० ३.९ । 'एतावानु वै यज्ञो यावत्येषा त्रयी विद्या" । शत० ब्रा० [काण्व] ७.५.३.८.
६. द्र० यह शो० प्र० पृ० २६८

धातुगत, उच्चारणगत और अर्थगत समता भी 'लाभ' पद की अपेक्षा अधिकतर लक्षित होती है।

इस ज्ञानोत्पत्ति-रूप यज्ञकर्म की 'वेद'-रूप यह उपलब्धि [=लाभ] भी सचेतन शरीरोत्पत्ति-रूप यज्ञ की उपलब्धि के समान परार्थ थी। वह परम यजमान परमेश्वर तो सर्वज्ञ तथा पूर्णज्ञ है,[1] अतः यह 'वेद रूप लाभ उस हृदयवेदि के स्वामी ऋषियों तथा अन्य मनुष्यों के हितार्थ था।

अभी यहाँ ऋषियों के निर्मल हृदय [=अन्तःकरण] को ज्ञानोत्पत्ति=वेदोत्पत्ति के कर्म में **'वेदि'** कहा गया है। इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'यज्ञ पुरुष' परमात्मा ने सर्गारम्भ में अपनी अभिव्याप्ति से ऋषियों के अन्तःकरणों में नित्य ज्ञान को प्रेरित किया—प्रदान किया। उन ऋषियों ने ईश्वरप्रदत्त बुद्धि-शक्ति से उस प्रेरित ज्ञान का साक्षात्कार किया। वह साक्षात्कृत-ज्ञान **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद** कहलाया। तदनन्तर उन ऋषियों ने उस साक्षात्कृत-वेदज्ञान-राशि को लोकहितार्थ अन्य मनुष्यों को वाणी के माध्यम से प्रदान किया। अतएव निरुक्तकार यास्क लिखते हैं—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।।[2]

सर्गारम्भ में ऋषियों के हृदय-रूप वेदि में परमात्मा ने ज्ञान-रूप हवि डाली=ऋषियों के हृदय [=अन्तःकरण] में परमात्मा ने ज्ञान प्रेरित किया=ऋषियों को परमात्मा ने ज्ञान प्रदान किया। यह बात स्वयं वेद में कई स्थलों पर अंकित है। वहां हृदय-वेदि को गुहा कहा गया है। ऋग्वेद में कहा है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।।[3]

सृष्टि के आदि में समस्त वाग्=विद्या [=ज्ञान] की मूल रूप, [सृष्टिगत पदार्थों के] नामों को धारण करने वाली[4], जिस वाक् को विद्वान् लोग धारण करते हैं, जो इन सब [मानुष वाग्=ज्ञानों] से श्रेष्ठ और जो सबके लिए समान होती है, वह वाक्=विद्या [=ज्ञान] ऋषियों की] गुहा में धारण की हुई, प्रेरणा से आविर्भाव को प्राप्त होती है।

बुद्धि [अन्त,करण] ही गुहा है—

यहां दिव्य वाक् का गुहा में धारण किया जाना और तब उसका आविष्कृत होना बताया गया है। वाक्, शब्द-विद्या का—वेद=ज्ञान का पर्यायवाची है यह पूर्व ही बताया जा चुका है।[5] गुहा का अभिप्राय बुद्धि-तत्त्व से है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में स्पष्ट ही बुद्धि को गुहा कहा है।[6] यजुर्वेद में भी इसी गुहा की ओर संकेत किया गया है।[7] बुद्धि, अन्तःकरण का प्रभेद है। अन्तःकरण=बुद्धि

---

१. यः सर्वज्ञः सर्ववित् [मु० उ० १.१९] २. निरु० १.२०. ३. ऋग्वेद १०.७१.१.

४. **सर्वेषान्तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।**
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।। मनु० १.२१.

५. **सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता, ऋचो यजूंषि सामानि।।** शत० १०.५.१.२.

६. **न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारः कुक्षयो नोदधीनाम्।**
गुहाप्यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते।। —यो० सू० व्यासभाष्य···

७. **वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सत्।** यजु० ३२.८।

और हृदय में तात्त्विक भेद नहीं है। फलतः हृदय=बुद्धि ही गुहा है और वही इस प्रसंग में वेदि बनी। ऋषियों की हृदय रूप गुहा अथवा वेदि में वाक्=वेदज्ञान प्रविष्ट ज्ञान को इतर मनुष्यों ने उनसे प्राप्त किया तद्यथा—**यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्** ॥[1]

सृष्टि के आरम्भ में यज्ञ=परमात्मा[2] के द्वारा वाग्=वेदविद्या की प्राप्ति के योग्य हुए ऋषियों में प्रविष्ट हुई देववाणी को परस्पर एक दूसरे में प्राप्त करते हैं अर्थात् वेदवाक् का प्रकाश सृष्टि की आदि में पहिले ऋषियों के अन्तःकरण में परमात्मा प्रकाशित करता है।

[ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता]

ऊपर पुरुषसूक्त की विमृश्यमाण नवमी ऋचा[3] के प्रकाश में यह हमने दिखाने का प्रयत्न किया कि सर्ग के आरम्भ में सर्वातिशायी पुरुष परमेश्वर ने मानव को वेदज्ञान के ब्रह्मदान से सम्पन्न करके ही इस क्षितितल पर आविर्भूत किया था। यहां एक प्रबल प्रश्न उठता है वह यह है कि—'मानव को सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर से ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता ही क्या थी ? आज मानव ने अपने ज्ञान के के आधार पर कला-कौशल, यन्त्र-रचना, विविध यान-निर्माण आदि की कितनी अप्रत्याशित उन्नति की है, क्या उसने इन सब वैज्ञानिक आविष्कारों का तथा विविध व्यवस्थाओं का ज्ञान ईश्वर से प्राप्त किया है ? उत्तर होगा कि 'नहीं'। तो जब मानव ने आज, बिना ईश्वरीय ज्ञान की सहायता के अपने ज्ञान के आधार पर इतनी उन्नति कर ली तो—सृष्टि के आरम्भ में भी ईश्वरीय ज्ञान के प्राप्त होने की बात को मानने की क्या आवश्यकता है ? 'मानव ने स्वयं परस्पर के व्यवहार से तथा प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण से शनैः-शनैः अपने ज्ञान को बढ़ा लिया होगा, ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?'

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता के विषय को कुछ केन्द्रबिन्दुओं के रूप में विश्लेषित करके समझने में अधिक सुविधा होगी। वे बारह केन्द्रबिन्दु हैं—

[१] नैमित्तिक ज्ञान और मानव का शिक्षण; [२] धर्माधर्म विवेक और मानव, [३] मनुष्य की अल्पज्ञता तथा स्वार्थपरायणता; [४] संसार का यथार्थ ज्ञान; [५] ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान; [६] सृष्टि का निर्माण और नियम विधान [७] परमात्मा की दयालुता; [८] हमारी आत्मा का सन्मार्गदर्शन में असामर्थ्य; [९] प्रकृति का ज्ञान-प्रदान में असामर्थ्य; [१०] ईश्वरीय ज्ञान की सम्भावना पर सार्वभौम विश्वास; [११] मानसिक, आत्मिक उन्नति का ह्रास; [१२] वेद की सर्वधर्ममूलकता। सो क्रमशः —

नैमित्तिक ज्ञान और मानव का शिक्षण—

यह सर्वसम्मत सिद्धांत है कि मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान अत्यंत अल्प है और पशुपक्षियों से हीन कोटि का है। वह दूसरों से ज्ञान प्राप्त करके ही कुछ सीख पाता है। मानव अपने माता-पिता, गुरु और समाज से ही विविध बातें सीखता है। यदि ये तीनों सिखाने वाले न हों तो वह अशिक्षित ही रह जायगा। यदि एक वर्ष के कुछेक बालकों को आरम्भ से ही किसी ऐसे स्थान पर रक्खें जहां उनके साथ मानव का प्रत्यक्ष सम्पर्क न हो तथा उनके कान में मानव-ध्वनि न पहुंच पाये तो वे बालक

---

१. ऋ० १०.७१.३. २. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ॥ ऋ० १०.९०.७.

३. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋ० १०.९०.९.

निश्चित ही सर्वथा अशिक्षित असभ्य तथा अशिष्ट बने रहेंगे। उनकी आकृति तो मानव की होगी पर उनमें मानव का कोई लक्षण नहीं होगा। इस प्रकार के परीक्षण भारत के बादशाह अकबर ने, असीरिया के राजा असुर बैनीपाल ने तथा अन्य देशों के कई शासकों ने किये थे। सब का एक ही परिणाम निकला था, वह यह कि मानव संतान बिना नैमित्तिक ज्ञान के, बिना दूसरे के कुछ सिखाये स्वयमेव सीखने में असमर्थ है।

इस नैमित्तिक ज्ञान के अभाव में सहस्रों वर्षों तक अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत की जंगली जातियां असभ्य रहीं और पशुवत् जीवनयापन करती रहीं। यदि मनुष्य स्वाभाविक ज्ञान के आधार पर उन्नति कर पाता होता, तो ये जातियां लम्बे समय तक दुरवस्था में न पड़ी रहतीं। इनकी उन्नति का शुभारम्भ तभी हुआ जब शिक्षित मनुष्यों के साथ इनका सम्पर्क हुआ।

महात्मा ईसा के जन्म के समय इङ्गलैंड, फ्रांस और जर्मनी के निवासियों की अशिक्षितों जैसी अवस्था थी। रोमन लोगों से उन्हें सभ्यता प्राप्त हुई। रोमवासियों को ज्ञान की प्राप्ति यूनान-वासियों से हुई। यूनान को सभ्यता सिखाने वाला मिश्र माना जाता है। मिश्र ने संस्कृति और सभ्यता का पाठ सीखा भारत के विद्वानों से। भारत के प्राचीन विद्वान् मुक्तकण्ठ से अपने से प्राचीन विद्वानों और शास्त्र-निर्माताओं का गुणगान करते रहे हैं। उन प्राचीन शास्त्र-निर्माता ऋषियों ने भी अपने गुरुओं से ज्ञानार्जन किया था। इस क्रम को सृष्टि के आरम्भ तक ले जायं तो वहां आदिम मानवों को ज्ञान प्रदान करने वाला कोई अवश्य होना चाहिए, क्योंकि मानव बिना किसी अन्य के सिखाये सीखने में असमर्थ है, तो सृष्टि के आरम्भिक काल में प्रथमोत्पन्न मानवों को ज्ञान-प्रदान करनेवाला परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। इस बात को बड़े सुन्दर शब्दों में महर्षि पतंजलि ने व्यक्त किया है—**'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**।[1]

[२] धर्माधर्म-विवेक और मानव—

पारस्परिक सद्व्यवहार, सर्वांगीण उन्नति और शांति के लिए आवश्यक है कि मानव को धर्म और अधर्म का ज्ञान हो। जब मनुष्य सामान्य बातें भी स्वयं नहीं जान पाता, तब धर्माधर्म का विश्लेषण करने की तो कथा ही क्या ? आज इतना नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी मानव अपने अल्पज्ञान, भ्रम, हठ, दुराग्रह और विषयासक्ति के कारण विविध विषयों का उचित निर्णय और विवेक करने में त्रुटि कर जाता है; तो सर्गारम्भ [की उस अवस्था] में विवेक करने में तो वह सर्वथा असमर्थ ही रहेगा। अतः धर्माधर्म के विवेचन के लिए मानव को ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता अपरिहार्य है।

[३] मनुष्य की अल्पज्ञता और स्वार्थपरायणता—

मानव-स्वभाव में साधारणतया अल्पज्ञता, पक्षपात और स्वार्थपरायणता बहुत गहरी है और विपुल मात्रा में है। स्वार्थ के आगे मानव अन्यों के हित का जरा भी विचार नहीं करता। पिता सब पुत्रों से प्रेम करता है, पर प्रत्येक पुत्र यही चाहता है कि मुझे ही अधिकाधिक सम्पत्ति मिले। धन, भूमि आदि सम्पत्ति के लिए स्वार्थांध होकर मानव लड़ मरते हैं। एक जाति स्वार्थवश दूसरी जाति के सर्व-नाश पर उतारू हो जाती है। जर्मनों और यहूदियों का व्यवहार लोकप्रसिद्ध है; आज इसरायलियों और अरबों का संघर्ष हमारे समक्ष है। तो मानव के इस स्वार्थभाव को नियंत्रित करने के लिए सर्गारम्भ

---

१. यो० सू० १. २६

में विशेषत: किसी उपदेष्टा के उपदेश की महती आवश्यकता है जो **'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'** का उपदेश दे सके। अतएव सर्गारम्भ में ईश्वरीय ज्ञान की महती अपेक्षा है।

[४] संसार का यथार्थ ज्ञान—

बुद्धि अथवा तर्क के द्वारा जिस **ज्ञान** को हम प्राप्त करते हैं, उसका पूर्ण आधार इन्द्रियों और प्राकृतिक जगत् के **प्रत्यक्ष** अथवा **अनुमान** पर है। इस कारण बुद्धि के सामने यह संसार एक महत् **मुअम्मा** है, **अबूझ पहेली** है। इस पहेली को यथार्थ-रूप से जानने में मानव सदा असमर्थ ही रहेगा। जब-तक कि शुरू से उसे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति न हो। इसीलिए केवल परीक्षणों के आधार पर स्थापित किये गये वैज्ञानिकों के सिद्धान्त भी समयान्तर में अयुक्त सिद्ध हो जाते हैं और उनमें परिवर्तन करने पड़ते हैं। **अलबर्ट आईन्स्टीन** द्वारा स्थापित सिद्धांतों में स्वल्पसमयान्तर में ही वैज्ञानिकों ने कितना परिवर्त्तन प्रस्तुत किया है यह लोक-विदित है। अत: प्रकृति-लीला को भी यथोचित रूप से समझने के लिए संसार के रचयिता के द्वारा प्रदत्त ज्ञान मानव के लिए अत्यन्त अपेक्षित है।

[५] ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान—

ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान भी मनुष्य के लिये स्वत: प्राप्त होने योग्य नहीं है। परमात्मा **कौन** है? **कैसा** है? उसकी स्थिति **कहां** है? वह **एक** है अथवा **अधिक** है? उसका **जीव** तथा **प्रकृति** के साथ क्या सम्बन्ध है? इस प्रकार की ईश्वरविषयक जिज्ञासा मानव के मन में सदा किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। इसका समाधान मानव ईश्वरीय-ज्ञान की प्राप्ति के विना कथमपि नहीं कर सकता। क्योंकि परमात्मा का स्वरूप अतीन्द्रिय है अतएव मनुष्य के साधारण ज्ञान के द्वारा वह अगम्य है। [सभी पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दार्शनिक उसे इन्द्रियागोचर मानते हैं[१]।] उस इन्द्रिय के अविषय को मानव केवल इन्द्रियों के माध्यम से कैसे जान सकता है? अत: ईश्वरीय-स्वरूप के जानने के लिये भी ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान अपरिहार्य है।

[६] सृष्टि का निर्माण और नियम-विधान—

किसी **समाज, सभा, राज्य, संस्था** अथवा **कम्पनी** के निर्माण से पूर्व तत्सम्बन्धी नियम बनाय जाते हैं, तदनन्तर उनका प्रकाश होता है। जब सामान्य मनुष्यों के द्वारा निर्मित संस्थानों के सम्बन्ध में नियम-विधान का यह सिद्धान्त हमें अत्यावश्यक प्रतीत होता है, तो यह कैसे हो सकता है कि परमात्मा इतनी अद्‌भुताद्‌भुत सृष्टि तो उत्पन्न कर दे किन्तु उसके सम्बन्ध में आवश्यक नियम और व्यवस्था का विधान न करे। वे नियम सृष्टि के आरम्भ में ही मानव को ज्ञात हो जाने चाहियें। **पाप-पुण्य** और **कर्त्तव्याकर्त्तव्य** से भी मानव को आदिम अवस्था में सूचित कर दिया जाना चाहिये। राजा तभी किसी

---

१. [क] **न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।** मु० उ० ३. १.८.

[ख] **यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥**

तै० उ० २. ४. १.

[ग] **It has been said that study of the laws of nature cannot give us any information as to a first cause, for a first cause could never be revealed to the senses, nor could it be an inference deduced from the data which sense supplies.**

—Aspects of Theism —By Knight, p. 136.

प्रजाजन को दण्ड देने का अधिकारी हो सकता है, कि जब उस कार्य के अपराध होने की और उसके लिये निश्चित किये दण्ड की सूचना उसने पहले से प्रजा में सुघोषित कर दी हो। परम राजा परमात्मा के द्वारा भी जगत् के नियमों का कर्त्तव्याकर्त्तव्य का और दण्ड-विधान का ज्ञान मनुष्य को सृष्टि के आरम्भ में ही दे देना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

[७] परमेश्वर की दयालुता--

आस्तिक सभी मानते हैं कि परमात्मा दया का भण्डार, करुणामय, प्रेमसागर और कृपानिधि है। तो क्या ऐसा परमेश्वर, मनुष्य जैसे उच्च आत्मिक प्रकृति वाले जीव को [सैंकड़ों कष्ट, क्लेश, विपत्ति, लोभ तथा दुःखसमूह का दास बना कर] संसार में वैसे ही छोड़ देगा ? उसके उद्धार के लिये सन्मार्ग का निर्देश नहीं करेगा ? मनुष्य जगत् के आकर्षणों के वशीभूत होकर पाप कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है, कभी उनसे हटने का संकल्प भी करता है, परन्तु लोभ-मोहाभिभूत होकर पुनरपि वासना-जाल में फँस जाता है। इस दुरवस्था से मानव को उबारने के लिये **अश्मन्वती रीयते संरभध्वम्, उत्तिष्ठत प्रतरता सखायः'**[1] का अमूल्य उपदेश देने वाला कोई ज्ञानप्रकाश नियन्ता अपेक्षित है। वह अमूल्य सन्मार्गप्रदर्शक-ज्ञान सर्गारम्भ में सिवाय परमकारुणिक परमेश्वर के अन्य कौन प्रदान कर सकता है ?

[८] हमारी आत्मा का स्वमार्ग-दर्शन में असामर्थ्य---

कहा जा सकता है कि, पापकर्मों से बचकर सत्कर्मों को करने के लिये ईश्वरीय मार्ग-दर्शन की क्या आवश्यकता है ? [जीवात्मा स्वयं ही शुभ-मार्ग का अनुसरण कर लेगा] यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता—क्योंकि हम प्रायः अपने स्वाभाविक कार्य, परिस्थिति-प्रभाव से युक्त होकर करते हैं। नरभक्षी [Cannibal] मनुष्य दूसरे मनुष्य को मारते हुए कभी यह अनुभव नहीं करता कि वह पाप कर रहा है। डाकू किसी को लूटते समय कभी पश्चात्ताप नहीं करता। मांसभक्षक और सुरापायी कभी मांस-भक्षण और सुरापान को आत्मोन्नति के लिए बाधक नहीं समझता। यदि ये लोग अपने इन कार्यों को स्वतः अकार्य समझते होते तो कभी ये इनको करने में पुनः-पुनः प्रवृत्त न होते। अर्थात् आत्मा स्वयं अपने मार्ग-दर्शन करने में समर्थ नहीं है, उसके मार्ग-दर्शन के लिये, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव परमेश्वर के द्वारा प्रदत्त ज्ञान की नितरां अपेक्षा बनी ही रहेगी।

[९] प्रकृति का ज्ञान-प्रदान में असामर्थ्य—

कुछ विचारकों का कथन है कि 'मानव को ईश्वरीय ज्ञान की इसलिये आवश्यकता नहीं है कि वह प्रकृति से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। प्रकृति मानव को जीवन के नियम सिखा सकती है। अतः प्राकृतिक धर्म [Natural religion] ही मानव के उत्थान के लिये पर्याप्त है।' यह कथन सुनने में तो सुन्दर लगता है, परन्तु परीक्षण करने पर अयथार्थ प्रतीत होता है। यदि मात्र-प्रकृति ही मानव को शिक्षित करने में समर्थ होती तो क्या कारण है कि लाखों वर्षों तक प्रकृति की पुस्तक के खुले रहने पर भी कोल, भील, नाग, हबशी लोग असभ्य के असभ्य बने रहे ? वे स्वयं दस तक गिनना भी क्यों नहीं सीख पाये ? प्रकृति के रहस्यों को तो शिक्षित मनुष्य ही समझ सकता है, अशिक्षित नहीं, और बिना ईश्वरीय-ज्ञानात्मक शिक्षा के, आदिसृष्टि में मानव शिक्षित हो नहीं सकता।

आज भी यदि मनुष्य प्रकृति की शिक्षा पर चलने लगे और प्राकृतिक जगत् के अनुगामी

---

१. ऋ० १०. ५३. ८

पशुओं की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर ही अपना मार्ग निश्चित करे तो मानव, मानव न रह पायेगा।

पशु, पक्षी, कीट, पतंगों में यह नियम देखा जाता है कि सबल निर्बल को खाता है : यदि मनुष्य इस प्राकृतिक नियम का अनुसरण करे तो न केवल वह सर्वभक्षी ही बन जाएगा, अपितु नरभक्षण भी उसके जीवन का अंग हो जाएगा, सर्वत्र मात्स्यन्याय प्रवृत्त हो जाएगा और तब मानव-समाज क्षण में एक निरंकुश महारण्य बन जायगा।

पशु, पक्षी, मत्स्यादि में मातृगमन और स्वसृगमन की प्रवृत्ति सर्वत्र व्याप्त है[1] और माता-पिता स्वसन्तान को भी खा जाते हैं।[2] यदि इस प्राकृतिक शिक्षा को कदाचित् मानव-समाज भी स्वीकार कर ले, तो उसे मानव-समाज कहने का तात्पर्य ही क्या रह जायगा ? [वह तो पशुसमूह हो गया]। इस लिए भी जीवन-नियमों के वास्तविक परिज्ञान के लिए सर्गादि में ईश्वरीय ज्ञान की सतुराँ आवश्यकता है कि मानव पशु-व्यवहार में प्रवृत्त होने से बच सके।

[१०] ईश्वरीय ज्ञान की सम्भावना पर सार्वभौम विश्वास—

आस्तिक मनुष्यों का यह सर्वत्र समान विश्वास है, कि हमारे कल्याण के लिए ईश्वर ने हमें ज्ञान प्रदान किया है। इस विश्वास की सार्वभौमता और अनादित्व यह प्रकट करते हैं कि मनुष्य में ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा है और वह अपने ज्ञान को अपूर्ण समझता है, और यह विश्वास भी मनुष्य का सार्वजनीन है कि मानव की सदिच्छा-पूर्ति परमेश्वर अवश्य करता है।[3]

[११] मानसिक और आत्मिक उन्नति का ह्रास—

ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है कि **मानव** स्वतः **धार्मिक**, **नैतिक** तथा **जीवन**-व्यवस्था-सम्बन्धी **नियम** नहीं सीख सकता, किन्तु प्राचीन काल के मनुष्य हम लोगों की अपेक्षा अधिक धार्मिक और नैतिक थे, उनके चारित्रिक विशेषताएं हमसे श्रेष्ठ थीं। भौतिक विषयों में भले ही हमने प्रगति की हो, किन्तु मानसिक-आत्मिक-नैतिक क्षेत्र में हमारा निरन्तर ह्रास ही हुआ है।[4] प्रश्न यह है कि हमारी अपेक्षा अत्युच्च चरित्र, धर्म और नीति वाले उन प्राचीन [आदिम] मानवों ने यह नीतिज्ञान कहाँ से प्राप्त किया था ? कहना न होगा कि ईश्वरीय ज्ञान से ही उन्होंने अपने चरित्र का निर्माण किया था और मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों को विकसित किया था।

[१२] वेद की सर्वधर्ममूलकता—

संसार के प्रचलित प्रमुख धार्मिक मतों में प्रधान छः हैं—**इस्लाम, ईसाइयत, यहूदी धर्म,**

---

१. **आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनीयन्ति। माता पुत्रेण मिथुनं गच्छति, पौत्रेण, तत्पुत्रेणापि ॥**
वामन-जयादित्य कृत 'काशिका' ८.१.१५.

२. **खादेत् क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम् ॥** हितोपदेश-सन्धि श्लो० ५८.

३. **यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु ॥** ऋ० १०.१२१.१०.

४. [क] 'सब बातें इस विचार की पोषक हैं कि मध्यम तौर पर मानसिक उन्नति में हम इन प्राचीन जातियों से बढ़कर नहीं हैं बल्कि कम हैं।'
बैंजमिन किड कृत 'सामाजिक विकास' द्र० टि० का [ख] भाग.

[ख] सारे इतिहास से कोई ऐसी साक्षी नहीं मिलती जो सिद्ध करे कि मनुष्य ने कोई मानसिक या आत्मिक उन्नति की है'
'ईश्वरीय ज्ञान वेद' स उद्धृत [पृ० ४३]

बौद्ध धर्म, **पारसी** धर्म और **वैदिक** धर्म। विद्वानों का कथन है कि इस्लाम की धर्म पुस्तक **कुरआन्** का आधार **बाइबिल** है।[1] **बाइबिल** ईसाइयों का धर्मग्रन्थ है; ईसाई धर्म और यहूदी धर्म लगभग समान हैं, यहूदी धर्म की ही अर्वाचीन परिष्कृति ईसाई धर्म है। ईसाई धर्म का आधार **बौद्ध** धर्म है। ऐतिहासिकों का कथन है कि महात्मा ईसा ने भारतवर्ष में सत्रह वर्ष व्यतीत किये थे और यहाँ के आध्यात्मिक महात्माओं का सत्संग करके, ज्ञान लाभ किया था। यह निश्चित है कि महात्मा ईसा के समय बौद्ध धर्म का उत्कर्ष चरम सीमा पर था। देश-विदेशों में बौद्ध भिक्षुक घूम-घूमकर बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार कर रहे थे। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक है कि ईसाई धर्म का उद्भव बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से हुआ हो : [१] Buddhism in Christendom by Lillie, [2] Buddhist and Christian gospels by Admund and Anesaki.

बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव तो हुआ ही वेदप्रधान भारतभूमि में है। महात्मा बुद्ध का जन्म वैदिक कुल में हुआ। उनकी शिक्षा, दीक्षा और संस्कारों पर वैदिक प्रभाव ही मुख्य था। उन्होंने वेदों की सत्य शिक्षाओं का प्रचलित लोकभाषा में प्रकारान्तर से प्रचार किया और अपने उन उपदेशों में बल **आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च'**[2] इस मनु आदेश को लक्ष्य में रखकर [वैदिक आचारपद्धति को अपनाते हुए] जीवन में आचरण को प्रमुखता देने पर ही बल दिया। वह स्वयं वेद-विद्या और शास्त्रों में प्रवीण थे। उनकी शिक्षाओं को देश-देशान्तरों में प्रचरित करने के लिए वेदादिनिपुण ब्राह्मण ही, भिक्षुक बनकर, परिव्रजन करते थे।[3]

इधर पारसी धर्म का मूल भी वैदिक धर्म है। पारसियों की धर्म पुस्तक 'जन्दावस्था' की तो भाषा ही सर्वथा वैदिक है[4]। यह कहना चाहिये कि वेद के मन्त्रों का ही स्वल्प से अपभ्रंश के साथ, एक संग्रह का नाम **'जन्दावस्था'** है। मान्यता और सिद्धान्तों में भी दोनों में साम्य कुछ कम नहीं। अतएव विद्वानों का निष्कर्ष है कि पारसी मत का मूल वैदिक धर्म है और इसका मूल उद्गम-स्थल भी

---

१. It is true that he also read the Koran, but any truth it contains come from the Bible, ['The Founder of Christianity', p.168,]

२. मनु० १.१०८

३. "बौद्धों ने अपनी पुस्तकों में माना है कि बौद्ध प्रचारक ब्राह्मण होते थे। साथ ही बुद्ध भगवान् को ब्राह्मणों का शिष्य कहा गया है और वैदिक देवताओं और वाक्यों से घृणा नहीं प्रकट की गई है। जिस बौद्ध ने बुद्ध का जीवन-चरित्र लिखा है उसकी साक्षी है कि ऋग्वेद तथा ब्राह्मणों की सारी विद्या में भगवान् बुद्ध बहुत प्रवीण थे।" Max Muller, A. S. Lit. p. 134.

४. पशु, उक्षन्, यव, वैद्य, वायु, इषु, रथ, गन्धर्व, अथर्वन्, गाथा, इष्टि इत्यादि शब्द दोनों भाषाओं में एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। कुछ शब्दों में स्वल्प सा अन्तर है असुर [अहुर], सोम [होम], आहुति [आजुंति], अश्व [अस्प], गोमेध [गोमेज], छन्द [जन्द] आदि शतशः शब्द हैं। [द्र० वैदिक सम्पत्ति, पृ० २२६-२२७, पंचम सं०]

भारतवर्ष ही है।[1]

संसार के प्रमुख धर्मों के इस अति संक्षिप्त 'मौलिकतासूचक विवेचन' से यह स्पष्ट है कि सभी धर्मों और धर्म की मूल पुस्तकों का आदिम स्रोत वेद है। समस्त धर्मों के मौलिक सत्य-सिद्धान्त, परम्परानुसार से ही लिए गए। किंच–कालक्रम से वैदिक धार्मिक सिद्धान्तों का अन्य अर्वाचीन धर्मों में क्रमशः ह्रास हुआ और शनैः शनैः वे विकृत को प्राप्त हो गए। वैदिक सिद्धान्त अधिक उन्नत, सार्वभौम और हितकारी थे; अर्वाचीन धर्मसम्प्रदायों द्वारा अपनाये गए वही सिद्धान्त अपने मौलिक रूप को त्याग कर [मानव-सुलभ दुर्बलताओं और अज्ञान के कारण क्रमशः हीन और हीनतर अवस्था को प्राप्त हो गए।[2] प्रश्न उठता है कि विश्व में आस्तिकता की ओर प्रेरित करने वाले '**धर्मग्रन्थों का मूल जो यह वेद है**-विश्व वाङ्मय का आदि ग्रन्थ, सृष्टि का **आदिकाव्य**, परमज्ञान वेद उसका **उद्भव** कहाँ हुआ ? अल्प-शक्ति मानव में तो उसके निर्माण का सामर्थ्य सम्भव नहीं, यदि होता तो लाखों वर्षों के इस महान् अन्तराल में वह अपने सर्वथा नये धर्मग्रन्थ बनाता और वेदों का परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सहारा न लेता। इससे सुविज्ञात होता है इस आदिम परम ज्ञान का आविर्भावयिता परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।[3]

विकासवाद और ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता—

ईश्वरीय ज्ञान के विषय में विकासवादी विचारकों की ओर से भी सन्देह प्रकट किया जाता है, कि सृष्टि के आरम्भ में ज्ञान नहीं था, शनैः शनैः उन्नति होती गई और मनुष्य इस प्रकार ज्ञान की उस अवस्था को प्राप्त हो गया जो आज सर्वविदित है [जबकि मनुष्य ने अद्भुत आविष्कार करके कभी असम्भव कही जाने वाली बातों को सुसम्भव कर दिखाया है]। वर्तमान युग में विकासवाद हर क्षेत्र में इतना घर कर गया है कि किसी भी प्राचीन मर्यादाओं को तोड़ने के लिए, इतनी ही युक्ति पर्याप्त है कि वह पुरानी हो चुकी है, इसलिए आवश्यक हो जाता है कि इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाय :

विकासवाद के मौलिक सूत्र—

विकास के मूल-सूत्र हैं—[१] जीवन-यात्रा को चालू रखने के लिए आवश्यकता होती है, उसे

---

१. 'Mohsani Fani, the very candid and ingeniaus author of the Dabistan, Deseribes in his first chapter a racc of old persain sages. who appear from the whole of his account to have been Hindus; and we cannot doubt, that the book of Mohabad of Menu, which was written, he says, in a celestial dialect, means the Veda; so that, as Zerathust was only a reformer, we find in India the true source of the ancient Persian religion''. A Researches, Vol. I, p.292.

२. 'The conclusion therefore, is inevitable, viz. that the development of religious thought in India, has been unifomly downward and not upward-deterioration and not evolution. We are justified, therefore, in concluding (until the contrary is (proved) that ihe higher and purer conceptions of the vedic Aryans were the results of a primitive Divine Revelation'...phillip' s Teachings of the veda,p.231.

३. 'ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता' शीर्षक वाला भाग, प्रो० बालकृष्ण एम० ए०, एफ० आर० एस० एस, एफ० आर० ई० एस० रचित, ईश्वरीय ज्ञान वेद' के सहयोग से निवद्ध किया गया है।

वारंवार प्रयोग में लाना पड़ता है। फिर, अभ्यासवश धीरे-धीरे एक-एक अंग का विकास होता चलता है, जोकि इस क्रिया के लिये अपेक्षित होता है। अर्थात् **'प्रयोजन से अभ्यास तथा अभ्यास से विकास।'**

इसी का विपरीत सूत्र होगा :

जिस शक्ति की जीवनयात्रा के लिये अपेक्षा नहीं रहती उसका अभ्यास शनैः शनैः लोप होता चलता है—और उस अभ्यास-लोप के कारण पुनः इस अंग का ही लोप ! संक्षेप में **'प्रयोजनाभाव से अभ्यासलोप, अभ्यासलोप से अंगलोप।'**

उदाहरण के लिये—मनुष्य को पूंछ से प्रयोजन नहीं, इसलिये उसके पूंछ नहीं रही। मछलियों को, बाहर न रहने का अभ्यास होने पर, तैरने के लिये पंखों की आवश्यकता नहीं रही अतः वे लुप्त हो गये।

इन सूत्रों की परीक्षा—

अब इन सूत्रों पर बुद्धिपूर्वक विचार करना चाहिए और इनकी तात्त्विक परीक्षा करनी चाहिये।

[१] सर्वप्रथम विमर्शणीय यह है कि—जो जंगली जातियां पीढ़ियों से अहर्निश समुद्रतट पर निवास करती आ रही हैं और मत्स्यभक्षण द्वारा ही जीवन-निर्वाह करती हैं, उनमें मत्स्य के समान पंख क्यों नहीं उत्पन्न हो गये और उनके सद्योजात शिशु जल में तैरना क्यों नहीं सीख गये ? उनकी यह शक्ति कैसे लुप्त हो गई ?

[२] दूसरी ओर राजस्थान के बीकानेर और जैसलमेर की भैंस, जिसे कदाचित् सहस्रों वर्षों से पानी में तैरना नहीं पड़ा, उसका सद्योत्पन्न शिशु पानी में डालते ही कैसे तैरने लग जाता है ? बन्दर और गधे के शिशु के विषय में भी यही बात है। जो जंगली जातियां रात्रिन्दिवा नाव में ही रहती हैं और जिनका आहार भी मत्स्य ही है, जिनकी जीवनयात्रा के लिये भैंस अथवा गधे के शिशु की अपेक्षा तैरने की सहस्रगुणा अधिक आवश्यकता है—उनमें यह शक्ति क्यों नहीं समुत्पन्न हुई ?

राजस्थान की भैंस, जिसके लिये तरण शक्ति का प्रयोजन नहीं उसके शिशु में तरणशक्ति का पाया जाना, तथा जंगली धीवर मनुष्य, जिसका कि दैनन्दिन कार्य तैरने का ही है इसके शिशु में तरण शक्ति का सर्वथा न पाया जाना—स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि तैरने का जीवनयात्रा के प्रयोजन के साथ साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। यह व्यवस्था करने वाली और ही कोई शक्ति है जिसके नियमानुसार मनुष्य का शिशु, बिना सिखाये स्वतः कुछ नहीं सीख सकता, और पशु-शिशु को बिना सिखाये तैरना इत्यादि नाना योग्यताएं सहज सिद्ध हैं।

[३] जीवजन्तुओं में अनेक ऐसी वस्तुएं पाई जाती हैं, जिनका जीवनयात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं। विकासवाद के अनुसार—पिछले जलचर जीव थे, ये तदनन्तर पक्षियों का विकास हुआ। हम पूछते हैं—पक्षियों के विकास-काल में, मयूर कैसे बन गया ? मयूर के पंख भी बलवान् होते, और उसकी चोंच भी दृढ़ होती तो बात और थी, परन्तु उसके पंख इतने सुन्दर क्यों हैं ? उसके सुन्दर पंख का, तथा उसकी नृत्यकला का, जीवनयात्रा से क्या सम्बन्ध है ? [इस विषय में कतिपय लोगों का विचार है कि मयूर के नृत्य से मयूरी उसकी ओर आकृष्ट होती है, जिससे सन्तान उत्पन्न होती है परन्तु प्रश्न तो यह है कि पंखों का यह सुन्दर विकास हुआ कैसे ? आकर्षण तो पंखों के विकास के पश्चात् हुआ] इसी

प्रकार—**कोयल** के स्वर में **मिठास** का, तथा **कौए** के स्वर में **कार्कश्य** का, विकास कैसे हुआ ? जीवन-यात्रा से इसका सम्बन्ध क्या है ?

[४] अब कच्छप [कछुए] को लीजिए : तर्क दिया जाता है कि—मनुष्य के पैरों का तलुआ **पैर** चलने से रगड़ खा खाकर मोटा हो गया है इसी तर्क के आधार पर कछुआ भी पेट की ओर से कठोर, और पीठ की ओर से कोमल होना चाहिये था किन्तु है इसके सर्वथा विपरीत]—पेट वाला भाग तो अत्यन्त कोमल है, और पीठवाला भाग अत्यन्त कठोर है], और फिर उसकी यह पीठ इतनी कठोर कैसे हो गई ? क्या कभी कच्छप् पीठ के बल चला करता था ? और अब तो सहस्रों वर्षों से मानव देख रहा है कि कच्छप पेट के बल ही चलता तथा तैरता है इस लम्बे अन्तराल में रत्ती भर भी न पीठ की कठोरता में न्यूनता आई और न उदर की कोमलता में। आज भी स्थिति यथापूर्व है। ऐसा क्यों ?] जीवनयात्रा के साथ इसका तथाकथित सम्बन्ध क्या है ?

[५] मुसलमान लोग १४ सौ वर्ष से सुन्नत करते आ रहे हैं, परन्तु इतना प्रयत्न करने पर भी और उसके निरन्तर चालू रखने पर भी यह **थोड़ी सी त्वचा** दूर होने में नहीं आती। नये बच्चे फिर बिना सुन्नत के ही उत्पन्न होते हैं।

इन नित्य प्राप्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संसार में प्राणिशरीरों की रचना में न तो विकास का क्रम है और न ह्रास का। मानसिक और आत्मिक उन्नति में तो विकास का प्रश्न कभी था ही नहीं। यह पहिले प्रदर्शित किया जा चुका है कि विकासवाद की वितथ स्थापनाओं के निरन्तर ऊहापोह के पश्चात् अब अनेक वैज्ञानिक भी विकासवाद को बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं मानते हैं।[१]

इस प्रकार यह निष्कर्ष अत्युचित है, कि स्वयं अनवस्थित विकासवाद के आधार पर, ईश्वरीय ज्ञान की उत्पत्ति को नकारना युक्तिसंगत नहीं है। मानव ने सर्गादिकाल में परमेश्वर से सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया और अपने बुद्धि-बल से उसे पल्लवित किया।

ऊपर के इन परिच्छेदों में यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि, मानव की सर्वविध समुन्नति के लिये, सर्गारम्भ में ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति की क्यों आवश्यकता है ? इस बात की सन्तुष्टि होते ही एक प्रश्न फिर भी अन्तःकरण में उदित होता है कि माना मानव के ज्ञान-विकास-हेतु ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है, फिर भी यह कैसे मान लिया जाय कि वह ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है ? संसार में विभिन्न मतानुगामी अपने-अपने धर्मग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान [इलहाम] बताते हैं। अतः इस बात की सम्यक् समीक्षा होनी चाहिये कि वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है।

---

१. (क) The mystery of life remains as impentrable as ever. ···Sir George Darwin s Lecture on I6th August, 1905 (वै० स० पृ० १२३ से उद्धृत)

(ख) Dead matter cannot become living without coming under the influence of matter previously living. this seems to me as sure a teaching of science as the law of ...Gravitation the Nature and origin of life, p.173)

(ग) we are in the process of evolution; we have arrived in this planet by evolution. That all right. what is evolution ? Unfolbing development-unfolding as a bud unfolds into a flower, as an acorn into an oak. Every thing is Subject to a process of growth of development of unfoldig.

...(Science and Religion, p.16).

वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है—

इस उपर्युक्त समस्या के समाधान हेतु हमें ईश्वरीय ज्ञान वाले ग्रन्थ के विषय में निम्नांकित बातों की परिक्षा करनी होगी—[१] ईश्वरीय ज्ञान के विषय में उस ग्रन्थ की अन्तःसाक्षी। [२] उसमें उपजीवी साहित्य में उसके ईश्वरीय होने की साक्षी। [३] ईश्वरीय ज्ञान वाले ग्रन्थ की सर्वाधिक प्राचीनता। [४] ईश्वरीय ज्ञान वाले ग्रन्थ की भाषा की विलक्षणता और सर्वभाषामूलकता। [५] ईश्वरीय-ज्ञान ग्रन्थ की सृष्टि-नियमों के साथ संगति। [६] ईश्वरीयज्ञान ग्रन्थ की सर्वविद्यामूलकता। [७] ईश्वरीयज्ञान ग्रन्थ की सार्वभौमता। [८] ईश्वरीयज्ञान ग्रन्थ में सर्वभूतहित भावना।

अब इन परीक्षाबिन्दुओं पर संक्षेप से विचार किया जाता है—

[१] ईश्वरीय ज्ञान के विषय में वेद की अन्तःसाक्षी—

चारों वेदों में विभिन्न स्थलों पर ऋगादिचतुष्टयात्मक ज्ञानराशि वेद को ईश्वर से प्रसूत माना गया है। पुरुषसूक्त चारों वेदों में है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के पुरुषसूक्तों में स्पष्ट ही 'सर्वहुत् यज्ञ' विशेषणयुक्त परमेश्वर से वेदों की उत्पत्ति मानी है।[१]

यजुर्वेद में परमेश्वर को 'वेद' नाम से सम्बोधित करके उसके देवों=आद्य ऋषियों के लिये वेदज्ञान रूप में प्रादुर्भूत होने की बात कही गई है।[२]

अथर्ववेद में परमेश्वर को 'ब्रह्म' नाम से अभिहित करते हुए ऋग्वेदादि को उस ब्रह्म के अनूक्य आदि अंगों के रूप में वर्णित किया गया है : ऋक् उस ब्रह्म के अनूक्य हैं, साम उसके लोम हैं, और यजुः उसका हृदय है।[३] अथर्ववेद में पुनः सर्वजगत् के परम स्कम्भ-[परमेश्वर] से चारों वेदों की प्राप्ति का विषय प्रतिपादित है।[४] यहां भी 'साम' को उसके लोम और अथर्व को मुख कहा गया है।

[२] वेदेतर साहित्य की साक्षी—

शतपथ ब्राह्मण में महान् सत्तात्मक [=महान् भूत] परमेश्वर से, चारों वेदों को निःश्वासवत् सहजतया प्रादुर्भूत माना है।[५]

निरुक्तकार यास्क ने मनुष्य-कृत विद्याओं को अनित्य कहा है और वेद की मन्त्रात्मक ज्ञानराशि को नित्य होने के कारण कर्मों की प्रपूरिका माना है।[६] आगे जाकर यास्क ने अखिल धर्ममूल[७]

---

१. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥
ऋ० १०.९०.९; यजु० ३१.७; अथर्व० १९.६.१३.

२. 'वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः॥' यजु० २.२१.

३. यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्। सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः॥ अथर्व० ९.६.१, २.

४. यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व० १०.७.२०

५. 'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'
शत० ब्रा० १४.५.४.१०.

६. पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। निरु० १.२.

७. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु० २.६

धर्मस्वरूप वेदों का आद्य ऋषियों द्वारा साक्षात्कृतत्व माना है ।[१] वेदों के नित्य ईश्वर से समुत्पन्न होने के कारण यास्क ने वेदों की आनुपूर्वी को भी नित्य माना है ।[२]

आद्य स्मृतिकार धर्मशास्त्र-प्रणेता मनु ने सनातन परमात्मा से समुत्पन्न वेदों को भी सनातन तथा मानवमात्र का परम ज्ञान-चक्षु बताया है ।[३] अन्यत्र मनु ने परमेश्वर से साक्षात् वेदज्ञान प्राप्त करने वाले अग्नि, वायु तथा रवि नामक ऋषियों से महर्षि ब्रह्मा द्वारा वेदज्ञान की प्राप्ति का वर्णन किया है ।[४] इसी मनु वचन के व्याख्यान में मनु-विधान के गम्भीर ज्ञाता कुल्लूक भट्ट ने मनु को, वेदों के अपौरुषेय=ईश्वरीय [=मनुष्य कृत नहीं] होने के पक्ष का प्रतिपादक तथा सार्थक माना है और सृष्टि-सृष्ट्यन्तर में नित्य वेदों के ईश्वर द्वारा=ब्रह्म द्वारा पुनः पुनः प्रादुर्भाव की बात कही है ।[५]

महर्षि व्यास, महाभारत में लिखते हैं कि सृष्टि के आदिकाल में स्वयम्भू परमेश्वर ने नित्य वेद-रूपी दिव्य वाणी का सृजन किया । उसी से संसार की समस्त प्रवृत्तियां प्रसृत हुईं ।[६]

वैशेषिकदर्शनकार महर्षि कणाद वेद [=आम्नाय] को ईश्वरीय वचन मानते हैं ।[७] प्रसिद्ध दार्शनिक उदयनाचार्य-कृत 'किरणावली' के किरणावली प्रकाश में भी वेद की ईश्वरीय वचनता मानी गई है ।[८]

योगशास्त्रकार पतंजलि के **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'**[९] सूत्र पर भाष्य रचते हुए महर्षि व्यास लिखते हैं कि शास्त्र[=वेद][१०] ईश्वर सत्त्व में वर्त्तमान रहता है । वेद का निमित्त कारण परमेश्वर ही है ।[११]

वेदान्त-दर्शन के आद्य-प्रणेता महर्षिव्यास अति स्पष्ट शब्दों में परब्रह्म परमेश्वर को परम-शास्त्र वेद का मूल कारण मानते हैं ।[१२] शंकराचार्य उसकी सम्पुष्टि करते हुए कहते हैं कि वेद जैसे सर्व-

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । निरु० १.२०
२. नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ॥ निरु० १.१६
३. पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् । अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ मनु० १२.९४
४. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम् ॥ मनु० १.२३
५. वेदापौरुषेयत्व पक्ष एव मनोरभिमतः । पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः । तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष । मनु० १.२३ कु० टी०.
६. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ म० भा० १२.२२४.५५,१२.६७१.१
७. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् [वै० सू० १.१.३] । तद्वचनादित्यनुप्रक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतयेश्वरं परामृशति ।' शंकरमिश्र कृत उपस्कार टीका ।
८. तद्वचनात् । तेनेश्वरेण वचनात् प्रणयनादाम्नायस्य प्रामाण्यमित्यर्थः ।'—किरणावली, पृ० १३.
९. यो० सू० १.२४ १०. द्र०—यह शो० प्र० [पृ० ३६९]
११. तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तम् ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिसम्बन्धः ।—यो० सू० १.२४ । व्या भा०.
१२. शास्त्रयोनित्वात् । वे० सू० १.१.३.

ज्ञानमय विद्याराशिग्रन्थ का उद्भव परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव ही नहीं है।[1]

विष्णु पुराण में विराट्स्वरूप परमेश्वर से चारों वेदों की उत्पत्ति मानी है।[2]

[३] वेदों की सर्वाधिक प्राचीनता—

'ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता' वाले प्रकरण में[3] दिखाया गया है कि वेद संसार के सम्पूर्ण प्रमुख धर्मों के मूलग्रन्थों के मूलस्रोत हैं। इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वेद उन सबमें प्राचीन हैं, पूर्वकाल के हैं। महर्षि मनु ने वेद को ही नित्य तथा प्राचीन माना है और इतर ग्रन्थों को अनित्य, पश्चात् कालीन माना है।[4]

इंगलैण्ड-निवासी जर्मन वैदिक विद्वान् मैक्समूलर ने लिखा है कि कालानुक्रम विद्या और ग्रन्थेतिहास की नवीनतम गवेषणा के आधार पर हम सतर्कतापूर्वक कह सकते हैं कि 'ऋग्वेद' न केवल आर्यजाति का अपितु सम्पूर्ण विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है।[5]

[४] वैदिक भाषा की विलक्षणता और सर्वभाषामूलकता—

ईश्वरीय ज्ञान-ग्रन्थ की भाषा किसी देश विशेष की भाषा न होकर सबसे विलक्षण होनी चाहिये। संसार के प्रमुख धर्मों के धर्मग्रन्थ तत्तत्स्थानीय भाषा में रचे गये हैं। कुरान अरबी में, बाइबल हिब्रू में, जन्दावस्था पारसी में, बौद्ध-त्रिपटक पाली में और जैनग्रन्थ प्राकृत में। किन्तु वेद सबसे विलक्षण भाषा में रचे गये हैं। यही परमेश्वर की न्यायप्रियता है कि ऐसी भाषा में ज्ञान प्रदान किया जिसके सीखने में सब देश वालों का समान अध्यवसाय हो।[6] वैदिक भाषा सब भाषाओं से विलक्षण है। लौकिक संस्कृत का वैदिक भाषा से बहुत अधिक साम्य है, तथापि कई बातों में परस्पर असमानता भी

---

१. 'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति ॥
वे० सू० १.१.३। शा० भा०

२. त्वत्त ऋचोऽथ सामानि त्वत्तश्छन्दांसि जज्ञिरे। त्वत्तो यजूंष्यजायन्त त्वत्तोऽश्वाश्चैकतोदतः ॥
वि० पु० १.१२.६२

३. द्र० यह शोध० प्र०। पृ० ३७८ से ३९३

४. उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्। तान्यर्वाक् कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥
मनु० १२.८६.

५, After the latest researches in to the history and chronology of the books of old Testament, we may now safely call the Rigveda the oldest book, not only of Aryan humanity. but of the whole world.
...F.Maxmuller-preface to the second edition, IVth vol. Sayana bhashya of Rigveda.

६. जो किसी देश की भाषा में [वेदज्ञान का] प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता, इसलिये संस्कृत में ही प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं। और वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण भी है। स्वा० द०। स० प्र० [सप्तम समुल्लास] पृ० ३१६

है ।[1] वैदिक भाषा की वर्णमाला सब से अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक है । बाल्टिक भाषा की वर्णमाला में १७ अक्षर हैं, हिब्रू में २०, लैटिन में २०, फ्रेंच में २५, अंग्रेजी में २६, स्पेनिश में २७, अरबी में २८, फारसी में ३१, रूसी में ३५ अक्षर हैं ।[2] किन्तु वैदिक संस्कृत भाषा में ६३ अक्षर हैं ।[3] चीनी भाषा की वर्णमाला में २४० अक्षर माने जाते हैं परन्तु वे मूलाक्षर न होकर मात्र ध्वनि भेद हैं । ऐसे ध्वनिभेद गिनें तो वैदिक संस्कृत में एक सहस्र अक्षर हो जायेंगे । वेद क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भूत हुए और अन्य धर्मग्रन्थ भी इसी आधार पर परम्परा से बने तथा मानव-जाति के आद्य पूर्वज वेदभाषाभाषी थे, अतः वैदिक संस्कृत भाषा किसी समय समस्त संसार की भाषा थी ।[4] मानवीय शक्तियों के ह्रास हो जाने से और अज्ञान, प्रमाद, अनभ्यास आदि कारणों से वैदिक भाषा से अपभ्रष्ट हो-होकर संसार में विविध भाषाएं प्रचलित हो गईं अतएव वैदिक संस्कृत भाषा सब भाषाओं की मूल भाषा है ।[5]

[५] वेद और सृष्टि-नियमों की संगति—

वेदों में सृष्टि के शाश्वत नियमों का सुन्दर विवेचन किया गया है ।[6] वेद के सिद्धान्त, सृष्टि नियमों के सर्वथा अनुकूल हैं । वेदोक्त धर्म सर्वथा सृष्टि नियमों के अनुरूप सच्चे विज्ञान के अनुकूल है । सत्य-विज्ञान और सत्य-धर्म में सदा सहचारिता होगी ।[7]

[६] वेद में सत्य विद्याएं—

वेद सब प्रकार के ज्ञान से युक्त है । विविध विद्याओं के और विधि विधान के वेत्ता राजर्षि

---

१. [क] वेदभाषा और संस्कृत भाषा की विभक्तियों में भेद है—'द्वा सुपर्णा सयुजा' [लौ० सं० द्वौ सुपर्णौ सयुजौ ।]
[ख] वैदिक भाषा में लेट् लकार संस्कृत से अतिरिक्त है ।
[ग] वैदिक भाषा में 'ळ' अक्षर अधिक है ।
[घ] वैदिक भाषा में सर्वथा, स्वरों से अर्थ सुबद्ध है ।
[ङ] वैदिक भाषा के अनेक शब्द लौकिक संस्कृत से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं । अहि=मेघ [सं० में सर्प], घृताची=रात्रि [सं० में वेश्यानाम], ग्रावा=बादल [सं० में पत्थर] ।
[च] अनेक वैदिक शब्द लौ० सं० में अपभ्रष्ट हो गये स्याल [सं० में श्याल] आदि
—रघुनन्दन शर्मा कृत वै० सं०, पृ० २२४-२२५

२. वही, पृ० २२०.

३. वर्णाः त्रिषष्टिः [पाणिनीय वर्णोच्चारण शिक्षा ३]

४. At one time Sanskrit was the one language spoken all over the world.
–Baup Edinburgh Rev. Vol. XXXIII, p. 43.

५. It is the most regular language known and is especially remarkable, as containing the roots of the various languages of Europe, and the Greek, Latin, German, of Sclavonic. ----Baron Cuvier --Lectures on the Natural Sciences.

६. ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समद्रो अर्णवः ॥
—ऋ० १०. १९०. १

७, True science and true religion are twin sisters and the separation of either from the other is sure to prove the death both.
[प्रो० बालकृष्ण रचित 'ईश्वरीय ज्ञान वेद' पृ० सं० ६९ से उद्धृत]

मनु ने वेद को 'सर्वज्ञानमय' कहा है।[1] आद्य शंकराचार्य वेद को सर्व विद्याओं का निधान मानते हैं।[2] स्वामी दयानन्द सरस्वती वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक मानते हैं।[3] वेद में न केवल धार्मिक, आध्यात्मिक अथवा सामाजिक विद्याओं का वर्णन है अपितु भौतिक विज्ञान की विविध शाखाओं का भी उसमें सूक्ष्म रूप से विवेचन है।[4] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वरचित ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमणविज्ञान, आकर्षणानुकर्षण विज्ञान, प्रकाश्यप्रकाशक विषय, गणित विद्या, नौविमानादिविद्या, तारविद्या, वैद्यकविद्या तथा राजप्रजाधर्मविद्या आदि का सप्रमाण निदर्शन किया है।[5]

[७] वेदों की सार्वभौमता—

वेद में किसी देश-विशेष अथवा स्थान-विशेष का वर्णन नहीं है। वेद में किसी-जाति-विशेष का वर्णन नहीं है। वेद में मनुष्य मात्र के केवल दो भेद किये गए हैं—आर्य और दस्यु।[6] ये दोनों गुणपरक नाम हैं। आर्य=श्रेष्ठ, सदाचारी। दस्यु=नियमभंगकर्त्ता, घातक, नाशक। वेद में किसी जाति विशेष को सम्बोधित नहीं किया गया है। सामान्य मनुष्य मात्र वहाँ सम्बोधित है। 'शृण्वतु विश्वे अमृतस्य पुत्राः;[7] 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्[8]; उद्यानं ते पुरुष नावयानम्[9]; वेदों में समस्त मानव समाज को मनसा, वाचा, कर्मणा संगठित होकर रहने का उपदेश दिया गया है—

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथापूर्वे सं जानाना उपासते॥[10]

'समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥[11]

साथ ही मानव मात्र को सहृदयता, संमनस्कता और अविद्वेष का पाठ पढ़ाकर एक दूसरे से उसी प्रकार प्रेम करने का पवित्र उपदेश है जैसे सद्यः प्रसूता गौ अपने नवजात शिशु को प्रेम करती है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥[12]

---

१. यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
—मनु० २. ७.

२. महत ऋग्वेदादेः अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य सर्वार्थद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य।
—वे० सू०। शा० भा० १. १. ३.

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
—आ० स० नियम ३.

४. We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great Vedas, the most remarkable works, containing not only religious ideas on a perfect life, but also facts which all the sciences have since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the seers who found the Vedas. ----Mrs. Wheelar Willox.

५. स्वा० द०। ऋ० भा० भू० [पृ० १२६-२६८] रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत संस्करण।

६. विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो०। ऋ० १.५१.८.

७. यजु० ११.५. ८. यजु० ४०.१. ९. अथर्व० ८.१.६.

१०. ऋ० १०.१९१.२. ११. अथर्व० ३.३०.६. १२. अथर्व० ३. ३०.१.

क्वचित् आपाततः वेद मन्त्रों में देशवाची अथवा व्यक्ति-जातिवाची नामों का भ्रम होता है। किन्तु यतः वैदिक सभी पद यौगिक हैं,[1] रूढ़ नहीं हैं, अतः वे सभी तादृश पद, सामान्य नाम [Common Noun] हैं, व्यक्ति विशेष के नाम [Proper Noun] नहीं। वेद के उन सामान्य वाचक नामों को देख-देखकर ही वेदाध्येता ऋषि मुनियों तथा मानवों ने देश, नदी, पर्वत तथा मनुष्य, वंश आदि के नाम रख लिये। मनु ने भी यही अभिप्राय प्रकट किया है।[2]

[८] वेदों में सर्वभूतहित-भावना—

वेद में प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखने का अनुपम उपदेश है—**दृते दृंह मा। मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥**[3]

पवित्र पुरुषसूक्त की **'तस्माद्···ऋचः सामानि'** इस नवमी ऋचा के प्रकाश में इस अध्याय में, सर्गारम्भ में सर्वहुत् यज्ञ पुरुष से ज्ञानोत्पत्ति दर्शाते हुए आद्य ऋषियों की हृदयवेदि में ज्ञानहवि का हवन, द्विजन्मा आदिमानव, ऋक्साम आदि का वेदत्व, 'छन्दांसि' पद और अथर्ववेद, वेदत्रयी और वेदचतुष्ट्व,' 'वेद' संज्ञा का कारण, ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता और वेदों का ईश्वरीयज्ञानत्व इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस बह्ववयवी विवेचना का सारांश यह है कि मानव जब पूर्णतः निर्मित होकर शरीरतः जन्मा तो वह वेदज्ञान से युक्त था। उसे वह ज्ञान अन्तर्यामी यज्ञस्वरूप प्रभु ने शरीरनिर्माण-काल में ही प्रदान किया।

जब परिपूर्ण शरीरयुक्त आदि मानव धरती पर आविर्भूत हुआ तो जैसे बाह्य चक्षुओं के साहाय्य के लिए प्रकाशपुंज सूर्य पहिले से विद्यमान था वैसे ही अन्तश्चक्षु [=अन्तःकरण] बुद्धि तत्त्व के साहाय्य के लिए परमज्योतिःपुंज वेदज्ञान रूपी मार्त्तण्ड भी उसके दिव्य हृदयाकाश में प्रकाशित हो रहा था। वह बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार के प्रकाश से प्रकाशित था। उसने इस अद्भुत जगत् को देखा वेद ज्ञान रूपी दिव्य प्रकाश के सहारे जब उसे इस जगत् की विचित्रताएं सहजतया प्रतिभासित होने लगीं और जीवन व्यवहार में वह अबाध गति से नैपुण्य प्राप्त करने लगा तो उसके मुख से महर्षि व्यास के शब्दों में हठात् निकल पड़ा—

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम्। वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तमम् ॥[4]

---

१. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ॥ निरु० १.१२.

२. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु० १.२१.

३. यजु० ३६.१८.

४. म० भा० १२.३३५.२९.

अष्टम अध्याय

सामाजिक तत्त्व

मनुष्य सामाजिक-पशु—

पुरुष-सूक्त में **'यज्ञ-पुरुष'** से **वायव्य, आरण्य** और **ग्राम्य** पशुओं की उत्पत्ति का वर्णन है[1]। ग्राम्य पशुओं में **अश्व, गौ, अजा** और **अवि** के साथ **पुरुष** भी सम्मिलित है[2]। पुरुष ग्राम्य पशुओं में सम्मिलित ही नहीं, अपितु उनमें उसका स्थान सर्वप्रथम है[3]। सूक्त के **वायव्य, आरण्य** और **ग्राम्य** शब्द पारिभाषिक हैं। एकाकी विचरने वाले को आरण्य पशु[4] और समूह बनाकर रहने वालों को ग्राम्य पशु कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य भी समूह बनाकर रहने वाला ग्राम्य [सामाजिक] पशु है। अंग्रेजी भाषा में एक उक्ति प्रसिद्ध है—'Man is a social animal'. सूक्त के **ग्राम्य** शब्द की अभिव्यक्ति आज की भाषा में **'समाज'** शब्द के द्वारा अधिक समीचीन रूप से होती है।

समाज का अर्थ—

जिसमें सभी व्यक्ति एक होकर गति करते हैं उसे समाज कहते हैं—**'समं अजन्ति जना यस्मिन् स समाजः'**। **समाज** में **'सम्'** उपसर्ग पद का आत्मा है। वेद में **'सम्'** का, **समता** का अत्यधिक महत्त्व है। यह उसके आदेश वाक्यों से स्पष्ट है तद्यथा—**"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्"**[5]—तुम्हारे कदम मिले हुए हों, तुम्हारी वाणी एक हो, तुम्हारी मन मिले हुए हों।। यही नहीं—तुम्हारा खान-पान एक हो, मैं तुम्हें एक ही जुए में जुतने का आदेश देता हूं। **समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि**[6]।

पुरुष-सूक्त और समाज—

पुरुष-सूक्त में एक होकर चलने का—समभाव का [**समता का**], **सहयोग सहानुभूति** का, **संवेदनशीलता** का उपदेश, पुरुष पिण्ड—[देह] को माध्यम बनाकर दिया है। जिस प्रकार शरीर के सभी अंग परस्पर सहयोग और सहकारिता से शरीर का संचालन करते हैं, उसी प्रकार समाज का प्रत्येक घटक परस्पर सहयोग एवं सहकारिता से समाज का संचालन करें। **समाज** को [संगठन को] उर्दू भाषा में **'जमाअत'** और आंगल भाषा में organisation कहते हैं। संगठित और सुव्यवस्थित समाज को organi-

---

१. **पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।** ऋ० १०.९०.८

२. **एतावन्तो [पुरुषः अश्वः गौः अविः अजा] वै ग्राम्याः पशवः।**—तै० सं० २.१.१.५

३. **पुरुषो हि पथमः पशूनाम्।** शत० ब्रा० ६.२.१.१८

४. **आरण्यपशवो गुहेव निलायमिव, प्रलयमिव चरन्ति।** काठ० २९.८

५. ऋ० १०.१९१.२ ६. अथर्व० ३.३०.६

sation body कहते हैं। इन दोनों ही शब्दों में organ और body शब्द समाज की पुरुषरूपता को व्यक्त करते हैं। organ का अर्थ अंग और body का अर्थ 'शरीर' सर्वविदित ही है। **'व्यक्ति-पुरुष'** को जिस प्रकार **मुख, बाहु, ऊरु** और **पाद** आदि अंगों की आवश्यकता है, **'समाज-पुरुष'** को भी उसी प्रकार इन अंगों की अपेक्षा है।

समाज-पुरुष का पुर—

जिस प्रकार व्यक्ति-पुरुष के लिए आवश्यक है कि वह **'पुर'** में प्रतिष्ठित हो, पुर में ही नहीं, अपितु पुर के अंग-अंग में प्रतिष्ठित हो, तद्वत्, **राष्ट्र-पुरुष** व समाज-पुरुष को भी आवश्यक है कि वह प्रजा रूप पुर में प्रतिष्ठित हो। इसीलिए कहा—**'विशि राजा प्रतिष्ठितः'**[1]। इतना ही क्यों ? समाज-पुरुष की तो घोषणा ही यह है कि—**'विशो मेऽङ्गानि सर्वतः'**[2]—सभी प्रजाएं मेरे अंग हैं, मैं प्रजारूप अंग-अंग में प्रतिष्ठित हूं—नहीं-नहीं मैं राष्ट्र के **क्षत्रबल** में प्रतिष्ठित हूं, राष्ट्र के **अश्वों** में प्रतिष्ठित हूं, राष्ट्र की **गौओं** में प्रतिष्ठित हूं और राष्ट्रशरीर के अंगभूत **जन-जन में प्रतिष्ठित** हूं—उसकी **आत्मा** और **श्वास-श्वास में प्रतिष्ठित** हूं। समाज़ का प्रत्येक व्यक्ति मेरा अंग है[3]। सूत, शैलूष, तक्षा, कुलाल, कर्मार प्राड्विवाक्, न्यायाधीश, पुरोहित, अध्यापक और आचार्य तक मेरे अंग हैं। इन सब में मैं प्रतिष्ठित हूं। ये सब मेरी प्रतिष्ठा हैं। मेरी **मति, कृति, स्थिति, गति** सब इन्हीं अंगों **[मुख, बाहू, ऊरु और पाद]** के आधीन हैं।

विराट् पुरुष [=समाज] का चतुर्धा विकल्पन—

पुरुष-सूक्त में प्रश्नमुख से जिज्ञासा की गई है कि जिस [विराट्] पुरुष का विधान किया, उसका कल्पना-प्रस्ताव क्या था ? उसका **'मुख'** क्या हुआ था, उसके **'बाहु'** कौन बनाए गए ? उसके **'ऊरु'** [जांघ] कौन हुए, उसके किन अङ्गों को **पाद** कहा जाए[4] और अगली ही ऋचा में इसका उत्तर देते हुए, कहा गया कि उस प्रश्न पुरुष-कल्पना में **ब्राह्मण** उसका **मुख, राजन्य 'बाहु'** स्थानीय था ; **वैश्य 'ऊरु'** स्थानीय और **शूद्र** पादस्थानीय हुआ'[5]।

चतुरंग रूपक और वर्णों का आधार—गुण- कर्म-स्वभाव—

इस प्रकार पुरुष-सूक्त की इस वर्णविषयक, प्रश्नोत्तरी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि समाजरूप विराट् शरीर के चतुरंगरूप से चातुर्वर्ण्य की कल्पना की गई। अवश्य ही इस कल्पना का आधार गुण और कर्म हैं, क्योंकि मुखबाहु आदि के रूपक से ऐसा ही ऊह किया जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य के **शरीर में मुख, बाहु, ऊरु और पाद**—ये चार प्रमुख अंग—चार मुख्य क्रिया वा धर्म वाले प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। मानव शरीर की निष्पत्ति और सम्पूर्णता के लिए इन चार अंगों की स्थिति अपरिहार्य है। इनके

---

१. यजु० २०.९. २. यजु० २०.८

३. **प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ।**
प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन् प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे... । —यजु० २०.१०

४. **यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥**
—ऋ० १०.९०.११

५. **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥**
—ऋ० १०. ९०.१२

बिना **'शरीर'** बन ही नहीं सकता। इन अवयवों के सन्निवेश-संस्थान-विशेष का ही नाम तो **'शरीर'** है। जिस प्रकार मानव शरीर के धर्म उसकी स्थिति और समस्त क्रियाएं इन **चार अंगों** के संघटित आधार पर सिद्ध होती और चलती हैं, उसी प्रकार समाज-शरीर के धर्म उसकी स्थिति और समस्त क्रियाएं भी [इन्हीं **मुख, बाहु, ऊरु** और **पाद** के प्रतिनिधिभूत] **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र** इन चार अंगों के संगठित आधार पर ही सिद्ध होती और चलती हैं।

मुख, बाहु, ऊरु और पाद का महत्त्व—

देह का **मुख, बाहु, ऊरु** और **पाद**—चतुर्धा-विभाजन, विशेष महत्त्व रखता है। इनकी व्याख्या में अन्यत्र, इनके स्थानापन्न अन्य अंगों का भी समावेश कर लिया गया है। ये चारों अंग प्रतिनिधि-मात्र हैं: इसलिए **मुख** अर्थात् **शिर, मस्तिष्क** एवं **मूर्धा**; **बाहु** अर्थात् **स्कन्ध, उरस्** और **वक्षस्थल** तथा **ऊरु** अर्थात् **उदर, मध्यभाग, नाभि** एवं **जंघा**। इसी प्रकार **पाद** के स्थानापन्न भी समझने चाहिएं। वस्तुतः देखा जाय तो ये सभी शिर, उदर, स्कन्ध आदि अन्यान्य अंग, सूक्तोक्त चार प्रमुख अंगों के उपांग एवं सहयोगी हैं: इनके सहयोग से मुख, बाहु, ऊरु और पाद के गुण-धर्मों को जानने और उनकी व्याख्या करने में सहयोग मिलता है। मुख, बाहु, ऊरु और पाद का कुछ महत्त्व अपना ही है; यह विभाजन जहां [क] वैज्ञानिक है वहां [ख] दार्शनिक भी है।

[क] अंगों का वैज्ञानिक विभाजन—

[१] सूक्त के अंग विभाजन की सबसे पहली विशेषता यह है कि शरीर संस्थान में—**मुख, बाहु, ऊरु** और **पाद**—मुख्य हैं; शेष अंग समस्त शरीर के लिए सामान्य हैं: यथा **उत्तमांगों में शिर, ज्ञानेन्द्रियों में त्वक्** और **कर्मेन्द्रियों में कर। शिर** सभी का संज्ञान-केन्द्र होने से सबके लिए सामान्य उपयोग में आने वाला है; **त्वचा** सारे शरीर में व्याप्त होने से सभी के लिए उपयोगी सभी के सामान्य है; **कर** [=हस्त] की भी रचना कुछ इस प्रकार हुई है कि उसकी पहुंच एड़ी से चोटी तक होने से सबके लिए सामान्य है।

शरीर के किसी भी भाग में क्षत होने पर त्वचा मस्तिष्क को सूचना देती है; मस्तिष्क कर को तत्क्षण त्राण का आदेश देता है; कर तत्क्षण घटनास्थल पर पहुंच कर क्षत-त्राण करता है। यह सम्पूर्ण कार्य **स्वभावतः** होता है। यही कारण है कि वर्ण-विभाजन का एक आधार **स्वभाव** भी है।

[२] अंगों के चतुर्धा विभाजन की द्वितीय विशेषता यह है कि प्रत्येक अंग के साथ एक न एक कर्मेन्द्रिय भी संलग्न है: **मुख** के साथ **वाक्, बाहु** के साथ **कर** और **ऊरु** के साथ **पायु** तथा **उपस्थ**; पाद तो स्वतः कर्मेन्द्रिय हैं ही। इससे ज्ञात होता है कि वर्णों का आधार जहां **स्वभाव** है, वहां **कर्म** भी है।

[३] इस विभाजन में, उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त एक विशेषता और भी है: वह यह कि प्रत्येक अंग की सीमा निर्धारित कर दी गई है, [जिससे अंगों का शक्ति-संतुलन बना रहे]। परिणाम-स्वरूप-परस्पर **सहकारिता, सहयोग** और **सहानुभूति** से शरीर का उत्तम संचालन होता रहे [अन्यथा एक अंग में समस्त शक्तियों के केन्द्रित हो जाने से, एक को अधिक भारवहन करना पड़ता और शरीर के कार्य में बाधा उपस्थित हो जाती]। चतुर्धा विभक्त इन मुखबाहूरुपाद के व्याज से यह शिक्षा दी गई है कि समाज के प्रत्येक वर्ण के अधिकार सीमाबद्ध होने चाहिएं। समाज-शरीर के अंगभूत **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र** में से

किसी एक में शक्ति निहित न होने पाए। सीमानिर्धारण से शक्ति-सन्तुलन और अधिकार-सन्तुलन बना रहेगा। शरीर के चतुर्धा-विभाजन में **हाथों** के प्रतिनिधित्व का प्रत्यक्षतः उल्लेख नहीं हुआ। जिस प्रकार **ऊरुद्वय** के साथ **चरण** जुड़े हुए हैं उसी प्रकार **बाहुद्वय** के साथ **कर** भी जुड़े हुए हैं।

[ख] चतुर्धा विभाजन और दार्शनिकता—

अंग-चतुष्टय [**मुख, बाहु, ऊरु, और पाद**] के प्रतिनिधि क्रमशः वर्णचतुष्टय [**ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र**] हैं, किन्तु आश्चर्य है कि हाथों का प्रतिनिधि कोई नहीं है। सम्भवतः इसमें यह भावना निहित हो कि—जो **'जैसा करे वैसा भरे'—'यथा कर्म तथा लाभः'**। अतः हाथों को मुक्त रख कर प्रत्येक [व्यक्ति] वर्णी को अवसर दे दिया गया कि अपनी-अपनी सीमा में रहते हुए हाथों का उपयोग करो और फल के उपभोक्ता बनो। जितना और जैसा करोगे उतना और वैसा ही फल पाओगे। समाज और राष्ट्र का दायित्व है कि वह प्रजा के प्रत्येक जन को **कार्य दे** क्योंकि उसे कार्य करने के लिए **कर** मिले हुए हैं। करने पर भी फल न देना, व्यक्ति का शोषण है और करे बिना फल मांगना व्यक्ति के लिए अपराध है।

मनुष्यकृत समाज-रचना में यह दोष न रहने पाए इसके लिए, परमात्मा द्वारा पुरुषदेह में उस व्यवस्था का साक्षात्कार करा दिया गया कि जिस प्रकार व्यक्ति के **'कर'**, शरीर के **प्रत्येक अवयव** के लिए हैं उसी प्रकार व्यक्ति के वे **कर** समाज के अवयवभूत **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य** और **शूद्र** सभी के लिए हैं।

कर [=हाथ] का मुख्य अंगों के साथ सहयोग—

शरीर के मुख, बाहु, ऊरु और पाद इन चारों अंगों में से कोई अंग जैसे ही कार्य में प्रवृत्त होता है कि कर निसर्गतः साथ देने को उपस्थित हो जाते हैं। **मुख** के बोलना आरम्भ करते ही **करों** का संचालन स्वतः आरम्भ हो जाता है। पैरों के चलने के लिए प्रवृत्त होते ही **करों** का आगे-पीछे हिलना स्वतः आरम्भ हो जाता है। **ऊरु** भाग के आसन ग्रहण करते ही कर सहारे के लिए स्वतः उपस्थित हो जाते हैं। बाहुओं के साथ तो ये जुड़े ही हुए हैं। उनके सभी कार्य हाथों पर निर्भर हैं। इस प्रकार हाथ सबके लिए हैं। उनका प्रतिनिधि कोई एक व्यक्ति नहीं हो सकता। सम्पूर्ण समाज ही इनका प्रतिनिधि है।

'वाक्' जिस प्रकार पंच ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करती है, **'प्राण'** जिस प्रकार पंच प्राणों और पंच उपप्राणों का प्रतिनिधित्व करता है **'कर'** उसी प्रकार पंचजनों का प्रतिनिधित्व करता है। [हाथों की पंचांगुलियां मानो राष्ट्र के पंचजन ही हों]। **अंगुष्ठ, 'ब्राह्मण'** है, **तर्जनी 'क्षत्रिय'** है, **मध्यमा** [मध्यं तदस्य यद्वैश्यः] **वैश्य** है, **कनिष्ठिका शूद्र** है और **अनामिका** [वेनाम निषाद] है। शतपथब्राह्मण ने इसकी पुष्टि में कहा कि **मुष्टि** ही **राष्ट्र** है—**'राष्ट्रं मुष्टिः'**।[1] **मुख ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है, पाद शूद्र हैं,** और **मुष्टि राष्ट्र** है।

वृत्त [कर्म] चतुष्टय और लक्ष्यसिद्धि—

'व्यक्ति पुरुष' को लक्ष्यप्राप्ति-हेतु **मति** [=मनन], **कृति, स्थिति,** और **गति** की आवश्यकता है, किसी एक के भी अभाव में लक्ष्यसिद्धि असंभव है। इसीलिए पुरुष को निसर्गतः **मति** [=मनन] के लिए **मस्तिष्क** अथवा **मुख, कृति** के लिए **बाहू** तथा **कर, स्थिति** के लिए **ऊरु, उदर नाभि** और **गति** के

१. शत० ब्रा० १३.२.९.७

लिये **चरण** मिले हैं।

'समाज पुरुष' को भी अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए मति, कृति, स्थिति और गति की आवश्यकता होती है। मति के लिए मुख-स्थानीय' कृति के लिए बाहुस्थानीय, स्थिति के लिए ऊरु-स्थानीय और गति के लिए पाद-स्थानीय, व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है कि वह **'समाज पुरुष'** के किस अंग का स्थानापन्न बनना **वरण** करता है। वह स्वेच्छा से **वरण** कर सकता है कि यह **मुख** बने अथवा **चरण**, **बाहु** बने अथवा **ऊरु**। **इसी वरण पर उसका वर्ण निश्चित होगा। 'वर्णो वृणोतेः'**।[1] मानो उनसे पूछा जा सके कि तुम में से समाज पुरुष का मुख कौन है? बाहु कौन है? ऊरु कौन है? और चरण किसे कहा जाए? और तब बताया जा सके कि **[योऽस्य] मुखम् [भवितुं वृणोति] स ब्राह्मणः, [योऽस्य] बाहू [भवितुं वृणोति] स राजन्यः, यो वास्य ऊरु [भवितुं वृणोति] स वैश्यः, योऽस्य पादौ [भवितुं वृणोति] स शूद्रः।**

'समाज पुरुष' के त्रिविध दुःख—

'व्यक्ति पुरुष' की भांति 'समाज पुरुष' को भी [सामाजिक] त्रिविध दुखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप अत्यन्त पुरुषार्थ करना आवश्यक है। जहां 'व्यक्ति पुरुष' के [आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक] त्रिविध दुःख हैं, वहां **'समाज पुरुष'** के भी **अज्ञान, अन्याय एवं अभाव** त्रिविध दुःख हैं। 'समाज-पुरुष' को भी इनकी निवृत्ति हेतु अत्यन्त पुरुषार्थ करना होगा।

पुरुष को भी व्यक्तिशः आधिभौतिक दुःखों के अन्तर्गत **अज्ञान, अन्याय** एवं **अभाव**-रूप त्रिविध दुःखों की निवृत्ति करनी होती है जिसके लिए उसे **मुख, बाहु, ऊरु** आदि अंग प्राप्त हैं। वह मुख-मस्तिष्क से अज्ञान की, बाहु-कर से अन्याय की और ऊरु-उदर से अभाव की निवृत्ति करता है। 'समाज पुरुष' को भी अज्ञान, अन्याय, अभाव रूप त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्त्यर्थ समाज के मुखोपलक्षित ब्राह्मण की, बाहूपलक्षित राजन्य की और ऊरूपलक्षित वैश्य की आवश्यकता रहेगी। समाज पुरुष को इसके लिए जन-आह्वान करना होगा; जिससे व्यक्ति **अज्ञान, अन्याय** और **अभाव** रूप त्रिविध दुःखों में से किसी एक की अत्यन्त-निवृत्त्यर्थ अत्यन्त पुरुषार्थ करने को उद्यत हो। कोई **मुखवत् ब्राह्मण**, कोई **बाहुवत् राजन्य** और कोई **ऊरुवत् वैश्य** बनकर दिखाए; जिससे **अज्ञान, अन्याय** एवं **अभाव** रूप त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो सके।

आलस्य-निवारण और शूद्र—

अज्ञान-अन्याय-अभाव-रूप त्रिविध दुःखों के अतिरिक्त 'समाज पुरुष' का एक दुःख और भी है, वह है[परम दुःख]**आलस्य** जिसका प्रतिकार किए बिना उक्त 'त्रिविध दुःखों की निवृत्यर्थ **अत्यन्त-पुरुषार्थ** असम्भव है। आलस्य के निवृत्त्यर्थ 'समाज पुरुष' को पादोपलक्षित शूद्र व्यक्ति की आवश्यकता होगी; जो गति एवं तप-रूप अत्यन्त पुरुषार्थ द्वारा आलस्य की निवृत्ति कर सकेगा—**'तपसे शूद्रम्'**[2]।

राष्ट्र-जीवन और वृत्तचतुष्टय—

राष्ट्र-पुरुष के जीवन का **अस्तित्त्व** मति, कृति, स्थिति और गति के उपार्जन में है और उसके लिए मुख-बाहु ऊरु-पाद-स्थानीय व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। **राष्ट्र-पुरुष की समृद्ध अज्ञान, अन्याय,**

---

१. निरु० २.३ २. यजुः ३०।५।।

अभाव और आलस्य [चतुर्विध दुःखों] **के प्रतिकार में है।** और उसके लिए मुख-बाहु-ऊरु-पाद के स्थानापन्न व्यक्तियों की आवश्यकता है। जो समाज पुरुष' का मुख बनना वरण करेंगे उनको ब्राह्मण-वर्ण से, जो बाहू बनना वरण करेंगे उनको क्षत्रिय वर्ण से, जो ऊरू बनना वरण करेंगे उनको वैश्य-वर्ण से, और जो पाद बनना वरण करेंगे उनको शूद्र-वर्ण से सम्बोधित किया जाएगा।

अय, आय, न्याय, अध्याय रूप साधनचतुष्टय—

जैसा ऊपर लिख आये हैं, कि 'समाज-पुरुष' का जीवन मति, कृति, स्थिति, गति-रूप वृत्त-चतुष्टय के उपार्जन में है। और समाज-पुरुष की समृद्धि, **अज्ञान, अन्याय, अभाव आलस्य-रूप दुःखचतुष्टय** की अत्यन्त-निवृत्ति में है।

इस वृत्ताचतुष्टय के उपाजन से **दुःखचतुष्टय** की निवृत्ति का माध्यम क्रमशः **अध्याय, न्याय, आय और अय रूप साधन-चतुष्टय** है और इस साधनचतुष्टय के सवनकर्त्ता क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र रूप वर्णचतुष्टय है। समाज-पुरुष का यही क्रमशः मुख, बाहु, ऊरु और पाद रूप अंगचतुष्टय हैं। इसी समाज-पुरुष को महर्षि व्यास ने वर्णात्मा कहा है —

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरुदरं विशः। पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः॥[1]

अंगचतुष्टय के गुण-धर्म और उनके ग्रहण [वरण] में तारतम्य—

शरीर-संस्थान का प्रथम नियम है कि "निम्नांग के गुण-कर्म-स्वभाव उच्चांग को वरण करने होंगे; और स्व-स्व-अंग के गुण-कर्म-स्वभाव में विशेष कुशलता प्राप्त करनी होगी अर्थात् चतुर्धाविभक्त मुख-बाहू-ऊरु-पाद में **पाद के गुणधर्म** को ऊरु, बाहु, और मुख-अंग अपनाएंगे; ऊरु के गुण-धर्म को बाहु और मुख तथा बाहु के गुण-धर्म मुख अपनाएगा। अपि च मुख में तीन अतिरिक्त कर्म होंगे, बाहु में दो, ऊरु में एक।

[१] पाद में गति और स्थिति=[प्रतिष्ठा] है। [२] ऊरु में आयात-निर्यात, आदान-विसर्ग, संग्रह, स्थापन, पाचन, वितरण और पोषण है। [३] बाहु में शोधन, क्षतत्राण, आक्रमण, आत्मरक्षण, दुष्टदमन, मोद-प्रमोद, अश्रु-परिमार्जन और आश्वासन हैं। [४] मुख में वचन, श्वसन, प्राणन, भक्षण, दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, संवेदन, स्वाहाकार, स्वधाकार [आह भरना], अश्रुपातन, तप, त्याग, ष्ठीवन, निगलन, अध्ययन, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन विवेचन और शोचन हैं।

अंगवत् वर्णों के द्वारा भी गुणग्रहण में यथोत्तर तारतम्य—

जिस प्रकार निम्नांगों के गुण-धर्मों को मुख्यांग धारण करेंगे, उसी प्रकार पादोपलक्षित शूद्र-वर्ण के गुण धर्मों को ऊरूपलक्षित वैश्यवर्ण, बाहूपलक्षित क्षत्रिय-वर्ण और मुखोपलक्षित ब्राह्मणवर्ण धारण करेंगे और इसी प्रकार आगे भी। किंच स्वस्ववर्णानुरूप गुणकर्म-स्वभाव में वे विशेष कुशल होंगे।

दुख-चतुष्टय के निवृत्त्यर्थ शूद्र आलस्य-दुख को, वैश्य आलस्य एवं-अभाव दुःख को, क्षत्रिय आलस्य, अभाव, एवं अन्याय-दुःख को और ब्राह्मण आलस्य-अभाव-अन्याय एवं अज्ञान-दुःख चतुष्टय की निवृत्ति में प्रवृत्त होगा।

साधनचतुष्टय में भी यही क्रम रहेगा, **शूद्र 'अय'** का सवन कर **आलस्य** का निवारण करेगा;

---

१. म० भा०। शा० प० ४७.६७

वैश्य अय और आय का सवन कर **आलस्य और अभाव** का निवारण करेगा; **क्षत्रिय अय-आय-न्याय** का सवन कर **आलस्य, अभाव और अन्याय** का निवारण करेगा। ब्राह्मण अय-आय-न्याय-स्वाध्याय का सवन कर आलस्य-अभाव-अन्याय-अज्ञान का निवारण करेगा। वृत्ताचतुष्टय में—**शूद्र गति-वृत्तवान्; वैश्य गति-स्थितिवृत्तवान्; क्षत्रिय गति-स्थिति-कृति-वृत्तवान् और ब्राह्मण गति-स्थिति-कृति-मति-वृत्तवान् होगा।**

व्रतचतुष्टय की दृष्टि से आलस्य-निवारण करना जिसका विशेष व्रत है, वह शूद्र, अभाव-निवारण जिसका व्रत है वह वैश्य; अन्याय-निवारण जिसका व्रत है, वह क्षत्रिय; और अज्ञाननिवारण करना जिसका व्रत है, वह ब्राह्मण होगा।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति और निष्पत्ति—

'वर्ण' शब्द संस्कृत वाङ्मय का एक अति विशिष्ट शब्द है। संस्कृत-साहित्य में इसका प्रयोग **शुक्ल पीत** आदि रंग, **ब्राह्मण-क्षत्रिय** आदि **वर्ण, शोभा, अक्षर, व्रत, गीतक्रम, स्तुति, वेष, स्वर्ण, कन्था, गुण, चित्र, कीर्ति, तालभेद, अंगराग** तथा **केसर** आदि विविध अर्थों में हुआ है।[1] **'वर्ण'** शब्द की निष्पत्ति व्याकरण शास्त्रानुसार **वरणार्थक वृञ्, सम्भजनार्थक वृङ्, आवरणार्थक वृञ्, प्रीणनार्थक वृण, ईप्सार्थक वर,** और **प्रेरण-वर्णन-वर्णक्रिया-विस्तार-गुण-वचनार्थक वर्ण** आदि धातुओं से सम्भाव्य है। प्रस्तुतशोध में प्रसंगानुसार **वर्ण** शब्द का अर्थ मुख्य-रूप से ब्राह्मण आदि लिया गया है। तत्र प्रमाणम् [१] निरुक्तकार यास्क, **वर्णो वृणोतेः**'[2] कहकर 'वरण करने से वर्ण होता है' इस प्रकार वर्ण शब्द का निर्वचन करते हैं। [२] स्वामी दयानन्द ने भी—'जो वरण करने योग्य हैं अथवा गुण कर्मों को देखकर जिनका यथायोग्य वरण किया जाता है वे वर्ण कहलाते हैं' यह निर्वचन किया है।[3]

व्याकरणशास्त्रीय धवार्थ-सामर्थ्य और उपर्युक्त निर्वचन-पद्धति के आधार पर, वर्ण शब्द की निम्नांकित व्युत्पत्तियां उद्भूत होती हैं—

[क] जो अपनी रुचि तथा संस्कारों के अनुसार **शम-दम-तप-पवित्रता-क्षमा-सरलता-ज्ञान-विज्ञान-आस्तिकता, शौर्य-तेज-धैर्य-दक्षता-युद्धोत्साह-प्रभुता, संग्रहण-पोषण-विनिमय-दान** तथा **सेवा-निरभिमानिता** आदि गुणों[4] से स्वयोग्य गुणों का **वरण करते हैं**—स्वीकार करते हैं वे **ब्राह्मण,**

---

१. [अ] **शुक्लादौ ब्राह्मणादौ च शोभायामक्षरे व्रते। गीतक्रमे स्तुतौ वेषे वर्णशब्दं प्रचक्षते॥**
हला० को० [५म काण्ड], श्लो० ८९०

[आ] **वर्णःस्वर्णे व्रतेस्तुतौ रूपे द्विजादौ शुक्लादौ कुथायामक्षरे गुणे।**
भेदे गीतक्रमे चित्रे यशस्तालविशेषयोः, अंगरागे च, वर्णं तु कुङ्कुमे॥
हेमचन्द्र। मान० भा०।पृ०९० से उद्धृत

२. निरु० २.४

३. **वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हाः, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः॥** ऋ० भा० भू० [वर्णाश्रमविषय] पृ० ५५२

४. **शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥**
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम्॥
—भ० गी० १७.४२,४३

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र 'वर्ण' कहलाते हैं। अथवा जो [१] अध्ययन-अध्यापन-यजन-याजन, [२] प्रजारक्षण-जितेन्द्रियत्व, [३] कृषि-गोरक्षा [पशुपालन]-वाणिज्य [४] तथा असूया-रहित शुश्रूषा आदि कर्मों[1] में से किसी एक का स्वरुच्यनुसार **वरण [स्वीकार] करते हैं—वे** ब्राह्मणादि 'वर्ण' कहाते हैं अथवा जो अपने आपको 'समाज पुरुष' [शरीर]का अंग—अवयव समझते हुए उसके सम्पूर्ण विकास के लिये अध्यापनादि के द्वारा 'मुख'-भाव का,[2] प्रजारक्षणादि के द्वारा 'बाहु'-भाव का, संग्रहण-पोषण-विनिमयादि के द्वारा 'ऊरु'-भाव का तथा शुश्रूषादि के द्वारा 'पाद'-भाव का **वरण** [चयन] **करते हैं —वे** ब्राह्मणादि **'वर्ण'** कहलाते हैं।[3]

[ख] प्रजाजनों के द्वारा अध्ययन-रक्षा-पोषण-सेवा आदि के लिये जिनका **वरण-सेवन किया** जाता है वे 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' **'वर्ण'** कहाते हैं।[4]

[ग] जो अपने-अपने कर्मों के द्वारा 'समाज पुरुष' का **वरण करते हैं—उसकी सेवा करते हैं** वे ब्राह्मण आदि **'वर्ण'** कहलाते हैं।[5]

[घ] जो अपने शमदम-शौर्य आदि गुणों से तथा अध्यापनरक्षणादि कर्मों से प्रजा का **वरण-आच्छादन=संरक्षण** करते हैं और तदर्थ प्रजा से अज्ञान, अन्याय, अभाव और आलस्य आदि का **वारण=अपवारण=दूरीकरण** करते हैं वे ब्राह्मण आदि [वर्ण] पदवाच्य हैं।[6]

[ङ] जो अपने अध्यापन-रक्षण-पोषण-शुश्रूषा आदि कर्मों से प्रजाजनों का **वर्णन=प्रीणन=तर्पण**

---

१. **अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥**
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
मनु० १.८८-९१

२. **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥**
ऋ० १०.९०.१२

३. **वृण्वते स्वीकुर्वन्ति चिन्वन्ति स्वस्वरुच्या शमदमशौर्यतेजसंग्रहणपोषणसेवानिरभिमानितादीनां गुणानामन्यतमम् अध्यापनरक्षणवाणिज्यशुश्रूषणामेकतमं कर्म, समाजशरीरस्य मुख बाहूरुपादानामंगानामन्यतमसंगभावं ये ते वर्णा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राख्याः॥**

४. **व्रियन्ते [स्वादेर् वृञः] सम्भज्यन्ते संसेव्यन्ते प्रजाजनैरध्ययनरक्षणपोषणशुश्रूषणाद्याय ये ते ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राख्या वर्णाः।**

५. **वृणन्ते [संभक्ति—अर्थात् वृङ्क्र्यादिषु-पठितात्] सम्भजन्ति संसेवन्ते स्वस्वकर्मभिः समाज-पुरुषं ये ते वर्णा ब्राह्मणादयः॥**

६. **वारयन्ति—[चुरादेर् वृञः] आच्छादयन्ति रक्षयन्ति प्रजाजनान् ये स्वैः शमशौर्यादिगुणैर्-अध्यापनरक्षणादिकर्मभिर्वा ते ब्राह्मणादयो वर्णाः, किञ्च तदर्थं वारयन्ति दूरे कुर्वन्ति प्रजाजनानाम् अज्ञानान्यायाभावालस्यादीन् ये ते वर्णा ब्राह्मणादयः॥**

=**सुखोत्पादन** करते हैं वे ब्राह्मणादि 'वर्ण' कहलाते हैं ।[1]

[च] जो प्रजाजनों के द्वारा अध्ययन-रक्षा आदि के लिये अहर्निश **वरे जाते हैं—चाहे जाते हैं** वे ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण कहाने योग्य हैं ।[2]

[छ] जो अध्यापनयाजन के लिये शिष्यों का, रक्षणादि के लिये प्रजा का, पोषण-दान आदि के लिये अभ्यर्थी का और सेवा के लिये योग्य पुरुष का सादा **वरण=ईप्सन=चाह** करते रहते हैं वे ब्राह्मणादि वर्ण हैं ।[3]

[ज] जो अपने-अपने गुण कर्मों का आचरण करने के लिये संन्यासियों, उपदेशकों अथवा शास्त्रों के द्वारा सदा **वर्णित=प्रेरित** किये जाते हैं वे ब्राह्मण आदि वर्ण कहाते हैं ।[4]

[झ] जो परस्पर एक दूसरे [वर्ण] को सहयोग के लिये **वर्णित=प्रेरित** करते हैं वे ब्राह्मणादि वर्ण हैं ।[5]

[ञ] अपने-अपने गुण कर्मों के अभ्यासोत्कर्ष के कारण जिनका **वर्णन=कथन=समाख्यान** किया जाता है वे ब्राह्मणादि वर्ण हैं ।[6]

[ट] जो अपने अपने गुण कर्म स्वभावों के हितकारक सतत अभ्यास से अन्यों का **वर्णन=रञ्जनीकरण [=रंगना]** करते हैं—प्रभावित करते हैं वे ब्राह्मणादि वर्ण कहलाते हैं[7] ।

[ठ] जो स्वाध्याय, यज्ञ, दान, युद्धाभ्यास, वाणिज्य, सेवा आदि गुण कर्म स्वभावों का पुत्र-शिष्यादियों में **वर्णन=विस्तार** करते हैं वे ब्राह्मणादि वर्ण हैं[8] ।

[ड] जो अपने गुणकर्मों के अत्यन्त श्रेष्ठ पालन तथा सम्पादन के द्वारा **वर्णन=स्तुति=गुणकथन** को प्राप्त होते हैं वे ब्राह्मणादि वर्ण हैं[9] ।

---

१. वृणन्ति [वृणस्तुदादेः] प्रीणयन्ति तर्पयन्ति सुखयन्ति स्वैर्‌अध्यापनरक्षणादिकर्मभिर्‌ ये प्रजाजनान्‌ ते वर्णा ब्राह्मणादयः ।

२. वर्यन्ते [चुरादेर्‌ वरः]—ईप्स्यन्ते वाप्तुमिष्यन्तेऽध्ययनरक्षणाद्याय प्रजाजनैरहर्निशं ये ते वर्णा ब्राह्मणादयः ।

३. अपिवा वरयन्ति-ईप्सन्ति प्राप्तुमिच्छन्ति याजनाध्यापनाय शिष्यान्‌, रक्षणाद्याय पीडितान्‌, दानार्थिनः, शुश्रूषणाय भक्तान्‌ ये ते वर्णा ब्राह्मणादयः ।

४. वर्ण्यन्ते [चुरादेः प्रेरणार्थात्‌] प्रेर्यन्ते स्वस्वगुणकर्मसमाचरणाय ये संन्यासिभिरुपदेशकैः शास्त्रैर्वा ते वर्णा ब्राह्मणादयः ।

५. वर्णयन्ति प्रेरयन्ति मिथः साहाय्य-दानाय ये ते वर्णा ब्राह्मणादयः ।।

६. वर्ण्यन्ते [वर्णात्‌ चुरादेः] समाख्यायन्ते वाणीविषयतां लभन्ते स्वस्वगुणकर्माभ्यासोत्कर्षेण ये ते वर्णा ब्राह्मणादयः ।

७. वर्णयन्ति रञ्जयन्ति स्वस्वगुणकर्मणामाचरणप्रदर्शनैरन्यान्‌ ये ते वर्णा ब्राह्मणादयः ।

८. ये वर्णयन्ति =विस्तारयन्ति ये स्वाध्याय-यज्ञदानादिगुणान्‌-अध्यापनरक्षणादि कर्माणि वा पुत्र-शिष्यादिषु ते वर्णाः......।

९. ये वर्ण्यन्ते गुणप्रशंसाभिः स्तूयन्ते स्वस्वगुणकर्मसेवनोत्कर्षेण ते वर्णा ब्राह्मणादयः ।

[ढ] जो वरे जाते हैं—चाहे जाते हैं; जो शिष्यादि में वर्णित—प्रेरित—समाहित किये जाते हैं अथवा जिनका शास्त्रों द्वारा बारंबार वर्णन किया जाता है—कथन किया जाता है अथवा जिनसे आत्मा वर्णित—रंजित—संस्कृत किया जाता है अथवा जिनसे सुखों का वर्णन=विस्तार किया जाता है अथवा जिनके धारण से मनुष्यों का वर्णन—गुणकथन—प्रशंसा होती है और जिनका वरण=चयन किया जाता है वे शम, दम, तप, जितेन्द्रियता, संग्रहण, पोषण, सेवा आदि गुण अथवा अध्यापन, रक्षण, पोषण, शुश्रूषा आदि कर्म **वर्ण** हैं। उन वर्णों=गुण कर्मों को धारण करने वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी तत्सम्बन्ध से '**वर्ण**' हैं[1]।

एक ज्वलन्त प्रश्न—

'**वर्ण** शब्द पर विस्तृत विचार होने के पश्चात्, एक ज्वलन्त प्रश्न उपस्थित होता है कि **वर्ण का आधार जन्म है अथवा कर्म** ? प्रश्न ज्वलन्त इसलिए है कि इस व्यवस्था ने हिन्दु-समाज को ही नहीं अपितु मनुष्य समाज को भी प्रभावित किया है। दृष्टिकोण में अन्तर आते ही समाज-व्यवस्था पर विषम प्रभाव पड़ता है। '**जन्मना-वर्ण**' अथवा '**कर्मणा वर्ण**' को लेकर महाभारत-काल से भी पूर्व-काल से शास्त्रार्थ होते चले आए हैं[2]। दोनों ही पक्ष अपने पक्ष के समर्थन में प्रमाण और युक्ति देते हैं। अन्ततोगत्वा सारा वादविवाद पुरुष-सूक्त के निम्न प्रसिद्ध मन्त्र पर आ टिकता है—**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥**[3] अतः विचारणीय है कि इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ क्या है ? उक्त मन्त्र पर कतिपय विद्वानों के अर्थ द्रष्टव्य हैं। भट्टभास्कर लिखते हैं—

वर्ण विधायक-मन्त्र और भाष्यकार—

'ब्राह्मणादीनां मुखादिभ्यः- उत्पन्नत्वात् तत्-तद्भावेन ते कल्पिताः। पद्भ्यां शूद्रोऽजायत इति दर्शनात् सर्वेऽपि ब्राह्मणादयो मुखादिभ्य उत्पन्ना इति गम्यते'[4]। ब्राह्मणादि के मुखादि से उत्पन्न होने के कारण वे उस-उस भाव से कल्पित हुए। 'पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ' ऐसा वाक्य देखे जाने से ब्राह्मणादि भी मुखादि से उत्पन्न हुए, यह समझना चाहिए।

---

१. **ये वर्यन्ते=ईप्स्यन्ते समाचरितुमभिलक्ष्यन्ते; ये वर्ण्यन्ते प्रेर्यन्ते समाधीयन्ते प्रयत्नेनाचार्यादिभिर्वर्णिषु; ये वर्ण्यन्ते व्याख्यायन्ते मुहुर्मुहुः शास्त्रैः, यैर्वर्ण्यते रज्यते संस्क्रियते-आत्मा; यैर्वर्ण्यन्ते विस्तार्यन्ते सुखानि, यैराचरणगतैः कारणभूतैः स्तूयन्ते प्रशंस्यन्ते जनाः, ये वा वर्यन्ते चीयन्ते निश्चीयन्ते स्वोद्देश्यरूपेण ते शमदमतपोजितेन्द्रियत्वसङ्ग्रहणपोषण-सेवनादयो गुणा अध्यापनरक्षणपोषणशुश्रूषादीनि कर्माणि वा वर्णाः। ते वर्णाः सन्त्येषु सन्त्येषां वा ते वर्णा ब्राह्मणादयः। 'वर ईप्सायाम्', 'वर्ण प्रेरणे', 'वर्ण वर्णने', 'वर्ण क्रियाविस्तारगुणवचनेषु', 'वृञ् वरणे'** इत्यादि पूर्वोक्त धातुओं से यथायोग्य औणादिक 'न' प्रत्यय अथवा घञ् अथवा अच् प्रत्यय। कृन्प्रत्ययान्त उस वर्ण प्रातिपदिक से मत्वर्थ में '**अर्श आदिभ्योऽच्** [अष्टा० ५.२.१२७] से तद्धित अच् प्रत्यय।

२. **चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव ह। शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ॥**
शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥
सर्प-युधिष्ठिर संवाद] —म० भा०।व०प० १७७.१८,२०। १७७.१५-३३

३. पु० सू० १२.

४. तै० आ० ३.१२.१३ [भट्टभास्कर भाष्य]

अथर्ववेदीय पुरुष-सूक्त के उक्त मन्त्र पर सायणाचार्य लिखते हैं—**'ब्राह्मणजातिविशिष्टः पुरुषः अस्य मुखाद् उत्पन्न इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रियजातिविशिष्टः पुरुषः...बाहुद्वयमभवत् मध्यभागाद् वैश्यः- उत्पन्न इत्यर्थः पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः- अजायत-उत्पन्नः'** । —ब्राह्मणजातिविशिष्ट पुरुष उसके मुख से उत्पन्न हुआ । जो राजन्य वर्ण था वह उसका बाहुद्वय हुआ । वैश्य मध्यभाग से उत्पन्न हुआ और शूद्र पैर से । महीधर[1] आदि भी इसी प्रकार का अर्थ करते हैं ।

अर्थ-विप्रतिपत्ति का आधार—

उपर्युक्त विद्वानों के अर्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्होंने पुरुष के मुखादि से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति मानी है, उनकी इस कल्पना का शाब्दिक आधार उक्त मन्त्र का अन्तिम चरण **'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'** है । इसी के बल पर वे आरम्भिक तीन चरणों में वर्तमान मुखादि का विभक्तिव्यत्यय करते हैं और 'आसीत्' एवं 'कृतः' क्रियापदों को 'अजायत' क्रिया का बोधक मानते हैं ।

मन्त्र का वास्तविक अर्थ—

इस प्रसंग में प्रकरण का सहयोग अपेक्षित है । प्रकरण-ज्ञान से वास्तविक अर्थ झटिति स्फुटित हो जायगा । यदि उक्त उत्तररूप मन्त्र के पूर्ववर्ती प्रश्नरूप मन्त्र को भी सम्मुख रखा जाय तो इस मन्त्र का वास्तविक रूप सम्मुख आ जायगा ।

प्रश्न में पूछा गया था कि उस कल्पित पुरुष [समाजरूप पुरुष] का मुख क्या हुआ ? उनके बाहु कौन बनाये गये? उसके ऊरू कौन हुए ? और कौन उसके पाद कहे जाते हैं[2] ?

प्रश्न के इसी प्रवाह में अगले मन्त्र में उत्तर दिया गया—ब्राह्मण उसका मुख हुआ [कल्पित किया गया], राजन्य वर्ग [=क्षत्रिय] उसका बाहु किया गया, जो वैश्य था वह उसका ऊरू हुआ और उसके पैरों के लिए शूद्र वर्ण कल्पित किया गया ।

अर्थात् प्रसंग में मुखादि से उत्पन्न होने का कहीं कोई वर्णन नहीं है । न तो प्रश्न ही इस प्रकार पूछा गया था कि 'मुख से कौन उत्पन्न हुआ' और न उत्तर ही इस प्रकार का दिया गया । अर्थज्ञान में भ्रमोत्पादक, मन्त्र के चतुर्थचरण में आये दो पद प्रतीत होते हैं । **'पद्भ्यां'** और **'अजायत'** । आइये ! प्रथम इन्हीं पर कुछ विचार करलें ।

पद्भ्याम् और अजायत पदों पर विचार—

जैसा कि भाष्यकारों का मत उद्धृत करते हुए अभी लिखा गया कि उन्होंने **'पद्भ्यां'** पद के आधार पर **'मुखम्'** आदि तीन पादों में विभक्ति-व्यत्यय [पञ्चम्यर्थे प्रथमा] मानकर अपना अभीष्ट अर्थ सिद्ध किया है । किन्तु ऐसा करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । [क्योंकि ऐसा करने पर जहां उत्तर-रूप मन्त्र के पद 'मुखम्' आदि में विभक्ति-व्यत्यय माना जाएगा वहां प्रश्नरूप मन्त्र के 'मुखम्' आदि में भी विभक्ति-व्यत्यय करना पड़ेगा और क्रियाओं में भी तदनुसार परिवर्तन करना पड़ेगा] । एक पद के कारण, सात पदों में विभक्ति-व्यत्यय! मन्त्र का स्वरूपतः परिवर्तन! ! हो जाता है अधिक उचित यही प्रतीत होगा कि एक **[पद्भ्याम्]** पद में ही विभक्ति-व्यत्यय मान लिया जाय । जिससे उत्तर स्वरूप मन्त्र में प्रश्न मंत्र की

---

१. यजु० ३१.११ [मही० भा०]

२. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥

पु० सु० मं० ११

अनुकूलता बनी रहे [व्यत्ययों की शृङ्खला स्वतः अनावश्यक हो जाय]।

दूसरा पद जो मन्त्रार्थज्ञान में आपाततः, भ्रम उत्पन्न करता प्रतीत होता है वह है **अजायत।** इस एक 'अजायत' क्रिया के कारण पूर्व-प्रयुक्त 'आसीत्' एवं 'कृतः' क्रियाओं को भी **'अजायत'** का वाचक मान लिया गया है जोकि युक्तिसंगत नहीं है। इनके परिवर्तन से पूर्व-मन्त्र की क्रियाओं में भी परिवर्तन अपेक्षित होगा। एक क्रिया के कारण अनेक क्रियाओं का अर्थ-परिवर्तन करना अनुचित है। इसके विपरीत **'अजायत'** क्रिया को यदि इस प्रसंग में **'आसीत्'** अथवा **'अभवत्'** का वाचक मान लिया जाय तो समस्या उसी क्षण समाप्त हो जाती है। अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखा के पाठान्तर[१] में **'अजायत'** क्रिया के स्थान पर **'अस्तु'** क्रिया-पद दिया है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त मन्त्र में 'अजायत' पद **'अस्'**, **'वृतु'** इत्यादि धातुओं की विवक्षा में प्रयुक्त हुआ है।

इस मन्त्र के अतिरिक्त भी यदि **'अजायत'** क्रिया पर विचार किया जाय तो वेद में कतिपय स्थानों पर **'अजायत'** क्रिया **'भू'** इत्यादि की वाचिका है यथा—सायण स्वयं अथर्वभाष्य में एक स्थान पर **'अजायत'** क्रिया का अर्थ **'निवृत्ता भवति'**[२] करते हैं।

[पद्भ्यां शूद्रो अजायत]

शूद्र के लिए प्रकृत मन्त्र में अन्तिम चरण **'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'** आया है।

उक्त मन्त्रचरण का अर्थ विभिन्न भाष्यकार इस प्रकार करते हैं—

भाष्यकारों का अभिमत—

शौनक —**'ये शूद्राः ते पद्भ्यां अजायन्त इति कल्प्यन्ते तदस्योत्पन्नत्वादिति।'**[३]
सायण —**'पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत'**[४]
महीधर —**'तथास्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत-उत्पन्नः'**[५]
मंगल —**पद्भ्यामंघ्रिभ्यां शूद्रोऽजायत-अजनि।**[६]
विल्सन —'The Sudra was born from his feet'.[७]
म्यूर —'The Sudra sprang from his feet'.[८]
ग्रिफिथ —'From his feet the Sudra was produced'.[९]
मैकडानल–'From his feet the Sudra was born'.[१०]
पीटर्सन—'The pariah was born from his feet'.[११]

दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका ग्रन्थ में इसकी व्याख्या कुछ भिन्न

---

१. आचार्य रघुवीर-द्वारा परिष्कृत अथर्ववेद पैप्पलादशाखा में उपलब्ध।
२. 'होतारमद्य धीरजायत'—......धीः। कर्मनामैतत्। अग्निष्टोमादिलक्षणं कर्म-अजायत जायते ......निवृत्ता भवति। अथर्व० १८.१.२१। सा० भा०
३. यजु० ३१.११।उ० भा० में उद्धृत
४. ऋ० १०.९० १२। सा० भा०
५. यजु० ३१.११। म० भा०
६. पुरुषसूक्त-भाष्यम् ११
७. ऋ० १०.९०.१२। विल्सन-कृत अनुवाद
८. पु० सू० अनुवाद
९. अथर्व० १९.६.६। ग्रिफिथ कृत अनुवाद
१०. Vedic Reader—पु० सू० १२
११. देवराज चानना-द्वारा संगृहीत 'ऋक्सूक्तसंग्रह' [पु० सू० १२] से उद्धृत

प्रकार से की है—**'पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टपराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम्'** ।[1]

—जिस प्रकार पैर सबसे निचला अंग है वैसे ही मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है । यजुर्वेद-भाष्य में 'पद्भ्यां' की व्याख्या और अधिक स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—**'पद्भ्याम्= 'सेवानिरभिमानाभ्यां शूद्रः-मूर्खत्वादिगुणविशिष्टो मनुष्यः अजायत जायते ।'**

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर—'पांव के लिए शूद्र उत्पन्न हुआ है ।'[2]

श्री इन्दिरा रमण—'पादों [पैरों] के लिए शूद्र-वर्ण कल्पित हुआ ।'[3]

डा० सुधीरकुमार गुप्त इस प्रसंग में लिखते हैं—'पिछले मन्त्र की दृष्टि में **'अजायत'** का भाव **'उच्यते'** है । अतः यहां पंचमी नहीं मानी जा सकती । जटाभिस्तापसः के समान 'इत्थं भूतलक्षणे' में तृतीया है—गतिशीलता, श्रम और तप के कारण विराज् शूद्र कहलाता है ।'[4] डा० निरूपण विद्यालंकार भी डा० सुधीरकुमार के अनुकूल ही अर्थ करते हैं ।[5]

उपर्युक्त भाष्यों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विद्वानों में **'पद्भ्याम्'** एवं **'अजायत'** पदों के अर्थों में मत वैभिन्य है । मत वैभिन्य का कारण, इसका तीन विभक्तियों में प्रयोग है । यह रूप तृतीया-द्विवचन, चतुर्थी-द्विवचन एवं पंचमी-द्विवचन में बनता है । सायण एवं सायण के अनुयायी विद्वान् पंचमी का अर्थ ही स्वीकार करते हैं । कतिपय विद्वान् चतुर्थ्यर्थ मानते हैं एवं कुछ तृतीयारूप ही उपयुक्त समझते हैं ।

यहां चतुर्थी-विभक्ति-भावित अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । क्योंकि यहां एक **'समाज-पुरुष'** का वर्णन है । जब समाज-पुरुष को गति की आवश्यकता होगी, तो उसके लिए जो व्यक्ति अपना समर्पण करेगा वह शूद्र कहलाएगा; सो यहां अधिक युक्तियुक्त चतुर्थी-दृष्टि ही प्रतीत होती है ।

'पद्भ्याम्' का धात्वर्थ—

'पद्भ्याम्' पद में **'पद्'** धातु है जिसका अर्थ **गति** है ।[6] क्षीरस्वामी ने इसका अर्थ **'स्थिरता'**[7]

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सृष्टिविद्याविषयः—पु० सू० १२ [पृ० ४१४]

२. श्री० दा० सातवलेकर-कृत पुरुष-सूक्त-भाष्य ।

३. मानवधर्मशास्त्रस्य [मनुस्मृतेः] मानवार्षभाष्यं, प्रथमकाण्डम्, काशीविद्यापीठ से प्रकाशित, संवत् १९९९, पृ० ९४ पं०७

४. डा० सुधीरकुमार कृत वेदलावण्यम्—'पुरुष-सूक्त' १२

५. 'भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति' । शोध-प्रबन्ध (पृ० ३१)

६. पद गतौ । धा० पा० । दि० ग० ६१

७. क्षीरस्वामी-कृत 'क्षीरतरंगिणी' में उक्त प्रसंग इस प्रकार है—
'बद स्थैर्ये—बदति, बद्यते । भ्रमरादौ बदरम् बदरी । बदरी ओष्ठ्यादि । वद व्यक्तायां वाचि [१.७३२] इति तु दन्त्यौष्ठ्यादि वदति उद्यते । पदेति कंठः—पदति ॥४६॥' यहां **'बद'–'पद'** दोनों ही स्थिरता **[स्थैर्ये]** अर्थ में मानी गयी हैं ।
चुरादिगणीय २८१ पद गतौ । **पद्यते दिवादौ** [४।६१] **पद्यते हेतावुपपादयति, भ्वादौ पद स्थैर्ये** [१।४२ मतान्तरे]**पदति** ३३९ ।

भी माना है। बोपदेव-कृत **'कविकल्पद्रुम'** धातुपाठ में भी **'पद्'** धातु **गति** और **स्थैर्य**[१] अर्थ में पठित है। इस प्रकार **'पद्'** धातु **गति** और **स्थिति** अर्थ वाली है।

पादद्वय और गति स्थिति—

इससे ज्ञात होता है कि पद्भ्यां जहां **पादद्वय** का द्योतक है, वहां **गति** और **स्थिति** का भी द्योतक है। इसको इस प्रकार कहा जा सकता है—**'पद्भ्यां गतिस्थैर्याभ्यां शूद्रोऽजायत'** : अभी कहा गया है कि 'पद्' धातु का अर्थ जहां गति है वहां स्थिति भी है। शुद्र का काम एक ओर 'समाज पुरुष' को गति देना है तो दूसरी ओर स्थिति देना भी है। यह गति दो चरणों पर आधारित है। मनुष्य जब लक्ष्य की ओर बढ़ता है, तो जहां एक चरण को उठाता है वहां दूसरे चरण को टिकाता है। दोनों चरणों को एक साथ उठाकर चल सकना असम्भव है। प्रकृत्या एक चरण गति में होता है और दूसरा स्थिति में।

पादद्वय और निरभिमानता—

ये गति और स्थिति भी पुनः दो गुणों के आश्रित हैं। वे गुण हैं—**सेवा** और **निरभिमानता**। दोनों चरणों में एक सेवा का तथा द्वितीय निरभिमानता का द्योतक होगा [यतः गति सेवा के आश्रित होती है और स्थिति निरभिमानता के]। अथवा कहा जा सकता है कि सेवा से व्यक्ति के जीवन में गति आती है और निरभिमानता से स्थिरता आती है। सम्भवतः इसी कारण दयानन्द सरस्वती ने **'पद्भ्याम्'** का अर्थ **'सेवानिरभिमानाभ्याम्'**[२] किया है।

प्रतीत होता है कि दयानन्द सरस्वती ने पद्भ्यां का यह अर्थ मनु द्वारा निर्दिष्ट शूद्र-कर्मों की छाया में किया है। मनु ने शूद्र के लिए अनसूयायुक्त शुश्रूषा का विधान किया है[३]। उधर शूद्र का सम्बन्ध चरणों से है ही। अतएव सम्भवतः स्वामी दयानन्द ने **'पद्भ्यां सेवानिरभिमानाभ्यां'** यह अर्थ किया है।

पाद और शुश्रूषा—

अभी ऊपर कहा गया है कि—मनु ने शूद्र का एक ही कर्त्तव्य बताया है-**'असूयारहित शुश्रूषा'**[४]

सेवा के दो आवश्यक अंग होते हैं—प्रथम **सुनना** और द्वितीय **करना**। इन दोनों का सम्मिलित रूप मनु द्वारा प्रयुक्त **'शुश्रूषा'** शब्द में निहित है। शुश्रूषा का एक अर्थ है—'श्रोतुमिच्छा' और द्वितीय अर्थ है 'सेवा'। **सुनने** के लिए **गति** की और **करने** के लिए **स्थिति** की आवश्यकता है। शूद्र के लिए **स्थिति** एवं गति रूप दो चरण अत्यन्त आवश्यक हैं। जब वह सुनता है तो स्थिति में होता है और जब सुनकर कार्य-हेतु चल देता है तो गति में। इस प्रकार **गति एवं स्थिति** रूप दोनों चरण, **शुश्रूषा'** पद में निहित हैं।

पादद्वय और क्रम-विक्रम—

महाभारतकार ने पादद्वय को क्रम-विक्रम का वाचक माना है—**'पादौ शूद्रा भजन्तेमे**

---

१. **पदबद स्थैर्ये बिदि त्वंशे बुद् बुन्दिर्तु निशामने।**—धा० दी०। दान्त वर्ग [पृ०२०३]

२. **पद्भ्यां सेवानिरभिमानाभ्यां मूर्खत्वादिगुणविशिष्टो मनुष्यो जायते।**

—यजु० ३१.१२ [स्वा० द० भा०]

३. **एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥** मनु० १.९१॥

४. मनु के इसी श्लोक पर मेधातिथि लिखते हैं—**'शूद्रस्य पादकर्म शुश्रूषा'**।

विक्रमेण क्रमेण च ।[1] महाभारत के इस कथन से प्रतीत होता है कि ये **गति** के ही दो भेद हैं—**सामान्य** एवं **विशेष**। जब कोई विशेष-पराक्रमयुक्त कार्य किया जाय तो वह गति **'विक्रम'** कहलाएगी, उसके विपरीत सामान्य गति **'क्रम'** कहलाएगी। पादद्वय के लिए ये दोनों गतियां अत्यन्त आवश्यक हैं।

उपरिवर्णित समस्त पादद्वय की विशेषताएं शूद्र में होनी अत्यन्त आवश्यक हैं। यतः 'समाज पुरुष' के पाद [गति और स्थिति] के लिए शूद्र की उत्पत्ति हुई है अथवा इस प्रकार कहें कि समाज रूप पुरुष के पाद [गति और स्थिति] शूद्र हैं।

वेद में पादस्थानीय **'शूद्र'** के स्थान पर उसका कोई अन्य पर्यायवाची शब्द प्रयोग किया जा सकता था।

शूद्र शब्द के निर्वचन—

'शूद्र' शब्द के अनेक निर्वचन मिलते है जो निम्नलिखित हैं—

[क] भविष्य पुराण में शूद्र का निर्वचन करते हुए लिखा कि जो वेदाध्ययन से भागे वह 'शूद्र' है **'ये तु श्रुतेर्द्रुतिं प्राप्ताः शूद्रास्तेनेह कीर्तिताः'**[2]।

[ख] **'शुचा द्रवति इति शूद्रः'** अधिकतर विद्वानों ने इसी निर्वचन का अवलम्बन किया है। भविष्य पुराण में ही एक स्थान पर लिखा है **'शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्यासु ये नराः,'**[3]।
महर्षि व्यास ने 'वेदान्त दर्शन' में शूद्र का निर्वचन किया है—
'शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदा द्रवणात् सूच्यते हि'[4]।

यहां उसकी गति, शोक एवं अनादर के कारण दिखाई है। यह प्रकरण **छान्दोग्योपनिषद्** ४.१.१-४ रैक्व और जानश्रुति के कथानक पर आधृत है। शंकर ने इसका भाष्य करते हुए शूद्र की निम्न व्युत्पत्ति दी है—**'तदाद्रवणात्, शुचमभिदुद्राव शुचावाभिदुद्रुवे शुचा वा रैक्वमभिदुद्रावेति शूद्रः'** अर्थात् १. उस शोक को प्राप्त हुआ, २. शोक उसको प्राप्त हुआ, ३. शोक से रैक्व के पास गया। इन्दिरारमण अपने मानवार्षभाष्य में उपर्युक्त रैक्व के प्रसंग को उद्धृत करते हुए शूद्र का निर्वचन करते हैं—**'स्वस्य वा परस्य वा शोकनिवृत्यर्थं यो द्रवति गच्छति स शूद्रः'** —जो अपने या दूसरे के शोक को दूर करने के लिए जाता है वह शूद्र है। अथवा— **'योऽहर्निशं परेषां दुःखमसहमानस्तन्निवृत्तिं शोचति, चिन्तयति स शूद्र :'**[5]

[i] विद्यामार्तण्ड बुद्धदेवविद्यालंकार ने निर्वचन किया— **'शुगस्माद्दुद्राव इति शूद्रः'** जिस व्यक्ति से दीप्ति फूट रही है वह शूद्र है।

[ii] मोतीलाल शर्मा ने सबसे भिन्न प्रकार का निर्वचन किया है **'आशु द्रवतीति शूद्रः'**[6]—जो शीघ्र गति करता है वह शूद्र है।

उपर्युक्त निर्वचनों के आधार पर शूद्र का निम्नलिखित स्वरूप सम्मुख आता है—

[१] जो वेदाध्ययनादि से [जी] चुराये] दूर भागे।

[२] जो अपने अथवा अन्य वर्णियों के शोक से द्रवित हो।

---

१. म० भा०।व०प० १८७.१३ २. भ० पु० ब्रह्मपर्व ४४.१०. ३. भ० पु० ब्रह्मपर्व ४४.२३
४. वे० सू० १.३.३४ ५. मानवार्ष-भाष्य—पृ० १८७ पाद-टिप्पणी
६. गीताविज्ञान-भाष्यभूमिका-कर्मयोग परीक्षा पृ० ४०६

[३] जिससे कान्ति फूट रही हो।
[४] जो तत्काल गतिशील हो जाता हो।

[१] श्रुति [विद्या] से पराङ्मुखता—

प्रथम बिन्दु से ज्ञात हुआ कि **'शूद्र'** वह है जो वेदाध्ययनादि से दूर भागे अर्थात् जो पढ़ाने से भी न पढ़ सके और उससे दूर भागने का प्रयत्न करे[1]।

[२] शोकाभिभूतता—

द्वितीय बिन्दु से ज्ञात हुआ कि जो 'शोक से द्रवित होता है वह शूद्र है,' अतएव वह प्रतिदिन दूसरों और अपने दुःख की चिन्ता करता रहता है। अथवा अपने से ऊपर वाले वर्णों को देखकर उसे अपनी स्थिति पर शोक होता है।

[३] दीप्तिमयता—

तृतीय बिन्दु से ज्ञात होता है कि **'शूद्र** का **शोक** उन्नति के लिए है' न कि अवनति के लिए। वह अपनी अवस्था को देखकर शोक करता है और उस अवस्था को दूर करने के लिए गतिशील होता है। वह श्रम करता है जिसका कि स्वाभाविक परिणाम उसके चेहरे की कान्ति है। अपने प्रयत्न और सफलता को देखकर उसके चेहरे से कान्ति फूट पड़ती है। उस अवस्था के कारण कहा जाएगा कि **'शूद्र'** वह है जिसके मुख से कान्ति प्रवाहित होती है'।

[४] शीघ्रकारिता—

अन्तिम बिन्दु में निहित है कि **'शूद्र'** वह है जो अपने ऊपर वाले तीनों वर्णियों की सेवा-हेतु शीघ्र दौड़ पड़े'।

शूद्र और संवेदनशीलता—

शूद्र के उपरिकथित **गति-स्थिति, सेवानिरभिमानता, क्रम-विक्रम,** और एकमेव **शुश्रूषा** आदि कर्त्तव्यों का आधार उसकी **संवेदनशीलता** है। संवेदनशीलता वह प्रेरणा-स्रोत है, जिससे प्रेरित होकर वह सब प्रकार की गतियां करता है।

शरीर में गति देने का साधन पादद्वय है। उन पर आया त्वचा का आवरण जहां उनकी रक्षा करता है वहां स्वकीय और परकीय दुःखों की संवेदनशीलता का वाहक है। इस प्रकार गति का आधार संवेदनशीलता है और यही गुण-धर्म शूद्र में भी होने चाहिएं।

इस प्रकार गति-स्थिति के प्रदाता ये समाज पुरुष के पादभूत शूद्र समाज-पुरुष के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने शारीर-पुरुष के लिए **चरण**। इस वर्ग ने अपने लिए राष्ट्र की **शुश्रूषा**-कार्य का **वरण**=चयन किया है और यह **शुश्रूषा** भी धर्मसिद्धि के लिए है[2]।

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसी भाव को अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में व्यक्त किया है—
'जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है'।
—स०प्र०। तृतीय समुल्लास, पृ० १६५ पं० ११

२. [क] **पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।**—भा० पु० ३.६.३३
[ख] **वर्णानां परिचर्या त्रयाणां भरतर्षभ। वर्णश्चतुर्थः सम्भूतः पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः।**
म० भा०। शा० प० ७२.५

शूद्र शब्द की रूढ़ि—

जातिवाद का सबसे अधिक प्रभाव शूद्र पर पड़ा। सबसे अधिक यातनाएं इसको ही सहनी पड़ीं। यों तो वैदिक वर्णव्यवस्था के चारों ही वर्ण अपने मूल भाव को छोड़कर रूढ़ हो गए थे, लेकिन उसका अन्य वर्णों पर शूद्र की अपेक्षा न्यून प्रभाव पड़ा। शूद्र शब्द के रूढ़ होने का प्रभाव, आज भी देखा जाता है जबकि अनेक समाज-सुधारकों ने शूद्रों की स्थिति बदलने के लिए अथक परिश्रम किया है। **शूद्र नाम लेते ही आज भी तथाकथित सवर्ण व्यक्ति के मन में घृणा का भाव उत्पन्न होता है।** वर्तमान समय में तो शूद्र के प्रति व्यवहार केवल घृणा तक ही सीमित रह गया है, कुछ समय पूर्व तो उसकी और अधिक दुर्दशा थी। शूद्र होना अभिशाप था। दक्षिण में सवर्ण लोग शूद्र से इतनी घृणा करते थे कि यदि उसका दर्शन हो जाए तो उनके कार्य में अनेकों कल्पित बाधाएं पड़ जाती थीं। शूद्रों को गले में घण्टी बांधकर चलना होता था, जिससे पहिले से उन्हें शूद्र के आने का संकेत मिल जाए और वे लोग अपने को उसके दर्शन से बचा सकें। इससे अधिक मानव-जाति के अपमान की क्या बात होगी? इतना अत्याचार तो पशु पर भी नहीं होता था।

वेदाधिकार से वञ्चित शूद्र—

कतिपय मध्यकालीन विद्वानों ने शूद्र की इस प्रकार की स्थिति बनाए रखने में अधिक सहयोग दिया है। मध्यकालीन भाष्यग्रन्थ का एक प्रसंग इस पर समुचित प्रकाश डालेगा—

'इतश्च न शूद्रस्याधिकारो यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थं प्रतिषेधो भवति। वेदप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमिति'[1] पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रस्तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यमिति। अतएवाध्ययनप्रतिषेधः। यस्य हि समीपेऽपिनाध्येतव्यं भवति स कथमश्रुतमधीयीत भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अतएव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्।'[2]

अर्थात् इसलिए भी शूद्र को अधिकार नहीं क्योंकि इनके लिए वेद के सुनने और पढ़ने का निषेध करते हुए स्मृति में कहा है कि 'यदि शूद्र वेद के शब्द सुन ले, तो उसके कानों को सीसे और लाख से भर देना चाहिए'। शूद्र चलता फिरता श्मशान है, इसलिए उसके समीप अध्ययन नहीं करना चाहिये। इसलिए अध्ययन का निषेध स्पष्ट है जिसके समीप अध्ययन भी न करना चहिए वह बिना सुने कैसे अध्ययन कर सकता है? वेद के उच्चारण करने पर जिह्वाच्छेद और शरीरच्छेद का विधान है। इसलिए वेद के अर्थ-ज्ञान और उसके अनुसार आचरण का निषेध है। **'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्'** इत्यादि महाभारत के वचन से इतिहास पुराण के अध्ययन में चारों वर्णों का अधिकार है। शूद्रों के लिए वेद पूर्वक अध्ययन तो निषिद्ध ही है।

शूद्रों का वेदाधिकार—

मध्यकालीन कतिपय आचार्यों ने स्मृति की आड़ में इस प्रकार के शब्द शूद्रों के लिए प्रयुक्त किए हैं जोकि वेद के सर्वथा विपरीत थे। यदि गौतमादि के नाम से इस प्रकार स्मृति में लिखा हुआ

---

१. गो० ध० सू० १२.४

२. वे० सू०। शां० भा० ३.३.३८

उपलब्ध होता भी हो तो भी उसे वेदविरुद्ध होने से अमान्य ही समझना चाहिये। वेद ने सबको समान रूप से वेद पढ़ने का अधिकार दिया है। निम्नलिखित मन्त्र इसमें साक्षी है—

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च'।[१]

शूद्रों की तत्कालीन दुर्दशा को देखकर, दयानन्द सरस्वती ने उपर्युक्त वेद-मन्त्र समाज के सम्मुख रखा और उन्हें वे अधिकार दिलाए जिनसे वे वंचित थे। उनकी इस उदारता के विषय में सुप्रसिद्ध विचारक रौमां रौलां ने लिखा है—

"It was is truth an epoch making date for India when a Brahman not only acknowledged that all human being have the right to know the Vedas, whose study had been previously prohidited by orthodox Brahmins, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya."[२]

शूद्र की यह दुर्दशा 'शूद्र' शब्द के रूढ़ार्थ में प्रयोग के कारण हुई। यदि उसके मूल अर्थ को भुलाया न जाता तो सम्भवतः उसकी यह स्थिति न होती।

शूद्र शब्द का मूल अर्थ जो कि वैदिक एवं यौगिक है अति उत्तम है। इसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है। उसके विपरीत पश्चात् काल में शूद्र शब्द, का रूढार्थहीनार्थ में प्रयुक्त होने लगा। और हीन अर्थ ने शब्द के सौन्दर्य को ही समाप्त कर दिया। जिस प्रकार **'राम नाम सत्य है'** वाक्य अमांगलिक कार्य में प्रयुक्त होने से स्वयं अच्छे अर्थ-युक्त होने पर भी मांगलिक कार्यों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। यह है किसी शब्द एवं वाक्य के हीनार्थ में प्रयोग का प्रभाव।

वैदिक साहित्य में शूद्र शब्द हीनार्थ में कभी प्रयुक्त नहीं हुआ, लेकिन कालान्तर में व्यक्तियों का कार्य के साथ सम्बन्ध जोड़ने तथा उनके कार्य के निम्न-श्रेणी का होने से, उन्हें भी हीन-दृष्टि से ही, देखा जाने लगा। न केवल इतना ही, अपितु इसका प्रभाव उनकी संतान पर भी पड़ा। शूद्र की संतान भी शूद्र ही कहलाने लगी चाहे वह कितनी भी गुणवती क्यों न हो। वह यज्ञ नहीं कर सकती, वह पूजा नहीं कर सकती और वह पवित्र स्थानों में नहीं जा सकती। भगवान् का पुत्र होने पर भी शूद्र भगवत्-प्रधान स्थानों में प्रवेश नहीं पा सकता। कितनी विडम्बनापूर्ण स्थिति धर्म के ठेकेदारों ने कर दी

वेद में शूद्र शब्द की गणना वर्णों में किये जाने से ज्ञात होता है कि वेद में इस प्रकार का कोई पक्षपात इस वर्ण के साथ नहीं है, यह भी 'समाज पुरुष' का सक्रिय अंग है।

शद का अर्थ—

'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः' मन्त्रचरण में वैश्य को राष्ट्र का ऊरू भाग कहा गया है। ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को बाहु और शूद्र को चरण। मुख, बाहु, और चरण तीनों ही अंग इतने प्रसिद्ध हैं कि उनके समझने में कोई कठिनाई नहीं परन्तु ऊरू के विषय में एक निश्चित मत प्राप्त नहीं होता।

उपर्युक्त बात का निर्णय, अथर्ववेदीय पुरुष-सूक्त के ['ऊरू' के स्थान पर] 'मध्यम्' पद के प्रयोग से हो जाता है। परन्तु इससे एक नवीन प्रश्न उठता है कि– शरीर का **'मध्य भाग'** कौन सा है। [क्यों कि– जो शरीर का **मध्य** भाग होगा उसी की संज्ञा **'ऊरू'** होगी] ।शरीर का **मध्य** भाग जान लेने

१. यजु० २६.२ २. Life of Rama Krishna by Roman Rolland, p.59

से **ऊरु** भाग स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।

'मध्यम' भाग का मापक साधन—

शरीर का ऐसा विभाजन किया जाए कि वह तीन भागों में विभक्त हो जाए—**उत्तम, मध्यम** और **अधम**। तीन भागों में विभक्त करने के लिए किसी मापक की आवश्यकता होगी। और वह मापक बाहर का न होकर मनुष्य-शरीर के साथ ही संयुक्त हो। शरीर के रचियता ने **अंगुलि, वितस्ति** [बालिश्त], **हाथ** आदि ऐसे मापक बनाए हैं कि जिनसे किसी भी वस्तु को सहज ही नापा जा सकता है। अतः हम शरीर को नापने का मापक हाथ को ही बनाएंगे। मनुष्य यदि सावधान स्थिति में खड़ा होकर एक चिह्न वहां लगाए जहां पर कि कोहनी स्पर्श करती है और दूसरा वहां कि जहां पर मध्यमा अंगुली का अग्रभाग स्पर्श करता है, तो वह चिह्नान्तर्गतभाग शरीर का **मध्य** भाग होगा।

इस प्रकार मध्य भाग में उदर और जंघा-भाग दोनों समाविष्ट हो गए। महाभारतकार ने इसी कारण लिखा है— **'कृत्स्नमूरूदरं विशः'**[1]। दयानन्द सरस्वती भी ऊरू के विषय में लिखते हैं 'कटि के अधो और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम है'[2]।

मध्य का वाचक वैश्य—

सामान्यतः मध्य और वैश्य पदों के अर्थ पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं, लेकिन सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर इन दोनों शब्दों के अर्थों में साम्यता, प्रतीत होती है। दोनों शब्दों का अर्थ यही है कि जो किन्हीं दो में प्रविष्ट हुआ हो[3]। किसी में प्रविष्ट हो जाने का अभिप्राय भी यही होता है कि उसके दांये बाएं किन्हीं दो की सत्ता अवश्य है : शारीर-पुरुष का मध्य-भाग उरः और चरण के **मध्य** प्रविष्ट होने से **वैश्य** कहलाएगा। और **वैश्य** समाज-पुरुष के दोनों वर्णों की कड़ी होने से **ऊरु** कहलाएगा जिस प्रकार शरीर के मध्यभाग पर उरस् और चरण की स्थिति है तद्वत् समाज-पुरुष के मध्यस्थानीय वैश्य पर क्षत्रिय और शूद्र की स्थिति है।

इस प्रकार मध्य-भाग के स्पष्ट हो जाने पर ऊरु-भाग स्पष्ट हो गया। समाज-पुरुष के **ऊरु-**भाग की संज्ञा वर्ण की दृष्टि से **वैश्य होगी**[4]। अब सहज ही वैश्य के कर्त्तव्यों का बोध किया जा सकता है।

मध्य-भाग और वैश्य के कर्त्तव्य—

मध्य-भाग में **उदर, नाभि, पायु, उपस्थ** और **ऊरुद्वय** सम्मिलित हैं। इनको ही **मर्मस्थल** एवं **गुप्त स्थल** कहा जाता है। मध्यभाग के इन अंगों के कार्यों का निरीक्षण करके, वैश्य के कर्त्तव्यों को सरलता से जाना जा सकता है, क्योंकि जहां यह अंश शारीर-पुरुष का मध्य भाग है, वहां वैश्य समाज पुरुष का मध्यभाग है। जिस प्रकार शारीर पुरुष के उक्त स्थल, अर्थ और काम के केन्द्र हैं तद्वत् **'समाज-पुरुष'** का **वैश्य** वर्ण —**अर्थ** और **काम** का केन्द्र है।

---

१. म० भा० १२०.४७.४३

२. सत्यार्थप्रकाश-चतुर्थ समुल्लास. [पृ० १८०]

३. वैश्य को व्यापार में प्रविष्ट होने के कारण **वैश्यो वार्ता [प्र]वेशनात्**। वैश्य' माना है। भ०पु० [ब्रह्म पर्व],४४.१०

४. महाभारतकार ने जंघा और उदर की सम्मिलित संज्ञा **विशः** [**'कृत्स्नमूरूदरं विशः'** शा० प० ४७.४३] अथर्व० ने **मध्यम** और ऋग् यजु ने **ऊरु** दी है।

गमनागमन का साधन 'मध्य'—

मध्य-भाग में जांघों का सम्मिलित होना इस बात का बोधक है कि गमनागमन का आधार भी **'मध्य'** भाग ही है। शारीर-पुरुष के भोजन, वस्त्र, औषध आदि का संग्रह बिना गमनागमन के असम्भव है और गमनागमन, बिना कारण के असम्भव है। पुनश्च चरणों की स्थिति ऊरुद्वय के आश्रित है। अथर्व में कहा है—**जंघयोर्जवः**[1] इसी प्रकार **'समाज-पुरुष'** के **मध्य**भाग **वैश्य** का कर्त्तव्य है कि वह सर्वत्र **गमनागमन** द्वारा अपने **व्यापार** को समुन्नत करे।[2] व्यापार द्वारा अर्थों का आयात कर, समाज एवं 'राष्ट्र-पुरुष' के लिए अन्न, वस्त्रादि की व्यवस्था करे।

'अर्थ' का केन्द्र मध्य—

शारीर पुरुष की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का केन्द्र मध्यभागस्थ नाभि है। रथ-नाभि में जिस प्रकार अरे जुड़े होते हैं उसी प्रकार नाभि में प्राण जुड़े रहते हैं।[3] इन प्राणों के सहयोग से ही उदर में आयात कच्चे माल [भोजन] का परिपाक होता है, पुनः परिपक्व माल वितरण के लिए हृदय को निर्यात होता है तथा—अवशिष्ट मल-भाग बाहर कर दिया जाता है। इस प्रकार मध्य-भाग,—शरीर की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को बनाए रखता है।

इसी प्रकार समाज एवं राष्ट्र के 'मध्य' वैश्य का यह कर्त्तव्य है कि वह कच्चे माल का आयात करे और उसे परिपक्व करके क्षत्रिय को निर्यात कर दे। लेकिन वह व्यवहार में सत्याचरण रखे कि क्षत्रिय के पास मिलावटी माल न पहुंचे—[मल][4] को पहले ही मध्य भाग से निकाल कर बाहर फैंक दे।

जिस प्रकार—ऊरु-भाग शारीर-पुरुष का अनुपेक्षणीय अंग है; उसके असन्तुलित एवं विकृत होने पर सम्पूर्ण 'शारीर पुरुष' असन्तुलित एवं विकृत हो जाता है, उसी प्रकार 'समाज-पुरुष' का ऊरु-भाग-रूप वैश्य अनुपेक्षणीय अंग है। बिना इसके राष्ट्र-पुरुष का चलना असम्भव है। दूसरी ओर इसके विकृत होने पर तुरन्त समाज-पुरुष में विकृति उत्पन्न हो जाएगी क्योंकि समाज में सबसे अधिक संख्या इसी वर्ग की है। यही कारण है कि वेद ने सामान्य प्रजाजन को भी **'विशः'** कहा है।[5]

[बाहू राजन्यः कृतः]

समाज-पुरुष का वर्णन करते हुए पुरुष-सूक्त में यह बताया गया है कि ब्राह्मण 'समाज-पुरुष' का मुख है और राजन्य वर्ग समाज-पुरुष की भुजा है। 'शारीर-पुरुष' का वह भाग जो भुजाओं से आच्छादित रहेगा क्षत्रिय कहलाएगा। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि मुख, बाहु, ऊरु और पाद

---

१. अथर्व० १९.६०.२

२. मनु० १.३१ पर मेधातिथि वैश्य के लिए लिखते हैं—"**वैश्यस्यापि ऊरुकर्म पशून् रक्षतो गोभिः क्षरन्तीभिर्भ्रमणं स्थलपथवारिपथादिषु वाणिज्याय गमनम्।**

३. **एवं हैष गुदः प्राणः समन्तं नाभिं पर्यवनः।** शत० ब्रा० ८.१.३.१०

४. महाभारतकार ने राष्ट्र के सात मलों की गणना की है, उनमें वैश्य-वर्ग से सम्बन्धित मल हैं—'व्यापारियों का व्यापार कूट पर आश्रित होना **'चौर्य-अव्यवहारश्च, व्यवहारोपसेविनाम्'**।
—म० भा०। शा० प० ७६.१२ [कुम्भघोण संस्करण]।

५. **त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।**
हे राजन् त्वां विशः प्रजा राज्याय वृणतां संभजताम्॥ अथर्व० ३.४.२ सायणभाष्य

अंगचतुष्टय की सीमा अर्थात् मर्यादा कहां तक है : कन्धे से कोहनी-पर्यन्त भाग को 'बाहु' माना है; **'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः'** की व्याख्या करते हुए, शरीर का मध्य भाग उसे माना गया कि जो कोहनी से लेकर अंगुली के अग्रभाग तक आवृत होता हो। उससे ऊपर का भाग राजन्य अथवा क्षत्र कहलाएगा। यही वह भाग है जिसे बाहु, आवृत किए रहेगा।

बाहु से आवृत-भाग क्षत्र—

जो भाग बाहु से आवृत होता है उसे **'उरस्'** कहते हैं। यह अस्थियों का एक दृढ़ ढांचा है। यही वह **वर्म** [वर्मा] है जिसमें फुफ्फुस और हृदय सुरक्षित रहते हैं। इसी में वह हृदयगुहा है जिसमें शरीर का राजा आत्मा निवास करता है।[1] यहीं पर वह भाग भी है जिसमें रक्त का आयात और निर्यात होता रहता है। अतः इस प्रकार के केन्द्रीय स्थान को सुरक्षित करने के लिए उरस् भाग का दृढ़ ढांचा=वर्म बना हुआ है, जिसके दोनों ओर बाहुएं सटी रहकर रक्षा करती रहती हैं। इसी आवश्यकता को **'समाज-पुरुष'** का जो **अंग** पूरित करता है उसका नाम **'राजन्य'** है और यही राजन्यवर्ग समाज-पुरुष की **भुजा** है।

राजन्य और क्षत्रिय—

'बाहू राजन्यः कृतः' मन्त्रचरण के **'राजन्य'** शब्द का अर्थ क्षत्रिय है। सभी भाष्यकार इस बात में एकमत हैं। क्षत्रिय शब्द का अर्थ है जो क्षत्र का अपत्य है, क्षतत्राण में **अतिशयेन समर्थ**। शरीर में बाहु अतिशयेन क्षतत्राण में समर्थ होने से क्षत्रिय कहलाता है और 'समाज-पुरुष' में जो अतिशय क्षत-त्राण करता है वह क्षत्रिय, 'समाज-पुरुष' का बाहु कहलाएगा अर्थात् **'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः'**[2]—जो क्षत से त्राण करता है, उसे क्षत्रिय कहते हैं। कोषकार[3] ने क्षत्र शब्द को 'सौत्र' धातु **'क्षद संवृतौ'** से निष्पन्न माना है। जो सब ओर से संवृत करके रखता है उसे **'क्षत्रिय'** कहते हैं। **'क्षदति रक्षति जनान् स क्षत्रः'** यहां **'क्षद संवृतौ'** और **'वर्म'** शब्द को निष्पन्न करने वाली **'वृञ्'** संवरणे धातु की साम्यता द्रष्टव्य है।

क्षतत्राण और बाहु—

क्षत्रिय-वर्ण की सार्थकता क्षतत्राण से है और क्षत-त्राण की सार्थकता बाहु से है। इसलिए कहा—

i **तस्माद् उ बाहुभ्यां वीर्यं करोति बाहुभ्यां ह्येनं उरसो वीर्यादसृजत**[4]।

ii **'तस्माद् उ बाहुवीर्यो [राजन्यः] बाहुभ्यां हि सृष्टः'**[5]।

iii **'वीर्यं वा एतद् राजन्यस्य यद् बाहू'**[6]।

---

१. **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ॥**—क० उ० ६.१७

२. [क] **क्षतात् त्रायत इति**—श० क० द्रु० [क्षत्रिय शब्द पर]

[ख] **क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।** —रघु० २.५३

[ग] **बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः। यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥** —भ० पु० ३.६.३१

[घ] **क्षत्रियस्तु क्षतत्राणात्।** भ० पु० (ब्रह्मपर्व) ४४.१०

३. श० क० द्रु० [क्षत्रिय शब्द पर]

४. जै० ब्रा० ८

५. तां० ब्रा० ६.१.८

६. शत० ब्रा० ५.४.१.१७

भुजाएं ही क्षत्रिय का वीर्य है, शौर्य और पराक्रम है। इसलिए यह बाहुओं से ही पराक्रम करता है। क्योंकि बाहुओं और उरस्-शक्ति से इसका सृजन हुआ है।

बाहु का सामर्थ्य—

बाहुओं को क्षत्रिय का वीर्य, सामर्थ्य, बल और पराक्रम कहा गया है। कोषकार[1] 'बाधते शत्रून् इति बाहुः'—जो शत्रुओं को बाधित करता है—उनकी गति में रुकावट डालता है—उनका प्रतिकार करता है—उन्हें विलोडित करता है उसे **'बाहु'** कहते हैं। 'बाहु' शब्द की निष्पत्ति 'बाधृ विलोडने' धातु से हुई है।[2] शत्रु को बाधित करने के समय, बाहुएं शत्रु को विलोडित करती हैं। अमरकोष का टीकाकार भानुजी दीक्षित इसे 'बाहु प्रयत्ने'[3] से भी निष्पन्न मानता है। बाहु पर ही भार वाहन किया जाता है और सभी प्रकार के प्रयत्न, बाहु के ही आधीन हैं। कोषकार[4] कन्धे से लेकर अंगुलियों के अग्र भाग-पर्यन्त अवयव-विशेष को **'बाहु'** मानता है। दीर्घबाहु, ऊर्ध्वबाहु, प्रलम्बबाहु, आदि शब्दों में बाहु शब्द इन्हीं अर्थों में व्यवहृत होता है।

बाहु शब्द की सीमा पर हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं[5] और इस पर भी प्रकाश डाला जा चुका है कि शरीर-रचना में, हाथों का बाहुओं से संयुक्त किया जाना, बाहुओं की शक्ति एवं बल को सहस्रगुणित तो कर ही देता है। वेद में एक प्रसिद्ध त्रिक का वर्णन करते हुए **मस्तिष्क, बाहु** और **हाथों** को पृथक्-पृथक् गिना गया है। वहां इन्हें आयात और निर्यात-रूप **अश्विनौ देवता** माना गया है, तद्यथा—**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्**[6] ॥

बाहु और आयात-निर्यात—

शरीर के **क्षत्र**-भाग का एक प्रधान अवयव **उरस्**-भाग है। उसके अन्तर्गत **हृदय** का भी समावेश होता है। वह भी क्षत्र है और बाहु भी क्षत्र हैं। दोनों ही का काम आयात और निर्यात है। [१] हृदय वह कोष है, जो अन्तः—शक्तियों का **आयात-निर्यात संचय-विचय** करता है और [२] बाहु वह साधन है कि जो बाह्य स्थूल द्रव्यों का आयात-निर्यात करता है। बाहुओं के माध्यम से हाथों द्वारा गृहीत ग्रास आयात है और मुख को प्रदत्त ग्रास निर्यात है। यह तो स्थूलार्थ है। हाथों द्वारा ग्रास को ग्रहण करने का आदेश मस्तिष्क ने दिया और उस आदेश को हाथों तक भुजाओं ने पहुंचाया, इस आदेश के आयात और निर्यात का माध्यम भी बाहु ही हैं। इसी को वेद में **'अश्विनौ देवता'** कहते हैं[7]।

'अश्विनौ' देवता नित्य-द्विवचनान्त है और बाहु भी दो ही हैं। क्षत्रिय की आयात और निर्यात रूप दो भुजाएं अश्विनौ देवता हैं। क्षत्रिय की एक भुजा, आयात की प्रतिनिधि है, और द्वितीय निर्यात की। अश्विनौ-रूप भुजाओं की पहुंच, आयात के स्रोतों और निर्यात के पात्रों तक होनी चाहिए। **क्षत्रिय, वैश्य** और व्यापारी वर्ग पर **कर** लगा कर अर्थ का **आयात** और प्रजा के जन-जन तक अन्न-जल पहुंचाकर अर्थ का **निर्यात** करता है। इस पर समाज का जीवन निर्भर रहता है। कदाचित् उसके आयात

---

१. **शब्दकल्पद्रुम** [बाहु शब्द पर]
२. **अर्जिदृशिकम्यमिपंसिबाधामृजिपशितुक्धुक्दीर्घहकारश्च** ॥ उणादि १.२७
३. धा० पा०।भ्वा०ग० ६३६.
४. श० क० द्रु० [बाहु शब्द]
५. द्र० यह शोध प्र० पृ० ४४३
६. यजु० १.१०
७. अश्विनोर्बाहुभ्याम् ॥ यजु० १.२२

निर्यात-रूप भुजाएं न हों तो तत्क्षण समाज-पुरुष प्राणविहीन हो जाए।

कच्चे माल का आयात वैश्य करता है और पक्के माल का आयात क्षत्रिय करता है। जहां वैश्य का काम आयात कच्चे माल को पक्के माल में परिवर्तित करना है वहां क्षत्रिय का काम, आयात पक्के माल को शुद्ध और सहस्रगुणित करके राष्ट्र के जन-जन तक पहुंचा देना है।

[आदान-विसर्ग के तीन केन्द्र]

आयात-निर्यात का केन्द्र मस्तिष्क—

शारीर-पुरुष के आयात-निर्यात के तीन केन्द्र हैं —मस्तिष्क, हृदय और नाभि। मस्तिष्क, ज्ञान के आयात-निर्यात का केन्द्र है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान का आयात होता है और वागिन्द्रिय द्वारा निर्यात। 'शारीर-पुरुष' के सर्वोन्नत मस्तिष्क[हृदय]केन्द्र की रक्षा का प्रबन्ध प्रकृति की ओर से अत्युत्तम है। उसे इस प्रकार अस्थिवर्म में सुरक्षित कर दिया गया है कि उसे सहसा आघात नहीं पहुंच सकता। मस्तिष्क-केन्द्र के विकृत हो जाने पर 'शारीर पुरुष' का क्षण-मात्र भी चलना दुष्कर है।

आयात-निर्यात का केन्द्र [हृदय]—

'शारीर-पुरुष' का हृदय-भाग क्षत्रिय है, यही वह कोष है जहां प्राणों का आयात-निर्यात होता रहता है। आयात वायु का नाम 'प्राण' है[1] और निर्यात वायुद्वय में से एक का नाम अपान और दूसरे का नाम 'व्यान' है[2]। व्यान नामक वायु शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों में संचार करता है[3]। इसी के आश्रित 'शारीर-पुरुष' स्वस्थ और सुदृढ़ रहता है। प्राणों को क्षत्र[4] कहे जाने का कारण भी यही है। निश्चय ही ये प्राण 'शारीर-पुरुष' का क्षीण होने से त्राण करते हैं—**'त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः'**[5]।

इसी प्रकार—रक्त का आयात करके और उसे छननी में से—जिसमें कि हजारों छिद्र होते हैं छानकर—शोधन कर ओषजन [oxygen] वायु को मिला शरीर के प्रत्येक अणु-अणु तक निर्यात करता रहता है। यदि हृदयरूप क्षत्र की आयात और निर्यात रूप दोनों भुजाओं [अश्विनौ] में किंचित् भी शिथिलता आ जाय तो 'शारीर-पुरुष' का संरक्षण और संवर्धन तत्काल रुक जाए। इस कारण इस **आयात-निर्यात** और दोनों पर **नियमन** करने का नाम ही **'हृदय'** है—**'हृ'** का अर्थ है **आयात, 'द'** का अर्थ है **निर्यात** और **'यम्'** का अर्थ है **नियमन**[6]।

यही प्रक्रिया समाज-पुरुष के आयात-निर्यात रूप दोनों बाहुओं [अश्विनौ] की भी है। राजन्य वर्ग का कर्त्तव्य है कि यदि आयात धन में काला धन [Black money] आ गया हो तो उसे परिशुद्ध करके निर्यात करे, अन्यथा यह भय सदैव बना रहेगा कि समाज-पुरुष कब प्राणशून्य हो जाए।

आयात-निर्यात का केन्द्र [नाभि]—

जिस प्रकार मस्तिष्क, ज्ञान के आयात-निर्यात का केन्द्र है और हृदय, रक्त के आयात-निर्यात

---

१. यद् वै प्राणिति स प्राणः। छा० उ० १.३.३ २. यद् वा अपानिति सोऽपानः। छा० उ० १.३.३.

३. अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडी सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति। प्र० उ० ३.६

४. प्राणो हि वै क्षत्रम्। शत० ब्रा० १४.८.१४.४ ५. शत० ब्रा० १४.८.१४.४

६. तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति, 'हृ' इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, 'द' इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद।

—शत० ब्रा० १४.८.४.१

का केन्द्र है उसी प्रकार नाभि, अन्न-जल के आयात-निर्यात का केन्द्र है। अन्न आग्नेय तत्त्वों का प्रतीक है, जल सौम्य तत्त्वों का।[1] नाभि-केन्द्र में आयात होने वाले अन्न, दुग्ध, घृत आदि परिपाक को प्राप्त होकर रुधिर-रूप में निर्यात होते रहते हैं।

क्षत्रिय-रूप भुजाओं का दायित्व—

'शारीर-पुरुष' की भुजाओं का नियोजन इस प्रकार हुआ है कि उन्हें स्कन्ध से संलग्न करके अंगुलियों के अग्र भाग तक मुक्त कर दिया गया है, जिससे बाहुओं का संचालन निर्बाध हो सके—वे शरीर के किसी भी केन्द्र पर होने वाले प्रहार का तत्काल वर्म बनकर पहुंच जाएं। 'शारीर-पुरुष' के तीनों केन्द्रों को अस्थि-वर्म से ऐसे सुरक्षित कर दिया गया है कि उन पर सहसा आघात न पहुंचे। उस पर भी उनकी रक्षा का दायित्व बाहुओं को दिया गया है, मानों बाहुओं को वर्म का भी वर्म बना दिया गया है।

रक्षा और आक्रमण-रूप भुजाएं—

क्षत्रिय की उपमा बाहुओं से दी गई है। क्षत्रिय, समाज-पुरुष की जहां आयात-निर्यात रूप **दो बाहु** हैं, वहां **संरक्षण** [Defence] और **आक्रमण** [Offence] भी दो बाहु हैं। एक से वह शत्रु के आक्रमण से आत्मरक्षा करता है तो दूसरे से शत्रु पर आक्रमण करता है।

'शारीर-पुरुष' की सीमाएं निर्धारित हैं—**ऊर्ध्वादिक्** में **शीर्ष**; **ध्रुवादिक्** में **चरण**; **पूर्व** में **मुख, उरस्, उदर** इत्यादि; **पश्चिम** में **पृष्ठ** भाग और **उत्तर-दक्षिण** की सीमा **दोनों भुजाएं** हैं। मर्यादा यही है कि सीमा का उल्लंघन न हो। ऊपर की ओर उठी हुई भुजाएं, पिण्ड-सीमा से बहुत बाहर पहुंचती हैं। यह कहा जा सकता है कि सीमा का उल्लंघन अपराध है, परन्तु यह उल्लंघन तभी होता है जब कोई विवशता सम्मुख उपस्थित हो, अन्यथा तो ये भुजाएं सदा दायें-बायें पार्श्वद्वय के साथ सटी रहकर ऊरु की रक्षा करती हैं। सामान्य अवस्था में, चलता-फिरता और बैठा हुआ कोई व्यक्ति ऊपर हाथ उठाया हुआ नहीं देखा जाता। यह भुजाओं के स्वभाव में है कि शरीर के किसी भाग पर आक्रमण हुआ कि तत्काल वे प्रतिकार के लिए उठ खड़ी होती हैं। इतना ही नहीं, सम्भाव्य शत्रु पर आगे बढ़कर आक्रमण भी करती हैं।[2] उस समय वे कवच और ढाल का कार्य करती हैं।

इसी प्रकार 'समाज-पुरुष' के बाहु क्षत्रिय का भी यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का पहले से ही ज्ञान रखे कि, शत्रु की शक्ति कितनी है और आक्रमण कब होने वाला है? यह सब विचार करके, सीमा पर स्थित रहकर आक्रमण से बचाव करे। यदि आवश्यक समझे तो सीमोल्लंघन कर शत्रु-सीमा में प्रवेश करके, आक्रमण के मूल-स्रोतों को वहीं समाप्त कर दे।

विजातीय तत्त्वों का परित्याग—

'शारीर-पुरुष' में भुजाओं का एक कार्य और भी देखा जाता है। वे त्वचा द्वारा बाहर निकाले हुए मलों को तत्-तत् केन्द्रों से निकाल बहार कर देती हैं। ठीक इसी प्रकार समाज-पुरुष के भुजा-रूप क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह सारे समाज में फैले हुए आप्त [ब्राह्मण-गुप्तचरों] द्वारा निकाल कर, सीमा

---

१. यच्छुष्कन्तदाग्नेयं यदार्द्रंतत्सौम्यम्।—शत० ब्रा० १.६.२.२३

२. इसी स्थिति के कारण तैत्तिरीय संहिताकार ने लिखा—

'यावान् पुरुष ऊर्ध्वबाहुस्तावान् भवत्येतावद् वै पुरुषे वीर्यम्।—तै० सं० ५.२.५.१

पर लाए गए शत्रु-घुसपेठियों को निकाल बाहर करे।

बाहुओं की स्वाभाविक स्थिति—

जैसा कि पीछे लिख आये हैं—बाहुओं की सामान्य स्थिति, पार्श्वद्वय से सटे रहना है। इन दोनों भुजाओं के मध्य में **अर्थ और काम के केन्द्र हैं**, जिन्हें गुप्तांग कहा जाता है। इस कारण यह वह भाग है जिसकी रक्षा-प्रतिक्षण अपेक्षित है, यतः इस पर होने वाले बाह्य आक्रमण इतने प्रबल नहीं हैं जितने कि आन्तरिक।

इसी प्रकार **'समाज-पुरुष'** के बाहुरूप क्षत्रिय का भी यह कर्त्तव्य है कि वह समाज अथवा राष्ट्र की सामान्य स्थिति में, **अर्थ** एवं **काम** की रक्षा में रत रहे जिससे राष्ट्र में आनन्द व सम्पन्नता सदैव बनी रहे।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि 'शारीर पुरुष' में जो भुजाओं के कार्य हैं, वे ही 'समाज-पुरुष' के बाहु-रूप क्षत्रिय के कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों का पालन क्षत्रिय-वर्ग जब तक पूर्ण निष्ठा से करता रहेगा तभी तक समाज में सब प्रकार की सुरक्षा बनी रहेगी।

पुरुष-सूक्त के इस मन्त्र-चरण **'बाहू राजन्यः कृतः'** ने राजनीति को एक विशेष देन प्रदान की है। वह यह है कि किसी भी राष्ट्र या 'समाज-पुरुष' को भुजाशून्य [armless] नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक पुरुष की भुजाएं [arms] आवश्यक अंग हैं। जब तक इस सृष्टि में भुजाशून्य [armless] व्यक्ति उत्पन्न नहीं होते तब तक समाज या राष्ट्र-पुरुष को भुजाशून्य [armless] नहीं किया जा सकता।

[ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्]

'समाज-पुरुष' का मुख—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मंत्रचरण से यह बात तो अति स्पष्ट है कि समाज-पुरुष का **मुख ब्राह्मण** है। **मुख** और **ब्राह्मण** शब्द एक दूसरे की व्याख्या हैं—एक दूसरे के पूरक हैं। इनको एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। समाज को यदि **द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, वक्ता, बोद्धा** और **मन्ता** व्यक्ति की आवश्यकता होगी तो **मुखवत्**—मुखस्थानीय व्यक्ति का अन्वेषण करना होगा और जो इस प्रकार का मुखवत् गुणों से युक्त व्यक्ति मिलेगा—उसकी संज्ञा **'ब्राह्मण'** होगी।

ब्राह्मण, समाज-पुरुष का मुख है—**मुखवत् मुख्य है—उत्तम है—मूर्धन्य है** इत्यादि कहने से पूर्व, यह जान लेना आवश्यक है कि मुख क्या है ? 'मुख' शब्द के प्रयोग होते ही जो अर्थ सर्वप्रथम सम्मुख आता है वह यही है कि एक गोलाकार अवयव जिसमें इन्द्रियों के सात गोलक बने हुए हों। किन्तु यह इसका स्थूलार्थ है, सूक्ष्मार्थ नहीं वास्तव में मुख का सूक्ष्म अर्थ इससे कहीं अधिक विस्तृत है।

'मुख' कौन सा शरीरांग है—

कुछेक विद्वान् **'मुख'** शब्द के प्रयोग होते ही मुख में शिरोभाग भी सम्मिलित मानते हैं। कुछेक इसका सूक्ष्म भेद करते हुए शिरोभाग को पृथक् और मुख भाग को पृथक् मानते हैं;—उनका कहना है कि [भौहें] भ्रू-रेखा वह रेखा है जो शिरो-भाग और मुख-भाग को पृथक् करती है; भ्रू रेखा से ऊपर का भाग शिर और नीचे का भाग मुख है। यह सब कुछ होते हुए भी ये दोनों भाग परस्पर इतने अनुस्यूत हैं कि इनको पृथक् नहीं किया जा सकता।

'शिरो देवकोशः'—

अथर्ववेद में शिर की परिभाषा करते हुए कहा है **शिरो देवकोशः'**[1] शिर खोपड़ी-मात्र नहीं है, अस्थियों का जाल-मात्र नहीं है, अपितु 'दिव्य विचारों का कोश' है। शिर तो दिव्य भावों का कोश है, परन्तु वे दिव्य भाव उसमें आते कहां से हैं?—उनका केन्द्र मुख है। वहीं चक्षु, श्रोत्रादि देव रहते हैं। यदि मुख से शिर अनुस्यूत न हो तो निस्सन्देह शिर अस्थियों का ढांचा मात्र है। और शिर से मुख अनुस्यूत न हो तो मुख की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाए। इन्द्रियों-द्वारा लाये गये रूपादि विषयों का ज्ञान कहां संगृहीत हो ? फिर स्मृति संस्कार आदि की तो कथा ही क्या ? अतः **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** में 'मुखम्' शब्द से शिर, मस्तिष्क, मुख गृहीत हैं।

शरीररचना में मुख वह केन्द्र है जिसमें समस्त ज्ञानेन्द्रियां संस्थित हैं। पांचों इन्द्रियां **रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र** और **त्वक्** में से पहली चार इन्द्रियां मुख में ही केन्द्रित हैं। पांचवी इन्द्रिय त्वचा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। त्वचा का समस्त शरीर में व्याप्त होना इस बात का प्रमाण है, कि शरीर का कोई अवयव अस्पृश्य नहीं। सभी एक दूसरे के लिये स्पृश्य हैं। इनके लिए स्पृश्यास्पृश्य का कोई प्रश्न ही नहीं। इन **ज्ञानेन्द्रियों** के साथ एक **कर्मेन्द्रिय वाक्** भी संलग्न है जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आयात ज्ञान को दूसरों के लिए निर्यात करती रहती है। आयात ज्ञान का नाम 'अध्ययन' है और निर्यात ज्ञान का नाम 'अध्यापन' है।

'मुख' की उत्तमांगता—

'शारीर-पुरुष' का मुख-भाग उत्तमांग कहलाता है; जन्म के समय शिरो-भाग ही सर्वप्रथम प्रकट होता है और शरीर के भी अग्र=उपरिभाग में व्यूढ रहता है अतः **अग्रजन्मा है—मुख्य** है। **शिर** ही शरीर का **पुरोहित है—नेता** है। चलते समय शिर उठाकर नयनों से देखकर चलते हैं। नयन से ही नेता है। गुणों की दृष्टि से भी शिर सत्त्वगुणप्रधान है। ज्ञान का स्वरूप भी सत्त्व है। इसी भाग के विकृत हो जाने से पुरुष पागल माना जाता है।

'शारीर पुरुष' के सभी अंगों में मुख ही ऐसा है, जो सबसे अधिक स्वार्थरहित त्यागी और तपस्वी है। शीत-ऋतु में जबकि सबको अच्छी प्रकार ढांप लिया जाता है तो मुख भाग ही नंगा रहता है। वह स्वादु से स्वादु पदार्थ खाकर भी अपने पास संग्रह नहीं करता, कदाचित् कोई दाना-दुनका दांतों अथवा दाढ़ों के अन्तराल में छुपा रह जाए तो जीभ ही धक्का दे देकर निकाल देती है।

'समाज-पुरुष' का मुख ब्राह्मण—

यह विचार किया जा चुका है कि ब्राह्मण प्रजापति का मुख है; अथवा प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुआ है। सूक्तगत प्रश्नोत्तर से यही निश्चय होता है कि **"अस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य, ये केचिद् ब्राह्मणाः ते मुखमासीत्"**[2] यज्ञ पुरुष के, जो कोई भी ब्राह्मण थे वे मुख थे शतपथकार,[3] तैत्तिरीय-संहिताकार,[4] काठक-संहिताकार[5] सभी, इस बात में सहमत हैं कि इन सब मनुष्यों का ब्राह्मण मुख है। महा-

१. अथर्व १०.२.२७

२. द्र० यजु० ३१.११। उ० भा०

३. **अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्**। शत० ब्रा० ३.९.१.१४

४. **ब्रह्ममुखा वै प्रजापतिः प्रजा असृजत्......तस्माद् ब्राह्मणो मुख्यः**। तै० सं० ५.२.७

५. **ब्राह्मणोऽस्य [पुरुषस्य] मुखमासीत्**। का० सं० १०१.४

भारत[1] और भागवत्-पुराण[2] भी सहमत हैं, कि ब्राह्मण 'समाज पुरुष' का मुख है। रामायण में महाराजा दशरथ के राज्य का वर्णन करते हुए कहा है कि राज्य का क्षत्र-बल, ब्राह्मण मुख वाला था। **"क्षत्रं ब्रह्म मुखं चासीत्"[3]** ।

ब्राह्मण सब में मुख्य है—

तै० सं० में वर्णित है कि प्रजापति ने ब्रह्ममुख वाली प्रजा का निर्माण किया, इसलिये ब्राह्मण सब प्रजाओं में मुख्य है[4]। न केवल मुख्य ही है, अपितु प्रजाओंका गुरु भी है।[5] गुरु ही नहीं, अपुति वह अपनी दिव्यताओं के कारण मनुष्यों में देव भी है।[6] वर्णों में ब्राह्मण को दिव्य-वर्ण माना है।[7] शिर की भांति ब्राह्मण भी दिव्य भावों का कोश है।

ब्राह्मण कौन—

ब्राह्मण का जन्म-विषयक विवाद भी उसी प्रश्न के साथ युक्त है जो वर्ण-व्यवस्था के बारे में उठाया जाता है। मैत्रायणी-संहिता में ब्राह्मण के जन्म-विषय में प्रश्न पूछा गया कि ब्राह्मण का पिता कौन है? माता कौन है? उसके उत्तर में कहा गया, कि क्या तुम ब्राह्मण के पिता-माता के बारे में पूछते हो? यदि ब्राह्मण में कुछ विद्या है—**वेद-ज्ञान** है, तो वही वेद-ज्ञान उसका पिता है और वही उसका पितामह है।[8] इसी प्रकार का एक प्रश्न वज्रसूचिकोपनिषद् में उठाया गया है—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं; उनमें से ब्राह्मण ही प्रधान है, यह वेद-प्रतिपादित स्मृति आदि में कहा गया है। विचारणीय है कि ब्राह्मण किस पदार्थ का नाम है? क्या जीव का? क्या देह का? क्या जाति का? क्या ज्ञान का? क्या कर्म का? क्या धार्मिक का?" इन वितर्कों का उत्तर देकर अन्त में समाधान किया कि "जो व्यक्ति, अनन्त गुणों से युक्त, अनुभव से गम्य और अपरोक्षतया भासमान परमात्मतत्त्व को करतलामलकवत् साक्षात् कर लेता है और उस साक्षात्कार से कृतार्थ हो जाता है, काम,रागादि दोषों से जो रहित है, शमदमादि गुणों से जो सम्पन्न है, जो भावमात्सर्य-तृष्णा-मोहादि से रहित है और जिसे दम्भ-अहंकार आदि ने स्पर्श भी नहीं किया है ऐसा व्यक्ति ही 'ब्राह्मण' कहलाने योग्य है"।[9] बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य-गार्गी-संवाद में याज्ञवल्क्य ने गार्गी से यही कहा कि "हे गार्गी! जो इस अक्षर को जानकर इस

---

१. **ब्रह्म वक्त्रम्, भुजौ क्षत्रम्।** म० भा० व० प० १८७.१३
२. **पुरुषस्य मुखं ब्रह्म।**—भा० पु० २.५.३७
३. वा० रा० १.६.१९
४. **तस्माद् ब्राह्मणो मुख्यः।** तै० सं० ५.२.७.१
५. **यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः।**
६. **अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः।** ष० ब्रा० १.१.
७. **दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः**—तै० आ० १.२.६.७
८. **किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्। श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः।** मै० सं० ४.८.१
९. **ब्राह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः? किं देहः किं जातिः? किं ज्ञानं? किं कर्म? ...अनुभवेकवेद्यं-अपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्...कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसंपन्नो...एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति।**—वज्र० सू० उप० २

लोक से प्रयाण करता है वह 'ब्राह्मण' है।[1] उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात हुआ कि जो **'ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण'** है।

जन्म से प्रत्येक शूद्र होता है, व्रत से वह द्विज बनता, वेदाभ्यास करने से वह विप्र कहलाता है और जो ब्रह्म (परमेश्वर और वेद) को अच्छी प्रकार जानता है वही ब्राह्मण कहलाता है।[2] **'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'** का आधार वेद ही है। **'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः'**[3] में **'ब्राह्मणाः'** का सायणाचार्य ने भी **'ब्राह्मणाः—वेदविदः'** ऐसा ही किया है अर्थात् **ब्राह्मण** का अर्थ **वेदज्ञविद्वान्** है। इसी मन्त्र के अन्य अर्थ देते हुए **'ब्राह्मणः'** के दो अन्य अर्थों का उल्लेख किया गया है **'ब्राह्मणाः—शब्दब्रह्मणोऽधिगन्तारो योगिनः'** अर्थात् शब्दब्रह्म का ज्ञान रखनें वाले योगी अथवा **'प्रकृति-प्रत्ययादिविभागज्ञा वाग्योगविदः'** अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययादि के विभाग को जानने वाले वाग्योग=व्याकरण शास्त्रादि के विद्वान्। सायणाचार्य-कृत इन तीनों अर्थों से यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति **ब्रह्म, वेद** अथवा वेदाङ्ग=व्याकरणादि का ज्ञाता हो उसे **ब्राह्मण** कहते हैं।

ब्राह्मण शब्द का प्रत्यय-व्यंजित अर्थ—

यहां यह भी स्मर्तव्य है कि **'ब्राह्मण'** शब्द—**'तदधीते तद् वेद'**[4] के अनुसार ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय करने पर बनता है। **ब्रह्म का अर्थ परमेश्वर** तो सुप्रसिद्ध ही है उसका दूसरा अर्थ **वेद**[5] और

---

१. **य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।** बृ० उ० ३.८.१०

२. [क] **जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते।**
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रो, ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥ वज्रसूची०॥

[ख] **जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।**
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च॥ अत्रि संहिता॥

इस प्रकार इस 'जन्मना जायते शूद्रः' वाले श्लोक के उपर्युक्त दो पाठ मिलते हैं। प्रथम श्लोक के सम्बन्ध में दो मत हैं – एक यह कि 'वज्रसूची' नामक प्रबन्ध में यह श्लोक है और दूसरा मत यह है कि इस नाम से जो उपनिषद्-उपलब्ध है उसमें यह श्लोक है, परन्तु उपनिषत्-संग्रह में उपलब्ध वज्र-सूची-उपनिषद् में यह श्लोक अनुपलब्ध है। विद्यामार्तण्ड श्री धर्मदेव जी का अपने 'भारतीय समाजशास्त्र' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ १३ पर उल्लेख है कि 'मैंने १९ अगस्त १९५४ को आर्यसमाज गंगोह (जि० सहारनपुर) के पुस्तकालय में ग्रन्थ सं० २१५ **वज्र-सूची-उपनिषद्** की हस्तलिखित प्रति में यह लेख पाया'।

'हमारा समाज' के सुप्रसिद्ध लेखक श्री सन्तराम बी०ए० का कहना है कि यह **श्लोक वज्र-सूची नामक संस्कृत** प्रबन्ध का है। **इसका लेखक बौद्ध विद्वान् अश्वघोष है।** इसका हस्तलेख सन् १८२९ में श्री हडसन को नेपाल से उपलब्ध हुआ था : विशेष द्रष्टव्य 'हमारा समाज' आठवां परिच्छेद 'वज्रसूची' पृष्ठ ८१। (ख) बिन्दु से उद्धृत श्लोक अत्रिसंहिता का १४२ वां श्लोक है इस पर भी श्री इन्दिरारमणकृत 'मानवार्षभाष्य' ग्रन्थ के पृष्ठ १८२ पर ३० वीं टिप्पणी द्रष्टव्य है।

३. ऋ०-१.१६४.४५ मन्त्र पर सायण-भाष्य

४. अष्टा० ४.२.५९

५. **वेदो ब्रह्म।** जै० उ० ब्रा० ४.२५.३.

मंत्र[1] है, इसके अनुसार **'ब्राह्मण' का अर्थ परमेश्वर को जानने वाला** और **वेद** को अर्थात् **मन्त्र को जानने वाला,** उसका विशेष **अध्ययन करने वाला है । यह सर्वथा स्पष्ट** है । यजुर्वेद में **'विभक्तारं हवामहे'**—'हम [**विभक्तारम् कर्मानुरूपेण विभक्तारम्**][2] कर्मानुसार समाज का वर्ण-विभाग करने वाले नियम निर्माता का आह्वान करते हैं'—ऐसा उपक्रम करके **'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्' में ब्राह्मण** का कार्य, कर्मानुसार[**ब्रह्मणे, वेदाय, ज्ञानप्रचाराय**][3] ब्रह्म=वेद-ज्ञान का प्रचार निर्धारित किया गया है । इसी सिद्धान्त को मेधातिथि ने प्रतिपादित किया है । मनु के वर्णव्यवस्था-प्रतिपादक प्रसिद्ध श्लोक की टीका करते हुए मेधातिथि लिखते हैं कि यहां **मुखतः** का अर्थ **'मुखकर्माऽध्यापनाद्यतिशयाद् वा मुखत इत्युच्यते**—मुख का कर्म **अध्यापनादि** का **अतिशय** होने से **'मुखतः'** का प्रयोग किया गया है और यज्ञ में —**'परमार्थतः स्तुतिरेषा'** [मे०ति०] कहकर अन्तिम व्याख्या-विकल्प में **'कर्मणा वर्णः'** के वास्तविक आर्ष सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है[4] ।

'ब्राह्मण' शब्द में अपत्य-प्रत्यय—

वेद में बहुत से अपत्य-प्रत्ययान्त प्रयोग हैं, किन्तु जब वेद 'अनादि-निधना' वाणी है तो उसमें अपत्य-प्रत्यय का प्रयोग कैसे ? उनमें से ब्राह्मण शब्द भी ऐसा ही है इसका अर्थ **'ब्रह्मणः अपत्यं ब्राह्मणः'** ऐसा किया जाता है जो **ब्रह्म** का **अपत्य** है वह **'ब्राह्मण'** है । इस पर विचारणीय यह है, कि सर्गारम्भ में जब कोई मनुष्य था ही नहीं; तो ब्राह्मण-ब्राह्मणी का भी जोड़ा कहां से आया, अतः आदि ब्राह्मण को जन्मना—ब्राह्मण कैसे माना जा सकता है । इसका समाधान यही होगा कि वह[ब्राह्मण], **ब्रह्म** अर्थात् **वेद** का अपत्य है । जिसका **प्रण** है कि वेद का ही नित्य स्वाध्याय करूंगा और वेद का **पतन न** होने दूंगा ।

यह हम दिखा चुके हैं कि सर्गारम्भ में सभी व्यक्ति ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे —ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के पुत्र होने से सभी मनुष्य ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे । पीछे कालक्रम से अपने-अपने कर्मानुसार क्षत्रियादि वर्णों को प्राप्त हुए । यह विषय शास्त्रों में बहुत्र प्रतिपादित है ।[5] याज्ञवल्क्य-स्मृति में वर्णित है कि ब्रह्मा ने महान् तप तपकर ब्राह्मणों को बनाया । आगे लिखते हैं —किस लिये, **'वेदगुप्तये'**—[वेद-निधि की रक्षा के लिये] **'धर्मरक्षणाय च'**[6]—और [आदि-सर्ग के आरम्भ में कर्त्तव्याकर्त्तव्य की स्थापना के लिए] ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि जो ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला है ; **काम, राग, द्वेष,**

---

१. ब्रह्म वै मन्त्रः । शत० ब्रा० ७.१.१.५
२. **विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः । सवितारं नृचक्षसम्** । यजु० ३०.४. द्रष्टव्य उवट-भाष्य
३. द्र०—यजु० ३०.५ पर
४. **मुखकर्माऽध्यापनाद्यतिशयाद् वा मुखत इत्युच्यते; क्षत्रियस्यापि बाहुकर्म युद्धं, वैश्यस्यापि ऊरुकर्म पशून् रक्षतो गोभिश्चरन्तीभिर्भ्रमणं, स्थलवारिपथादिषु वाणिज्यायै गमनं, शूद्रस्य पादकर्म शुश्रूषा** [मनौ १.३१.मे० ति०]
५. [क] **असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्म प्रजापतीन्** । म० भा० १२.१८१.१
[ख] **संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः** । म० भा० १२.६०.४१
६. **तपस्तप्त्वाऽसृजद् ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये । तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च ॥**
या० स्मृ० १.१९८

अभिमान, मत्सर, तृष्णा, मोह, माया, हिंसा इत्यादि से निवृत्त होकर **शान्ति-मनोनिग्रह-सन्तोषादि-युक्त** है जो **ब्रह्म** अर्थात् वेद के रहस्यों को **जानता** है और जिसका व्रत है कि—**'मैं वेद की रक्षा करूंगा'** वह **'ब्राह्मण'** है।

ब्राह्मण की प्रसूति—

वेद में विप्र की उत्पत्ति, प्रज्ञा और कर्म से कही गयी है[1]। तै० ब्राह्मण में सामवेद को ब्राह्मणों की प्रसूति कहा गया है[2]। मैत्रायणी-संहिता में तो ब्राह्मण की उत्पत्ति धैर्य से मानी है। पुनश्च—जो धैर्य है वह सोम है, प्रजापति ने उसी से ब्राह्मण का सृजन किया इसलिये ब्राह्मण सभी वर्णियों से अधिक 'धीर' होता है। वह ब्रह्म=परमात्मा की प्राप्ति के लिए, वेद-प्राप्ति के लिये धैर्यवान् है।[3] धी=प्रज्ञा से उसकी उत्पत्ति हुई है। धी=प्रज्ञा में वह नित्य रमण करता है। इसलिए उसका 'धीर' होना स्वाभाविक है।

संगीत का बना ब्राह्मण—

अभी ऊपर कहा गया है कि ब्राह्मण की प्रसूति साम से हुई है। सामवेद समस्त वेदों में श्रेष्ठ माना जाता है[4] और ब्राह्मण सब वर्णों में श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ का ही उद्भव सम्भव है। **साम** का अर्थ है **समता —Harmony—स्वर-संगति—संगीत**[5]। ब्राह्मण साम से जन्मा है अर्थात् ब्राह्मण का संगीत से निर्माण किया गया है। मानो साम को—संगीत को संचित करके उसमें आत्मा फूंक दी गई हो, और उस पुतले का नाम **ब्राह्मण** रख दिया हो। इस भाव को ऋग्वेद में इन शब्दों में प्रकट किया गया है—

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः।
स ऋणचिद् ऋणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि॥[6]

—हे ब्रह्मज्ञान के अधिपति [ब्राह्मण]! सब जगत् को बनाने वाले ज्ञानमय परमात्मा ने समस्त भुवनों से प्रत्येक साम्य अथवा संगीत गुण वाली वस्तु लेकर तुझको बनाया है। वह तू **ब्राह्मण** दूसरों पर **ऋणों का चयन** करने वाला और अपने उपकारों से **द्रोह का मारने** वाला है, क्योंकि महान् सत्यनियम के धारण करने वाले परमात्मा में तुम्हारी आस्था है।

ब्राह्मण का अद्भुत युद्ध—

ब्राह्मण सर्वोत्कृष्ट योद्धा है। ब्राह्मण के युद्ध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके साथ हो रहे युद्ध में उभय-पक्ष में से किसी की हानि नहीं होती, किसी की मृत्यु नहीं होती और किसी की हार नहीं होती। उसका कारण ब्राह्मण का युद्ध-प्रकार है। उपर्युक्त मंत्र में वर्णित है कि ब्राह्मण **'द्रुहो हन्ता'** है, द्रोह को मारता है, द्रोही को नहीं, परन्तु कैसे? **'ऋणया'**—शत्रु पर उपकार के ऋण से, और यदि शत्रु

---

१. **धिया विप्रो अजायत।** यजु० २६.१५
२. **सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः।** —तै० ब्रा० ३.१२.६.२
३. **यद् धैर्यं सोमो वै सः, ततो ब्राह्मणमसृजत, तस्माद् ब्राह्मणः सर्व एव ब्रह्माभि धीरः।** मै० सं० २.४.२
४. **वेदानां सामवेदोऽस्मि।** भ० गी० १०।२२
५. **सामभ्यो गीतमेव च॥** भरत-नाट्यशास्त्र १.१७.
६. ऋ० २.२३.१७

ब्राह्मण को मारे अथवा सताये तो बदले में ब्राह्मण अपना **'ऋणचिद्'** रूप धारण कर लेता है और मधुर-व्यवहार में न्यूनता वा अन्तर नहीं आने देता। उसका कारण है 'संगीत' रूपी वह तत्त्व जिससे ब्राह्मण का निर्माण हुआ है। संगीत को कितना ही छेड़िये वह मीठा ही बोलेगा। ब्राह्मण भी मार खाएगा, परन्तु मीठा ही बोलेगा। यही उसकी युद्धकला है।

'ब्राह्मण समाज-पुरुष का **मुख है'** कहे जाने का यही अभिप्राय है कि ब्राह्मण को मुखवत् गुण-कर्म-स्वभाव वाला होना चाहिए। **मुख** में विद्यमान पांचों ज्ञानेन्द्रियां इस बात की परिचायिका हैं कि ब्राह्मण को **ज्ञानवान्** होना चाहिए। मुख में स्थित वागिन्द्रिय इस बात का द्योतन कराती है कि **ब्राह्मण** को **व्याख्याता** एवं **वक्ता** होना चाहिए। मुख की अनावृत **त्वचा** ब्राह्मण के **तपस्वी** होने और समस्त शरीर पर व्याप्त त्वचा ब्राह्मण के संवेदनशील होने का संकेत है। ब्राह्मण का **ज्ञानवान्** [स्वाध्यायी] **होना गुण** है। **व्याख्याता** [प्रवचन] **होना कर्म** है। **तपस्वी** और **संवेदनशील** होना **स्वभाव** है। जो व्यक्ति **ज्ञानवान्, व्याख्याता, तपस्वी** और **संवेदनशील** हो वह व्यक्ति समाज-पुरुष का **मुख** बनने योग्य है और उस **मुख** की संज्ञा **ब्राह्मण** है।

ब्राह्मण का द्विविध व्याख्यातृत्व—

समस्त शरीर पर त्वचा का वितान, शरीर के अवयव-अवयव की परस्पर संवेदनशीलता का माध्यम है। यह संवेदनशीलता शरीर के प्रत्येक घटक का स्वभाव है। शरीर का प्रत्येक अवयव संवेदन-शीलता की अभिव्यक्ति अपने-अपने प्रकार से करता है। मुख आह और आंसू बहाकर करता है। मुख द्वारा आह और आंसू की अभिव्यक्ति, इस बात की परिचायिका है कि ब्राह्मण को भी संवेदनशील होना चाहिए और उसकी अभिव्यक्ति आह और आंसू बहाकर करनी चाहिए। इसलिए मुख में दो–दो **व्याख्याता** निश्चित हैं **'वाक्' और 'चक्षु'**। समाज के किसी भी अंग में चोट आने अथवा पीड़ा होने आदि की अवस्था में **ब्राह्मण को आह और आंसू बहाने चाहियें।**

चक्षु शब्द का अर्थ भी **व्याख्याता** है। समाज में **ब्राह्मण व्याख्याता** है। वह अपने हृद्गत भावों को व्यक्त करने के लिये जहां **वाणी** का प्रयोग कर सकता है, वहां **चक्षु** का भी प्रयोग कर सकता है। जब कभी आततायी शासक वर्ग, ब्राह्मण की वाणी पर निष्प्रयोजन प्रतिबन्ध लगा दे तो उस अवस्था में **चक्षु** ही **व्याख्याता** का काम करने लगती है। **'वाणी जिसे न कह पाती है, मूक नयन कह देते हैं। चक्षु** कभी **अश्रु बहाकर** हृद्गत भावों को व्यक्त करते हैं तो कभी **अंगारे बरसा** कर।

ब्राह्मण की प्रामाणिकता—

दर्शनशास्त्र में [१] **प्रत्यक्ष,** [२] **अनुमान** और [३] **शब्द** तीन प्रमुख **प्रमाण** माने जाते हैं। इनसे प्रमाणित होने पर ही वस्तु की सिद्धि होती है। ब्राह्मण मुख है और मुख में तीनों प्रमाणों के आधार हैं। पञ्चेन्द्रिय [बाह्य करण] [१] प्रत्यक्ष-प्रमाण का, अन्तःकरण [२] अनुमान-प्रमाण का और वागिन्द्रिय [३] शब्द-प्रमाण का आधार है। **ब्राह्मण को** समाज-पुरुष का मुख होने के कारण **मुखवत् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण पर आधारित वक्तव्य देना चाहिए।** समाज उसे आप्त मानता है और उसके उपदेश को शब्दप्रमाण। **"ब्राह्मण को वर्त्तमान का प्रत्यक्षकर्त्ता, भूतकाल का अनुमाता और भविष्य का वक्ता होना चाहिए"।**

इस प्रकार शारीर-पुरुष में जिस प्रकार मुख अपरिहार्य अंग है [उसके बिना पुरुष की कल्पना

ही असम्भव है] तद्वत् मुखस्थानीय ब्राह्मण भी समाज-शरीर का अनिवार्य अवयव है—अपरिहेय मुख्यांश है। ब्राह्मण रूप मुख के बिना समाज शरीर की संरचना ही दुर्घट है।

स्वेच्छा से चतुरङ्ग वरण—

समाज को पुरुष कल्पित किए जाने का सर्वप्रथम परिणाम, अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप वृत्त वरण कर लेना है। प्रत्येक व्यक्ति, इस बात में स्वतन्त्र है कि वह—**अज्ञान** के दूरीकरणार्थ **ज्ञान के केन्द्र,** 'समाज-पुरुष' का **मुख** बनना वरण करे; अथवा—**अन्याय** के दूरीकरणार्थ **बल और वीर्य का केन्द्र** 'समाज पुरुष' की **बाहु** बनना वरण करे; अथवा—**अभाव** के दूरीकरणार्थ **अन्न, जल और प्राण के भण्डार** समाज पुरुष का **उदर** बनना वरण करे; अथवा शरीरस्थो महान् रिपुः **'आलस्य'** के दूरीकरणार्थ **गति-स्थिति और तप** के केन्द्र समाज-पुरुष के **चरण** बनना वरण करे।

इस प्रकार सारा समाज चार अंगों में विभाजित हो जाएगा। 'वरण' से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होगा किन्तु वरणोपरान्त उसके शक्ति और अधिकार मर्यादित हो जाएंगे और उस स्वयं-वृत अवयव के अनुरूप कुशलता प्राप्त करना उसके लिए अनिवार्य हो जाएगा। इस अनुबन्ध के आधार पर वर्णव्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि होती है।

वर्ण-व्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्त—

[क] **कौशल**

[ख] **शक्तिप्रतिमान**

[ग] **अधिकार**

[क] कौशल—

प्रत्येक मनुष्य सब प्रकार के कार्यों में कुशल नहीं हो सकता। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई अलौकिक शक्ति निहित है। यदि वह सर्वज्ञ बनने की अपेक्षा उसी अन्तःशक्ति को एकाग्र होकर समुन्नत करने में लगे तो [उसके द्वारा] समाज के सुख में निरन्तर वृद्धि हो सकती है। उसे अपनी वरण की हुई दिशा में कौशल प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। समाजविधान परक इस मन्त्र[1] के आधार पर यह लोक-कर्म तीन भागों में बांटा जा सकता है—

[i] प्राकृत पदार्थों को शारीरिक श्रम तथा बुद्धिकौशल द्वारा मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी बनाकर मानव-समाज की **दरिद्रता [अभाव]** को दूर करना। इस दिशा में **कौशल** प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम **वैश्य** होगा।

[ii] काम-क्रोध-लोभादि मानव-स्वभाव-सुलभ दुर्बलताओं के कारण होने वाले **अन्याय** को शासन और दण्ड-व्यवस्था द्वारा दूर करना तथा सद्व्यवहार को प्रचलित करना। इस दिशा में **कौशल** प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम **क्षत्रिय** होगा।

[iii] मानव-समाज के लिए हितकारी, सब प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने में तथा **अज्ञान** के नाश में जीवन लगाना। इस दिशा में **कौशल** प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम **ब्राह्मण** होगा।

सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों में से किस विशेष-कार्य को सबसे भली प्रकार सम्पादित कर सकता है, इसका सूक्ष्म अन्वेषण स्वयं के चिन्तन और विशेषज्ञों के सहयोग से करे।

---

१. ब्राह्मणोऽस्य, ऋ० १०.९०.१२

तत्पश्चात् अपनी शाखा में समस्त शक्ति को एकाग्र करके अधिक से अधिक कौशल प्राप्त करे।

यह कौशल [specialisation] वैदिक **वर्णव्यवस्था का पहला सिद्धान्त** है।

[ख] शक्ति-प्रतिमान—

इस प्रकार कौशल प्राप्त करने वाले मनुष्यों में, पारस्परिक व्यवहार के नियम भी बनने आवश्यक हैं। इस विषय को **'समाज-पुरुष'** के **चतुर्धा विभक्त** अवयवों से समझा दिया गया है। **प्रत्येक अवयव की योग्यता, शक्ति और अधिकार-क्षेत्र पृथक्-पृथक् रखे गए हैं,—जिससे समाज में सन्तुलन बना रहे।** उनमें से **'ज्ञान की खोज और अज्ञान का दूर करना'** सबसे बड़ा कार्य है; क्योंकि अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाले तथा प्राकृत पदार्थों से सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले शेष दोनों ही ज्ञान के बिना अन्धे हैं। ज्ञान, इन दोनों को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु ये ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसीलिए **ज्ञान तथा आत्म-संयम के संगम**—'समाज-पुरुष' के **मुख ब्राह्मण** में अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, अज्ञान-प्रतिकार और ज्ञान-प्रतिपादन इत्यादि की शक्ति निहित कर दी गई है।

तदनन्तर दूसरा स्थान, न्याय के स्थापन और अन्याय के दूरीकरण का है। इसके लिए व्यक्ति को बाहु-शक्ति से युक्त किया गया है। बाहु (arm) =शस्त्रधारण और शस्त्र द्वारा **अन्याय पर आक्रमण** तथा **न्याय का संरक्षण** दोनों क्षत्रिय में निहित कर दिये गये हैं। इस संस्थान के बिना, **समाज पुरुष** के **मुख, उदर और चरण** [ब्राह्मण-वैश्य-शूद्र] अपने कार्य सम्पन्न न कर पाएंगे। राष्ट्र की दण्ड-शक्ति के सुव्यवस्थित रहने पर ही इन तीनों की लक्ष्यसिद्धि सम्भव है। उस शक्ति को क्षत्रिय में निहित कर दिया गया है।

तृतीय स्थान—अन्न-जलादि जीवन-सुविधाओं के स्थापन और उनके अभाव के दूरीकरण का है। इसके लिए व्यक्ति को अर्थ-संचय के प्रतीक [उदर] को नियुक्त कर दिया गया है। अन्नसंचय, अभाव-प्रतिकार और भाव-प्रतिपादन-शक्ति उदर रूप वैश्य में निहित कर दी गई है। इस शक्ति के बिना 'समाज पुरुष' की **मुख-बाहु-चरण** [ब्राह्मण-क्षत्रिय-शूद्र]—रूप अंगत्रयी अपने कार्य-सम्पादन में सक्षम न हो सकेगी। राष्ट्रीय अर्थ-शक्ति के सुदृढ़ होने पर भी वर्णत्रयी का स्वसाध्यसम्पादन सम्भव है। वह अर्थशक्ति वैश्य में निहित की गई है।

[ग] अधिकार—

वर्णों का यह **शक्ति-प्रतिमान** उनके **अधिकारों का जनक** है। [१] "विद्याव्यसनी, ज्ञानप्रसारक और सद्भाव-विस्तारक ब्राह्मण वर्ण को समाज ने मुख्यता प्रदान की है—गौरव प्रदान किया है, किन्तु उसे धनसंचय, ऐश्वर्य-विलास तथा राज्यशासन के अधिकार से मुक्त रक्खा है"।

[२] "अन्याय-प्रतिकार तथा न्याय-प्रतिपादन में प्राणों की आहुति देने वाले व्यक्ति के हाथ में शासन-व्यवस्था सौंपी गई है। उसे प्रभुत्व प्रदान किया गया है और असद्धनन तथा सत्प्रतिष्ठापन के द्वारा स्वप्रभाव स्थापित करने का अवसर दिया है किन्तु आदर, उसे विद्याव्यसनियों से न्यून और लक्ष्मी, सम्पत्ति-निर्माताओं से अल्प दी गई है"।

[३] सम्पत्ति उत्पन्न करने वालों को धनसंचय और ऐश्वर्योपभोग का अधिकार दिया है, किन्तु उन्हें विप्रवत् गौरव और क्षत्रवत् प्रभुत्व नहीं दिया गया। यदि ऐसा न किया जाता तो किसी एक ही वर्ग में शक्ति के निहित हो जाने से अव्यवस्था, अनुशासनहीनता और अत्याचार प्रवृत्त हो जाते। यही

उनकी यथायोग्य दक्षिणा है। इसी की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपने-अपने **'वर्ण'** का वरण किया है।

अधिकार-परिभाषा—

किसी पदार्थ को उपयोग में लाने के लिए समाज जिस व्यक्ति को जिस अंश तक स्वतन्त्रता देता है उस अंश तक उसका उस पदार्थ पर अधिकार कहा जाता है। देखना यह है कि अधिकारों का आधार क्या हो ? इस विषय में इस समय तक दो पक्ष प्रचलित हैं—

[क] **जन्माधिकारवाद—**

[ख] **श्रमाधिकारवाद—**

जन्माधिकारवाद—

[१] जन्माधिकारवादियों का कहना है कि परमात्मा ने जिस मनुष्य को जिस कुल में जन्म दे दिया है उसे, उस कुल में जन्म लेने के कारण अपने पिता तथा अन्य **'पूर्वजों की सम्पत्ति, सुविधा, अवसर तथा जीवन-साधनों के उपयोग करने का जन्मसिद्ध अधिकार** है।

इस जन्माधिकारवाद के विषय में क्या कहा जाय ? वर्त्तमान युग की सभी विपत्तियों का मूल कारण यह जन्माधिकारवाद ही है। **उन्नति के दो मूलमन्त्र हैं—एक 'भय' और दूसरा 'उत्साह'।** समाज से **'भय'** और **'उत्साह'** को समाप्त कर देने के लिये—जन्माधिकारवाद से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं सोचा जा सकता। विशेषकर **'भय'** का तो इसमें सर्वथा लोप ही हो जाता है। यदि सम्पत्ति-शाली पिता के पुत्र को यह **'भय'** न हो कि दुरुपयोग करने पर उसकी सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है और **जन्मना शूद्र** को यह **'उत्साह'** न हो कि वह योग्यता-सम्पादन करके उन्नति प्राप्ति कर सकता है—[उच्चतर वर्णाधिकार को पा सकता है] तो सामाजिक उन्नति के सम्पूर्ण मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।

इसलिए: **'भय' तथा 'उत्साह' दोनों का बाधक होने के कारण जन्माधिकारवाद समाजकल्याण का विघातक है'।** उसके द्वारा संसार का सुखी हो सकना असम्भव है।

श्रमाधिकारवाद—

[२] किसी पदार्थ पर किसी का अधिकार क्यों कर ?? इस विषय में **दूसरा वाद श्रमाधि-कारवाद** है। श्रमाधिकारवादियों का कथन है कि जिस **'किसी व्यक्ति ने सम्पत्ति के उत्पन्न करने में श्रम किया है उसका उस पर स्वतः-सिद्ध अधिकार है**—किन्तु यह बात भी युक्ति की कसौटी पर सर्वथा खरी नहीं उतरती। प्रायः देखा गया है कि यदि कोई व्यक्ति श्रमोपार्जित सम्पत्ति का दुरुपयोग करने लगे तो उसको समाज-विधान ऐसा करने से रोकता है। श्रमाधिकारवादी कहता है—**'यह मेरी कमाई है मैं इसे जैसे चाहूं फूंकूं"**। उसका यह कहना ठीक ऐसा ही है जैसे कोई आत्महत्या करने वाला व्यक्ति कहे कि यह शरीर मेरा है, मैं इसे रखूं चाहे फूंकूं। जिस प्रकार आत्महत्या करने वाले को, राजनियम के आधीन, अपने अधिकार के दुरुपयोग करने से रोक दिया जाता है उसी प्रकार स्व-श्रमोपार्जित सम्पत्ति के भी दुरुपयोग करने पर उसे रोक दिया जाना चाहिये।

सदुपयोगवाद—

[३] इसके लिए तृतीय सिद्धान्त है—**सदुपयोगवाद**। किसी सम्पत्ति पर अधिकार का आधार **सदुपयोग** हो। न **जन्माधिकारवाद**, न **श्रमाधिकारवाद**, अपितु **सदुपयोगवाद** हो। इसी **'सदुपयोग-वाद'** का द्वितीय नाम **वर्णव्यवस्था** रक्खा जा सकता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि जन्म अथवा

श्रम का योग्यता के निर्णय में कोई स्थान नहीं इसका अर्थ उलटे यह जरुर है–कि जन्म तथा श्रम भी सदुपयोग की सम्भावना में सहायक हों। जिस मनुष्य ने आयुर्वेद की विद्या का अभ्यास किया है और उसके गृह पर कई पीढ़ियों से यह कार्य चला आता है तो उसकी योग्यता के बढ़ने की सम्भावना निःसन्देह अधिक है। और जिस व्यक्ति ने कोई पदार्थ, श्रम द्वारा अर्जित किया है उसके द्वारा उसके दुरुपयोग की सम्भावना बहुत कम है। यह सब होते हुए भी इसके अधिकार का आधार 'सदुरुयोग' ही है और **'सदुपयोग की सम्भावना ज्ञान और आत्मसंयम के संयोग में ही है।**

सारांश—

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति आत्मबुद्ध होकर समाज-पुरुष का **मुख-बाहु-ऊरु-पाद** में से कोई एक अंग बनना वरण करे। वह **मुख** बने तो **समाज पुरुष** का, **बाहु** बने तो **समाज-पुरुष** की, **ऊरु-उदर** बने तो **समाज पुरुष** का **और चरण** बने तो समाज-**पुरुष** के। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का मुख बोले तो समाज का मुख बनकर, बाहु उठे–परिपालन रत हो–तो समाज की भुजा बनकर, ऊरु उदर आयात और निर्यात करे तो 'समाज पुरुष' का, उदर बनकर, और यदि चरण गतिस्थित करें तो 'समाज-पुरुष' के चरण बन कर; जिससे कि **'समाज - पुरुष के सहस्रशीर्षाक्षपाद् स्वरूप** का प्रत्यक्ष किया जा सके तब सूक्त के शब्दों में कह सकेंगे **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ऊरू तदस्य यद् वैश्य : पद्भ्यां शूद्रो अजायत।**

व्यक्ति इस साधना को यहां तक बढ़ा सकते हैं कि वे अपने को 'समाज-पुरुष' के ही मुख, बाहु, ऊरु और पाद न समझें, अपितु 'सर्वातिशायी पुरुष' के मुख, बाहु, ऊरु और पाद समझें। ब्राह्मण बोले तो परमात्मा का मुख बन कर बोले, क्षत्रिय भुजा उठाए तो परमेश्वर की भुजा बन कर वैश्य संचय करे तो परमात्मा का उदर बनकर और शूद्र गति स्थिति करे तो परमात्मा के चरण बनकर। तब जो स्वरूप होगा वही जो सूक्त के प्रथम मन्त्र में वर्णित है—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'।

नवम अध्याय

चरम लक्ष्य

पुरुषसूक्त की विवेचना करते हुए अभी तक 'पुरुष का स्वरूप और पुरुष की षोडश कलाएं, पिण्ड और ब्रह्माण्ड का ऐक्य, विविध तत्त्वों का ज्ञान, पुरुष का 'सर्वहुत् यज्ञ'-स्वरूप, यज्ञरूप परमात्मा से स्थूल सृष्टि और ज्ञान की उत्पत्ति तथा पुरुष की समाजरूपता आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

त्रिलोकी के समस्त पदार्थ जीवों के भोगापवर्ग के लिए हैं।[1] पुरुषसूक्त के [पूर्व पृष्ठों में] कृत विवेचन में मुख्य-रूप से उन तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है जो कि भोग से सम्बद्ध हैं। यह कैसे सम्भव था कि पुरुषसूक्त में भोग का तो वर्णन हो और अपवर्ग (=मोक्ष) का न हो? परम आह्लाद का विषय है कि इस सूक्त में अनुपम शब्दों में पुरुष के परम प्रयोजन—परम-पुरुषार्थ अपवर्ग का भी वर्णन किया गया है। अतः अब आगे के पृष्ठों में सूक्त-प्रोक्त मोक्ष-विषयक भावों का विवेचन करना उचित है।

'मोक्ष' ही परम पुरुषार्थ है—

सभी शास्त्रकार इस विषय में एकमत हैं कि **मोक्ष**, मानव-जीवन का **अन्तिम ध्येय है। मोक्ष को ही मुक्ति, दुःखात्यन्त-निवृत्ति, निःश्रेयस्, अपवर्ग, अमृतत्व, परमपद**-प्राप्ति आदि विविध पर्यायों से अभिहित किया गया है। **सर्वदुःखों का समूल उच्छेद और अचिन्त्य शक्ति परमेश्वर का साक्षात्कार ही मोक्ष है।** यही वास्तविक परम **पुरुषार्थ है** सूक्त के शब्दों में यह **पुरुषायण** है। पुरुषार्थ और पुरुषायण दोनों पद समानार्थक हैं। इन पदों में पुरुष शब्द के साथ वर्त्तमान '**ऋ**' और '**अय**' दोनों धातुएं गत्यर्थक हैं। यदि विचार किया जाय तो पुरुषार्थ का ठीक-ठीक अर्थ भी इसी रूप में घटित होता है कि जो इस शरीर रूपी पुर में शयन करता है, उस पुरुष के लिए जो प्राप्तव्य-गन्तव्य-पुरुष' है वही परम पुरुषार्थ है। सूक्त के शब्दों में वही **एकमेव पुरुषायण है**···**नान्यद्-अयनम्** है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय—

'पुरुषेण अर्थ्यते इति पुरुषार्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुरुष के द्वारा जो अभ्यर्थित है वह पुरुषार्थ है; और यह—**धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप से—चार प्रकार** का है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुष-द्वारा क्यों अभ्यर्थित हैं—अब प्रसंगात् इस विषय पर विचार कर लिया जाय।

पुरुष क्या है? इस प्रश्न का समाधान द्वितीय अध्याय में द्रष्टव्य है। पुरुषार्थ का विवेचन करते हुए पुनः पुरुष का कुछ भिन्न स्वरूप क्या हो सकता है?—प्रसक्त प्रश्न यह है। हम पहले दरशा

---

१. **भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। यो० सू० २.१८.**

आए हैं कि पुरुष प्रजापति की प्रतिमा है : प्रजापति ने शरीर-रचना के अनेक प्रयोगों के बाद, जब पुरुष का निर्माण किया तब उसने समझा कि हाँ, जो वस्तु इष्ट थी, वह बन गयी—**'पुरुषो वाव सुकृतम्'** । अतएव पुरुष को प्रजापति के निकटतम प्रतिरूप कहा गया है ।

वस्तुतः 'पुरुष का स्वरूप क्या है' ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि—**शरीर, मन, बुद्धि, और आत्मा**—[इन चारों की] समष्टि की संज्ञा ही पुरुष है । पुरुष के इन चारों अंगों की संसिद्धि के लिए, जिन अर्थों [साधनों] की अपेक्षा है वे [पुरुषार्थ] भी चार ही हैं—**धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष**, इन्हीं का नाम पुरुषार्थ है । शरीर के लिए अर्थ, मन के लिए काम, बुद्धि के लिए धर्म और आत्मा के लिए मोक्ष की नितान्त आवश्यकता है । इनमें से अन्तिम मोक्ष केवल पुरुषार्थ नहीं अपितु परम पुरुषार्थ है । पुरुष के लिए जो परमार्थतः अपेक्षित है वह परम पुरुषार्थ है और शेष-मात्र पुरुषार्थ हैं । **मोक्ष** शब्द का अर्थ है **'छूट जाना'**—**'मुच्यते सर्वेभ्यो बन्धनेभ्यो यत्र स मोक्षः'**—वह अवस्था कि जिसमें समस्त बन्धनों से छूट जाना हो,, मोक्ष है । इसकी मुक्ति संज्ञा भी इसी हेतु से है ।[1]

यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह बन्धन किसका है ? जिससे छूटने की बात कही गई है । इसका संक्षिप्त समाधान है—वह बन्धन है अर्थ और काम का । शेष सभी बन्धन इन दोनों का ही परतर विस्तार हैं । अतः स्पष्ट हो गया कि मोक्ष एक 'अवस्था-विशेष' का नाम है, जहां अर्थ और काम का बंधन नहीं रहता—

दुःखत्रय और त्रिवर्ग से निवृत्ति—

इस समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि धर्म, अर्थ, काम-रूप त्रिवर्ग पुरुषार्थ हैं और मोक्ष परम पुरुषार्थ है ।[2] मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसमें सभी सहमत हैं । सांख्य ने मोक्ष को **अत्यन्त पुरुषार्थ** कहा है । पुरुष-सूक्त ने इसे ही **'अनन्य पथ'** अथवा **अनन्य पुरुषायण** कहा है । पुरुषार्थ के बारे में मतवैभिन्य अवश्य है । धर्म-अर्थ-काम-रूप त्रिवर्ग को पुरुषार्थ मानते हैं । सांख्य [आध्यात्मिक, आधिदैविक; आधिभौतिक-रूप] त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को पुरुषार्थ मानता है ।[3] पुरुष-सूक्त में **मृत्यु-अतिक्रमण** को पुरुषार्थ माना है ।[4] उपरि दृष्टि से देखने में यह भेद भले ही प्रतीत होता हो, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इन तीनों में भी विशेष अन्तर नहीं है । धर्मार्थ-काम-रूप त्रिवर्ग जहाँ सुख-रूप है वहाँ अत्यन्त कष्ट-साध्य होने से दुख-रूप भी है ।

सांख्य ने त्रिविध दुःखों का विभाजन आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नाम से किया है । इस त्रिक को व्यक्ति-पुरुष' में भी समझा जा सकता है । **पांचभौतिक शरीर** से होने वाली **अर्थ-रूप** [पंचविषय] उपलब्धियां **आधिभौतिक सुख-दुःख** कहलाएंगी । **दैव मन** से होने वाली **काम-रूप** उपलब्धियां **आधिदैविक सुखदुःख** कहलाएंगी । बुद्धि-तत्त्व से होने वाली **धर्माधर्म-रूप** उपलब्धियां **आध्यात्मिक सुखदुःख** कहलाएंगी ।

---

१. **मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः** । स० प्र० [नवम समुल्लास] पृ.३५६

२. **'धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते', 'मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते'** ।
म० भा० १२.१२३.४,५.

३. सां० सू० १.१

४. **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** ॥ यजु० ३१.१८.

त्रिवर्ग की सदोषता—

धर्म, अर्थ और काम-रूप त्रिवर्ग वस्तुत: निर्मल और निर्दोष हों तो परम पुरुषार्थ मोक्ष की अनायास ही सिद्धि हो सकती है, किन्तु त्रिवर्ग का अनुष्ठान करने वाले हम मनुष्यों की, अधिकतर विषयों की ओर स्वभावत: रागात्मिका प्रवृति होने के कारण—मनुष्य की कामात्मता होने के कारण संसर्ग के दोष से त्रिवर्ग में, एक-एक दोष-एक-एक मल घुस जाता है। धर्म में फल की अभिलाषा **सकामता रूप मल** है, जिसे **लोकैषणा** भी कहते हैं अर्थ में **निगूहन** [दान और भोग में उसे व्यय न करना] **रूपमल** है, जिसे **वित्तैषणा** भी कहते हैं एवं काम में, उस पर अधिकाधिक **मोह** होना-**रूप मल** है जिसे **पुत्रैषणा** भी कहते हैं।

मोक्ष के लिए त्रिवर्ग के अनुष्ठान का प्रकार दूसरा ही है अन्यथा यह मल और दोष युक्त होने के कारण दु:खरूप और बन्धक ही है।

अर्थ—

त्रिवर्ग में दूसरा स्थान **अर्थ** का है। वैसे तो **'इन्द्रियों के जो विषय हैं वे 'अर्थ' कहलाते हैं,** जैसे कि **'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः'**[1] इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में कहा गया है। परन्तु सभी भोग्य पदार्थ, इन्द्रिय विषय होने से **अर्थ** शब्दवाच्य हैं। ये भी रचना के एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनके विना रचना एक क्षण भी स्थित नहीं रह सकती। ये **नियन्त्रित** होने पर मनुष्य के धर्म के एक अंग अभ्युदय का सम्पादन करते हैं, परन्तु जब ये धर्म सुनियन्त्रित नहीं होते तब ये अनर्थ बनकर बड़ी हानि पहुंचाते हैं। इनकी ओर से बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। असावधान पुरुष को यह झटिति अपना दास बना लेते हैं। यही शब्द-स्पर्शादि विषय-रूप अर्थ, अनर्थ का कारण बन जाते हैं—**'शब्दस्पर्शादयो ह्यर्था मर्त्येऽनर्था इव स्थिताः। येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्।'**[2] और ये अर्थ अनर्थ बनकर जो रूप धारण करते हैं, उनको भी ज़रा देखिए—**'स्तेयं हिंसाऽनृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः। मदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च। एते पञ्चदशानर्था अर्थमूला मता नृणाम्।'**[3]

धर्मनियन्त्रित अर्थ ही पुरुषार्थ का अंग है और धर्मविहीन अर्थ अनर्थ ही है। धर्म ही हमें बतलायेगा कि किस समय और कितनी मात्रा में और किस अवस्था में अर्थों का उपयोग मनुष्य के लिए उचित है। महर्षि मनु ने सहस्रों वर्ष पूर्व कितना स्पष्ट कहा है कि जो मनुष्य अर्थ और काम में आसक्त हैं, उनके लिए धर्म ज्ञान का विधान नहीं है, क्योंकि उनके अन्दर धर्म-ज्ञान की रुचि नहीं है।[4] अत: इस अर्थ अंग के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अर्थ धर्माविरुद्ध होने से जहाँ सुख का उत्पादक है वहाँ धर्म-विरुद्ध होने से दु:खों का जनक और अनेक अनिष्टों का उत्पादक है। त्रिविध दु:खों की भूमिका भी यही है। त्रिविध दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति रूप पुरुषार्थ और त्रिवर्ग की अत्यन्त निवृत्ति-रूप पुरुषार्थ दोनों में सामंजस्य है, कोई भिन्नता नहीं।

काम—

तीसरा वर्ग काम है। काम के सम्बन्ध में बहुत सी मान्यताएं प्रचलित हैं कारण यह है कि कई भाई शास्त्र के विरोधाभासी वचनों का समाधान किये बिना, किसी एक वचन को आधार बना कर अपना मत निर्धारित कर लेते हैं।

---

१. क० उ० १३.१०. २. मै० उ० ४.२. ३. भागवतपु० ११।२३।१७-१८.

४. **अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते॥ मनु० २.१३.**

भगवद्गीता में अर्जुन के इस प्रश्न पर कि **'मनुष्य पाप कर्म क्यों करता है'** श्री कृष्ण ने कहा कि **'काम एषः क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः'**[1] काम मनुष्य को पाप में लगाता है, अतः **'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'**[2] काम-रूपी शत्रु को जीतो। इसी प्रसंग में बतलाया गया है कि **'काम'** मनुष्य के साथ तीन प्रकार से रहता है। एक अग्नि और धूम के सम्बन्ध की तरह अर्थात् जिस प्रकार धुएं के साथ अग्नि का नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार देही के साथ काम का सतत सम्बन्ध है। दूसरा गर्भ और जरायु के सम्बन्ध के समान अर्थात् जिस प्रकार जरायु गर्भ की रक्षा के लिए गर्भ के साथ नियत किया गया है, उसी प्रकार काम भी व्यक्तित्व की रक्षा के लिए आवश्यक है। बिना कामना के कोई भी 'देही' न जी सकता है और न बढ़ सकता है, अतः यह भाव कि **'काम एक निरर्थक वस्तु है'**, सर्वथा त्याज्य है।

तीसरा उदाहरण है कि जैसे दर्पण पर मल चढ़ जाता है वैसे काम भी देहात्मा पर छाकर उसकी आकृति, तथा प्रकृति को लुप्तप्राय कर देता है अर्थात् यह तीसरी स्थिति का काम त्याज्य है। इसी को लक्ष्य में रखकर, श्रीकृष्ण ने कहा **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'**[3] यही भाव मनुस्मृति में देखने को मिलता है कि काम का होना अत्यन्तावश्यक है, इसके बिना कोई भी कर्म या चेष्टा संभव नहीं।[4] परन्तु साथ ही कामात्मता काम का दास होना, अच्छा नहीं,[5] कामादि का सम्यक् रूप से अर्थात् धर्मानुकूल रूप से वर्तने से मनुष्य को अमरलोकता और मोक्ष भी मिलता है और इस संसार की सब कामनाएं भी अर्थात् अभ्युदय भी। काम का मूल संकल्प है। संकल्पत्व चेतनत्व का धर्म है। बिना संकल्प के चेतना का कुछ अर्थ ही नहीं। संकल्पहीन चेतना या तो सुषुप्ति में अथवा प्रमादावस्था में ही होती है। जागृतावस्था में ही संकल्प रहता है इसी को वेद में इस प्रकार कहा है—

''कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।'[6]

साथ ही उपनिषद् भी कहती है—**'प्रजाकामो वै प्रजापतिः।'**[7]

उपर्युक्त वचनों से सिद्ध है कि काम भी मन का एक आवश्यक भाव है। इसके बिना मन कुछ भी नहीं कर सकता। अत्र प्रश्न होता है कि जब काम एक आवश्यक अंग है, तब गीता में यह क्यों कहा गया है कि **'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।'**[8] अर्थात् व्यक्ति स्थितप्रज्ञ तब बनता है जब सारी मनोगत कामनाओं को छोड़ देता है। इसका समाधान यह है कि यह कथन युक्तियुक्त ही है। बहुधा **'मनोगतान्'** विशेषण पर ध्यान नहीं दिया जाता अर्थात् मनोगत काम ही त्याज्य हैं दूसरे नहीं। 'गीता' में ही अन्यत्र कहा है कि **'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।'**[9] अर्थात् काम इन्द्रियां, मन और बुद्धि के अधिष्ठान वाला है। सभी का अनुभव है कि पहले इन्द्रियां किसी कामना की ओर जाती हैं, वे अपने साथ

---

१. भ० गी० ३.३७. २. भ० गी० ३.४३. ३. भ० गी० ७. ११.

४. **अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्॥ यद्यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥** मनु० २.३.

५. **कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता॥** मनु० २.४.

६. ऋ० १०.१२९.४.

७. प्र० उ० १.४. ८. भ० गी० २.५५. ९. भ० गी० ३.४०.

मन को मिलाये हुए होती हैं। अब यदि बुद्धि सात्त्विकी है अर्थात्–**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी**[1] अर्थात् जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य भय-अभय, तथा बन्ध और मोक्ष को जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी होती है ऐसी बुद्धि जब मनोगत कामनाओं को अशुद्ध देखेगी, तब वह उनको रोक देगी। अतः मनोगत कामनायें, वहीं रहेंगी जिन पर बुद्धि की छाप नहीं लगी और वह काम, धर्म-नियन्त्रित न होने से सर्वथा त्याज्य होगा।

सुख-दुःख विवेचन और मोक्ष—

आचार्य यास्क ने सुख शब्द का निर्वचन करते हुए '**सुखं कस्मात् ? सुहितं खेभ्यः**'[2] लिखा है। सुख को क्यों कहते हैं कि वह इन्द्रियों के लिए अतिशय हितकर होता है। इससे ज्ञात हुआ कि जो इन्द्रियों के लिए अतिशय हितकर हो वह '**सुख**' और जो अहितकर हो वह '**दुःख**'। यास्क ने इन्द्रिय-वाचक '**ख**' शब्द से **सु** और **दुर्** उपसर्ग लगाकर **सुख** तथा **दुःख** शब्दों का निर्माण किया है। **इन्द्रियों** की '**ख**' संज्ञा उनके गोलकों को लक्ष्य में रखकर की गई है। यही वे छिद्र और आकाश हैं जिनमें से आत्मा देखता, सुनता, चखता है। इन्द्रियों के लिए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषय जब हितकर होते हैं तो सुखदायी और जब अहितकर होते हैं तो दुःखदायी हो जाते हैं। जीवात्मा इन्द्रियों के माध्यम से अपने आपको विषयों से बांधता है। ये ही वे मृत्युपाश हैं जिनसे मुक्त हुए विना अमृतत्व का लाभ नहीं हो सकता। विषय शब्द, बन्धनार्थक **षिञ्** धातु से बना है। पाश और पशु शब्द भी बन्धार्थक **पश**[3] धातु से बने हैं '**विशेषेण सिनन्ति बध्नन्तीति विषयाः।**' 'जो विशेषतया [विना रज्जु के] बांध डालें' उन्हें विषय कहते हैं। इसलिए उपनिषद् के ऋषि ने लिखा—

स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बाहर की ओर खोला है, इसलिए ये बाहर की ओर देखती हैं। अन्दर की ओर नहीं।[4] कोई विरला ही धीर व्यक्ति होता है जो अमृतत्व की इच्छा करता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों को लौटा कर आत्मा का प्रत्यक्ष करता है।

इससे यह ज्ञात हुआ कि मृत्यु का सम्बन्ध बाहर से है और अमृत का अन्दर से। अमृत का पान करने के लिए बाह्य विषयों से सम्बन्ध तोड़ना होगा। बाह्य विषय ही मृत्यु के फैलाए हुए पाश हैं और इन पाशों में जो आबद्ध है वह व्यक्ति पशु है। जो इन पाशों से मुक्त हो वही धीर और मुक्त है।

सुख और दुःख भी पाश ही हैं। ये सर्वथा त्याज्य हैं। अतः वह अवस्था प्राप्त करनी इष्ट है कि जिसमें न दुःख [अ-क] हो न सुख। [क]—न [अ] क **अमृतत्व, आनन्द, स्वः संन्यास।**

सुख और दुःख का सम्बन्ध—

सुख-दुःख का अविनाभाव सम्बन्ध है। सुख के साथ दुःख जुड़ा हुआ है। फूल के साथ कांटा लगा रहता है। व्यक्ति जिस विषय में अभी सुख अनुभव कर रहा है अगले ही क्षण उसी में दुःख अनु-

---

१. भ० गी० १८.३०. २. निरु० ३.१३

३. निरुक्तकार ने दृशिर् धातु से 'पशु' की व्युत्पत्ति की है तथा अन्यत्र पश **बन्धने से व्युत्पत्ति की गई** है। वस्तुतः दर्शन में जो इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष है, वही बन्धन है ऐसा मानने पर दोनों में से किसी धातु से व्युत्पत्ति कर लेने पर कोई अन्तर नहीं आता।

४. **पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥** क० उ० ४.१.

भव करता है। जिह्वा का विषय रस है, रस का आस्वाद लेने के लिए उसे रसगुल्ला चखने को दिया गया कुछ ही क्षण के बाद उसे उसने अन्दर की ओर धकेल दिया कदाचित् उस पर यह प्रतिबन्ध हो कि न इसे निकालो ही, न इसे निगलो ही। तो इतनी भयंकर ग्लानि होगी कि सब कुछ वमन हो जाए। कुछ क्षण पहले जो वस्तु सुखदायी थी, वह दुःखदायी हो गई, क्योंकि सुख और दुःख का अविनाभाव सम्बन्ध है।

प्राणियों की सुखाभिलाषा—

चौरासी लाख योनियों से भरपूर इस अपार संसार में, अनेक प्रकार के सुख-दुःख हैं और एक से एक बढ़कर हैं। ये दो अतिप्रबल पदार्थ सबको अनुभूत हो रहे हैं। यद्यपि सुख को ही सब चाहते हैं, दुःख को कोई भी नहीं चाहता तथापि प्रकृति का ऐसा अटल नियम है कि किसी न किसी रूप में सभी को दुःख भोगना ही पड़ता है। दुःख का स्पर्श हुए विना कोई भी रह नहीं सकता। सभी को कम-अधिक दुःख-सुख भोगना ही पड़ता है। सुख-दुःख का भोग सबका एक सा नहीं रहता है। सुख के लिये प्राणि-मात्र का हृदय अत्यन्त लालायित रहता है। अतएव सुख प्राप्ति के लिये ही, प्रत्येक प्राणी उद्योग या पुरुषार्थ करता है जिसका जैसा पुरुषार्थ रहता है, उसको वैसा मिलता है। अस्तु।

सुख की दुःखशबलता—

वैसे तो प्राणिमात्र ही सुख का पिपासु है, पर मनुष्य का हृदय तो उसके लिये और भी अधिक लालायित रहता है। मनुष्य को साधारण सुख रहने पर भी अपने से विशेष सुखी व्यक्ति को देखकर उसके सुख की लालसा होने लगती है और उस विशेष सुख के न मिलने पर, उसकी लालसा बनी रहने से, अपना पहले का सुख भी दुःख में परिणत हो जाता है। इसीलिये विवेकी पुरुषों की दृष्टि में सांसारिक सुख भी परिणाम में नीरस होने के कारण दुःख रूप ही है।[1] इसलिए मनुष्य को सांसारिक सुख के अनुभव के समय जो-जो वस्तु सुख रूप प्रतीत होती है, सूक्ष्म विचार करने पर वह सुख भी वास्तव में दुःख-रूप ही है अर्थात् विषय सुख नित्य सुख नहीं है, वह क्षणिक और दुःखमिश्रित है, क्योंकि विषय-सुख को प्राप्त करने में पहले बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है और प्राप्ति के पश्चात् भी उसके [विषय-सुख के] अनुभव के समय प्रायः कोई न कोइ दुःख वहां बना रहता है। संसारी पुरुष को ऐसे सुख का अनुभव कभी नहीं होता कि जिसके अनुभव के समय में बाह्य या आन्तरिक कोई एक भी दुःख स्वल्प रूप में भी न रहे। इसके साथ ही साथ सांसारिक सुख परिणाम में विनाशी है। विषय-सुख का नाश अवश्य-म्भावी है और विषयसुख, का नाश होते समय बड़ा दुःख होता है। अतः वह सुख भविष्य के दुःख का हेतु है और वर्तमान समय में भी उसके विनाश की संभावना का भय बना रहता है। इस प्रकार विषय से प्राप्त होने वाला सुख, दुःख से ओतप्रोत [दुःख से सना हुआ] है। ऐसा सुख परिणाम में शोक रूप में परिणत हो जाता है। अत एव तत्त्व-विवेकी पुरुषों को मोक्ष सुख ही अभिलषित है। मोक्ष-सुख ही नित्य सुख है वही समस्त दुःख-निवृत्ति-स्वरूप है, अतएव—

"तस्यैव हेतोः प्रपतेत कोविदो न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः। तल्लभ्यते दुःखवदन्यतासुखं कालेन सर्वत्र गभीर रंहसा", अर्थात्—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह उसी वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करे, जो तृण से लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त समस्त ऊंची नीची योनियों में भटकने पर भी [आवागमन]

---

१. **परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥** यो० सू० २.१५.

स्वयं नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि संसार के विषय-सुख तो, जैसे बिना प्रयत्न किये दुःख अपने आप मिलते हैं वैसे ही कर्म के फल रूप में अचिन्त्य-शक्ति की प्रेरणा से सब को सर्वत्र स्वभावतः ही मिल जाते हैं। ऐसे सुखों में मनुष्य का क्या विशेष कल्याण हो सकता है मोक्ष प्राप्त होने से ही मनुष्य का निश्चित कल्याण होता है इसलिए मोक्ष का नाम 'निःश्रेयस्' भी है।

निःश्रेयस् पद और मोक्ष—

निःश्रेयस् शब्द का अर्थ है—**"निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्"**। श्रेय कहते हैं कल्याण को, जिसमें जीव का कल्याण निश्चित है अर्थात् जिसमें जीव के कल्याण का किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है, उसे **'निःश्रेयस्'** कहते हैं। अर्थकाम में यह बात नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक आदि दुःखों से युक्त प्राणी को, बड़े भारी कष्ट से यदि कुछ अर्थ और काम प्राप्त हो भी जाएं, तो उनसे जीव का क्या लाभ हो सकता है? जिसको कि हर समय आध्यात्मिक आदि दुःख घेरे रहते हैं। ये दुःख लौकिक साधनों से दूर नहीं किये जा सकते ऐसी परिस्थिति में, मनुष्य को भारी-भारी कष्टों के द्वारा यदि कुछ सांसारिक सुख और उनका साधन प्राप्त भी हो जाय तो उनसे उसको वास्तव में क्या सुख हो सकता है? जिस शरीर के उपभोग के लिये वह सामग्री प्राप्त है, वह तो स्वयं अनेक आधि-व्याधियों से घिरा हुआ है—

"आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित्। मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम्[1] अत एव शास्त्रों में उसी सुख के लिये सर्वथा प्रयत्न करना वास्तविक पुरुषार्थ माना गया है, जिसमें न्यूनाधिकता न हो, द्वैत न रहे, लालसा न रह जाय और जो किसी प्रकार भी परिवर्तनशील न हो, जिसका कभी विनाश न हो वही मोक्ष या परम पुरुषार्थ है। इससे इतर जितने भी इहलोक या परलोक के सुख हैं, वे सब तारतम्य से दूषित हैं अर्थात् उनमें पारस्परिक न्यूनाधिकता रहने से वे सभी दुःख-रूप ही हैं, वास्तविक सुखरूप नहीं हैं और स्त्री, पुत्र, धन-धान्य आदि अनित्य विषयों में उत्पन्न होने के कारण सब क्षणिक एवं अनित्य हैं।

नैयायिकों की भी मान्यता है कि सुखों का लाभ ही मोक्ष नहीं है, क्योंकि सुख तो सांसारिक विषय होने से दुःख-समन्वित हैं इस कारण वे दुःख की कोटि में ही आ गए। इस कारण दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। इसके लिये सर्वदर्शन-संग्रहकार ने एक तप्त लोह-पिण्ड का उदाहरण दिया है—व्यक्ति उस पिण्ड को स्वर्ग समझ कर पकड़ने का प्रयत्न करेगा लेकिन उसको वहां सुख की अपेक्षा दुःख ही मिलेगा। अर्थात् जिसे वह सुख समझे हुए था वह तो दुःख ही है।

तत्त्वज्ञान और मोक्षप्राप्ति—

शास्त्र में कहा है कि तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस् [मोक्ष] प्राप्त होता है, किन्तु तत्त्व-ज्ञान होने के बाद ही निःश्रेयस् नहीं मिल जाता। अपितु तत्त्व-ज्ञान अनन्त **'दुःख, जन्म, प्रवृति, दोष और मिथ्याज्ञान**—इन सब में उत्तरोत्तर कारण का क्रमशः विनाश होने पर उस कारण के पूर्व अव्यवहित-रूप से विद्यमान [अनन्तर] कार्य का भी विनाश होता है और अन्त में अपवर्ग [मोक्ष] की प्राप्ति होती है।[2]

दुःखादि की शृङ्खला में एक कार्य है दूसरा कारण। **दुःख, जन्म के कारण, जन्म, प्रवृत्ति के कारण, प्रवृत्ति, दोष के कारण और दोष, मिथ्याज्ञान के कारण हैं।** उत्तरोत्तर वस्तु [कारण] के विनाश

---

१. भा० पु० ७.१३.३०.

२. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। न्या० सू० १.१.२.

से पूर्व-पूर्व वस्तु [कार्य] का विनाश होगा **कारणाभावात्कार्याभावः।**[1] मिथ्याज्ञान नष्ट होने से इसके अनन्तर आने वाले दोष का नाश होगा। दोषनाश से प्रवृत्तिनाश। प्रवृत्तिनाश से जन्मनाश और जन्म-नाश से दुःखनाश। **दुःख से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही 'अपवर्ग' है।'** इस प्रकार तत्त्वज्ञान और अपवर्ग के बीच कई सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं।

दुःख के चार कारण

मिथ्याज्ञान—

मिथ्याज्ञान का अर्थ है कि अनात्मा अर्थात् देह आदि को आत्मा मान लेना। उसके पश्चात् [देह्यादि के] अनुकूल पड़ने वाले पदार्थों में राग [प्रेम] उत्पन्न होता है तथा उसके प्रतिकूल पड़ने वाले पदार्थों से द्वेष होता है। वास्तव में आत्मा के प्रतिकूल या अनुकूल कुछ भी नहीं है। मिथ्याज्ञान के कारण शरीरादि के अनुकूल या प्रतिकूल पड़ने वाले पदार्थों को हम यह कह बैठते हैं कि अमुक वस्तु मेरी आत्मा के अनुकूल है या प्रतिकूल है। आत्मा तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण से भिन्न पदार्थ है। जिसमें एक दोष लग जाने पर उसी के अनुषंग से दूसरे दोष भी लग जाते हैं, किन्तु वास्तव में वे आत्मा के स्वरूप के साथ नहीं हैं। मिथ्याज्ञान होने के कारण दोष भी आत्मा पर लग जाते हैं। यदि कारण नष्ट हो जाए तो दोष भी अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

दोष—

रागादि दोषों के पारस्परिक बंधे रहने के कारण देखा जाता है कि **मोह से ग्रस्त प्राणी, राग** [attachmant] धारण करता है। रागयुक्त प्राणी **मोह** धारण करता है। **मूढ़** [मोह-ग्रस्त] **क्रोध** करता है। **क्रोध** ग्रस्त **मोह** करता है आदि। वात्स्यायन कहते हैं कि इसी मिथ्याज्ञान से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष का अधिकार होने से असत्य में ईर्ष्या, माया [कपटाचार] और लोभ आदि भी दोष कहलाते हैं। दोषों से भर जाने पर शरीर वाणी या मन में प्रवृत्ति जागती है जिससे नाना प्रकार की क्रियाएं उत्पन्न होती हैं। प्रवृत्ति अच्छी भी होती है [जिससे धर्म होता है], बुरी भी [जिससे अधर्म होता है]। प्रवृत्ति के साधन भूत धर्म और अधर्म को भी प्रवृत्ति शब्द में ही रखते हैं। इस प्रवृत्ति से ही निन्दित या पूजित जन्म मिलता है। **शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि के निकाय [समूह] से बने हुए प्रादुर्भाव को ही जन्म कहते हैं। जन्म से दुःख** होता है। मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख तक जो भी धर्म हैं वे अविच्छिन्न हैं। उनका प्रवर्तन ही संसार है। इनका विनाश होने पर अपवर्ग मिलता है।

प्रवृत्ति—

तब उन दोषों [राग-द्वेषादि] से प्रेरित होकर प्राणी, निषिद्ध कार्यों में शरीर से हिंसा, स्तेय [चोरी] आदि कार्य, वाणी से झूठ बोलना आदि तथा मन से परद्रोह आदि आचरण करता है। यह प्रवृत्ति पाप की है जिसे **अधर्म** कहते हैं। सब प्रशस्त कार्यों में शरीर से दान, दूसरों की रक्षा आदि करना, वाणी से हितकर बातें बोलना, सत्य बोलना आदि; मन से किसी की हिंसा न करने की इच्छा आदि। यह **पुण्य** की प्रवृत्ति है और इसे ही **धर्म** कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों रूपों [धर्म और अधर्म] में प्रवृत्ति ही है।

---

१. वै० सू० १.२.१.

जन्म—

उसके बाद अपने अनुरूप प्रशस्त या निन्दित जन्म होता है अर्थात् पुनः शरीर आदि [शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्राण] का प्रादुर्भाव होता है। [शरीरादि संयुक्त] जन्म मिल जाने पर दुःख होता है, जिसमें प्रतिकूल [मन के विरुद्ध] वेदना या अनुभव होता है और बाधा मिलती है जो [हमारी इच्छा के विरुद्ध है]। ऐसा कोई नहीं मानेगा कि जो व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होता उसे दुःख की प्राप्ति होगी। [प्रवृत्ति के अभाव में आवृत्ति नहीं होती, दुःख की संभावना भी नहीं रहती। इस दशा में दुःख का अनुभव नहीं होता।] तो मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख तक ये सारे धर्म अविच्छिन्न [बिना रुके हुए] रूप से चलते रहते हैं। 'संसार शब्द का अर्थ भी यही है कि वह घटी वक्र [रहट] की तरह लगातार चलता रहता है [**संसरतीति संसारः**]।

जब कोई पुरुषश्रेष्ठ अपने पुराकृत [पूर्वजन्म में अर्जित] पुण्यों के परिणामस्वरूप आचार्य के उपदेश से इस समूचे संसार को दुःख का आयतन [समूह] एव दुःख से परिपूर्ण देखता है तो इन सभी वस्तुओं को हेय [त्याज्य] समझता है। उसके बाद इस संसार को उत्पन्न करने वाले [अविद्या-आदि निर्वर्तक] कारणों का निवारण चाहता है। कारणशृङ्खला की इस निवृत्ति का उपाय **तत्त्वज्ञान** ही है।

जो व्यक्ति चार विधाओं [प्रकारों=उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा, विभाग] में बांटकर प्रमेय की भावना [ज्ञान] करता है उसमें तत्त्वज्ञान अर्थात् सम्यक्-दर्शन उत्पन्न होता है। तत्त्वज्ञान होने से मिथ्या-ज्ञान दूर होता है। मिथ्याज्ञान के हटने पर दोष दूर होते हैं। दोषों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति नष्ट होती है। प्रवृत्ति के दूर होने पर जन्म का विनाश होता है। जन्म के अपाय के बाद दुःख की आत्यन्तिक [पूर्णरूप से] निवृत्ति होना ही अपवर्ग है। निवृत्ति तभी आत्यन्तिक कहलाती है, जब निवृत्ति होने वाले [दुःख] के सजातीय [किसी भी दूसरे दुःख] की फिर वहां उत्पत्ति न हो। इसलिए परमर्षि गौतम का सूत्र ही है—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञान में से उत्तरोत्तर वस्तु का अपाय होने पर, उसके अनन्तर [पूर्व-पूर्व] की वस्तु का अपाय होता है तथा अन्त में अपवर्ग मिलता है।[1]

प्रकृति-त्याग से मोक्षप्राप्ति और पुरुषसूक्त—

केनोपनिषद् के ऋषि ने कहा **'भूतेषु भूतेषु विविच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति'**[2] धीर मनुष्य भूतभूत में विवेचन करके इस लोक से छूट कर अमृत हो जाते हैं। इसमें इतनी ही बात ग्राह्य है कि उस ही व्यक्ति को अमृतत्व का लाभ होता है, जो वस्तु-वस्तु में, भूत-भूत में, प्राणी-प्राणी में विवेक कर लेता है। प्रत्येक तत्त्व को पृथक्-पृथक् जान लेता है। पुरुष-सूक्त में प्रकृति और पुरुष का पृथक्-पृथक् विवेचन है, जिसका वर्णन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है। पुरुष-सूक्त में ही नहीं, वेदों में प्रकृति शब्द का प्रयोग अनुपलभ्य है। किन्तु उसके लिए **तमस्, सलिल, आपः, महत्, योनि,** और **विराट्** आदि शब्द आते हैं। पुरुष-सूक्त में **प्रकृति** के लिए **भूमि, दशांगुलम्, इदं सर्वम्, एकपाद्, इह, विराट्, तम** आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें **प्रकृति** और **विकृति** दोनों ही सम्मिलित हैं। सूक्त के प्रथम मन्त्र के अन्तिम चरण में तीन सत्ताओं की ओर संकेत है—

[१] **दशांगुल** [पुरुष-१]
[२] **दशांगुलम् अतिष्ठत्** [पुरुष-२]
[३] **दशांगुलम् अत्यतिष्ठत्** [पुरुष-३]

---

१. न्या० सू० १.१.२ २. के० उ० २.५

गीता की परिभाषा में कहना हो तो पहले को **'क्षेत्र'** दूसरे को **'क्षेत्रज्ञ'** और तीसरे को **'सर्वक्षेत्र-क्षेत्रज्ञ'**। **दशांगुल** अर्थात् **क्षेत्र** जड़ है वह कुछ ज्ञान नहीं रखता। **'दशांगुलम् अतिष्ठत्' क्षेत्रज्ञ** है वह **अल्पज्ञ जीव** है और जो **क्षेत्र** और **क्षेत्रज्ञ** का—**'दशांगुलम्'** और **'दशांगुलमतिष्ठत्'** का ज्ञान रखता है, वह **परमात्मपुरुष** है **'दशांगुलम् अत्यतिष्ठत्'** है—**'सर्वक्षेत्र-क्षेत्रज्ञ'** है।

दशाङ्गुल और मृत्यु—

गीता की भांति पुरुष-सूक्त की भी अपनी ही परिभाषाएं हैं। जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है यहां का **'दशांगुल'** पद **प्रकृति** का, प्राकृत जगत् का दश-दश अंगुलियों वाले मनुष्य-देह का वाचक है। **'दशांगुलम् अत्यतिष्ठत्'** विशेषण दशांगुलम् का अतिक्रमण करके ठहरे हुए **'सर्वातिशायी पुरुष'** का वाचक है, जिसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् पुरुष कहा गया है और इन दोनों के मध्य स्थित तत्त्व को दश अंगुलियों के आश्रित ठहरा हुआ **'दशांगुलम् अतिष्ठत्'** कहा है। पहले को **भोग्य** दूसरे को **द्रष्टा** और दोनों के मध्यस्थ पुरुष को **भोक्ता** समझना चाहिए। इन तीनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाने से इन तीनों के स्वरूप का बोध हो जाने से, व्यक्ति मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है। मृत्यु-अतिक्रमणरूप उद्देश्य **भोक्ता-पुरुष** का है, **द्रष्टा-पुरुष** का नहीं। उसके लिए कह दिया गया है **'अति-अतिष्ठत्'** वह तो अतिक्रमण करके ठहरा ही हुआ है। मृत्यु-अतिक्रमण तो भोक्तापुरुष को करना है। इस प्रकार **'दशांगुलम् अत्यतिष्ठत्'** और **'मृत्युम् अत्येति'** दोनों मन्त्र चरणों को सम्मुख रखकर विचारा जाय तो ज्ञात होगा कि **दशांगुल** और **मृत्यु** एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। मृत्यु का अतिक्रमण करना दशांगुल का अतिक्रमण करना है। परमात्म-सत्ता के लिए यह नहीं कहा जा सकता। वह तो दशांगुल अथवा मृत्यु का अतिक्रमण किए हुए है। यह कर्मात्मा अथवा भोक्ता पुरुष का काम है कि वह मृत्यु का अतिक्रमण करे, दश अंगुलियों वाले देह का अतिक्रमण करके ठहरे।

दशाङ्गुल और सांख्य के पच्चीस तत्त्व—

पुरुष-सूक्त का दशांगुल शब्द पारिभाषिक शब्द है। दश अंगुलियों में से यदि दोनों अंगुष्ठों को पृथक् रखा जाय तो आठ अंगुलियां अवशिष्ट रहती हैं। इन आठ अंगुलियों के प्रति-अंगुलि तीन-तीन पर्व हैं, जो चौबीस संख्यात्मक हैं। ये चौबीस पर्व प्रकृति और प्रकृति के विकार ही हैं। दर्शन-शास्त्र में भी पुरुषातिरिक्त जगत् को २४ तत्त्वों में विभक्त किया गया है।[1] रह गए दो 'अंगुष्ठ-मात्र' जो कि पुरुष-सूक्त की दृष्टि से द्विविध हैं, एक **'दशांगुलम् अतिष्ठत्'** दूसरा **'दशांगुलम् अत्यतिष्ठत्'**। मुट्ठी बनाते हुए अंगूठे का स्थान द्विविध होता है. कभी तो अंगुलियों के मध्य और कभी अंगुलियों के ऊपर। अंगुलियों के अन्दर बन्धा हुआ अंगुष्ठ, भोक्ता पुरुष का द्योतक है और अंगुलियों के ऊपर स्थित अंगुष्ठ द्रष्टा पुरुष का द्योतक है। दोनों ही हाथों की आठ अंगुलियों के २४ पर्व 'प्रकृति-पुरुष' के वाचक हैं। तद्यथा

[१] **महत् [=बुद्धि]**
[२] **मन [स्थिर विज्ञान की संज्ञा 'बुद्धि' और विज्ञान की संज्ञा 'मन' है]**
[३] **अहंकार**
[४-८] **पांच तन्मात्राएं [शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध]**

---

१ **सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्करोऽहङ्कारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।** —सां० सू० १.६१

[६-१३] पांच ज्ञानेन्द्रिय
[१४-१८] पांच कर्मेन्द्रिय
[१६-२३] पांच महाभूत

इन तेईस तत्त्वों के समूह को त्रयोविंशक कहा जाता है इन्हीं में अव्यक्त [प्रधान या प्रकृति] को जोड़ देने से तत्त्वों का चतुर्विंशक रूप बन जाता है। अंगुष्ठद्वय से सांख्य का २५वां तत्त्व [भोक्तृपुरुष और ईश्वरपुरुष] गृहीत है।

इस प्रकार पृथक्-पृथक् तत्त्वों का ज्ञान हो जाने से मृत्यु अतिक्रमण सम्भव है। दशांगुलम् की विशद व्याख्या चतुर्थाध्याय में द्रष्टव्य है।

आत्मा का चरम लक्ष्य मोक्ष—

आत्मा का चरम लक्ष्य परम पुरुष को जानना और पाना है। परम पुरुष को पा लेने से व्यक्ति मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है। पुरुषमेधाध्याय के द्वितीय अनुवाक में यही कुछ कहा है—**'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**।[1] इस मन्त्र में निम्न बातें अतिस्पष्ट रूप से कही गई हैं—

१. ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है।
२. ज्ञाता को ज्ञेय का पूर्णतया ज्ञान है।
३. ज्ञाता को ज्ञेय का ज्ञान ही नहीं अपितु उसने ज्ञेय का लाभ भी किया है।
४. ज्ञाता कोई आप्त है जो अत्यन्त विश्वास पूर्वक कह रहा है कि 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।
५. [न अन्यः] अनन्य पथ एक ही है।
६. तुम्हारे अयन के लिए एक-मात्र महान् पुरुष आधार है।
७. तुम नर [पुरुष] हो वह नरों का अयन नारायण [पुरुषायण] है।
८. महान् पुरुष 'तमस्' से परे है।

—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि तीन सत्ताएं पृथक्-पृथक् हैं : मन्त्र का **'अहम्'** पद ज्ञाता का, **'महान् पुरुष'** ज्ञेय का, **'वेद'** और **'विदित्वा'** क्रिया [विद् ज्ञाने और विद्लृ लाभे धातु से निष्पन्न होने के कारण] ज्ञान और लाभ दोनों का द्योतक है। पुनश्च ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता है। सदा से ऐसा ही है और ऐसा ही रहेगा। ज्ञाता का चरम लक्ष्य, ज्ञेय को जान लेना और पा लेना है। इसी का नाम मृत्यु का अतिक्रमण और अमृत का लाभ है। ज्ञाता अपने स्वरूप और ज्ञेय के स्वरूप को पृथक्-पृथक् करके जानता है। स्वरूप [स्वस्वरूप] का ज्ञेय में लय कर देना मोक्ष नहीं है। ज्ञाता का ज्ञेय को अपना बना लेना चरम लक्ष्य है। अन्तर वही हुआ कि पहले तो तम या प्रकृति 'अयन' थी और अब महापुरुष 'अयन' है। पहले प्रकृति के पाशों में आबद्ध था अब उसके पाशों से मुक्त हो चुका है। प्रकृति-पाशों से मुक्त होना मुक्ति है। यह जानकर आश्चर्य होता है कि वेद में मुक्ति और मोक्ष पद का प्रयोग नहीं। मुंच क्रिया का तो प्रयोग बहुत बार हुआ है। महामृत्युंजय मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध मन्त्र चरण में कहा—'मृत्योः मुक्षीय मामृतात्'।[2]

---

१. यजु० ३१.१८
२. यजु० ३.६०.

मृत्यु से मोक्ष, अमृत से नहीं—

मैं मृत्यु से छूट जाऊं अमृत से नहीं। इसमें भी दो पक्ष पृथक्-पृथक् हैं—एक मृत्यु के बन्धन से छुट जाना और दूसरा अमृत के बन्धन में जुड़ जाना। मुक्ति के लिए मृत्यु से छूट जाना पर्याप्त है। मुक्ति का निर्वचन, स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार सत्यार्थ प्रकाश में किया है—**"मुञ्चन्ति पृथक् भवन्ति जनाः यस्यां सा मुक्तिः"**—**"मुक्ति"** उस अवस्था विशेष का नाम है जिसमें व्यक्ति बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। दूसरी बात तो इसके साथ स्वतः अनुस्यूत है कि मुक्ति, [महापुरुष] को जानकर और पाकर ही संभव है। उसको जान लेना, पा लेना ही अमृतत्व है। वैदिक मुक्ति में ज्ञाता का अस्तित्व पृथक् बना रहता है, ज्ञेय का पृथक्। दोनों के मध्य 'तम' का आवरण है। उसे ज्ञान के द्वारा हटा देना मात्र आवश्यक है। उसके पीछे परमात्मा के दर्शन कर लेना मुक्ति है।

भगवान् पतंजलि ने मुमुक्षु की इसी स्थिति का वर्णन **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"** सूत्र में किया है। इसी को हम मन्त्र की भाषा में परिवर्तन करके **"तदा वेत्तुः महति पुरुषेऽयनम्"** कह सकते हैं। सूक्तगत मन्त्र के शब्दों में ज्ञाता 'महापुरुष' के स्वरूप में 'अयन' बना लेता है।

ज्ञेय का स्वरूप—

सूक्तगत मन्त्र में ज्ञेय का स्वरूप अति स्पष्ट है। ज्ञाता को उसका स्पष्ट ज्ञान है उसी का कथन है, **"तमसः परस्तात्-आदित्यवर्णं महान्तं पुरुषम्।"** वह 'महान् पुरुष' तम से परे है। इसका स्पष्टीकरण कठोपनिषद् के ऋषि ने इस प्रकार किया है कि "इन्द्रियों से अर्थ परे हैं, अर्थों से परे मन है, मन से बुद्धि पर है, बुद्धि से महानात्मा पर है और महानात्मा से अव्यक्त पर है और अव्यक्त से पुरुष पर है। **पुरुष से कुछ भी पर नहीं। वह पराकाष्ठा है और वही परागति है।**[२]

भगवान् कृष्ण ने गीता में भी अर्जुन के प्रति उपदेश देते हुए, जहां इन्द्रियों को उत्कृष्ट बताया वहां इन्द्रियों से उत्कृष्ट मन को, मन से उत्कृष्ट बुद्धि को और बुद्धि से उत्कृष्ट उसको अर्थात् 'महापुरुष' को बताया है।

इस प्रकार बुद्धि के द्वारा उस परम को जानकर और अपना आत्मा के द्वारा आत्मा को स्तम्भित करके दुरासद कामरूप शत्रु को मार डाल।[३]

गीता के उपर्युक्त वर्णन में जहाँ **'तमसः परस्तात् महान् पुरुष'** की व्याख्या है वहां **'तमेव विदित्वा'** का समर्थन **'बुद्धेः परं बुध्वा'** श्लोक का प्रथम चरण है। इस बात में दोनों सहमत हैं कि मृत्यु-अतिक्रमण के लिए बुद्धि के द्वारा परम पुरुष को जानना परम आवश्यक है। कठ ऋषि ने इसी बात

---

१. यो० सू० १.३

२. **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥**
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
क० उ० ३.१०,११

३. **इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥**
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
—भ० गी० ३.४२,४३.

को और स्पष्ट करते हुए कहा—'दृश्यते त्वग्रचया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'[1] जहां ज्ञाता को सूक्ष्मदर्शी होना वहां उसकी बुद्धि अग्रगामिनी होनी चाहिये और सूक्ष्म भी होनी चाहिये तब कहीं वह पुरुष को जान सकता है।

कठ ऋषि ने 'निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते'[2] में 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'[3] का ही स्पष्टीकरण किया है। 'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्'[4] में महान्तं पुरुषं' का स्पष्टीकरण है। 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्र, 'तमसः' का स्पष्टीकरण है और उससे पर परम पुरुष अशब्द है, अस्पर्श है, अरूप है, अव्यय है, अगन्ध है और नित्य है।

मोक्ष का स्वरूप—

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह आवश्यक है कि मोक्ष के स्वरूप पर विचार कर लिया जाय। वेद में मुक्ति-विषयक अनेक प्रमाण हैं। यद्यपि वेद में मुक्ति और मोक्ष शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, तथापि मुक्ति के अभिप्राय से मुञ्च धातु का बहुत बार प्रयोग हुआ है। महामृत्युंजय मन्त्र नाम से प्रसिद्ध मन्त्र[5] का अन्तिम चरण इस बात का साक्षी है। मोक्ष-विषयक अनेक प्रमाणों में उसका स्थान प्रमुख है। यहां कुछ प्रमाण दिए जाते हैं जिनसे ज्ञात होगा कि वेद में मोक्ष का स्वरूप क्या है।

१. **उर्वारुकमिवबन्धनात् मृत्योर् मुक्षीय मामृतात्।**[6]
२. **येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।**[7]
३. **यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।**[8]
४. **इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशुः।**[9]

प्रथम मन्त्र में मृत्युबन्धन से पके हुए उर्वारुक [=खरबूजे] के समान छूटने और अमृत से जुड़े रहने की बात कही है। द्वितीय मन्त्र में शरीर को छोड़ कर अमृत की नाभि, आनन्द के केन्द्र स्व-र्लोक की प्राप्ति करना लिखा है। तृतीय एवं चतुर्थ मन्त्र में केवल अमृतत्व के उपयोग की बात कही गई है।

इनसे मोक्ष का स्वरूप अतिस्पष्ट हो गया है। न केवल बन्धन-निवृत्ति को ही मोक्ष कहा जा सकता है, और न ही केवल अमृतत्व लाभ को। यदि बन्धन-निवृत्ति मात्र ही मुक्ति होती, तो 'माऽमृतात्' कहने की क्या आवश्यकता थी ? फिर तो **'उर्वारुकमिवबन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय'** कह देना पर्याप्त था। और द्वितीय मन्त्र में **'अमृतस्य नाभि-स्वः आरुरुहुः'** कहने की भी आवश्यकता न थी, **'शरीरं हित्वा'** कह देना पर्याप्त था। इन दोनों मन्त्रों में बन्धन की निवृत्ति-पूर्वक आनन्द-प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है।

मृत्यु-बन्धन से निवृत्ति की प्रक्रिया और अमृतत्व लाभ—

प्रथम मन्त्र में दी गई उपमा से मोक्ष के स्वरूप पर और भी उत्तम प्रकाश पड़ता है। वहां छः बातें मुख्य रूप से कही गई हैं—

---

१. क० उ० ३.१२, २. क० उ० ३.१५.
३. यजु० ३१.१८. ४. क० उ० ३.१५.
५. **त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥** यजु० ३.६०.
६. यजु० ३.६०. ७. अथर्व० ४.११.६,
८. यजु० ३२.१०, ९. ऋ० १०.६२.१.

१. मृत्युबन्धन से निवृत्ति।
२. अमृतत्व की प्राप्ति ।
३. अमृत-लाभ के लिए मृत्युबन्धन आवश्यक है।
४. रस से तृप्त होना, कहीं से ऊना न रहना अमृत-लाभ है ।
५. बन्धन-निवृत्ति के लिए परिपक्व होना आवश्यक है ।
६. पूर्ण परिपक्व होने के लिए मृत्युबन्धन आवश्यक है ।

उर्वारुक [खरबूजे] का उदाहरण—

उर्वारुक=खरबूजा फल डाल से उसी समय छूटता है जब पूर्ण परिपक्व हो जाता है । कच्ची अवस्था में तो तोड़ कर अथवा काटकर ही अलग किया जा सकता है, स्वत: मुक्त नहीं होता । इसीलिए खरबूजे फल की उपमा दी गई । इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप में यह बात स्पष्ट है कि मुक्ति [मोक्ष] स्वत: एवं सहज होनी चाहिए। सहज-मुक्ति के लिए पूर्ण परिपक्व होना आवश्यक है । पूर्ण परिपक्व होने का अभिप्राय अमृतत्व से परिपूर्ण होना है । इस उपमा से यह स्पष्ट है कि **'उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्यो-र्मुक्षीय मामृतात् ।'** खरबूजा फल जहाँ डाल से मुक्त हुआ, वहां अमृतत्व से परिपूर्ण था । डाल से छूटने के पश्चात् फल में कहीं बाहिर से न तो रस के आने की सम्भावना है, न गंध के और न माधुर्य के । जो कुछ भी फल में रस, गन्ध व माधुर्य है वह तो डाल से पृथक् होने से पूर्व ही प्राप्त हो चुका है । इस उपमा के स्पष्टीकरण से मोक्ष के स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी, कि अमृतत्व की प्राप्ति मृत्यु-बन्धन से मुक्त होने से पहले ही हो लेनी चाहिए ।

'मृत्योः मुक्षीय मामृतात्' प्रार्थना से तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुमुक्षु की दो अवस्थाएं साथ-साथ चल रही हैं—मुमुक्षु के मन में दो अवस्थाओं का साथ-साथ विमर्श हो रहा है । एक से वह मुक्त होना चाहता है और दूसरी से युक्त होना चाहता है । मुमुक्षु को मृत्यु और अमृत दोनों का स्वरूप स्पष्ट हो चुका है । मृत्युबन्धन तभी तक उपादेय था जब तक अमृतलाभ नहीं हुआ था । जब अमृत की उपलब्धि हो गई तो मृत्युबन्धन त्याज्य है ।

बन्धन की स्थिति में ही अमृतत्वलाभ—

जब तक मृत्यु का बन्धन है तब तक ही अमृतत्व की उपलब्धि का उपाय कर लेना चाहिए । मृत्यु-बन्धन का आधार शरीर है । फलितार्थ यह हुआ कि शरीर के रहते-रहते अमृतत्वप्राप्ति का उपाय कर लेना होगा, अन्यथा मृत्यु-बन्धन से मुक्त होने के पश्चात्, न तो अमृत-प्राप्ति के साधन ही होंगे न अमृत-लाभ ही होगा । उपनिषद् के ऋषि ने क्या ही अच्छा कहा है—**'इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति । न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः'**[1] ।

—**यदि यहां ही उसे जान** लिया तब तो ठीक, यदि नहीं जाना, तो महान् विनाश है ।

सूक्त-गत मन्त्र में भी इसी आशय को एक विशिष्ट प्रकार से व्यक्त किया है । **'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'**—उसको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है । मृत्यु-अतिक्रमण से पूर्व उसे जानना आवश्यक है। जीवात्मा की एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि जब वह एक ओर मृत्यु अतिक्रमण कर रहा होता है दूसरी ओर उसको [ब्रह्म को] जान रहा होता है। मृत्यु-अतिक्रमण से पूर्व उसे

---

१. के० उ० २.५.

नहीं जाना तो उस समय तक उसे न जान पाएगा जबतक पुनः मृत्यु-बन्धन में न आए। मृत्यु-अतिक्रमण से पूर्व उसे जानना आवश्यक है और मृत्यु-अतिक्रमण के लिए मृत्युबन्धन आवश्यक है।

इन पंक्तियों में मृत्यु एवं अमृत पर प्रकाश डाला गया है। इन दोनों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए **'स्वः'** तथा **'स्वर्ग'** का विवेचन करना समीचीन होगा।

स्वर्ग एवं स्वः—

जैसे पहले कहा जा चुका है **'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः'**; **'लोकोऽयं पुरुषसम्मितः'** इन दो महनीय सूत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है—**'इमे आश्रमाः लोकपुरुषसम्मिताः'** व्यक्ति-जीवन के चार आश्रम और लोक दोनों, पुरुष सम्मित हैं। लोकदृष्ट्या चतुर्थ लोक 'स्वः' है और पहले तीन लोक स्वर्-ग हैं। शरीर में मस्तिष्क-भाग 'स्वः' लोक है और नीचे के तीनों स्वर्-ग हैं। उसी प्रकार आश्रमों में— संन्यास आश्रम 'स्वः' लोक है और पूर्व के तीन आश्रम स्वर्-ग हैं। **स्वर्ग** और **स्वः** के बीच एक रेखा है जो दोनो को एक दूसरे से पृथक् करती है—मस्तिष्क और मुख के मध्य कोई एक ऐसी रेखा है जो इन दोनों को पृथक् करती है। संन्यास और पूर्व तीन आश्रमों के मध्य कोई एक ऐसी रेखा है जो दोनों को पृथक् करती है। यदि व्यक्ति उस रेखा के निचली अवस्था में है तो उसे **'स्वर्ग'** प्राप्त है, यदि उसका उत्थान रेखा से ऊपर हो गया है तो वह स्वर्-लोक का वासी है। **सुख-विशेष** का नाम **'स्वर्ग'** है और **आनन्द** का **नाम** 'स्वः' है। मनुष्य-देह में भ्रू-रेखा से नीचे इन्द्रिय-गोलक हैं। पंच-ज्ञानेन्द्रिय और पंचकर्मेन्द्रियों के सभी आवास के नीचे की ओर हैं। इन्द्रियों के लिए वैदिक साहित्य में 'ख' शब्द का प्रयोग हुआ है,[1] उसके आगे 'सु' और 'दुर्' उपसर्ग लगाने से सुख और दुःख शब्द वनते हैं। सुख का निवर्चन करते हुए आचार्य यास्क ने कहा—**'सु-हितं खेभ्यः'**[2] जो इन्द्रियों के लिए अत्यधिक हितकारक है उसका नाम सुख है। उसके विपरीत जो इन्द्रियों के लिए अतिशय अहितकर है उसका नाम दुःख है। इसलिए विभाजक रेखा से नीचे सुख और दुःख का साम्राज्य है। सुख और दुःख दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। दुःख की मात्रा कम हो और सुख की मात्रा अधिक हो उस अवस्था का नाम स्वर्ग है। लेकिन जिसमें न दुःख हो न सुख हो उसका नाम स्वः है। 'स्वः' पद का अर्थ करते हुए भट्टवार्त्तिककार और विज्ञानभिक्षु ने क्या ही अच्छा कहा है—

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।'[3]

'स्वः' की प्राप्ति और उसका स्थान—

देह में मस्तिष्क ही वह लोक है जहां स्वः एवं स्वर्ज्योति की प्राप्ति होती है। यहीं पर वह गुहा है जहाँ पर आत्मा और ब्रह्म दोनों का निवास है। यहीं पर उसे ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। उसके साक्षात्कार होने का अभिप्राय यही है कि एकमात्र स्वः पदास्पद ब्रह्म को जान लेने और मान लेने से जीव स्वः पदास्पद हो जाता है। वह आनन्द पदास्पद हो जाता है। ऐवे आनन्द का जो न कभी दुःख से ग्रस्त होने वाला और न क्षयिष्णु हो। इसी पद पर स्थित होकर आत्मा 'स्वस्थ' कहलाता है। ऐसा ही व्यक्ति मुक्त कहलाता है। ऐसा मुक्त व्यक्ति वेद के शब्दों में कहता है **'पृथिव्या अहम् उदन्तरिक्षमारुहम् अन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्, दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्।'**[4] मैं **पृथिवी लोक**=नाभिकेन्द्र से उत्क्रमण करके

---

१. [क] पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः ॥ क० उ० ४.१. २. निरु० ३.१३,
[ख] कः सप्त खानि विततर्द शीर्षणि। अथर्व० १०.२.६.

३. सां० त० कौ०। प्रभा टी० में उद्धृत (पृ० ८१) ४. यजु० १७.६७

अन्तरिक्षलोक **में आरोहण कर गया।** मैंने [अन्तरिक्ष लोक] अर्थात् **हृदय-राज्य** का उपभोग किया, फिर वहाँ से उत्क्रमण कर **द्युलोक** में मैं आ गया। मैंने देवों अर्थात् इन्द्रियों के लोक में रहकर, उनके लिए जो अतिशय हितकारक था उन सुखों का उपभोग किया। मैंने स्वर्ग की प्राप्ति की और इस उत्तम तृतीय धाम में वास करते हुए, दुःख से सम्भिन्न और दुःख से ग्रस्त न होने वाले सुख-विशेष की झांकी ली और उसके पृष्ठ से स्वर्लोक की ज्योति को प्राप्त कर लिया। मैंने जान लिया कि—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः॥'[1]

मेरे देह-मन्दिर में भी एक सीमा थी जिसे अब मैंने प्राप्त कर लिया है। मैंने इन्द्रियातीत गति को पा लिया है। मैं कह सकता हूं—**'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्'**।

अब मेरा धाम, आनन्द धाम है। मेरा 'अशन' अमृत है मेरी संज्ञा 'मुक्त' है।

आश्रम-त्रयातिक्रमण और 'स्वः' की प्राप्ति—

इसी प्रकार वह व्यक्ति भी इस पद का अधिकारी हो सकता है—'स्वः' पदास्पद हो सकता है कि जिसने पहले तीन आश्रमों का अतिक्रमण कर लिया है, **पहले आश्रम भूलोक** को पार कर लिया है, **द्वितीय आश्रम गृहस्थ** में सुख-विशेषों को प्राप्त कर लिया है, तत्पश्चात् उससे अतिक्रमण कर **तृतीय लोक वानप्रस्थाश्रम** में उस सुख की झांकी देख ली है जो न तो दुःख से सम्भिन्न है और न जिसके दुःख से ग्रस्त होने की सम्भावना है। ऐसी स्वर्ज्योति के दर्शन करके [और उसके पृष्ठ से अतिक्रमण करके] ही वह स्वः-पदास्पद अथवा आनन्द पदास्पद हो गया है। अब वह अपने नाम के साथ आनन्द जोड़ सकता है, यही उसके जीवन का उत्थान और उत्क्रमण है।

अतिक्रमण और वरण—

इसमें एक बात ध्यान देने योग्य है कि व्यक्ति अपना उत्क्रमण करते हुए उस विभाजक रेखा पर खड़ा है, जहाँ उसके एक हाथ में 'स्वर्ग' है दूसरे हाथ में 'स्वः' है, एक हाथ में सुख-विशेष है दूसरे हाथ में आनन्द है। एक ओर मृत्यु की छाया है दूसरी ओर अमृतत्व की छाया है, एक ओर विषय-रस हैं दूसरी ओर अक्षय रस है। एक ओर 'तम' है दूसरी ओर 'स्वर्ज्योति' है। दोनों की ही एक समय में उपलब्धि है। उसे निर्णय करना है—'किसे छोड़ूं किसे पकड़ूं'। उसकी प्रार्थना है **'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय'**[2]। उसने निश्चय कर लिया कि **असत्, तमस्** और **मृत्यु** का अतिक्रमण करके **सत्, ज्योति** और **अमृत** का वरण करना है। इन्हें जानकर एवं प्राप्त करके ही वह असत् तम और मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है और कह सकता है **'अहम् तमसः परस्तात् महान्तं पुरुषं वेद,' 'तम् एव विदित्वा मृत्युम् अति एति।'**

यहां पूर्वपक्ष को मर्त्य और उत्तरपक्ष को अमृत माना है। पूर्वपक्ष को तम-अवस्था और उत्तरपक्ष को सत्त्व अवस्था माना है। जहाँ मृत्यु का अतिक्रमण आवश्यक है वहाँ तम को पार करना भी आवश्यक है। इसलिए वैदिक साहित्य में सर्वत्र मृत्यु को तरने और तम को पार करने की बात कही गई है।[3] तीनों ही स्वर्ग मृत्युमयी मात्रा वाले कहे गए हैं। परन्तु 'स्वः' को मृत्यु का स्पर्श नहीं होता।

---

१. क० उ० ३. १०, ११. २. बृ० उ० १. ३. २८.

३. **तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमाक्रमतां तृतीयम्।** अथर्व० ६.५.१.

उस स्थिति में पहुंचकर ज्ञानी कम्पायमान नहीं होता।[1]

अथर्ववेद में ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार करते हुए व्यक्ति उसके कैवल्यरूप को स्मरण करता है—'मेरा उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए नमस्कार है जिसके लिए केवल मात्र स्वः का प्रयोग किया जाता है। अब हमें 'स्वः' शब्द के अर्थ को समझने में किसी प्रकार की बाधा न होगी। केवल मात्र ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होने वाला लोकप्रचलित विशेषण है—'आनन्द'। और यह भी सर्वविदित है कि भूः भुवः स्वः व्याहृतियों का अर्थ क्रमशः सत्, चित् और आनन्द किया जाता है। अतः स्वः और आनन्द पर्यायवाची हैं। यही आनन्द तृतीय धाम का अमृत है। दूसरी ओर संन्यास की अवस्था भी आनन्द की अवस्था है। संन्यासियों का लोक स्वर्लोक है, उनका आश्रम संन्यास-आश्रम है और उनका धाम अमृत-धाम है।

इसके विपरीत सुख-दुःख, स्वर्ग [अर्थात् भोगों के साधनभूत], तीनों आश्रम और मृत्यु समानार्थक हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि 'आनन्द', 'स्वः', 'संन्यास' और 'अमृत' चारों पर्यायवाची शब्द हैं। जहां सुख-दुःख प्रभृति, मर्त्य पक्ष हैं, वहां आनन्द प्रभृति अमृत-पक्ष हैं। मर्त्य-पक्ष का तरण करके ही अमृत-पक्ष को प्राप्त किया जा सकता है और यही है परमधाम।

तृतीय धाम—

जिसे हम चतुर्थ लोक 'स्वः' लोक कहते आ रहे हैं उसे ही वेद में तृतीय लोक के नाम से भी अभिहित किया गया है। भूः, भुवः और स्वः रूप त्रिक सम्भवतः इस कल्पना का जनक है। इस तृतीय और चतुर्थ के विरोधाभास का कारण व्यक्ति के दो जन्म हैं। प्रथम जन्म को दृष्टि में रखकर लक्ष्य निर्धारित किया जाएगा तब हर प्रकार का विभाग चार-संख्या युक्त होगा। जब द्वितीय जन्म को दृष्टि में रखकर लक्ष्य निर्धारित किया जाएगा तब वही गणना तीन से की जाने लगेगी। इस कारण तृतीय-धाम कहें अथवा चतुर्थ धाम कहें कोई अन्तर नहीं।

उपर्युक्त वर्णन में पूर्वपक्ष को **'भोग'** और उत्तरपक्ष को **'अपवर्ग'** कहा जाता है। दृश्य जगत् की स्थिति, भोग और अपवर्ग के निमित्त ही है। सूक्त में भोग के लिए **'साशन'** और अपवर्ग के लिए **'अनशन'** पदों का प्रयोग हुआ है। जब जीवात्मा तृतीय धाम में अमृत को प्राप्त कर लेता है तो किसी भी प्रकार के **'अशन'** की आवश्यकता नहीं रहती। जीव की इस अवस्था का नाम **'अनशन'** अवस्था है। जब तक अमृत की उपलब्धि नहीं होती तब तक प्रत्येक इच्छा की पूर्त्यर्थ नाना विषयों का अशन करता है। इस अशन करने के कारण ही उस अवस्था का नाम **'साशन'** अवस्था है। शौनक ने अपने भाष्य में **साशन** और **अनशन** का यही अर्थ किया है—**'तस्मादेव पुरुषात् साशनानशने अभि साशनं स्वर्गं, अनशनं मोक्षम्। सर्वं जगत् स्वर्गं प्रति मोक्षं प्रति च तस्मादेव उत्पन्नमित्यर्थः' इति च।**[2]

पुरुष-सूक्त और मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य—

पुरुष-सूक्त में जीवन का चरम लक्ष्य निम्न-पदों में निहित है—'ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि'[3] विराट् पुरुष ने मनुष्य उत्पन्न किए और उनके दो उद्देश्य निश्चित किए—एक साशन दूसरा अनशन।

---

१. **तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता। सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः।** प्र० उ० ५.६.
२. यजु० ३१.४। उ० भा० में उद्धृत।
३. पु० सू० ४

'साशन'—

१. साशन का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने जीवन को ऐसा विकसित करे कि जहां पहुंचकर भोग के साधनों का किसी प्रकार से अभाव न हो। स्वर्ग भी उपभोग की ही अवस्था-विशेष का नाम है। इस अवस्था को हम 'अभ्युदय' कह सकते हैं अर्थात् सूक्त की परिभाषा में उसे साशन शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। तात्पर्य यह है कि ऐहिक अथवा सांसारिक उन्नति हम जहां तक कर सकते हैं वह सब कुछ मनुष्य-जीवन के एक भाग को पूर्णता की ओर पहुंचाने का मार्ग है। वह मार्ग पाप का नहीं है. इसलिए उस मार्ग पर चलने से निराशा का, उत्साह-हीनता का अथवा अपनी तुच्छता का अनुभव करने का कोई कारण नहीं दीखता। यह सब कुछ वेद-प्रतिपादित होने से धर्म-कोटि में आ जाता है।

अनशन—

२. दूसरा भाग अनशन का है। यह भी एक अवस्था-विशेष का बोधक है। इसके द्वारा 'साशन' की विपरीत दिशा में अग्रसर होने का संकेत किया गया है। जो काम 'साशन' अवस्था में किए जाते हैं, अब वे काम नहीं किए जा सकते। अन्यथा दोनों में कोई भेद नहीं हो सकता। दोनों शब्द एक दूसरे से पार्थक्य की सूचना देते हैं। एक शब्द है, 'साशन'—'अशन के साथ'। दूसरा शब्द है 'अनशन' अर्थात् अशन से रहित। अशन का अर्थ है भोग और अनशन का अपवर्ग। फलतः 'साशन' और 'अनशन' शब्द अभ्युदय और निःश्रेयस् अर्थ का निर्देश करते हैं।

जीवन के ये दोनों पक्ष जिन्हें **स्वर्ग** और **स्वः**, **भोग** और **अपवर्ग**, **अभ्युदय**, और **निःश्रेयस्**, **मर्त्य** और **अमृत**, **तम** और **ज्योति**, **साशन** और **अनशन**, कहा गया है, उनमें से **प्रथम पक्ष सुख-दुःख-समन्वित है और उत्तर-पक्ष आनन्द-युक्त है**—जिसमें न दुःख है न सुख। उसी को वेद की भाषा में **'नाकस्थिति'**[1] भी कहते हैं। भोग में जहां सुख है वहां दुःख अवश्य सम्मिलित है। अतः मनुष्य की उससे सन्तुष्टि नहीं होती। जिस सुख से उसकी सन्तुष्टि होती है उसी का नाम **आनन्द** है। लौकिक सुख, जिस सुख के अंश के तुल्य है ऐसा कोई महान् सुख अवश्य होना चाहिए। जीवात्मा में जिस प्रकार सर्वज्ञ-बीज निमित्त रूप से है और जिसकी अन्तिम पराकाष्ठा परमेश्वर में है, उसी प्रकार जीवात्मा में आनन्द-बीज भी किसी न किसी मात्रा में विद्यमान है। इस बीज की भी चरम सीमा परमेश्वर में ही है। इसीलिए उसे आनन्दमय कहते हैं।

जीवात्मा 'सत् चित्' है और परमात्मा 'सत्, चित्, आनन्द'। उसका प्रथम धाम सत्, द्वितीय धाम चित् और तृतीय धाम आनन्द है। वेद में इसी को 'अकाम, धीर और आनन्द से तृप्त' अमृत कहा गया है। अस्तु ब्रह्म आनन्दमय है। इसके इस आनन्द की अपेक्षा लौकिक सुख, दुःखमिश्रित होने से अत्यन्त तुच्छ हैं। अतः मनुष्य जहां व्यवहारतः लौकिक सुखों को चाहता है वहाँ परमार्थतः अलौकिक आनन्द को भी प्राप्त करना चाहता है। अतः 'स्वर्ग' से निवृत्ति और 'स्वः' की प्राप्ति करना उसका लक्ष्य है।

इस समस्त विवेचन का यह परिणाम निकला कि मनुष्य, अभ्युदय-रूप स्वर्ग की प्राप्ति करता है तत्पश्चात् उससे निवृत्त होकर आनन्दमय हो जाना चाहता है।

---

१. उत्तमं नाकं परमं व्योम ।। अथर्व० ११.१.३०

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में हमने पुरुषसूक्त में निर्दिष्ट मानवजीवन के चरम लक्ष्य का किंचित् विवेचन करते हुए मोक्ष का परम पुरुषार्थत्व, **दुःखत्रय** और **त्रिवर्ग** से निवृत्ति, त्रिवर्ग की सदोषता, अर्थ-काम-विवेचन, सुखदुःख-विवेचन और मोक्ष, सुखदुःख का सम्बन्ध, प्राणियों की सुखाभिलाषा, तत्त्वज्ञान और मोक्षप्राप्ति, प्रकृतित्याग से मोक्षप्राप्ति और पुरुषसूक्त, आत्मा का चरम लक्ष्य मोक्ष, ज्ञेय का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, स्वर्ग और स्वः, तृतीय धाम तथा पुरुषसूक्त और मनुष्य जीवन का लक्ष्य आदि-आदि विकार-बिन्दुओं का ग्रहण किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मनःस्थिति का सही विश्लेषण उसका आमूल परिवर्तन कर सकता है—नाऽन्यःपन्थाः । मनः-स्थिति ऐसी बन जाए कि **अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः** ॥ अथर्व. १०.४४॥

दशम अध्याय

उपसंहार

पुरुषसूक्त के अध्ययन से सम्भूत उपलब्धियां

सूक्त के इस विवेचनात्मक विशद अध्ययन से अनेक अनूठी उपलब्धियों का सम्भूत होना स्वाभाविक है। निदर्शनार्थं उनमें कतिपय उपलब्धियों का विवरण अन्त में प्रस्तुत है—

१. 'पुरुष'-तत्त्व की सर्वश्रेष्ठता—

पुरुष-सूक्त की विचारधारा पुरुष-केन्द्रिक है अर्थात् उसके प्रत्येक प्रतिपादन का मध्यवर्ती बिन्दु **'पुरुष'** है। उसकी दृष्टि में वह सब कुछ महत्त्वपूर्ण है, जिसका आराध्य **'पुरुष'** है। जिस कार्य का फल साक्षात् पुरुष [मानव जीवन] के लिए न हो वह उसे स्वीकार्य नहीं है। पुरुष-सूक्त [के इस दृष्टिकोण] का लक्ष्य है— **'पुरुष' की प्रतिष्ठा को परिस्थापित करना।** इसीलिए यहां जो कुछ कहा गया है, वह 'पुरुष' के लिए ही कहा गया है : यदि पुरुषसूक्त में ऋग्यजु:सामाथर्व नामक ज्ञान के आविर्भाव की बात कही गई है, तो उसका लक्ष्य है **'पुरुष'**; यदि ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र रूप अंगचतुष्टय से निर्मित समाज-रचना की बात कही गई है, तो वह भी **'पुरुष'** को अभिलक्ष्य करके, यदि यज्ञ का स्वरूप वर्णित किया गया है, तो उसका भी मुख्य केन्द्र है 'पुरुष'; और यदि मृत्यु-अतिक्रमणरूप अनन्य पथ की चर्चा की गई है, तो वह भी 'पुरुष' को ही लक्ष्य में रखकर। इस प्रकार पुरुष-सूक्त की पुरुष-केन्द्रिक स्थापना का अनन्य उद्देश्य है—**-पुरुष के गौरव की अभिवृद्धि' अतो ज्यायांश्च पूरुषः।**

प्रस्तुत स्थापना से व्यक्ति को जो महती उपलब्धि होती है वह है—**आत्मविश्वास।** उसे अभिप्रेरणा होने लगती है, कि विश्व में उसका भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह हीन नहीं है, तुच्छ नहीं है। सृष्टि-चक्र की गतिविधि का वही एकमात्र केन्द्रबिन्दु है। वह मात्र स्थूलशरीर नहीं है— रासायनिक प्रक्रिया द्वारा ९२ तत्त्वों का किसी प्रकार रचपच कर एक हो जाने वाला भौतिक तत्त्व-समूह नहीं है। **पुरुष तो बस 'पुरुष' ही है।** इस **पुरुष** को आवास के लिए जो देह रूप **'पुर'** मिला है, वह तो देवों के लिये भी स्पृहणीय है। स्रष्टा के द्वारा गौ, अश्व और पुरुषदेह के दिखाने पर, देवों को यह पुरुष-देह ही पसन्द आया और उन्होंने **'पुरुषो' वाव सुकृतम्,**[1] कहकर उसका सम्मान किया। देव ही क्यों स्वयं ब्रह्म को भी इससे उत्कृष्ट आवास नहीं मिला। प्राची-प्रतीची-दक्षिणा-उदीची आदि जितनी दिशाएं

---

१. ऐ० उ० २.३.

हैं सब पुरुष ही के भीतर हैं ! यही वह **ब्रह्मपुर** है जिसमें निवास करने के कारण ही वह ब्रह्म **'पुरुष'** [पुरिशय] कहलाता है—जो अमृत से घिरी हुई है, चारों ओर जिसका यश वितत है और जो अतिशय भ्राजमान है—[तेजोमय है, उस ब्रह्मपुरी में अपराजित नगरी में ब्रह्म ने आवास किया हुआ है] । पुरुष के लिए क्या यह कम गौरव की बात है ? पुरुष-सूक्त की यह देन व्यक्ति को प्राणवान् तथा आस्थावान् बनाकर उसके द्वारा समाज और विश्व को अनुप्राणित करने के लिए पर्याप्त है ।

२. 'दशांगुल' की प्राप्ति कर्मसिद्धि के लिये—

सूक्त ने जिस पुरुष को केन्द्रबिन्दु माना है, उसकी संज्ञा **'दशांगुल'** [पुरुष] है । दशांगुल-संज्ञा 'यथा कर्म तथा लाभ' इस दार्शनिक सिद्धान्त की ओर निर्देश है । यह भूमि **कर्मभूमि** है और ये दोनों दश अंगुलियों वाले अवयव **'कर'** हैं । पुरुष कर्म करने के लिए भेजा गया है । इन दश अंगुलियों वाले हाथों से पुरुष अपने भाग्य का विधाता बने । उसकी स्थिति दश अंगुलियों पर आधारित है, इसीलिए वह **'दशांगुलम् अतिष्ठत्'** है । इस बात का विश्लेषण 'चतुर्थ अध्याय' में किया गया है ।

जहां **'पुरुष'** संज्ञा, व्यक्ति को आत्मबल के गौरव पर प्रतिष्ठित करती है, वहां **'दशांगुल'** संज्ञा पुरुष के आत्मोद्धार का मार्ग प्रशस्त करती है । दश-अंगुलियों वाले हाथ पुरुष की सबसे बड़ी सम्पत्ति हैं । उनका उपयोग करने में वह स्वाधीन है । हाथों से काम करने का अर्थ, सब प्रकार के शारीरिक श्रम के प्रति पूज्य-बुद्धि और उसका सहर्ष स्वीकार है । विश्व-मानव के प्रति सूक्त का यह महान् सन्देश है कि दश-अंगुलियों वाले हाथ से बढ़कर और कोई उपलब्धि नहीं है । जब तुम इस महालाभ से युक्त हो, तो दीन क्यों बनते हो ? इसी एक लाभ का उचित उपयोग करके तुम स्वाभिमान की रक्षा कर सकते हो । स्वाभिमान के साथ जब तुम अपने हाथों का उपयोग करोगे, तभी सूक्त द्वारा दी गई दशांगुल-संज्ञा जीवन में पूरी उतरेगी । **दश-अंगुलियों की प्रशंसा कर्म की प्रशंसा है और कर्म की प्रशंसा पुरुष के सच्चे गौरव को पहचान लेना है** । मनुष्य और देव का यही अन्तर है । कर्म मनुष्य की विशेषता है । भगवान् व्यास की परिभाषा के अनुसार **'प्रकाशलक्षणादेवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः'** ।[१] पुरुष-सूक्त अपने अध्येता को ऐसा पुरुष देखना चाहता है, जो पुराण के शब्दों में साभिमान कह सके—**'अहं तु नाभिगृह्णामि यत् कृतं न पुरा मया'**[२] मुझे वह वस्तु नहीं चाहिए जिसके लिए मैंने कर्म नहीं किया हो ।

३. भ्रातृभाव और विश्वशान्ति—

छठे अध्याय में हमने स्थापना की थी कि भूमि पर सर्वप्रथम चेतन का आविर्भाव [एक साथ] युवारूप में हुआ । उस समय सर्वातिशायी पुरुष पिता था और भूमि माता थी । उत्पन्न हुए सभी मनुष्य एक ही माता-पिता की सन्तान होने से भाई-भाई थे, उनमें न कोई बड़ा था न छोटा; सभी समान थे—सूक्त का यह प्रतिपादन मानव-जाति के लिए एक दिव्य सन्देश है जो कि नितान्त उपेक्षित है ।

सूक्त में निर्दिष्ट इस भ्रातृभाव का अनुसरण किया जाय, तो विश्वशान्ति अचिरात्-एवं सहज-सिद्ध हो सकती है । आज के मानव-समाज में भ्रातृभाव का अभाव है, इसी से समस्त विश्व भेद-भाव से ग्रस्त है : कहीं वर्गभेद है तो कहीं रक्तभेद, कहीं जातिभेद है तो कहीं नस्लभेद ।

---

१. म० भा० । अश्व० प० ४३.२०.   २. भ० पु० ४२.११.

सूक्त का अध्येता जब सोचता है, कि हम सभी मानव एक ही पिता के पुत्र हैं वह जान लेता है कि अरे हम तो भाई-भाई हैं। जैसे मुझ में आत्मा है, वैसे ही अन्यों में भी है। अन्ततोगत्वा हम सभी सर्वातिशायी पुरुष के अंग हैं। हम सभी का नाम ही तो मिलकर विश्व है। उसमें निवास करने वाली आत्मा उसी समय तक रह सकती है जब तक उसमें बसने वाले सभी परस्पर भाई-भाई का व्यवहार करें स्वयं जीएं और अन्यों को भी जीने दें : अधिकार के लिए संघर्ष न करके अपने कर्त्तव्यों का पालन कर और इस प्रकार विश्वबन्धुत्व की स्थापना का प्रयत्न करें। इस सूत्र से विश्वमैत्री की भावना प्रोत्साहित होगी और मानव की आज की सबसे बड़ी समस्या स्वतः समाहित हो सकेगी।

४. विश्वधर्म का आधार वेद—

हमने कहा कि सूक्त में प्रस्तुत केन्द्रीय सिद्धान्त पुरुष-परक हैं, पुरुष-परायण हैं। 'पुरुष' से हटकर कुछ भी नहीं। जिस **'पुरुष'** की इतनी **महिमा** है, जिसे **कर्मभूमि** पर दश अंगुलियों वाले **'कर'** देकर भेजा गया है [और जो कथमपि एकाकी नहीं है] - जिसके अनेक भाई हैं उसकी इस विश्व में अवतीर्ण होकर क्या प्रवृत्ति हो ? उसका अन्यों के साथ कैसा व्यवहार हो ? वह किस प्रकार परस्पर मिलजुलकर मानवसमाज का सुव्यवस्थित निर्माण करे और इस अद्भुत जगत् की महत्ता को जानकर कैसे इससे उपयोग ले ? इत्यादि सभी ज्ञातव्यों का बोध कराने के लिये, उसके परमपिता और परमाचार्य सर्वातिशायी **'पुरुष'** ने उसके धरती पर चरण रखने से पूर्व ही उसकी हृदय-रूप वेदि में ज्ञान-हवि की पूर्णाहुति डाल दी थी जब वह धरातल पर संस्थित हुआ तो वह मात्र नैसर्गिक ज्ञान से ही युक्त न था, अपितु उसका हृदय वेदज्ञान से आलोकित था। उसके नेत्रों के साहाय्य के लिये बहिर्जगत् में सूर्य था तो अन्तःकरण [=बुद्धि] के लिये हृदयाकाश में वेदसूर्य की रश्मियां जगमगा रही थीं। वह ज्ञानप्रकाश से स्नात ही जन्मा था। इस तथ्य को इस प्रबन्ध के सप्तमाध्याय में दर्शाया है।

सूक्त के इस निर्देश से विश्वमानव को एक महती प्रेरणा उपलब्ध होती है वह यह कि जैसे यह सम्पूर्ण विश्व एक इकाई है, धरातल पर बसे हुए सभी व्यक्ति परस्पर एक हैं और आकाश में प्रकाशपुंज सूर्य एक है वैसे ही—ज्ञान का वेदरूपी सूर्य भी सब किसी के लिए एक ही है। यदि विश्व का प्रत्येक मानव उस वेदसूर्य के आलोक में अपने कर्त्तव्य का निश्चय कर ले, तो निस्सन्देह विश्व का धर्म भी एक हो जाय और तब धार्मिक अनेकता से उत्पन्न मतवैभिन्न्य, असहिष्णुता और द्वेष आदि का प्रकृतितः समूलोच्छेद ही हो जाय।

५. यज्ञिय-भाव से पशुत्व की निवृत्ति—

सूक्त में यह प्रतिपादित किया गया है कि जब सर्वातिशायी **'पुरुष'** [परमात्मा] सृष्टिरचना में प्रवृत हुए तो उन्होंने **'सर्वहुत्'** रूप धारण कर लिया, यह उनका यज्ञिय रूप था। इसी के परिणाम-स्वरूप उन्होंने इस विश्व की रचना की—जड़ और चेतन जगत् का निर्माण किया और साथ ही [यज्ञेन यज्ञं अयजन्त] दशांगुल पुरुष को नए निर्माण का आदेश दिया। उन्होंने अपने आचरण द्वारा यह बोध करा दिया कि जब भी तुम किसी निर्माणकार्य में प्रवृत्त होओ तो तुम भी अपने रूप को यज्ञिय [सर्वहुत्] बना लेना। अपने सर्वस्व की आहुति देकर ही तुम अपने निर्माणकार्य में सफल हो सकोगे। **यज्ञ-स्वरूप की इस सर्वहुत् भावना को 'पञ्चम अध्याय' में पल्लवित किया गया है।**

पुरुष का नैसर्गिक भाव पशुभाव है। उस पशुभाव के स्वरूप को परिवर्तित करके उसे देव बना देना ही यज्ञ है। 'मनुष्य-पुरुष' केवल अन्नमय-जिसे अद्यतनीय परिभाषा में [biological man] कहेंगे—इतना मात्र ही नहीं है वह उससे भिन्न भी कुछ है। पुत्रैषणा या काम उसी अन्नमय का क्षेत्र है। वह प्रथम अन्न द्वारा देह का पोषण करता है फिर प्रजनन-द्वारा सृष्टि-क्रम को जारी रखता है। **'आहार और मैथुन'** जिसकी विशेषता है वह **पुरुष अन्नमय है स्थूल है**, उसे पुरुष के भीतर का **पशुभाव** कह सकते हैं।

किन्तु इसी के साथ मानव में एक दैवी अंश भी है। वह उसका मनोमय और विज्ञानमय कोष है, जो स्थूल शरीर की अपेक्षा कम सत्य नहीं। यही उसका अमृत-भाव है। मर्त्य-भाव उसे पार्थिव जगत् से बांधे हुए है, जबकि दैवीभाव अमृत से। इसका मर्त्य-भाव सीमित है। **वासना, अधिकार-लिप्सा, ईर्ष्या और हिंसा** उसके साथ जुड़े हुए हैं और ये ही अधिकांश दुःखों के कारण हैं। यह ही वह **पशुभाव** है, जिसके स्वरूप का परिवर्तन करना है—उसे देव बनाना है। यही श्रेष्ठ कर्म है इसे ही यज्ञ कहते हैं। विश्वात्मा के लिए यज्ञिय भाव अवश्यम्भावी है। प्रत्येक जाति और देश का लक्ष्य, विश्वबन्धुत्व की प्राप्ति है। उसका सीधा सादा अर्थ यही है कि एक पुरुष में जो अधिकार और स्वार्थ की भावना घर किये बैठी है वह दूर हो जाए। विश्वमानव के साथ उसके मनोभावों का संगतीकरण होना चाहिए। इस संगतीकरण का आधार **'यज्ञिय प्राथमिक धर्म'** है। विश्व-मानव उन्हें अपनाकर, और अपने **सर्वस्व की आहुति** देकर इस वसुन्धरारूप **यज्ञस्थली** का उत्तम **यजमान** बन सकता है—**नाऽन्यः पन्थाः।**

६. वरणवाद और सोद्देश्य शिक्षा—

प्रस्तुत अध्ययन से एक उपलब्धि यह होती है कि इससे समाज की सुव्यवस्थित संरचना में योगदान मिल सकेगा। आज समाज-निर्माण की बात को लेकर अनेक वादों का निर्माण हुआ है, हो रहा है। ये वाद व्यक्ति और समाज को कहां तक शान्ति प्रदान कर सके हैं यह बात विज्ञ-जनों से छिपी नहीं। पुरुष-सूक्त ने भी इस समस्या को अपने ढंग से सुलझाया है। हर व्यक्ति यदि अपने को **'समाज-पुरुष'** का अंग समझे और **मुख-बाहु-ऊरु-पाद** रूप अंग चतुष्टय में से कोई भी एक अंग बनना वरण करे, सहयोग की भावना को स्वगत करले तब जिस विश्व का निर्माण होगा, वही मनुष्य के लिए स्थायी शान्ति का आवास बन सकेगा।

इस 'अंग-वरण' का प्रभाव व्यक्ति और समाज के प्रत्येक अंग पर पड़ेगा। उस समय शिक्षा सोद्देश्य होगी। विद्यालय में प्रवेश करते समय बालक, व्रतधारण करके ही प्रवेश करेगा और सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा व्रत के आधार पर ही दी जाएगी। इतने मात्र से शिक्षा के क्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति आ सकती है। उसी व्रत की दीक्षा लेने पर समाज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-वर्णचतुष्टय में विभक्त हो जाएगा। **वर्ण** का आधार **वृत्त** होगा और पेशे का आधार होगी **वृत्ति**।

७. आस्तिकता—

सूक्त में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है। **'सर्वातिशायी पुरुष'** और **'दशांगुल पुरुष'** का वर्णन है। इन्हीं के साथ सम्बद्ध वेदाविर्भाव के विषय का भी विश्लेषण है; और दोनों पुरुषों में सामंजस्य बिठाने के लिए यज्ञ-तत्त्व की भी मीमांसा की गई है। पुरुषसूक्त का अध्येता, इनके प्रति आस्थावान् होकर आस्तिक बनता है, निष्ठावान् बनता है। कोषकार ने जो ईश्वर, वेद, यज्ञ, कर्मफल आदि में

विश्वास रखता है, उसे आस्तिक माना है।[1]

सो इस दृष्टि से इस अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह भी हुई कि इससे व्यक्ति **आस्तिक** बन जाता है। जिसे अपने आप पर विश्वास नहीं वह नास्तिक है। अपने आप पर विश्वास न होने का अर्थ होता है **कर्म एवं कर्मफल** पर विश्वास का न होना। सूक्तगत दशांगुल विशेषण, व्यक्ति के दोनों हाथों का ज्ञापक है और दोनों हाथों में से एक हाथ कर्म का और दूसरा हाथ कर्म-फल का।

कर्म के लिए **वेदों** पर आस्था रखना आवश्यक है—**कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे** और कर्म-फल के लिए **'सर्वातिशायी पुरुष'** पर। मनुष्य संसार में अतिशय श्रेष्ठ कर्म करे। इसके लिए वेद का जानना अनिवार्य है, **'यथा कर्म तथा लाभः'** यह व्यवस्था **'सर्वातिशायी पुरुष'** के हाथ में है। **'दशांगुल पुरुष'** तो फल का भोक्ता है। फल की **व्यवस्था** करना और देना यह सब **'सर्वातिशायी पुरुष'** के आधीन है। अतः **"अपने आप में आस्था, कर्म और कर्म-फल में आस्था, कर्म के बोध करानेवाले वेद में आस्था और कर्म-फल के देने वाले ईश्वर में आस्था (आस्तिकता) व्यक्ति को आस्तिक बना देती है"।**

'दशांगुल पुरुष' के कर्मफल की दो दिशाएं हैं—एक **पुनर्जन्म**, दूसरा **मुक्ति**। पुनः-पुनः जन्म के इस चक्र के अतिक्रमण करने को ही **मृत्यु-अतिक्रमण** अथवा **'मुक्ति'** कहते हैं और इसके लिए आवश्यक है कि उसे जाना जाय—**'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'**

८. विश्वरूपदर्शनार्थ पुरुषसूक्ताध्ययन की अनिवार्यता—

पुरुषसूक्त के अध्ययन से 'पुरुष' के विश्वरूप दर्शन का उद्गम कहाँ से हुआ ? यह ज्ञात हो सका है। पुरुष का प्रभाव इतना अतिशयी हुआ कि समग्र वैदिक वाङ्मय में और तदुत्तरीय साहित्य में उसका विश्वरूप दर्शन विस्तृततर ही होता गया। महाभारत और भागवत साहित्य इससे अनुप्राणित हुआ है। उसने इस विश्वरूपाभिव्यक्ति की अतिसीम भावना को, वेदोक्त पुरुष-सूक्त से ही आयात किया है। महाभारत के **वन-पर्व**[2],, **भीष्म-पर्व**[3], भगवद्गीता[4], **अश्वमेध-पर्व**[5] के अन्तर्गत **अनुगीता**, भागवत

---

१. श० क० द्रु० (द्र०—नास्तिकशब्द)

२. यह रूप सम्पूर्ण अध्याय में वर्णित है, लेकिन यहां कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने। सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं ऊरू मे संश्रिता विशः। पादौ शूद्रा भजन्ते मे विक्रमेण क्रमेण च ॥१३॥
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः। मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च ॥१४॥

म० भा०। व० प० १८७, ७, १३, १४

३. म० भा० भी० प० ३४, ३५ अध्याय.

४. भ० गी० के एकादश अध्याय के ५-४८ श्लोकों में विश्वरूप-वर्णन द्रष्टव्य है। यहाँ कतिपय श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

५. **सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः। सर्वतः श्रुतिमान् लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥**

म० भा० अ० प० ४०. ४.

पुराण[1] के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, अष्टम, दशम, एकादश और द्वादश स्कन्ध में पुरुष का विश्वरूप-दर्शन उपलब्ध होता ही है। विस्तीर्ण संस्कृत वाङ्मय में समुपलब्ध विश्वरूप दर्शन के मौलिक भाव को समझने के लिए पुरुष-सूक्त का चिन्तन नितान्त आवश्यक है।

९. पुरुष का चरमलक्ष्य–पुरुषोत्तम-ज्ञान से मोक्षप्राप्ति–

वेद परम कवि का परम [दिव्य] काव्य है। और उस दिव्य काव्य का श्रेष्ठतम अंश **पुरुष सूक्त** है और पुरुष-सूक्त का लक्ष्य 'पुरुष' है। उसमें दशांगुल पुरुष [पिण्ड पुरुष], 'समाज-पुरुष' [राष्ट्र-पुरुष] 'विराट् पुरुष' [ब्रह्माण्ड पुरुष] और 'सर्वातिशायी पुरुष' [ब्रह्म] का वर्णन है। व्यक्ति को इसी क्रम से चलना चाहिए। सर्व प्रथम उसकी उपासना का केन्द्र **'स्व'** है, द्वितीय **'समाज पुरुष'** तृतीय **'विराट् पुरुष'** और चतुर्थ [अन्तिम] **'अतिशय पुरुष'**। अन्ततोगत्वा 'सर्वातिशायी पुरुष' को पा लेना उसका लक्ष्य है। यही व्यक्ति का पुरुष से पुरुषोत्तम बनना है। भागवतों की परिभाषा में **'नर' से 'नारायण'** बनना है। **एकशीर्ष से सहस्रशीर्ष** बनना है। उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर होता हुआ 'व्यक्तिपुरुष' जैसे-जैसे अपने लक्ष्य के समीपतर होता जाता है, वैसे-वैसे पूर्व-पूर्व पुरुषों की उपासना को वह त्यागता जाता है। 'सर्वातिशायी पुरुष' को प्राप्त करके तो वह सबको छोड़ देता है। सम्भवत: यही कारण है कि उपासक, उपासना की चरम स्थिति में पहुंच कर अपने आप को पुरुष-सूक्त के पाँच मन्त्रों के क्षेत्र तक सीमित कर लेता है। इसकी पुष्टि सामवेद के सीमित पांच मंत्रों वाले पुरुष-सूक्त से होती है न वहां 'समाज-पुरुष' है, न 'विराट् पुरुष'। अब उपासक, ससीम को त्यागकर असीम की उपासना में प्रवेश कर गया है और उसमें ही विश्व-रूप दर्शन करने लगा है **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'**।[2]

पुरुषसूक्त-सम्बन्धी इस विशद-चिन्तन से समवाप्त उपलब्धियों का संक्षिप्त संकेत देते हुए, इस दशम अध्याय में बताया गया है कि संसार में 'पुरुष'-तत्त्व सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। 'दशांगुल पुरुष' को प्राप्त 'दश-अंगुल' रूप सर्वश्रेष्ठ साधन की कृतार्थता जीवन के कर्त्तव्य कर्मों की संसिद्धि में है। पुरुष [=मानव] अपने अन्य सहनिवासियों के साथ भ्राता का व्यवहार करे और भ्रातृभाव के विकास के द्वारा विश्व में शान्ति का वातावरण बनाने में सहयोगी हो। विश्वशान्ति का आधार, विश्वमानव का समान [=एक] धर्म है। समान धर्म की सम्भावना समानधर्म के प्रतिपादक ईश्वरीय ज्ञान वेद पर आधारित

---

१. भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध में प्रथम अध्याय [२४.३९] में इसका वर्णन है यथा—

(i) **विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्। यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च यत्॥**

—भा० पु० २. १. २४.

(ii) भा० पु० २. ५. ३५-४२; २. ६. १-१०; २. १०. १३-३२; ३. ६.

(iii) **यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम्। यत्र विश्व इमे लोकाः सविकासं समासते।** ३.७.२२.

(iv) भा० पु० ४. २२; ८. २०. २१-३४; १०.७. ३६-३७; १०. ८. ३७-३८; १०. ४०. १३-१५; १०. ६३. ३५; ३६; ११. १६ १०-४१; १२. ११. ५-९.

एतद् वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः। नाभिसूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः॥

—भा० पु० १२. ११. ५.

२. यजु० ३२. ८.

है । वेदज्ञान से प्रकाशित बुद्धि मानव, पशुत्व को त्यागकर यज्ञिय जीवन बिता सकता है । यज्ञिय जीवन का सामाजिक रूप है—समाज-शरीर का स्वयं को अंग समझना । इस अंगत्ववरण से शिक्षा की दिशा निश्चित हो जाती है । सोद्देश्य शिक्षा से ही मनुष्य अपने और पराये हित की सिद्धि कर सकता है । **'भोक्ता पुरुष'** और **भोग्य जगत्** के अतिरिक्त भी एक **सर्वोच्च शक्ति** है जो जगत् के निर्माण, पालन, संहार और कर्मफल-प्रदान में एकमात्र समर्थ है' इस आस्तिकता की भावना से ही मानव 'स्व' के घेरे से निकल कर परहित में प्रवृत्त होता है । शनैः-शनैः, परार्थ-कर्मप्रधानता, मनुष्य को अहंकार के आवरण से निकालकर **'निर्ममो निरहंकारः'** की स्थिति में संस्थित कर देती है और तव मनुष्य अकल्मष-चित्त होकर पुरुषोत्तम के परम ज्ञान से—परम साक्षात्कार से मोक्ष का भाजन बन जाता है दशांगुल पुरुषत्व की परिधि से हटकर **'सहस्रशीर्षाक्षपाद्'** पुरुष के अमित आनन्द का भागी बन जाता है ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः

सहस्रबाहुः पुरुषः

पुरुष एव इदं सर्वम्

अतो ज्यायांश्च पूरुषः

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः

विराजो अधिपूरुषः

एतवानस्य महिमा

पुरुषं जातमग्रतः

यत् पुरुषं व्यदधुः

यत् पुरुषेण हविषा

अबध्नन् पुरुषं पशुम्

वेदाहमेतं पुरुषम्

जातस्य पुरुषादधि

पुरुष एव इदं सर्वम्

अथ पुरुष-सूक्तानि

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥४॥
तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥९॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः ।
तथा व्यक्रामद् विष्वङ्ङशनानशने अनु ॥२॥
तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह ॥४॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥५॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥६॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥७॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥८॥
विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥९॥
यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥१०॥
तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥११॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥१२॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥१३॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥१४॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥
मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः ।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥१६॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने ऽअभि ॥४॥
ततो विराडजायत विराजो ऽअधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥६॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥७॥
तस्मादश्वा ऽअजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता ऽअजावयः ॥८॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥९॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादाऽउच्येते ॥१०॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याम् शूद्रोऽअजायत ॥११॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो ऽअजायत ।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥१२॥
नाभ्या ऽआसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत ।
पद्भ्याम् भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१३॥
यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥१४॥
सप्तास्यासन् परिधयस् त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना ऽअबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६।

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥२॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥४॥
ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥१७॥
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि
विश्वा ॥१९॥
यो देवेभ्य ऽआतपति यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥२०॥
रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा ऽअग्रे तदब्रुवन् ।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात् तस्य देवा ऽअसन् वशे ॥२१॥
श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि
रूपमश्विनौ व्यात्तम् ।
इष्णन्निषाणामुं म ऽइषाण सर्वलोकं म ऽइषाण ॥२२॥

प्रतीक-सूचि

ग्रन्थ-शब्द-सूची

संदर्भ-नवनीत ४५ : २००

वेद-भाष्य—
ऋग्—(वेंकट, सायण, रामगोविन्द शास्त्री [हिं०])
यजुर्—(शौनक, उवट, महीधर, दयानन्द)
अथर्व—(सायण)
संहिता—जैमिनीय, तैत्तिरीय, अहिर्बुध्न्य
पुरुषसूक्त-भाष्य—अनन्ताचार्य, मंगलाचार्य, रामानुजाचार्य, विद्यारण्य, भगवद्देवशर्माचार्य, ४ 'अज्ञातकर्तृक' भाष्य, वरदराज, रंगनाथ, सम्पूर्णानन्द
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—ऋषि दयानन्द
Vedic Reader—A. A. Macdonell
वेद-परिचय—सातवलेकर
वेद-लावण्य—सुधीरकुमार गुप्त
उपनिषद्—
चिति, पिण्डब्रह्माण्ड, पुरुषसूक्त, मुद्गल, श्वेताश्वतर
पुराण—
पद्म, ब्रह्म, विष्णुधर्मोत्तर, स्कन्ध

※ × ※

Sw. Bhoomananda—Vedic Anthology
V.S. Agrawala : Vedic Lectures, 1963
A. Coomaraswamy : aty atisthad dasangulam, JAOS 66, 1966, 146-161
Francis F. Corley : Purusa's 'Food' (RV x.90), 2nd Indica 5(2), Sep 68, 85-95
A. Esteller : Purusa Sukta, critically reconstructed, SP (23/AIOC) 1966, 16-17 ; The Purusa Problem in RV x, 90, Indica 8(2) 59-6+9(9), 15-30

नमोवाक्

महतस्तमसः पारे पुरुषं ज्वलनद्युतिम् । यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति—तस्मै पूर्णात्मने नमः ॥
यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश् चरणौ क्षितिः । सूर्यश्चक्षुर् दिशः श्रोत्रे—तस्मै लोकात्मने नमः ॥
यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे । यं विप्रसंघा गायन्ति—तस्मै वेदात्मने नमः ॥
ऋग्यजुःसाम-धामानं दशार्धहविराकृतिम् । यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति—तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः । यश्च सर्वमयो नित्यं—तस्मै सर्वात्मने नमः ॥
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरुदरं विशः । पादौ यस्याश्रिताः शूद्राः—तस्मै वर्णात्मने नमः ॥
गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम । वक्षःस्थानाद् वनेवासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः ॥

भगवतो व्यासस्य